सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा

(AN OUTLINE OF SOCIAL ANTHROPOLOGY)

लेखक
रवीन्द्र नाथ मुकर्जी
रीडर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
बरेली कालेज
बरेली

प्रकाशक
सरस्वती सदन
7-यू० ए०, जवाहर नगर,
दिल्ली-7

थम संस्करण, 1976]   [मूल्य : 21 रुपये 50 पैसे

प्रकाशक :

सरस्वती सदन

7-यू. ए., जवाहर नगर

दिल्ली-7

प्रथम संस्करण, 1961

द्वितीय संस्करण, 1967

तृतीय संस्करण, 1970

चतुर्थ संस्करण, 1973

पंचम संस्करण, 1976

सहृदय अध्यापक जिन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
में दीक्षित कर मुझे सदा के लिये अनुगृहीत किया, उन

प्रोफेसर (डाक्टर) कैलाशनाथ शर्मा

(इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, कानपुर)

को यह पुस्तक

सादर समर्पित है।

—'रवि'

आमुख : पंचम संस्करण

मेरे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि मुझे फिर से एक बार उन समस्त स्नेही विद्यार्थियों एवं सुयोग्य प्राध्यापकों के प्रति अपना आन्तरिक आभार प्रकट करने का अवसर मिला है जिन्होंने कि इस पुस्तक के प्रत्येक संस्करण को प्रत्येक बार अधिक आग्रह से अपनाकर आज उसे पंचम संस्करण के स्तर तक पहुँचा दिया है। लेखक के रूप में मैंने भी अपने उत्तरदायित्व को समझा है और मुझे सन्तोष इस बात का है कि मैंने इस संस्करण को पूर्णतया संशोधित व परिमार्जित करने का भरसक प्रयत्न किया है। फलतः प्रस्तुत पुस्तक अपने पिछले संस्करण से पर्याप्त भिन्न है।

पुस्तक को पाठक-वर्ग के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिये जहाँ एक ओर अनावश्यक सामग्री को इसमें से निकाल दिया गया है, वहीं, दूसरी ओर, नवीन पाठ्य-क्रमानुसार नयी सामग्री का समावेश भी किया गया है। साथ ही, पुस्तक सर्वत्र अब तक प्राप्त नवीनतम सूचनाओं व आँकड़ों से समृद्ध है। अतः आशा यही है कि यह नवीन संस्करण पाठक-वर्ग को अधिक सन्तोष प्रदान कर सकेगा।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

आमुख : प्रथम संस्करण

मानवीय समाज और समस्याओं के विषय में जो जिज्ञासा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, उसे शान्त करने में सामाजिक मानवशास्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि विद्वानों में एक यह विश्वास दृढ़तर होता गया कि आधुनिक मानव व उसकी संस्कृति को समझने के लिए आदिकालीन समाज या सामाजिक जीवन को समझना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक मानवशास्त्र का यही अध्ययन-विषय है। इसीलिये इस विषय का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ है और भारतवर्ष में भी एकाधिक विश्वविद्यालयों में अब मानवशास्त्र एक मुख्य विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा है। परन्तु इस विषय पर, विशेषकर सामाजिक मानवशास्त्र पर, हिन्दी भाषा में लिखी पुस्तकें न होने के समान हैं। इस कमी को दूर करने के लिये यह पुस्तक प्रकाशित की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों के स्नातक (Graduate) व स्नातकोत्तर (Post-graduate) कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। पुस्तक की समस्त सामग्री को प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर लाने का तथा सामाजिक मानवशास्त्र के

सर्वमान्य तथ्यों को भारतीय पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। भारतीय उदाहरणों से यह पुस्तक भरपूर है जिससे कि विद्यार्थियों के लिये विषय को समझने में कठिनाई न हो।

इस पुस्तक को लिखने में प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली का अभाव अत्यधिक अनुभव हुआ। फिर भी इस कमी को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया गया है। डा० दुबे के शब्दों में, "विषय का स्पष्टीकरण लेखक का उद्देश्य रहा है, और इसकी सिद्धि के लिये पारिभाषिक शब्दावली-सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रति लेखक ने किसी विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह को नहीं अपनाया है।"

हम उन समस्त विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी अमूल्य कृतियों तथा विचारों के आधार पर इस पुस्तक को लिखना सम्भव हुआ है। यथासम्भव इन समस्त विद्वानों का यथास्थान उल्लेख पृष्ठतल टिप्पणियों (Footnotes) देकर किया गया है किन्तु यदि कहीं भूल से किन्हीं विद्वानों का नामोल्लेखन न हो पाया हो, तो वह त्रुटि इच्छाकृत न समझी जाय, इसके लिये लेखक क्षमाप्रार्थी है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने, उसे दोहराने तथा भाषा को सुधारने का समस्त कार्य श्रीमती कुसुम गोस्वामी (एम० ए० समाजशास्त्र) और श्रीमती सरला दुबे (वी० ए०, वी० टी०, एम० ए० समाजशास्त्र द्वितीय वर्ष) ने किया है। इनके अथक परिश्रम के विना इस प्रकार की एक बृहत् पुस्तक का इतने अल्प समय में प्रकाशन सम्भव न था। धन्यवाद देकर उनकी सेवाओं को कुण्ठित न करूँगा। इस विषय के स्नातकोत्तर कक्षाओं के प्रोफेसर तथा मेरे सहकर्मी श्री गिरीशानन्द कुलश्रेष्ठ तथा डा० ज्योतिनाथ गंगोली के उत्साह, सहयोग एवं सुझावों से यह पुस्तक समृद्ध है। प्रोफेसर अशोक प्रधान का भी हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। अध्याय 20 में प्रस्तुत थारू जनजाति का विवरण मेरे शिष्य श्री गोपालकृष्ण अग्रवाल ने अपने अध्ययन के आधार पर तैयार किया है। 'सरस्वती सदन' के मैनेजर श्री विश्वरंजन ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी तत्परता व आग्रह दिखाया है। मैं इन सव सज्जनों का हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मानवशास्त्र के विद्वानों, विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों से विनम्र निवेदन है कि वे पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करके इस पुस्तक के स्तर को ऊँचा उठाने में मेरी सहायता करें। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा।

'सुधा ज्ञान-मन्दिर'
कानपुर।
23 नवम्बर, 1961।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

विषय-सूची

1 मानवशास्त्र क्या है ?
(What is Anthropology)

मानव "प्रकृति" का सबसे आश्चर्यजनक भाग है। यह अनोखा मानव केवल प्रकृति का नहीं, स्वयं अपने का भी अध्ययन करता है। आकाश, धरती, पेड़-पौधा, पशु-पक्षी, नदी और समुद्र का अध्ययन उसके सम्मुख अनेक आश्चर्यजनक अनुभवों को उपस्थित करते हैं और उसके ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को भरते रहते हैं; परन्तु स्वयं अपना ही अध्ययन मानव के लिए और भी रोचक, अत्यन्त आश्चर्यजनक अनुभवों से भरपूर और अनेक अनोखेपन से समृद्ध होता है। वह स्वयं संस्कृति को सीखता है, विकसित करता है; धर्म, कला, प्रथा, परम्परा, साहित्य, भाषा को जन्म देता है; अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारों द्वारा नित्य नये यंत्रों का निर्माण करता और प्रकृति पर विजय पाता जाता है और फिर एक समय स्वयं अपने ही सम्बन्ध में सोचता और चकित रह जाता है कि "कितना अनोखा है यह मानव और उसके कार्य !" मानवशास्त्र इसी अनोखे मानव और उसके कार्यों का अध्ययन है। यह पुस्तक उसी अध्ययन की एक विनम्र रूपरेखा है; 'सब-कुछ' नहीं, केवल 'कुछ' है।

मानवशास्त्र का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Anthropology)

मानवशास्त्र (anthropology Greek word *anthropos* meaning 'man' and the noun ending *logy* meaning 'science') का शाब्दिक अर्थ 'मानव का विज्ञान' (the science of man) है। वास्तव में यह शाब्दिक अर्थ अत्यन्त ही व्यापक और सामान्य है। अधिक यथार्थ और स्पष्ट रूप से मानवशास्त्र को हम मानव और उसके कार्यों का अध्ययन कह सकते हैं। परन्तु यहाँ भी यह स्मरण रखना होगा कि मानव और उसके कार्यों का अध्ययन केवल मात्र मानवशास्त्र के द्वारा ही नहीं होता है, अन्य सामाजिक विज्ञान भी इनका अध्ययन करते हैं; परन्तु मानव-जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव और उसके कार्यों का जितना विस्तारित अध्ययन मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है उतना और किसी अन्य विज्ञान के क्षेत्र में नहीं। यह तथ्य निम्नलिखित परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाएगा—

सर्वश्री जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) के अनुसार, "मानवशास्त्र मनुष्य जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा

अतः मानवशास्त्र शारीरिक (physical) या प्राणीशास्त्रीय (biological) और सामाजिक (social) विज्ञान दोनों ही है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन के प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष पर बल देते हुए श्री पेन्नीमैन (Penniman) ने मानवशास्त्र के विषय में लिखा है कि "एक रूप मे यह (मानवशास्त्र) प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है और इसके अन्तर्गत जीव-प्रकृति के क्षेत्र में मानव की उत्पत्ति और स्थिति का अध्ययन आता है ······ दूसरे रूप मे मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।"[1] अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान के अतिरिक्त एक इतिहास का भी विज्ञान है। इतिहासकार एक सामाजिक वैज्ञानिक हो सकता है यदि वह सामाजिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ निकालने में प्रयत्नशील है। इन सामान्य नियमों को ढूंढने में उसे नियमानुसार होने वाली पिछली अनेक घटनाओं का सावधानी से विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना होता है। मानवशास्त्री भी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगों के मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों तथा घटनाओं का विश्लेषण तथा वर्गीकरण करते हैं और उनके आधार पर शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ निकालते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।

कुछ मानवशास्त्रियों जैसे, सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) आदि का मत है कि मानवशास्त्र केवल विज्ञान के रूप में ही अर्थपूर्ण हो सकता है। इस विज्ञान के क्षेत्र से इतिहास का पूर्णतया बहिष्कार होना चाहिए। मानवशास्त्रियों का सम्पर्क केवल उन समाजों और मनुष्यों के अध्ययन तक ही केन्द्रित होना चाहिए जिनका कि प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन किया जा सके। उक्त विद्वानों का मत है कि उस प्राचीन इतिहास, समाज या घटनाओं की छान-बीन करना, जिसके लिए कोई भी लिखित प्रमाण नहीं मिलते हैं, किसी भी अर्थ में किसी विज्ञान के लिए उचित नही है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ मानवशास्त्रियों के मतानुसार मानवशास्त्र केवल इतिहास है। ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों पर ही मानवशास्त्रियों का सम्पूर्ण अध्ययन आधारित होना चाहिए।

परन्तु वास्तव में मानवशास्त्र की स्थिति इन दो विरोधी मतों के बीच की ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यो को समझे बिना वर्तमान को समझना कठिन है, परन्तु उन घटनाओं तथा तथ्यों से, वास्तविक अवलोकन के आधार पर पुनर्परीक्षण किए बिना, कोई वैज्ञानिक परिणाम निकालना सम्भव नहीं। समाज और संस्कृति एक निरन्तर प्रक्रिया है जो कि भूतकाल पर आधारित, वर्तमान में क्रियाशील तथा भविष्य की ओर गतिशील है। मानवशास्त्र भूत तथा वर्तमान दोनों ही काल के

1. "In one aspect it is a branch of Natural History, and embraces the study of his origin and position in the realm of animated nature .....In another aspect anthropology is the science of History."—T.K. Penniman, *A Hundred Years of Anthropology*, Gerald Duckworth & Co. Ltd., London, 1952, pp. 13-14.

सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[1]

श्री हॉबल (Hoebel) के शब्दों में, "मानवशास्त्र मानव एवं उसके समस्त कार्यों का अध्ययन है। सम्पूर्ण अर्थ में यह मनुष्य की प्रजातियों एवं प्रथाओं का अध्ययन है।"[2]

श्री क्रोबर (Kroeber) ने मानवशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, "मानवशास्त्र मनुष्यों के समूहों, उनके व्यवहार और उत्पादन का विज्ञान है।"[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **मानवशास्त्र सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक की मानव-जाति के समग्र रूप का वह विज्ञान है जो कि उसके शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उद्भव एवं विकास का अध्ययन करता है।**

मानवशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Anthropology)

जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है मनुष्य प्रकृति का ही अंश है। मानवशास्त्र में मानव का अध्ययन विश्व (universe) के एक अंग के रूप में ही किया जाता है। इस कारण मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है। परन्तु, जैसा कि श्री हॉबल (Hoebel) का कथन है, "मानवशास्त्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के रूप में वह एक साथ शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान दोनों ही है।"[4] शारीरिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र मानव-जाति को पशु-जगत् का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग मानकर उसके उद्भव तथा उद्विकास, शरीर-रचना आदि का अध्ययन करता है। साथ ही, सामाजिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र मानव के सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पहलुओं का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन करता है। मानव-जीवन की समस्त विविधताओं से सम्बन्धित विज्ञान—मानवशास्त्र—की यह दोहरी (duel) प्रकृति स्वाभाविक ही है क्योंकि मानव केवल पशु-जगत् का एक प्राणी मात्र ही नहीं है; अपितु वह संस्कृति, इतिहास और विविध सामाजिक गुणों से संयुक्त एक प्राणी भी है।

---

1. "Anthropology is the scientific study of the physical, social and cultural development and behaviour of human beings since their appearance on earth."—M. Jacobs and B. J. Stern, *General Anthropology*, Barns and Noble, New York, 1955, p. 1.

2. "Anthropology is the study of man and of all his works. In its fullest sense it is the study of races and customs of mankind."—E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1949, p. 1.

3. "Anthropology is the science of groups of men and their behaviour and production."—Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1948, p. 1.

4. "The study of man, called anthropology (Gr. *anthropos* man+*logia* study) when followed in accordance with the principles and methods of science, is consequently a natural science. Its almost unique quality, however, is that as a natural science it is simultaneously a physical and a sccial science."—E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p. 1.

अतः मानवशास्त्र शारीरिक (physical) या प्राणीशास्त्रीय (biological) और सामाजिक (social) विज्ञान दोनों ही है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन के प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष पर बल देते हुए श्री पेन्नीमैन (Penniman) ने मानवशास्त्र के विषय में लिखा है कि "एक रूप में यह (मानवशास्त्र) प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है और इसके अन्तर्गत जीव-प्रकृति के क्षेत्र में मानव की उत्पत्ति और स्थिति का अध्ययन आता है ...... दूसरे रूप में मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।"[1] अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र शारीरिक तथा सामाजिक विज्ञान के अतिरिक्त एक इतिहास का भी विज्ञान है। इतिहासकार एक सामाजिक वैज्ञानिक हो सकता है यदि वह सामाजिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ निकालने में प्रयत्नशील है। इन सामान्य नियमों को ढूंढने में उसे नियमानुसार होने वाली पिछली अनेक घटनाओं का सावधानी से विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना होता है। मानवशास्त्री भी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगों के मानव के शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों तथा घटनाओं का विश्लेषण तथा वर्गीकरण करते हैं और उनके आधार पर शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन या क्रियाओं के सामान्य नियमों को ढूंढ निकालते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्र इतिहास का विज्ञान है।

कुछ मानवशास्त्रियों जैसे, सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), रैडक्लिफ-ब्राऊन (Radcliffe-Brown) आदि का मत है कि मानवशास्त्र केवल विज्ञान के रूप में ही अर्थपूर्ण हो सकता है। इस विज्ञान के क्षेत्र से इतिहास का पूर्णतया बहिष्कार होना चाहिए। मानवशास्त्रियों का सम्पर्क केवल उन समाजों और मनुष्यों के अध्ययन तक ही केन्द्रित होना चाहिए जिनका कि प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन किया जा सके। उक्त विद्वानों का मत है कि उस प्राचीन इतिहास, समाज या घटनाओं की छान-बीन करना, जिसके लिए कोई भी लिखित प्रमाण नहीं मिलते हैं, किसी भी अर्थ में किसी विज्ञान के लिए उचित नहीं है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ मानवशास्त्रियों के मतानुसार मानवशास्त्र केवल इतिहास है। ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों पर ही मानवशास्त्रियों का सम्पूर्ण अध्ययन आधारित होना चाहिए।

परन्तु वास्तव में मानवशास्त्र की स्थिति इन दो विरोधी मतों के बीच की ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को समझे बिना वर्तमान को समझना कठिन है, परन्तु उन घटनाओं तथा तथ्यों से, वास्तविक अवलोकन के आधार पर पुनर्परीक्षण किए बिना, कोई वैज्ञानिक परिणाम निकालना सम्भव नहीं। समाज और संस्कृति एक निरन्तर प्रक्रिया है जो कि भूतकाल पर आधारित, वर्तमान में क्रियाशील तथा भविष्य की ओर गतिशील है। मानवशास्त्र भूत तथा वर्तमान दोनों ही काल के

---

1. "In one aspect it is a branch of Natural History, and embraces the study of his origin and position in the realm of animated nature .....In another aspect anthropology is the science of History."—T.K. Penniman, *A Hundred Years of Anthropology*, Gerald Duckworth & Co. Ltd., London, 1952, pp. 13-14.

मानव तथा उसकी संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन है। देश और काल की सीमाओं में अपने को बाँधे बिना मानव-जाति का सम्पूर्ण अध्ययन करना इस विज्ञान का उद्देश्य है।

अन्तिम रूप में, मानवशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान किसे कहते हैं ? किसी भी अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध संग्रह को विज्ञान कहते हैं। मानवशास्त्र की अध्ययन-वस्तु मानव, उसका समाज तथा संस्कृति है। मानवशास्त्री अवलोकन द्वारा तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करते हैं, 'क्या है' का वर्णन करते हैं, 'कैसे' का उत्तर देते हैं, और 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' की ओर संकेत करते हैं।

इतना तो निश्चित है कि मानवशास्त्र एक विज्ञान है, परन्तु यह प्राकृतिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान, इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ हो जाना आवश्यक है। इस विषय में भी दो विरोधी मत हैं। एक ओर सर्वश्री फ़ोर्टेज़ (Fortes), नैडल (Nadel) आदि के मतानुसार मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है और मानव-समाजों का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों द्वारा करता है। मानवशास्त्र का वास्तविक कार्य भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सम्बन्ध में लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत करना नहीं, अपितु इन संस्कृतियों से सम्बन्धित समस्त घटनाओं तथा तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मानव-समाजों के उद्भव, विकास, कार्य तथा परिवर्तन के सम्बन्ध में सामाजिक नियमों (social laws) का पता लगाना है। उक्त विद्वानों का मत है कि सामाजिक जीवन में अनेक नियमावस्थाएँ (regularities) हैं जिन पर कि समय के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन की अनेक घटनाएँ कुछ निश्चित नियमानुसार होती हैं और इन नियमों (laws) का पता अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसी प्रकार लगाया जा सकता है जैसे कि प्राकृतिक विज्ञानों में प्राकृतिक नियमों (natural laws) का पता लगाया जाता है। श्री फ़ोर्टेज़ (Fortes) के मतानुसार यह सब इसलिए सम्भव है क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है।

इस विचारधारा के विरोध में सर्वश्री क्रोवर (Kroeber), बिडने (Bidney), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) आदि कुछ दूसरे विचारक हैं जिनका मत है कि मानव-जीवन का केवल एक प्राकृतिक या शारीरिक और मानसिक (organic-cum-psychic) स्तर ही नहीं होता बल्कि एक सामाजिक स्तर भी होता है। मानव-समाज सौर-मण्डल (solar system) की भांति केवल एक प्राकृतिक व्यवस्था नहीं है; यह तो मानवीय या सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। वास्तव में समाज उन मानवीय सामाजिक अन्त:सम्बन्धों (interrelations) का सम्पूर्ण क्षेत्र है जो एक समूह के व्यक्तियों के बीच पाया जाता है और जो उन्हें एक व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित, नियन्त्रित तथा स्थिर रखता है। ये सामाजिक अन्त:सम्बन्ध अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न, स्थिर तथा परिवर्तित होते रहते हैं। अत: समाज एक सामाजिक व्यवस्था है, न कि प्राकृतिक। इसी प्रकार मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है और चूंकि मानवशास्त्र इसी मानव तथा उसके समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है, इस कारण इसकी गणना सामाजिक विज्ञानों (social sciences or humanities) में

होनी चाहिए।

वास्तव मे, जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे, मानवशास्त्र के दो प्रमुख भाग, जो क्रमशः मनुष्य और उसकी संस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित हैं, (1) शारीरिक मानवशास्त्र, और (2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र हैं। इनमें से शारीरिक मानवशास्त्र मानव की उत्पत्ति, उद्विकास, शारीरिक बनावट, भिन्नताओं आदि का अध्ययन है। इसके लिए इस विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों पर अत्यधिक निर्भर रहना होता है। अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र का यह भाग—शारीरिक मानवशास्त्र—अध्ययन-वस्तु तथा पद्धति की दृष्टि से प्राकृतिक विज्ञानों के अधिक निकट है। परन्तु दूसरा भाग—सांस्कृतिक मानवशास्त्र—जो कि मानव-समाज तथा उसकी संस्कृति से सम्बद्ध है, सामाजिक विज्ञानो के अधिक निकट है। इस प्रकार मानवशास्त्र प्राकृतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार का विज्ञान है।

सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र (क) मानव के शरीर तथा संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यों का ठीक-ठीक वर्णन करता है; (ख) तथ्यों और घटनाओं का उचित विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके सामान्य परिणाम निकालता है; (ग) परिवर्तन और प्रक्रियाओं के कारणो तथा दिशाओ को निश्चित करता है, तथा (घ) भविष्य में होने वाले परिवर्तनों की ओर सकेत करता है। ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगो के सभी मनुष्यो के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक नियमों को प्रतिपादित करना इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है।[1]

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Anthropology)

समस्त जीवधारियो मे मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। मनुष्यों और पशुओं मे कुछ शारीरिक समानताएँ अवश्य ही हैं, परन्तु भिन्नताएँ अधिक हैं। इन शारीरिक भिन्नताओं के कारण ही प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही दो पैरो के बल सीधे चल सकता है, हाथो को विभिन्न कार्यो मे लगा सकता है, बोल सकता है, सोच-विचार और कल्पना कर सकता है, याद रख सकता है और भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान भी लगा सकता है। परन्तु प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही एकमात्र सामाजिक प्राणी नही है; पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तक के अपने-अपने समाज होते हैं। यह तो मानव की संस्कृति है जो उसे पशुओ से पूर्णतया पृथक् करती है। सांस्कृतिक क्षेत्र मे मनुष्यों की विलक्षणताएँ या अनोखापन वास्तव मे सुस्पष्ट है। सांस्कृतिक विकास के निम्नतम स्तर पर भी मनुष्य कुछ-न-कुछ औजारों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं, भोजन प्राप्त करने की प्रविधियों (techniques), किसी-न-किसी रूप में श्रम-विभाजन, सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन, धर्म तथा संस्कार, विचार-विनिमय के लिए भाषा आदि का अधिकारी रहा है। दूसरे शब्दो मे, आदिम-तम मानव-समाज में संस्कृति का जो स्वरूप था वह उन्नत-तम पशु-समाज मे भी नितान्त

1. Jacobs and Stern, *op. cit.*, pp. 4-5.

मानव तथा उसकी संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन है। देश और काल की सीमाओं में अपने को बाँधे बिना मानव-जाति का सम्पूर्ण अध्ययन करना इस विज्ञान का उद्देश्य है।

अन्तिम रूप में, मानवशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान किसे कहते हैं ? किसी भी अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध संग्रह को विज्ञान कहते हैं। मानवशास्त्र की अध्ययंन-वस्तु मानव, उसका समाज तथा संस्कृति है। मानवशास्त्री अवलोकन द्वारा तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करते हैं, 'क्या है' का वर्णन करते हैं, 'कैसे' का उत्तर देते हैं, और 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' की ओर संकेत करते हैं।

इतना तो निश्चित है कि मानवशास्त्र एक विज्ञान है, परन्तु यह प्राकृतिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान, इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ हो जाना आवश्यक है। इस विषय में भी दो विरोधी मत हैं। एक ओर सर्वश्री फ़ोर्टेज़ (Fortes), नैडल (Nadel) आदि के मतानुसार मानवशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है और मानव-समाजों का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों द्वारा करता है। मानवशास्त्र का वास्तविक कार्य भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सम्बन्ध में लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत करना नहीं, अपितु इन संस्कृतियों से सम्बन्धित समस्त घटनाओं तथा तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मानव-समाजों के उद्‌भव, विकास, कार्य तथा परिवर्तन के सम्बन्ध में सामाजिक नियमों (social laws) का पता लगाना है। उक्त विद्वानों का मत है कि सामाजिक जीवन में अनेक नियमावस्थाएँ (regularities) हैं जिन पर कि समय के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन की अनेक घटनाएँ कुछ निश्चित नियमानुसार होती हैं और इन नियमों (laws) का पता अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसी प्रकार लगाया जा सकता है जैसे कि प्राकृतिक विज्ञानों में प्राकृतिक नियमों (natural laws) का पता लगाया जाता है। श्री फ़ोर्टेज (Fortes) के मतानुसार यह सब इसलिए सम्भव है क्योंकि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है।

इस विचारधारा के विरोध में सर्वश्री क्रोबर (Kroeber), बिडने (Bidney), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) आदि कुछ दूसरे विचारक हैं जिनका मत है कि मानव-जीवन का केवल एक प्राकृतिक या शारीरिक और मानसिक (organic-cum-psychic) स्तर ही नहीं होता बल्कि एक सामाजिक स्तर भी होता है। मानव-समाज सौर-मण्डल (solar system) की भांति केवल एक प्राकृतिक व्यवस्था नहीं है; यह तो मानवीय या सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। वास्तव में समाज उन मानवीय सामाजिक अन्तःसम्बन्धों (interrelations) का सम्पूर्ण क्षेत्र है जो एक समूह के व्यक्तियों के बीच पाया जाता है और जो उन्हें एक व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित, नियन्त्रित तथा स्थिर रखता है। ये सामाजिक अन्तःसम्बन्ध अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न, स्थिर तथा परिवर्तित होते रहते हैं। अतः समाज एक सामाजिक व्यवस्था है, न कि प्राकृतिक। उसी प्रकार मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है और चूँकि मानवशास्त्र इसी मानव तथा उसके समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है, इस कारण इसकी गणना सामाजिक विज्ञानों (social sciences or humanities) में

होनी चाहिए।

वास्तव में, जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक पढ़ेंगे, मानवशास्त्र के दो प्रमुख भाग, जो क्रमशः मनुष्य और उसकी संस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित हैं, (1) शारीरिक मानवशास्त्र, और (2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र हैं। इनमे से शारीरिक मानवशास्त्र मानव की उत्पत्ति, उद्विकास, शारीरिक बनावट, भिन्नताओं आदि का अध्ययन है। इसके लिए इस विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों पर अत्यधिक निर्भर रहना होता है। अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र का यह भाग—शारीरिक मानवशास्त्र—अध्ययन-वस्तु तथा पद्धति की दृष्टि से प्राकृतिक विज्ञानो के अधिक निकट है। परन्तु दूसरा भाग—सांस्कृतिक मानवशास्त्र—जो कि मानव-समाज तथा उसकी संस्कृति से सम्बद्ध है, सामाजिक विज्ञानो के अधिक निकट है। इस प्रकार मानवशास्त्र प्राकृतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार का विज्ञान है।

सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र (क) मानव के शरीर तथा संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यों का ठीक-ठीक वर्णन करता है; (ख) तथ्यों और घटनाओं का उचित विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके सामान्य परिणाम निकालता है; (ग) परिवर्तन और प्रक्रियाओं के कारणों तथा दिशाओं को निश्चित करता है, तथा (घ) भविष्य में होने वाले परिवर्तनों की ओर संकेत करता है। ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युगो के सभी मनुष्यो के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक नियमों को प्रतिपादित करना इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है।[1]

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Anthropology)

समस्त जीवधारियों में मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। मनुष्यों और पशुओं में कुछ शारीरिक समानताएँ अवश्य ही हैं, परन्तु भिन्नताएँ अधिक हैं। इन शारीरिक भिन्नताओं के कारण ही प्राणी-जगत् में केवल मनुष्य ही दो पैरो के बल सीधे चल सकता है, हाथो को विभिन्न कार्यों मे लगा सकता है, बोल सकता है, सोच-विचार और कल्पना कर सकता है, याद रख सकता है और भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान भी लगा सकता है। परन्तु प्राणी-जगत् मे केवल मनुष्य ही एकमात्र सामाजिक प्राणी नहीं है; पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तक के अपने-अपने समाज होते हैं। यह तो मानव की संस्कृति है जो उसे पशुओं से पूर्णतया पृथक् करती है। सांस्कृतिक क्षेत्र मे मनुष्यों की विलक्षणताएँ या अनोखापन वास्तव में सुस्पष्ट है। सांस्कृतिक विकास के निम्नतम स्तर पर भी मनुष्य कुछ-न-कुछ औजारों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं, भोजन प्राप्त करने की प्रविधियों (techniques), किसी-न-किसी रूप में श्रम-विभाजन, सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन, धर्म तथा संस्कार, विचार-विनिमय के लिए भाषा आदि का अधिकारी रहा है। दूसरे शब्दों में, आदिम-तम मानव-समाज में संस्कृति का जो स्वरूप था वह उन्नत-तम पशु-समाज में भी नितान्त

1. Jacobs and Stern, *op. cit.*, pp. 4-5.

मानवशास्त्र करता है। साथ ही, शारीरिक मानवशास्त्र भूमण्डल के विभिन्न भागों में बिखरे हुए मानव-समूहों में जो शारीरिक भिन्नताएँ हैं उनका भी अध्ययन करता है और उनके शारीरिक लक्षणों के आधार पर उनका विभिन्न प्रजातीय-समूहों में वर्गीकरण करता है। इसीलिए श्री जे० एस० उईनर (J. S. Weiner) ने शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है—(अ) उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न मानव का अध्ययन, और (व) मानव-जनसंख्या का अध्ययन तथा विश्लेषण।[1] प्रथम विपय के अध्ययन के लिए शारीरिक मानवशास्त्रियों को सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अव तक जो मनुष्य के शारीरिक परिवर्तन हुए हैं उन पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। वे संसार में आदि मानव की खोज करते हैं और उसके शारीरिक लक्षणों से परवर्ती युग के मनुष्य के शारीरिक लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन करके उद्विकासीय प्रक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि किन-किन शारीरिक लक्षणों के उत्पन्न तथा विस्तार होने पर मनुष्य पशु-जगत् से पृथक् हो गया या किन-किन शारीरिक लक्षणों के क्रमश: लोप हो जाने पर मनुष्य पशु नहीं रह गया। इस अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत शारीरिक मानवशास्त्र साधारणतया निम्न प्रश्नों का उत्तर देता है—कहाँ और कब आदिमतम मनुष्यों का आविर्भाव हुआ? ये सव देखने में किस प्रकार के थे और इनमें परस्पर कौन-कौनसी समानताएँ या भिन्नताएँ थीं? मानव-उद्भव से लेकर अव तक उनकी शारीरिक विशेषताओं में किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं?[2]

द्वितीय विषय अर्थात् मानव-जनसंख्या के अध्ययन तथा विश्लेपण में शारीरिक मानवशास्त्र शारीरिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न मानव-समूहों में अन्तर या भेद को स्पष्ट करता है। जैसा कि पहले ही वताया जा चुका है, आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि संसार के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखरे हुए समस्त जीवित मानव-समूहों की उत्पत्ति एक ही मनुष्य-जाति, मेधावी मानव (*Homo sapiens*) से हुई है, परन्तु उत्परिवर्तन, पृथक्करण, अनुकूलन, स्थान-परिवर्तन आदि के कारण विभिन्न मानव-समूहों या प्रजातियों में अनेक शारीरिक भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं। इन्हीं शारीरिक भिन्नताओं का पता लगाना तथा उन्हीं के आधार पर प्रजातीय समूहों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना शारीरिक मानवशास्त्र का एक विशिष्ट विषय है। इस प्रकार के प्रजातीय वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत मानव के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षण, जैसे कद, खोपड़ी का माप, रक्त-समूहों का विश्लेषण, खोपड़ी का घनत्व, नासिका का माप, हाथ-पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि त्वचा, आँख और केश के रंग, होंठ, जवड़ों का ढाँचा आदि का अध्ययन होता है।

इस प्रकार शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का समावेश होता है—(क) मानव के उद्विकास का इतिहास; (ख) मनुष्यों और पशुओं

---

1. J.S. Weiner, "Physical Anthropology—An Appraisal", *American Scientist*, Vol. 45, 1957, pp. 79—87.

2. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The MacMillan, New York, 1959, p. 8.

में अन्तर; (ग) विभिन्न मानव-प्रजातियों में भेद के शारीरिक आधार; (घ) वंशानु-संक्रमण (heredity), उत्परिवर्तन (mutation) आदि की प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा शारीरिक विशेषताएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित होती हैं और इन शारीरिक विशेषताओं में अन्तर उत्पन्न होते रहते हैं; (ङ) मानव की शारीरिक भिन्नताओं के अन्य आधार या कारक। इसके अतिरिक्त शारीरिक मानवशास्त्र ऐसे प्रश्नों का भी उत्तर देने का प्रयत्न करता है जैसे, क्या प्रजातियों में उच्चता या निम्नता का प्रश्न उचित है, इसका वास्तविक आधार क्या है ?क्या शारीरिक लक्षणों में अन्तर पर्यावरण (environment) के कारण भी उत्पन्न होते हैं ? विभिन्न मानव-समूहों मे प्रजातीय मिश्रण प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित है या नहीं ? बुद्धि को प्रजातीय वर्गीकरण का आधार क्यो नही मानना चाहिए अथवा वर्तमान समय मे शुद्ध प्रजाति की धारणा क्यो अवैज्ञानिक है ?

अत: स्पष्ट है कि शारीरिक मानवशास्त्र में मनुष्य जाति के उद्‌भव तथा विकास एव शारीरिक विशेषताओ से सम्बन्धित समस्त विषयो का अध्ययन किया जाता है। और भी संक्षेप में, श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार,"शारीरिक मानवशास्त्र मानव-जीव (hominids) की शारीरिक विशेषताओ का अध्ययन है।"[1] इस विस्तृत क्षेत्र मे अध्ययन-कार्य को अधिक वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र स्वय भी कुछ उपशाखाओं अर्थात् सहायक विज्ञानों मे विभाजित है। इन सहायक विज्ञानों मे प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(अ) मानव उत्पत्तिशास्त्र (Human Genetics)—यह वह विज्ञान है जो मानव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अध्ययन करता है। इसका विशेष सम्बन्ध मानव वंशानुसक्रमण से होता है। सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत वाहकाणुओं (genes) में जो परिवर्तन होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्य के शारीरिक लक्षणो मे जो भिन्नता आ जाती है इन समस्त विषयों का अध्ययन मानव उत्पत्तिशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। दो भिन्न समूहों मे यौन-सम्बन्ध (crossing) स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जो वर्णसंकर सन्तानो की उत्पत्ति होती है उससे एक नवीन प्रजाति-समूह की रचना हो जाती है। इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्परिवर्तन (mutation), वाहकाणुओं की आकस्मिक हानि (accidental loss of genes), प्रवरण की प्रक्रिया आदि भी मानव उत्पत्ति-शास्त्र का अध्ययन-विषय है। सक्षेप मे, मानव उत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत वंशानुसंक्रमण की प्रक्रियाएँ, वंशानुसंक्रमण मे परिवर्तन की विधियाँ तथा शारीरिक अनुकूलन की प्रक्रियाएँ आती है।[2]

(ब) पुरातन मानवशास्त्र (Human Palaeontology)—शारीरिक मानवशास्त्र की एक प्रमुख उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र है जो कि प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-

---

1. "Physical anthropology is the study of the physical characteristics of the *hominids*."—E.A. Hoebel, *op. cit.*, p. 4.

2. Beals and Hoijer. *op. cit.*, p. 9

मानवशास्त्र करता है। साथ ही, शारीरिक मानवशास्त्र भूमण्डल के विभिन्न भागों में बिखरे हुए मानव-समूहों में जो शारीरिक भिन्नताएँ हैं उनका भी अध्ययन करता है और उनके शारीरिक लक्षणों के आधार पर उनका विभिन्न प्रजातीय-समूहों में वर्गीकरण करता है। इसीलिए श्री जे० एस० उईनर (J. S. Weiner) ने शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है—(अ) उद्‌विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न मानव का अध्ययन, और (ब) मानव-जनसंख्या का अध्ययन तथा विश्लेषण।[1] प्रथम विषय के अध्ययन के लिए शारीरिक मानवशास्त्रियों को सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक जो मनुष्य के शारीरिक परिवर्तन हुए हैं उन पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। वे संसार में आदि मानव की खोज करते हैं और उसके शारीरिक लक्षणों से परवर्ती युग के मनुष्य के शारीरिक लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन करके उद्‌विकासीय प्रक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि किन-किन शारीरिक लक्षणों के उत्पन्न तथा विस्तार होने पर मनुष्य पशु-जगत् से पृथक् हो गया या किन-किन शारीरिक लक्षणों के क्रमशः लोप हो जाने पर मनुष्य पशु नहीं रह गया। इस अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत शारीरिक मानवशास्त्र साधारणतया निम्न प्रश्नों का उत्तर देता है—कहाँ और कब आदिमतम मनुष्यों का आविर्भाव हुआ? ये सब देखने में किस प्रकार के थे और इनमें परस्पर कौन-कौनसी समानताएँ या भिन्नताएँ थीं? मानव-उद्‌भव से लेकर अब तक उनकी शारीरिक विशेषताओं में किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं?[2]

द्वितीय विषय अर्थात् मानव-जनसंख्या के अध्ययन तथा विश्लेषण में शारीरिक मानवशास्त्र शारीरिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न मानव-समूहों में अन्तर या भेद को स्पष्ट करता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि संसार के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखरे हुए समस्त जीवित मानव-समूहों की उत्पत्ति एक ही मनुष्य-जाति, मेधावी मानव (*Homo sapiens*) से हुई है, परन्तु उत्परिवर्तन, पृथक्करण, अनुकूलन, स्थान-परिवर्तन आदि के कारण विभिन्न मानव-समूहों या प्रजातियों में अनेक शारीरिक भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं। इन्हीं शारीरिक भिन्नताओं का पता लगाना तथा उन्हीं के आधार पर प्रजातीय समूहों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना शारीरिक मानवशास्त्र का एक विशिष्ट विषय है। इस प्रकार के प्रजातीय वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत मानव के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षण, जैसे कद, खोपड़ी का माप, रक्त-समूहों का विश्लेषण, खोपड़ी का घनत्व, नासिका का माप, हाथ-पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि त्वचा, आँख और केश के रंग, होंठ, जबड़ों का ढाँचा आदि का अध्ययन होता है।

इस प्रकार शारीरिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का समावेश होता है—(क) मानव के उद्‌विकास का इतिहास; (ख) मनुष्यों और पशुओं

---

1. J.S. Weiner, "Physical Anthropology—An Appraisal", *American Scientist*, Vol. 45, 1957, pp. 79—87.

2. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The MacMillan ., New York, 1959. p. 8.

में अन्तर; (ग) विभिन्न मानव-प्रजातियों में भेद के शारीरिक आधार; (घ) वंशानुसंक्रमण (heredity), उत्परिवर्तन (mutation) आदि की प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा शारीरिक विशेषताएँ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित होती हैं और इन शारीरिक विशेषताओ मे अन्तर उत्पन्न होते रहते हैं; (ङ) मानव की शारीरिक भिन्नताओं के अन्य आधार या कारक। इसके अतिरिक्त शारीरिक मानवशास्त्र ऐसे प्रश्नो का भी उत्तर देने का प्रयत्न करता है जैसे, क्या प्रजातियों में उच्चता या निम्नता का प्रश्न उचित है, इसका वास्तविक आधार क्या है ?क्या शारीरिक लक्षणों मे अन्तर पर्यावरण (environment) के कारण भी उत्पन्न होते हैं ? विभिन्न मानव-समूहों में प्रजातीय मिश्रण प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित है या नही ? बुद्धि को प्रजातीय वर्गीकरण का आधार क्यो नही मानना चाहिए अथवा वर्तमान समय मे *शुद्ध प्रजाति की धारणा क्यो अवैज्ञानिक है ?*

अत: स्पष्ट है कि शारीरिक मानवशास्त्र मे मनुष्य जाति के उद्‌भव तथा विकास एव शारीरिक विशेषताओ से सम्बन्धित समस्त विषयों का अध्ययन किया जाता है। और भी संक्षेप में, श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार,"शारीरिक मानवशास्त्र मानव-जीव (hominids) की शारीरिक विशेषताओ का अध्ययन है।"[1] इस विस्तृत क्षेत्र में अध्ययन-कार्य को अधिक वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए शारीरिक मानवशास्त्र स्वयं भी कुछ उपशाखाओ अर्थात् सहायक विज्ञानो मे विभाजित है। इन सहायक विज्ञानो में प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(अ) मानव उत्पत्तिशास्त्र (Human Genetics)—यह वह विज्ञान है जो मानव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अध्ययन करता है। इसका विशेष सम्बन्ध मानव वशानुसंक्रमण से होता है। सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत वाहकाणुओं (genes) मे जो परिवर्तन होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्य के शारीरिक लक्षणो मे जो भिन्नता आ जाती है इन समस्त विषयो का अध्ययन मानव उत्पत्तिशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। दो भिन्न समूहों मे यौन-सम्बन्ध (crossing) स्थापित हो जाने के फलस्वरूप जो वर्णसंकर सन्तानों की उत्पत्ति होती है उससे एक नवीन प्रजाति-समूह की रचना हो जाती है। इस प्रक्रिया के अतिरिक्त उत्परिवर्तन (mutation), वाहकाणुओं की आकस्मिक हानि (accidental loss of genes), प्रवरण की प्रक्रिया आदि भी मानव उत्पत्ति-शास्त्र का अध्ययन-विषय है। सक्षेप मे, मानव उत्पत्तिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत वंशानुसंक्रमण की प्रक्रियाएँ, वशानुसंक्रमण में परिवर्तन की विधियाँ तथा शारीरिक अनुकूलन को प्रक्रियाएँ आती है।[2]

(ब) पुरातन मानवशास्त्र (Human Palaeontology)—शारीरिक मानवशास्त्र की एक प्रमुख उपशाखा पुरातन मानवशास्त्र है जो कि प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-

---

1. "Physical anthropology is the study of the physical characteristics of the *hominids*."—E A. Hoebel, *op. cit.*, p. 4.

2. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 9

पंजरों तथा उनके अवशेषों (fossils remains) के अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा इस सत्य की खोज करती है कि मनुष्य के शारीरिक ढाँचे में क्यों, कैसे, कब और कहाँ पशुओं से भिन्नता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार के अस्थि-पंजरों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मानव-उद्विकास का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था और सम्भवतः कितने वर्ष पहले बन्दर तथा मनुष्य में स्पष्ट अन्तर उत्पन्न हो गये थे। इस प्रकार प्राचीन मानव के उद्विकास का अध्ययन सम्भव हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के प्रस्तरीकृत मानवीय अस्थि-पंजरों को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त कठिन है और अब तक बहुत ही कम प्राप्त हो पाए हैं, फिर भी इस उपाय से प्राचीन मानव के विषय में अर्थात् बन्दर आदि से मानव के उद्विकास के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त की गई है।

(स) मानव-मिति (Anthropometry)—यह मानव के शारीरिक लक्षणों को नापने का विज्ञान है इस विज्ञान में मानव-शरीर के विभिन्न अंगों जैसे, खोपड़ी, नाक आदि को नापने के लिए पृथक्-पृथक् देशना (Index) निश्चित हैं जिनकी सहायता से इन अंगों को अंकों में अभिव्यक्त करना सम्भव हो गया। उदाहरणार्थ, सिर की चौड़ाई से सिर की लम्बाई का भाग देकर 100 से गुणा करने पर शीर्षदेशना (Caphalic Index) निकल आती है। इसी देशना के अनुसार सिर तीन प्रकार के बताये जाते हैं—लम्बे सिर, माध्यमिक सिर और चौड़ा सिर। इसी प्रकार नासिकादेशना (Nasal-Index) भी निकाली जाती है। ये सब शारीरिक लक्षण ही विभिन्न मानव-प्रजातियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार हैं। दूसरे शब्दों में, मानव-मिति की सहायता से हम विभिन्न मानव-समूहों के शारीरिक लक्षणों को नापते हैं और उसी नाप के आधार पर एक मानव-समूह को दूसरे समूह से पृथक् करते हैं। मानव-मिति में मनुष्य के निश्चित तथा अनिश्चित दोनों ही प्रकार के शारीरिक लक्षणों का समावेश होता है। निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हें निश्चित रूप से नापा जा सकता है, जैसे सिर, नाक, कद आदि का नाप। इसके विपरीत अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हें निश्चित रूप से नहीं नापा जा सकता है, जैसे शरीर का रंग, बालों की बनावट, नेत्र का रंग आदि। फिर भी मानव-मिति मानवशास्त्र को यथार्थता (exactness) प्रदान करने में काफी सहायक सिद्ध हुई है।

(2) सांस्कृतिक मानवशास्त्र

(Cultural Anthropology)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य और पशुओं में कुछ शारीरिक समानताएँ होते हुए भी भिन्नताएँ अधिक हैं। दो पैरों के बल सीधे चल सकना, हाथों से विभिन्न कार्यों को करने की शक्ति, भाषा, अधिक विस्तृत तथा जटिल मस्तिष्क जिसके कारण विचारने, कल्पना करने् तथा याद रखने की शक्ति का होना आदि मनुष्यों को पशुओं से पृथक् करता है। ये सभी शारीरिक विशेषताएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और इनके कारण ही मनुष्य यंत्र तथा औज़ारों का आविष्कार कर उन्हें बना सका है, रहने के लिए आवास का निर्माण कर सका है, खाने के लिए धरती पर अनाज उपजा सका है, ज्ञान, निर्माण-

कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, संस्थाएँ, सामाजिक संगठन तथा अन्य ऐसी क्षमताओं और आदतों को विकसित एवं स्थापित कर सका है। इनके द्वारा मनुष्यों की प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति और पर्यावरण से उनका अनुकूलन सम्भव हुआ है। इस प्रकार संस्कृति सम्पूर्ण पर्यावरण का वह भाग है जो मनुष्यों द्वारा बनाई गई है और जो कि वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा नहीं बल्कि मानवीय अन्त:क्रियाओं द्वारा हस्तान्तरित (transmitted) होती रहती है। समस्त जीवधारियों में केवल मानव ही एकमात्र संस्कृति का सृष्टिकर्त्ता है और कुछ शारीरिक समानता होने पर भी मानव की संस्कृति ही उसे पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् कर देती है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र इसी संस्कृति का अध्ययन है। इस विज्ञान का उद्देश्य मानव के सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पक्षों का अध्ययन तथा विभिन्न मानव-समूहों की सांस्कृतिक जीवन में भिन्नताओं के कारण का विश्लेषण तथा वर्णन करना है सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों में, "सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानव-संस्कृतियों की उत्पत्ति तथा इतिहास, उनका उद्विकास एवं विकास और प्रत्येक स्थान तथा काल में मानव-संस्कृतियों के ढाँचे एवं कार्यों का अध्ययन करता है।"[1] इस प्रकार सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत मानव-संस्कृतियों की समस्त वास्तविकताएँ आ जाती हैं, चाहे वह संस्कृति आदिकालीन संस्कृति हो या किसी सभ्य समाज की। संस्कृतियों की उत्पत्ति, उनका विकास तथा विस्तार किस प्रकार होता है, संस्कृति के द्वारा मानव का अनुकूलन अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से किस प्रकार सम्भव होता है, समय के बीतने के साथ-साथ तथा अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर सांस्कृतिक परिवर्तन किस प्रकार होता है, किस प्रकार एक संस्कृति में जन्म लेने के पश्चात् व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी संस्कृति के साँचे में ढलता चला जाता है और किस ढंग से मनुष्य की यह सामाजिक विरासत (social heritage) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है—इन समस्त विषयों में सांस्कृतिक मानवशास्त्र विशेष रुचि रखता है। अतः स्पष्ट है कि मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन एवं संस्थाएं तथा इन सबके अन्तर्निहित नियमों (Laws) आदि सभी का अध्ययन सांस्कृतिक मानवशास्त्र के विषय-क्षेत्र में है।

इस प्रकार सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसीलिए यह विज्ञान प्रमुख रूप से चार उप-विज्ञानों में विभाजित है—पुरातत्वशास्त्र (archaeology), प्रजातिशास्त्र (ethnology), भाषा-विज्ञान (linguistics) तथा सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology)। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना अध्ययन-विषय है जिनका कि अध्ययन वे अपनी-अपनी विशिष्ट अध्ययन-प्रणाली द्वारा करते हैं। यहाँ संक्षेप में उक्त चार विज्ञानों के विषय में जान लेना उचित होगा।

1. "Cultural anthropology studies the origin and history of man's cultures, their evolution and development, and the structure and the functioning of human cultures in every place and time."—*Ibid.*, p. 9.

(क) पुरातत्वशास्त्र (Archaeology) :—प्राय: एक शताब्दी पुराना पुरातत्व-शास्त्र का शाब्दिक अर्थ है प्राचीन का अध्ययन (Archaeology = Gr. *archaios* ancient + *logia* study)। अधिक स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र खुदाइयों (excavations) से प्राप्त कंकालीय (skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषों के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन का अध्ययन है। संकुचित अर्थ में पुरातत्वशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की हस्तकला (handicraft) के अवशेष हैं। परन्तु वास्तव में, जैसा कि श्री नेल्सन (Nelson) का मत है, "पुरातत्वशास्त्र मनुष्य तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, प्राचीन अवस्था तथा विकास से सम्बन्धित समस्त भौतिक अवशेषों का अध्ययन है।"[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि "पुरातत्वशास्त्र या प्राग्-इतिहास प्राथमिक रूप से प्राचीन संस्कृतियों तथा आधुनिक सभ्यताओं की भूतकालीन अवस्थाओं का अध्ययन है।"[2] इस विज्ञान का प्राथमिक सम्पर्क उस युग के मानव, समाज तथा संस्कृति से होता है जिसके सम्बन्ध में कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। इस कारण इसकी खोज का एकमात्र आधार खुदाइयों से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते हैं। इस प्रकार प्राप्त प्रागैतिहासिक औज़ारों, उपकरणों तथा मानव-कलाकृति के अन्य अवशेषों का जब अध्ययन होता है तो मानव-इतिहास की प्रक्रियाओं, सामाजिक जीवन, संस्कृति आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पड़ता है तथा उससे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओं का वैज्ञानिक, और इसलिए निर्भर योग्य ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, सन् 1921 से पूर्व सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात न था। परन्तु मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की जो खुदाई हुई उससे जमीन के नीचे दबे हुए दो शहर तथा अन्य अनेक अवशेष प्राप्त हुए जिनसे कि सिन्धु-घाटी की एक प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पड़ा। इसने, जैसा कि श्री आर० ई० एम० ह्वीलर (R. E. M. Wheeler) ने कहा है, भारतीय सभ्यता के इतिहास को तीन हजार ई० पू० (B. C.) पीछे फेंक दिया है क्योंकि मोहनजोदड़ो सभ्यता का काल 3250 और 2750 ई० पू० के बीच निश्चित किया गया है। इसी प्रकार प्राचीन मानव-संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयों का ज्ञान हमें पुरातत्वशास्त्रियों की खोजों से प्राप्त होता है। इनका काम कठिन अवश्य है परन्तु मानव-इतिहास तथा संस्कृति के पुनर्निर्माण में इनकी खोजों का महत्व भी उतना ही अधिक है। जिस युग के सम्बन्ध में कोई भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, उस समय के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के प्रतिमान (pattern) के पुनर्निर्माण में जमीन से खोदकर निकाले गये प्राचीन औजार, हथियार, मकान तथा अन्य इस प्रकार

के भौतिक अवशेष ही एकमात्र साधन हैं। उदाहरणार्थ, यदि केवल तीर-धनुष ही प्राप्त होते हैं तो हम यह कहते हैं कि उस युग में लोग शिकार करने की स्थिति (Hunting stage) में थे। उसी प्रकार ज़मीन की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर ही मानव के सांस्कृतिक विकास को प्रस्तर-युग (Stone age), ताम्र-युग (Copper age), कांस्य-युग (Bronze age) तथा लौह-युग (Iron age)—इन चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जाता है। यद्यपि इन अवशेषों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों पर पूर्णतया निर्भर नहीं रहा जा सकता है, फिर भी प्रागैतिहासिक युगों के मानव, समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक सम्भावित तथ्यों का ज्ञान हमें अवश्य ही होता है।

अतः स्पष्ट है कि पुरातत्वशास्त्र का उद्देश्य या लक्ष्य मानव-संस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को अधिकतम विस्तृत करना तथा मानव की प्राचीनतम कृतियों एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के सामान्य नियमों अथवा अन्तर्धाराओं से हमें परिचित कराना है। यह विज्ञान मानव तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और/अथवा पतन एवं भौगोलिक वितरण के सम्बन्ध में हमें ज्ञान कराता है और यह भी बताता है कि प्रागैतिहासिक युगों में प्रमुख मानव-आविष्कार कहाँ और कब हुए तथा वे कैसे संसार के विभिन्न भागों में फैल गये।"[1] परन्तु चूँकि पुरातत्वशास्त्र के निष्कर्ष ज़मीन की खुदाइयों से उपलब्ध भौतिक अवशेषों पर आधारित होते हैं, इस कारण इस विज्ञान की सहायता से हमें प्राचीन मानव समाज की केवल भौतिक संस्कृति के सम्बन्ध में अधिक निश्चित ज्ञान हो पाता है। पुरातत्वशास्त्र हमें प्राचीन मानव के औज़ार, हथियार, बर्तन, मकान, आभूषण आदि के सम्बन्ध में तो बता सकता है, किन्तु उनकी अभौतिक संस्कृति, जैसे मनोविचार, जीवन-दर्शन, विश्वास, प्रथा, रीति-रिवाज, नियम-कानून आदि के सम्बन्ध में कुछ भी बताना इस विज्ञान के लिए असम्भव होता है। इन विषयों पर जो कुछ भी थोड़ा-बहुत बताया जाता है वह पूर्णतया अनुमान पर निर्भर होता है। फिर भी पुरातत्वशास्त्रियों द्वारा उन प्रक्रियाओं तथा अन्तर्धाराओं के विश्लेषण तथा निरूपण से, जिनके द्वारा मानवीय समाजों, संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रम-विकास हुआ है, हमें वर्तमान को समझने तथा भविष्यवाणी करके भविष्य के मानवीय विकास को नियन्त्रित करने में पर्याप्त सहायता मिली है।"[2]

(ख) प्रजातिशास्त्र (Ethnology)—कहा जा सकता है कि प्रजातिशास्त्र का कार्यक्षेत्र वहीं पर प्रारम्भ होता है जहाँ पुरातत्वशास्त्र का कार्यक्षेत्र समाप्त होता है।[3] शाब्दिक रूप से प्रजातिशास्त्र (Ethnology) = Gr. *ethnos* race, people + *logia* study) का अर्थ है प्रजातियों का अध्ययन। परन्तु यह शाब्दिक अर्थ प्रजातिशास्त्र का वास्तविक परिचय नहीं है। श्री हॉबल (Hoebel) के शब्दों में, प्रजातिशास्त्र "प्रजातियों का अध्ययन नहीं है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है; प्रजातिशास्त्र संसार की

1. N.C. Ne' [illegible]
2. [illegible]

संस्कृतियों का अध्ययन है।"[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि प्रजातिशास्त्र संस्कृति का सिद्धान्त या विज्ञान है।[2] प्रजातिशास्त्री (ethnologist) भूमण्डल में बिखरी हुई विविध संस्कृतियों को खोजते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते हैं, चाहे वे संस्कृतियाँ पिछड़ी जनजातियों (tribes) की हों या सभ्य मानव की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रजातिशास्त्रियों को संसार के प्रत्येक भाग के अनेक प्रजातीय समूहों के निकट सम्पर्क में आना पड़ता है जिससे उनकी संस्कृतियों के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण, निरूपण तथा तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सके।

संसार की संस्कृतियों में अनेक विविधताएँ हैं। उनमें समय तथा समाज के अनुसार भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। फिर भी बहुतेरी संस्कृतियों में, उनके एक-दूसरे से बहुत दूर होने पर भी, अनेक आश्चर्यजनक समानताएँ भी पाई जाती हैं। प्रजातिशास्त्र मानव-समूहों की विविध संस्कृतियों की इन समानताओं तथा भिन्नताओं के अध्ययन में विशेष रुचि रखता है और इस बात की व्याख्या करता है कि ये समानताएँ तथा विभिन्नताएँ क्यों हैं। हाल में प्रजातिशास्त्रियों ने संस्कृति का व्यक्तित्व के विकास में महत्व तथा व्यक्ति का सांस्कृतिक विकास या परिवर्तन में कार्य (role) आदि विषयों पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया है।

(ग) भाषा-विज्ञान (Linguistics)—मनुष्यों और पशुओं में एक प्रमुख अन्तर

ताओं को एवं मानव-समाज में विशेषकर संस्कृति और सभ्यता के विकास में भाषा के महत्त्व को खोज निकालता है। इस प्रकार मानव की संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग का वैज्ञानिक ज्ञान हमें भाषा-विज्ञान से होता है। इसीलिए इसे सांस्कृतिक मानवशास्त्र का एक प्रमुख उपविज्ञान मानना ही उचित होगा, किन्तु इसका क्षेत्र इतना महत्त्वपूर्ण है कि मानवशास्त्र के अन्य उप-विज्ञानों की अपेक्षा भाषा-विज्ञान अधिक स्वतन्त्र तथा स्वयं पूर्ण है।

(घ) सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology)—बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र में कोई भेद समझा नहीं जाता है। परन्तु दोनों को एक समझना उचित न होगा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सांस्कृतिक मानव-शास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण संस्कृति है। इस प्रकार इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उसकी एक शाखा-मात्र है क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल संस्थागत (institutionalized) सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक सगठन, न्याय-व्यवस्था आदि आते हैं। यह सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है। अगले अध्याय में हम इस विज्ञान के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना से मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सम्पूर्ण मानव है। यह मानव आदिम सांस्कृतिक स्तर पर हो या सभ्य समाज का सदस्य; अफ्रीका के जंगली प्रदेश का निवासी हो या अमेरिका के आधुनिकतम नगर का; ऐतिहासिक युग का हो या प्रागैतिहासिक युग का—समस्त काल तथा स्थान के मानव का अध्ययन मानवशास्त्र है। सांस्कृतिक स्तर, देश एवं काल की सीमाओं से बाध्य न होकर मानव-जाति के शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पक्ष इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में आते हैं। अति संक्षेप में, **मानव द्वारा मानव का सम्पूर्ण व वैज्ञानिक अध्ययन मानवशास्त्र है।**

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The MacMillan Co., New York, 1959.

2. Boas, *General Anthropology*, D. C. Heath & Co., New York, 1938.

3. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.

5. Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1948.

2 सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र (The Nature and Scope of Social Anthropology)

बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र में कोई भेद नहीं समझा जाता है। वास्तव में ऐसा समझना उचित न होगा क्योंकि सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण संस्कृति है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहार, सामाजिक तथा राजकीय संगठन, परिवार, न्याय-व्यवस्था आदि का अध्ययन करता है। सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है। फिर भी श्री लुई (Lowie) का मत है कि चूंकि संस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक विरासत (Social heritage) है। इस कारण संस्कृति और समाज परस्पर सम्बन्धित धारणाएँ हैं। समस्त सम्भावित समाजों में सांस्कृतिक तथा सामाजिक मानवशास्त्र एक ही होगा।[1] श्री लेवी-स्ट्रॉस (Levi-Strauss) ने इन दो विज्ञानों में विभाजन-रेखा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानव को दो प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप में या सामाजिक प्राणी के रूप में। अगर आप उसकी उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप में विवेचना कर रहे हैं तो आप उपकरण से प्रारम्भ करते हैं और उपकरण के रूप में मानते हुए उन संस्थाओं तक पहुँचते हैं जिनके कारण सामाजिक सम्बन्ध सम्भव होता है। यही सांस्कृतिक मानवशास्त्र है। अगर आप मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में विचारते हैं तो आप सामाजिक सम्बन्ध से प्रारम्भ करते हैं और उस विधि के रूप में, जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्ध स्थिर रहता है, उपकरण तथा संस्कृति तक पहुँचते हैं। यही सामाजिक मानवशास्त्र है। इनमें भेद केवलमात्र दृष्टिकोण का है और सामाजिक मानवशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्र की विधि-व्यवस्था में कोई गम्भीर अन्तर नहीं है।[2] संक्षेप में, इन दो

---

1. "Culture being the whole of the social heritage, culture and society are correlative concepts. In the best of possible words cultural and social anthropology would be one."—Lowie, see *An Appraisal of Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, 1953, p. 223.

2. "Man can be defined in two ways : as a tool-making animal or as a social animal. If you consider him as a tool-making animal, you start with tools and go to institutions as tools which make the social relations possible. That is cultural anthropology. If you consider him as a social animal, you start with social relations and reach tools and culture, in the wide sense of the term, as the way in which social relations are maintained. The difference is exclusively one of point of view, and there is no deep difference between the approach of social anthropology and that of cultural anthropology."—Levi-Strauss, *Ibid.*, p. 224.

विज्ञानों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा न होते हुए भी सामान्यत. सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानव को संस्कृति का एकमात्र निर्माता मानकर उसके आविष्कार, निर्माण-कला, सामाजिक संगठन, संस्थाएँ, साहित्य, कला, धर्म, विचार आदि का अध्ययन और विश्लेषण करता है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र उसी मानव को एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके सामाजिक व्यवहारों, संस्थाओं तथा संगठनों का अध्ययन एवं निरूपण है।

सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Social Anthropology)

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो कि आदिम समाजों का अध्ययन करती है।[1] आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं (Social system) का अध्ययन है। सामाजिक मानवशास्त्र भी इन्हीं सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन है परन्तु इसका सम्पर्क विशेष रूप से आदिम समाजों से होता है। इससे पूर्व अपने एक लेख में श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने ही सामाजिक मानवशास्त्र को एक दूसरी तरह से परिभाषित किया था—"सामाजिक मानवशास्त्र विविध प्रकार से समाजों की क्रमबद्ध तुलना द्वारा मानव-समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में खोज है।"[2]

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा मानी जा सकती है—वह शाखा जो कि मुख्यत: अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है।"[3] आपके अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार, सामान्यत: संस्थागत स्वरूपों में, जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास इत्यादि और इन संस्थाओं में पारस्परिक सम्बन्धों, का अध्ययन है; यह इन सबका अध्ययन उन समकालीन या ऐतिहासिक समाजों में करता है जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हो सकें।[4]

---

1. "Social an[illegible] 'primitive' or pre-li[illegible] Science of Culture,' [illegible]

2. "Social A[illegible] society by the systen[illegible] Brown, *The Develop*[illegible] p. 1.

3. "Social anthropology can be regarded as a branch of sociological studies, that branch which chiefly devotes itself to primitive societies."—E.E. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1954, p. 11.

4. [illegible] in [illegible]

2 सामाजिक मानवशास्त्र की प्रकृति तथा क्षेत्र (The Nature and Scope of Social Anthropology)

बहुधा सामाजिक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र में कोई भेद नहीं समझा जाता है। वास्तव में ऐसा समझना उचित न होगा क्योंकि सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय मानव की सम्पूर्ण संस्कृति है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहार, सामाजिक तथा राजकीय संगठन, परिवार, न्याय-व्यवस्था आदि का अध्ययन करता है। सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है। फिर भी श्री लूई (Lowie) का मत है कि चूंकि संस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक विरासत (Social heritage) है। इस कारण संस्कृति और समाज परस्पर सम्बन्धित धारणाएँ हैं। समस्त सम्भावित समाजों में सांस्कृतिक तथा सामाजिक मानवशास्त्र एक ही होगा।[1] श्री लेवी-स्ट्रॉस (Levi-Strauss) ने इन दो विज्ञानों में विभाजन-रेखा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानव को दो प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप में या सामाजिक प्राणी के रूप में। अगर आप उसको उपकरण-निर्माणकारी प्राणी के रूप में विवेचना कर रहे हैं तो आप उपकरण से प्रारम्भ करते हैं और उपकरण के रूप में मानते हुए उन संस्थाओं तक पहुँचते हैं जिनके कारण सामाजिक सम्बन्ध सम्भव होता है। यही सांस्कृतिक मानवशास्त्र है। अगर आप मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में विचारते हैं तो आप सामाजिक सम्बन्ध से प्रारम्भ करते हैं और उस विधि के रूप में, जिसके द्वारा सामाजिक सम्बन्ध स्थिर रहता है, उपकरण तथा संस्कृति तक पहुँचते हैं। यही सामाजिक मानवशास्त्र है। इनमें भेद केवलमात्र दृष्टिकोण का है और सामाजिक मानवशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्र की विधि-व्यवस्था में कोई गम्भीर अन्तर नहीं है।[2] संक्षेप में, इन दो

1. "Culture being the whole of the social heritage, culture and society are correlative concepts. In the best of possible words cultural and social anthropology would be one."—Lowie, see *An Appraisal of Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, 1953, p. 223.

2. "Man can be defined in two ways : as a tool-making animal or as a social animal. If you consider him as a tool-making animal, you start with tools and go to institutions as tools which make the social relations possible. That is cultural anthropology. If you consider him as a social animal, you start with social relations and reach tools and culture, in the wide sense of the term, as the way in which social relations are maintained. The difference is exclusively one of point of view, and there is no deep difference between the approach of social anthropology and that of cultural anthropology."—Levi-Strauss, *Ibid.*, p. 224.

विज्ञानों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा न होते हुए भी सामान्यत: सांस्कृतिक मानव-शास्त्र मानव को संस्कृति का एकमात्र निर्माता मानकर उसके आविष्कार, निर्माण-कला, सामाजिक संगठन, संस्थाएँ, साहित्य, कला, धर्म, विचार आदि का अध्ययन और विश्लेषण करता है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र उसी मानव को एक सामाजिक प्राणी मानकर उसके सामाजिक व्यवहारों, संस्थाओं तथा संगठनों का अध्ययन एवं निरूपण है।

सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Social Anthropology)

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने सामाजिक मानवशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो कि आदिम समाजों का अध्ययन करती है।[1] आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं (Social system) का अध्ययन है। सामाजिक मानवशास्त्र भी इन्हीं सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन है परन्तु इसका सम्पर्क विशेष रूप से आदिम समाजों से होता है। इससे पूर्व अपने एक लेख में श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने ही सामाजिक मानवशास्त्र को एक दूसरी तरह से परिभाषित किया था—"सामाजिक मानवशास्त्र विविध प्रकार के समाजों की क्रमबद्ध तुलना द्वारा मानव-समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में खोज है।"[2]

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा मानी जा सकती है—वह शाखा जो कि मुख्यत: अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है।"[3] आपके अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार, सामान्यत: संस्थागत स्वरूपों में, जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास इत्यादि और इन संस्थाओं में पारस्परिक सम्बन्धों, का अध्ययन है; यह इन सबका अध्ययन उन समकालीन या ऐतिहासिक समाजों में करता है जहाँ इस प्रकार के अध्ययन के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हो सकें।[4]

---

1. "Social anthropology is that branch of sociology which deals with 'primitive' or pre-literate societies."—Radcliffe-Brown 'White's View of a Science of Culture,' *American Anthropologist*, Vol. 51, No. 3, 1949, p. 503.

2. "Social Anthropology is the investigation of the nature of human society by the systematic comparison of societies of diverse kinds."—Radcliffe-Brown, *The Development of Social Anthropology*, University of Chicago, 1936, p. 1.

3. "Social anthropology can be regarded as a branch of sociological studies, that branch which chiefly devotes itself to primitive societies"—E.E. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Ill., 1954, p. 11.

4. "It studies......social [illegible] such as the family, [illegible] religious cul[illegible] stud[illegible]

श्री नैडेल के अनुसार, "सामाजिक मानवशास्त्र 'इतिहास विहीन' समाजों का और 'अपरिचित' प्रकृति की संस्कृतियों का अध्ययन है।"[1] एक परवर्ती लेख में श्री नैडेल ने यह भी लिखा है कि "सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य आदिम मनुष्यों को, उनके द्वारा निर्मित संस्कृति को और उस सामाजिक व्यवस्था को, जिनमें वे रहते और कार्य करते हैं, समझना है।"[2] श्री मुरडॉक (Murdock) के विचार में "सामाजिक मानवशास्त्र सांस्कृतिक मानवशास्त्र की केवल मात्र वह शाखा है जोकि अन्त:वैयक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करती है।"[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवहार तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन, व्यवस्था या ढाँचे का वह विज्ञान है जो कि प्रधानतया आदिकालीन समाज तथा मनुष्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।**

सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Social Anthropology)

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उदाहरणार्थ, सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन, नैडेल, पिडिंगटन आदि विद्वान सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित रूप में आदिकालीन समाज तथा मनुष्यों तक ही सीमित कर देते हैं, जबकि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र 'मुख्यत:' अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाता है, अर्थात् सामाजिक मानवशास्त्र 'केवल' आदिम समाजों के अध्ययन तक ही सीमित है, इस बात से श्री इवान्स-प्रिटचार्ड सहमत नहीं हैं; यद्यपि आदिम समाजों का अध्ययन इस विज्ञान का विशेष उद्देश्य है। उसी प्रकार श्री रैडक्लिफ-ब्राउन के मतानुसार उन समाजों या सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन है जिनकी 'समग्र' रूप में तुलना की जा सके। दूसरे शब्दों में, सामाजिक मानवशास्त्र सीमित समाजों या सामाजिक व्यवस्थाओं को अपने अध्ययन का विषय बनाकर सामाजिक जीवन को उसकी समग्रता में देखने और तुलना करने का यत्न करता है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड श्री रैडक्लिफ-ब्राउन की भांति सामाजिक व्यवस्थाओं पर नहीं, सामाजिक व्यवहार और सामाजिक

---

1. "The social anthropology examines societies 'without history', and cultures of an 'exotic' nature."—S. F. Nadel, *The Foundation of Social Anthropology*, 1953, p. 6.

2. "The primary object of social anthropology is to understand primitive peoples, the cultures they have created, and the social system in which they live and act."—S. F. Nadel, *Understanding Primitive People. Oceania*, Vol. XXV 1, No. 3, 1956, p. 159.

3. "Social anthropology seems to me to be simply the branch of cultural anthropology that deals with interpersonal relationships."—Murdock, see *An Appraisal of Anthropology Today*, p. 224.

संस्थाओं को सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत लाते हैं। श्री नैडेल सामाजिक व्यवस्थाओं को सामाजिक मानवशास्त्र का न्यायसंगत अध्ययन-विषय मानते हुए भी उपर्युक्त दो विद्वानों से इस अर्थ में असहमत हैं कि आप संस्कृति को सामाजिक मानवशास्त्र का उचित प्रसंग (theme) स्वीकार कर लेते हैं। श्री पिडिंगटन के मतानुसार "सामाजिक मानवशास्त्री समकालीन आदिम समुदायों की संस्कृतियों का अध्ययन करते हैं।"[1]

उपर्युक्त विद्वानों के विभिन्न मतों की यथार्थता को समझने के लिए यह उचित होगा कि हम इस विषय पर ध्यान दें कि सामाजिक मानवशास्त्र वास्तव में क्या अध्ययन करता है। इसके लिए सर्वप्रथम यह विवेचना करनी होगी कि सामाजिक मानवशास्त्री क्या 'नहीं' करते हैं। प्रथम, सामाजिक मानवशास्त्रियों का अध्ययन केवल मात्र आदिम समाजों तक ही सीमित नहीं होता है। मानवशास्त्री ने देश एवं काल की सीमाओं में अपने को न बाँधते हुए सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा प्रत्येक देश व काल के समाजों का वर्णन तथा विश्लेषण किया है और करते हैं। परन्तु वे अधिकांशतः आदिम समाजों के अध्ययन में अधिक प्रयत्नशील होते हैं क्योंकि आदिम समाज छोटे, सरल तथा विभिन्नता-रहित होते हैं और इस कारण ऐसे समाजों का अध्ययन सुविधापूर्वक, सुसंगठित एवं सुनिश्चित रूप से किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान आधुनिक जटिल समाजों के अध्ययन में अधिक सहायक होता है। द्वितीय, सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है। यह कार्य सांस्कृतिक मानवशास्त्र का है। इस अर्थ में सांस्कृतिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक मानवशास्त्र उस व्यापक विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है और इस रूप में केवल संस्थागत सामाजिक व्यवहार सामाजिक संस्थाओं व संगठन तथा व्यवसायों का अध्ययन करता है। तृतीय, चूँकि सामाजिक मानवशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन नहीं है, इसी कारण वह 'समग्र' (whole) समाज का अध्ययन या तुलना भी नहीं हो सकता है। वास्तव में ऐसा सम्भव भी नहीं है। श्री पॉप्पर ने उचित ही कहा है कि "यदि हमें किसी चीज का अध्ययन करना है तो हमें उसके कुछ पहलुओं को चुनना ही होगा। हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम संसार के समग्र भाग का या प्रकृति के समग्र भाग का अवलोकन करें या उसका वर्णन करें क्योंकि समस्त वर्णन ही आवश्यक रूप में निर्वाचनात्मक (selective) होता है।"[2] इस प्रकार चुनाव या निर्वाचन के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत, जैसा कि श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का मत है, केवल कुछ संस्थागत (insti-

---

1 "Social anthropologists study the cultures of contemporary primitive communities."—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 3.

2. "If we wish to study a thing, we are bound to select certain aspects of it. It is not possible f[illegible] or to describe a whole piece of the world, or a [illegible] ...since all description is necessarilly selective." [illegible] . Routledge and Kegan

tutionalized) व्यवहारों या संस्थाओं, जैसे परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, वैधानिक विधियाँ, धार्मिक विश्वास, आर्थिक संकुल (economic complex) आदि आते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र इन्हीं को, न कि समग्र समाज को, समझने, परिभाषित करने तथा तुलना करने का प्रयत्न करता है। श्री बीटी (Beattie) के शब्दों में, "सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय सम्पूर्ण समाज या समाजों से अधिक यथार्थ रूप में संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध तथा वे व्यवस्थाएँ हैं जिनमें ये सम्बन्ध व्यवस्थित रह सकें।"[1]

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवस्थाओं का आधार एक समाज-विशेष के सदस्यों की मनोवृत्तियाँ (attitudes) हैं। सामाजिक मनोवृत्ति मस्तिष्क की वह चेतन दशा है जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है।[2] इसी मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति एक परिस्थिति या वस्तु के विषय में सोचता है, उसे विशेष दृष्टि से देखता है और उसका एक विशेष अर्थ (meaning) लगाता है। व्यवहार के सामाजिक महत्त्व को तब तक कदापि समझा नहीं जा सकता जब तक कि उस समाज के सदस्यों के दृष्टिकोण से उसका जो 'अर्थ' होता है उसे यथार्थ रूप में समझ न लिया जाय। इतना ही नहीं, इन्हीं अर्थों के आधार पर सामाजिक मूल्य (Social values) पनपता है। सामाजिक मूल्य वे सामाजिक आदर्श हैं जो हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और जिन्हें हम अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण समझते हैं। प्रत्येक समाज में सामाजिक मूल्य होते हैं और उन्हीं मूल्यों के आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों का मूल्यांकन किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों, व्यवस्थाओं या व्यवहारों से सम्बन्धित अर्थों तथा मूल्यों का अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के विषयों का समावेश है—(1) वे संस्थागत सामाजिक सम्बन्ध, घटनाएँ तथा व्यवहार जो वास्तविक रूप में पाये जाते हैं या घटित होते हैं; (2) उस समाज के सदस्य इन सबका जो कुछ 'अर्थ' लगाते हैं; और (3) इन सबसे सम्बन्धित जो सामाजिक, वैधानिक एवं नैतिक मूल्य उस समाज में पाये जाते हैं।

इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र उन संस्थागत सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, व्यवस्थाओं तथा मूल्यों का अध्ययन करता है जो कि वास्तविक अवलोकन द्वारा पता लगाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में किसी भी पूर्वधारणा को मान्यता नहीं दी जाती है, न ही विषयों का अध्ययन किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किया जाता है। सामाजिक मानव-

---

1. "So the subject-matter of social anthropology......is more accurately characterised as institutionalized social relations and the system into which these may be ordered, than as 'society' or 'societies', considered as totalities somehow given as empirical entities to the observer."—J.H.M. Beattie, in his article Understanding and Explanation in Social Anthropology', in *The British Journal of Socioloy*, Vol. X, No. 1, March 1959, p. 46.

2. R. N. Mukherjee, *Social Welfare and Security in India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1960, p. 3—62.

शास्त्री अवलोकन (observation) पर अधिक बल देते है, न कि निष्कासन (extraction) पर; गहन विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं, न कि विस्तृत खोजों पर, जिससे उन तथ्यों का सग्रह सम्भव हो जो कि समाजशास्त्रीय अनुसंधान में छूट जाते हैं और इतिहास के पन्ने मे अलिखित रह जाते हैं।[1] इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्री के "अध्ययन-क्षेत्र की सीमा ही उसकी शक्ति है।"

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की विवेचना करते हुए श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने सामाजिक मानवशास्त्र के जिन लक्षणों या विशेषताओं का उल्लेख किया है उनसे इस विज्ञान की प्रकृति तथा क्षेत्र को समझने मे पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं[2]—

(क) वैसे तो सामाजिक मानवशास्त्र सभी प्रकार के मानव-समाजों का अध्ययन है, फिर भी यह प्रधानतः आदिम समाजों के अध्ययन मे ही अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। क्योंकि सीमित क्षेत्र तथा अल्प जनसंख्या के कारण इन समाजों के सामाजिक जीवन, सामाजिक सम्बन्धो तथा सस्थाओ का विश्लेषण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि इन आदिम समाजों का अध्ययन करते हुए एक मानवशास्त्री वहाँ के लोगों की भाषा, कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, आर्थिक संगठन आदि का अध्ययन करता है। ये वे ही सामान्य विषय तथा समस्याएँ हैं जो कि सभ्य समाजो में भी पाई जाती है। इस कारण आदिम समाजों के विषय मे विवेचना करने मे मानवशास्त्री सदैव ही उनकी अपने समाजों से तुलना करता जाता है।

(ख) सामाजिक मानवशास्त्र संस्थागत सामाजिक व्यवहारों व सम्बन्धो तथा संस्थाओं का विज्ञान है। यह समाजों की जनसंख्या, उनकी आर्थिक व्यवस्था, उनकी वैधानिक तथा राजनैतिक सस्थाओ, उनके परिवार तथा नातेदारी की व्यवस्था, उनके धर्म आदि का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्थाओं के अंशो के रूप में (as parts of general social systems) करता है।

(ग) सामाजिक मानवशास्त्र किसी-न-किसी सामाजिक संस्था, सम्बन्ध और व्यवस्था के विषय में अध्ययन करता है जो कि 'वास्तविक तथ्यो पर आधारित खोज' (matter of fact inquiries) होते हैं। इस कारण इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र का भौगोलिक फैलाव (geographical spread) समस्त भूमण्डल पर होता है। चाहे वह समाज अफ्रीका का हो, चाहे अमेरिका, आस्ट्रेलिया, बर्मा, मलाया, माइक्रोनेशिया, भारतवर्ष

1. [illegible] without historical ba [illegible] we may view the cul [illegible] ...cured by other forms of study. Again, we concentrate upon observation rather than [illegible] ...le-range surveys, hoping to [illegible] research would omit and [illegible] *The Foundations of Social* [illegible], p. 7.

या भ्रुवी क्षेत्र का हो, सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। केवल भौगोलिक फैलाव ही नहीं सामाजिक मानवशास्त्र का विषय-फैलाव भी अधिक है। इसके अध्ययन-विषयों के अन्तर्गत राजनैतिक संस्थाओं, धार्मिक संस्थाओं, रंग, लिंग, या स्थिति पर आधारित वर्ग-विभेद (class distinctions), आर्थिक संस्थाओं, वैधानिक या अर्ध-वैधानिक (quasi-legal) संस्थाओं, विवाह, और साथ ही सामाजिक अनुकूलन (social adaptation) और सम्पूर्ण सामाजिक संगठन या संरचना (structure) का अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट विषयों, जैसे आचार, जादू, लोक-कथा, आदि-कालीन विज्ञान, कला, भाषा आदि का भी अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र में नहीं होता है, ऐसा नहीं। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत केवल सभी देश के सभी प्रकार के समाज ही नहीं आते बल्कि विविध प्रकार के विषयों का भी समावेश है। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सामाजिक मानवशास्त्री 'हरफ़न-मौला' (Jack of all trades) होते हैं। विभिन्न समाजों के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान को पूंजी बनाकर वे भी अलग-अलग विषयों में विशेषज्ञ होते हैं। इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न आदिम समाजों में न केवल अनेक वाह्य समानताएँ होती हैं बल्कि संरचनात्मक विश्लेषण (structural analysis) द्वारा उन्हें कुछ सीमित प्रकारों में वर्गीकृत (classi-fied) किया जा सकता है। इससे विषय की एकता उत्पन्न होती है और अध्ययन-क्षेत्र व विषय-वस्तु अत्यन्त विस्तृत होने पर भी अध्ययन-कार्य में सरलता और यथार्थता सम्भव होती है। विषयों की एकता के कारण ही सामाजिक मानवशास्त्री एक ही प्रकार से आदिम समाजों का अध्ययन करते हैं चाहे वह समाज भारत का हो, या अफ्रीका का या आस्ट्रेलिया का; और चाहे अध्ययन-विषय परिवार हो या राजनैतिक संस्थाएँ या धार्मिक विश्वास। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना से सम्बन्धित करके विभिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है।

(घ) सामाजिक मानवशास्त्र समाजों का अध्ययन है, न कि संस्कृतियों का। इस

है। इतना ही नही, एक सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में अनेक सहायक या उप-संरचनाएँ या व्यवस्थाएँ होती है और इन्ही को हम नातेदारी व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि के नाम से पुकारते है। इन व्यवस्थाओ के अन्तर्गत सामाजिक क्रियाएँ विभिन्न संस्थाओ जैसे विवाह, सरकार, धर्म आदि के चारो ओर संगठित होती हैं। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क इन सभी से होता है।

आदिम समाजों का अध्ययन हम क्यों करते हैं ?
(Why We study Primitive Societies ?)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्री अपना ध्यान प्रधानतः आदिम समाजों पर केन्द्रित करते है। परन्तु ऐसा क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि आदिम समाज किसे कहते हैं। यद्यपि आदिम समाज और सभ्य समाज के बीच कोई दृढ विभाजन-रेखा खीचना सम्भव नही है तथापि आदिम समाजो या संस्कृति की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख श्री पिडिंगटन (Piddington) ने किया है जिनके आधार पर एक समाज को आदिम समाज कहा जा सकता है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[1]—

(क) निरक्षरता, लेखन या लिपि का न होना आदिम समाजों की सर्वप्रमुख विशेषता है और यही सभ्य समाज और आदिम समाज के बीच एक सामान्य अन्तर है।

(ख) सभ्य समाजों की भांति राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य के आधार पर नही वल्कि छोटे सामाजिक समूहों, जैसे गोत्र, ग्राम या जनजाति के आधार पर समाज का संगठन।

(ग) प्रौद्योगिक विकास का निम्न स्तर।

(घ) रक्त-सम्बन्ध तथा स्थान के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध सभ्य समाजों से कही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

(ङ) आदिम समाजो मे आर्थिक विशेषीकरण तथा सामाजिक समूहों की बहुलता नही होती है जैसा कि सभ्य समाजो मे होता है।

श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के अनुसार वे समाज, जो कि जनसंख्या, क्षेत्र और सामाजिक सम्पर्क की परिधि की दृष्टि से छोटे पैमाने के हैं और जो अधिक प्रगतिशील समाजों की तुलना मे सरल प्रौद्योगिक तथा आर्थिक स्तर पर हैं तथा जहां सामाजिक कार्यों का कम विशेषीकरण पाया जाता है, आदिम समाज कहलाते हैं।[2] श्री राबर्ट रेडफिल्ड (Robert Redfild) ने इन विशेषताओं के साथ साक्षरता, साहित्य तथा क्रमबद्ध कला, विज्ञान और अध्यात्मविद्या (theology) के अभाव को भी जोड़

1. Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 5

2. "When anthropologists use it (the word 'primitive society') they do so in reference to those societies which are small in scale with regard to numbers, territory, and range of social contracts, and which have by comparison with more advanced societies a simple technology and economy and little specialization of social function "—Evans-Pritchard, *op. cit.*, p. 8.

दिया है।[1]

यद्यपि उपर्युक्त सभी अन्तर या भेद हमारे अध्ययन-कार्य में सहायक सिद्ध होंगे, तथापि यह स्मरणीय है कि इनमें से प्रत्येक अन्तर सापेक्ष (relative) है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी अफ्रीका के एकाधिक आदिम समाजों में कृषि और पशुपालन पाये जाते हैं। अतः ये समाज आखेट पर निर्भर नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उनके औज़ार या शस्त्र निम्नस्तर ही हैं। इसी प्रकार ऐसे भी आदिम समाज हैं जिनके प्रौद्योगिक स्तर अत्यन्त निम्न होते हुए भी राजनीतिक संगठन पर्याप्त विस्तृत है।[2] अतः उपर्युक्त किसी एक-दो विशेषताओं के होने या न होने के आधार पर ही किसी समाज को तात्कालिक रूप से 'आदिम' या 'सभ्य' कह देना उचित न होगा।

चूँकि समस्त मानव-समाज कुछ सामान्य मौलिक सिद्धान्तों (common basic principles) पर आधारित होता है, इस कारण यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजों में ही विशेष रुचि क्यों रखते हैं ? इसके लिए कभी-कभी तो उनकी आलोचना भी की जाती है और यह सुझाव दिया जाता है कि यदि सामाजिक मानवशास्त्री उतने ही समय और परिश्रम से आधुनिक सभ्य समाजों की समस्याओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करें तो यह अधिक व्यावहारिक या लाभप्रद होगा। जैसा कि पिछले पन्नों में कई बार कहा जा चुका है, यह सोचना गलत होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध केवल मात्र आदिम समाजों से है। सभ्य समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रीय प्रविधियों (anthropological techniques) को काम में लाने के सम्बन्ध में एकाधिक मूल्यवान व लाभप्रद प्रयोग हुए भी हैं। फिर भी यह सच है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों का विशेष झुकाव आदिम समाजों की ओर ही है।

सामाजिक मानवशास्त्री विशेषतया आदिम समाजों का अध्ययन क्यों करते हैं ? इसका अति सामान्य और सरल उत्तर यह है कि इस प्रकार का झुकाव 'ऐतिहासिक घटना' (historical accident) मात्र है।[3] 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् कच्चे माल तथा बनी हुई वस्तुओं के लिए उत्तम बाजार की खोज में यूरोप के कुछ लोगों ने अफ्रीका तथा एशिया में प्रवेश किया और उनके पीछे-पीछे आये अनेक उत्साही ईसाई मिशनरी। इन सब यात्रियों, पर्यटकों तथा मिशनरियों ने अनेक आदिम समाजों में प्रवेश किया और उनके विषय में अनेक रोचक, अद्भुत तथा आकर्षक विवरण प्रस्तुत किये। इनमें से अधिकतर कथन, वर्णन या विवरण अतिरंजित तथा अस्पष्ट एवं अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे, फिर भी उसी रोचक तथा अनोखे रूप में सर्वप्रथम आदिम समाजों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिसके कारण इसी 18वीं शताब्दी में यूरोप के कुछ राजनैतिक दार्शनिकों का ध्यान इन समाजों के प्रति आकर्षित हुआ।

इसके पश्चात् सन् 1859 में श्री डार्विन (Darwin) द्वारा 'प्राणीशास्त्रीय उद्-

---

1. Robert Redfild, 'The Folk Society', *The American Journal of Sociology*, 1947.
2. Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 6.
3. *Ibid.*, p. 6.

विकास' के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के पश्चात् आदिम समाजों के अध्ययन में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। श्री डार्विन के प्राणीशास्त्रीय उद्विकास (biological evolution) के आधार पर श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने सामाजिक उद्विकास (social evolution) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। श्री स्पेन्सर का विश्वास था कि उद्विकास केवल मानव के शारीरिक पक्ष का नहीं हुआ है अपितु सामाजिक जीवन का भी। इस धारणा की पुष्टि के लिए 19वीं शताब्दी के अनेक मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों का अध्ययन करके उद्विकासीय तथ्यों को एकत्र करने का प्रयत्न किया।

एकाधिक प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों के अनोखेपन तथा विचित्रताओं से आकर्षित होकर भी केवल ऐसे समाजों के अध्ययन में अपने को नियोजित किया था। उन्होंने अपने लेखों में आदिम समाजों के इस अनोखेपन या अपरिचितता (strangeness) को स्पष्ट व्यक्त भी किया है। उदाहरणार्थ, आदिकालीन विधान (primitive law) की विवेचना करते हुए सर हेनरी मेन (Sir Henry Main) ने लिखा है कि "आदिम समाजों की घटनाओं को समझना पहले-पहल कठिन होता है। यह कठिनाई उनके अनोखेपन के कारण होती है। आधुनिक दृष्टिकोण से उन घटनाओं को देखने पर हमें अचम्भा से शायद ही सरलता से छुटकारा मिल पाता है।"[1] उसी प्रकार आदिकालीन धर्म की विवेचना करते हुए श्री मोर्गन (Morgan) ने भी स्वीकार किया है, इसकी (आदिकालीन धर्म की) पूर्णतया सन्तोषजनक व्याख्या कभी सम्भव नहीं है क्योंकि सभी आदिकालीन धर्म असंगत एवं कुछ सीमा तक अबोध हैं।[2] आधुनिक मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) तक भी आदिम समाजों के उपर्युक्त अनोखेपन या अपरिचितता से प्रभावित प्रतीत होते हैं। आपने भी लिखा है कि अपरिचितता के सुरस से भरपूर संस्थाओं की ओर मानवशास्त्र ने अपने ध्यान को घुमाया है।[3] अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा विशेषकर आदिम समाजों के अध्ययन का एक कारण इन समाजों का अनोखापन या अपरिचितता भी है। जो कुछ भी अनोखा है, अद्भुत है, उन सबके विषय में छानबीन करने की इच्छा जितनी स्वाभाविक है, जिनके सम्बन्ध में हम जानते नहीं हैं या जो कुछ अपरिचित है उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा भी मानव की एक बड़ी प्रेरणा-शक्ति है। यही प्रेरणा मानवशास्त्रियों को आदिम समाजों की ओर आकर्षित करती है यद्यपि आजकल इन समाजों के अनोखेपन या अपरिचितता पर नहीं अपितु तुल-

---

1. "... ......the phenomena which early society present us with are not easy at first to understand..... It is a difficulty arising from their strangeness ......One does not readily get over the surprise which they occasion when looked at from a modern point of view."—Sir Henry Maine, *Ancient Law*, 1888, pp. 119-120

2. "It may never receive a perfectly satisfactory explanation since all primitive religions are grotesque and to some extent unintelligible"—Lewis Morgan, *Ancient Society*, 1877, p. 5.

3. "The institutions strange in flavour" to which anthropology "turned its attention".—Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1923, p. 2.

नात्मक अध्ययन द्वारा आदिम समाजों और हमारे सभ्य समाजों में समानता को ढूंढ़ने पर अधिक बल दिया जाता है। वास्तव में वहुधा यह निरूपण करने की इच्छा कि, कुछ भी हो, किस प्रकार मनुष्य सर्वत्र समान है, स्पष्टत. प्रकट होती है।[1]

उपर्युक्त सामान्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी हैं जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जान-बूझकर आदिम समाजों को अध्ययन करने के लिए चुना है। ये कारण निम्न हैं—

(1) श्री क्लूखौन (Kluckhohn) का मत है कि आदिम समाजों का अध्ययन हम इस कारण करते हैं कि इन समाजों का अध्ययन करने से हमारे लिए अपने सभ्य समाजों को समझना सरल हो जाता है। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम तो यह है कि अगर हमें मानव-समाज के सम्बन्ध में समझकर कुछ निष्कर्ष निकालना है तो वह काम तब तक यथार्थ रूप से सम्भव नहीं हो सकता जब तक हम सभी प्रकार के समाजों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त न कर लें। इन 'सभी' समाजों में आदिम समाजों के अध्ययन को 'प्रथम' स्थान मिलना चाहिए क्योंकि ये समाज ही प्रथम या आदि समाज हैं। द्वितीयतः, बहुत सादे, सरल और छोटे आदिम समाजों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसकी सहायता से अधिक विकसित समाजों का अध्ययन अत्यधिक सरल हो जाता है। आदिम समाजों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान और अनुभव के आधार पर हमें आधुनिक जटिल व विशाल समाजों को समझने और उनके विश्लेषण तथा निरूपण में ही नहीं, अपितु अनेक वर्तमान सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायता मिली है क्योंकि आदिम समाजों के अध्ययन द्वारा सामाजिक मानवशास्त्रियों का चरम लक्ष्य वैज्ञानिक ढंग से उन सामान्य प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज एवं सभ्यता विकसित एवं कुसुमित होती है।

(2) श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के मतानुसार आदिम समाजों का अध्ययन उनके अन्तर्निहित मान या मूल्य (intrinsic value) के कारण भी होता है। वे स्वयं ही रोचक हैं क्योंकि उनके अध्ययन से जीवन के उन तरीकों, मूल्यों तथा जनता के उन विश्वासों का पता चलता है जो कि हम लोगों की दृष्टि में आराम और सभ्यता की न्यूनतम आवश्यकता से भी कम हैं।[2] आदिम समाजों का अन्तर्निहित मूल्य या निजी मान इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि वे विशाल मानव-समाज की बुनयादी इकाई या अंग हैं जो कि स्वाभाविक रूप में मानव-जीवन को प्रतिबिम्बित (reflect) करती हैं। इन आदिम समाजों के अतिरिक्त बीते दिनों की हमारी अपनी ही प्रतिमूर्ति अधिक स्पष्ट, स्वाभाविक और सजीव रूप में और कहाँ देखने को मिल सकती है? आदिम समाजों का अध्ययन अपने समाज का ही अध्ययन है।

---

1. "To-day the tendency is to emphasize, not the strangeness of primitive society, but its akinness to our own. Often, indeed, observers seem animated by the desire to demonstrate how, after all, man is the same everywhere." —S. F. Nadel, *op. cit.*, p. 5.

2. E. E. Evans-Pritchard, *op. cit.*; p. 9.

(3) यह अनुभव की बात है कि उन लोगों के मध्य, जिनकी संस्कृति हम लोगों से भिन्न है, अवलोकन-कार्य सरलता से हो सकता है क्योंकि उनके जीवन का परायापन (otherness) सहज ही हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर लेता है। चूंकि इनके सम्बन्ध में हमारे मस्तिष्क में कोई पूर्वधारणा नहीं होती है और चूंकि इनके प्रति इस प्रकार की 'परायेपन' की भावना होती है, इस कारण 'अपने' समाज के अध्ययन में जिस पक्षपातित्व (partiality) की आशंका होती है, आदिम समाजों के अध्ययन में उसकी सम्भावना न के समान होने के कारण अध्ययन सम्प्रयुक्त भी होता है। एक वैज्ञानिक के रूप में सामाजिक मानवशास्त्री के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(4) मानवशास्त्रियों द्वारा आदिम समाजों के अध्ययन पर विशेष ध्यान देने का चतुर्थ कारण यह है कि आदिम समाज अति शीघ्रता से बदलते जा रहे हैं अर्थात् उनका आदिमपन (primitiveness) नष्ट या समाप्त होता जा रहा है। इसका सर्वप्रमुख कारण इनका सभ्य समाजों के साथ बढ़ता हुआ सांस्कृतिक सम्पर्क (culture contact) है। इस सम्पर्क के कारण इन समाजों का आदिरूप (originality) नष्ट होता जा रहा है और यदि मानवशास्त्री शीघ्रता न करेंगे तो उन्हें मानव-जीवन के अनेक आदि-तथ्यों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ (ignorant) ही रहना पड़ेगा। मानव-समाज, संस्कृति तथा सभ्यता को यथार्थ रूप में जानने में प्रयत्नशील सामाजिक मानवशास्त्रियों के लिए यह कितनी भारी हानि होगी वह तो सहज ही अनुमेय है। इसी कारण आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्री अविचलित निष्ठासहित आदिम समाजों के अध्ययन में यत्नशील हैं। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के शब्दों में, "ये लुप्त होती हुई सामाजिक व्यवस्थाएँ अपूर्व संरचनात्मक विभिन्नताओं को प्रस्तुत करती हैं जिनका कि अध्ययन मानव-समाज की प्रकृति को समझने में हमें पर्याप्त सहायता करता है क्योंकि संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में समाजों की संख्या उतनी महत्त्व की नहीं होती जितना कि उनकी विभिन्नताओं का दायरा।"[1] दूसरे शब्दों में, जितनी ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का हम तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, मानव-समाज के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाणित होगा। चूंकि आदिम समाज इन्हीं विभिन्नताओं का साम्राज्य है, इस कारण सामाजिक मानवशास्त्री विभिन्न आदिम समाजों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते हैं।

इसके अतिरिक्त, सभ्य समाजों के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ने के साथ-साथ आदिम समाजों में विविध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक संस्थाओं का भी जन्म होता जा रहा है। सांस्कृतिक सम्पर्क के ये परिणाम तथा संस्कृतिकरण (acculturation) आदि की प्रक्रियाएँ किसी भी मानवशास्त्री के लिए आकर्षक अध्ययन विषय हैं।

(5) सामाजिक मानवशास्त्रियों का आदिम समाजों के अध्ययन में विशेष

1. "These vanishing social systems are unique structural variations, a study of which aids us very considerably in understanding the nature of human society, because in a comparative study of institutions the number of socie[illegible] is less significant than their range of variations."—*Ibid.*, p. 9.

यत्नवान होने का सर्वप्रमुख कारण पद्धति-सम्बन्धी (methodological) एक अलिखित नियम है। इस नियम के अनुसार वैज्ञानिक अनुसन्धान में यथासम्भव सरल वस्तु या घटना से प्रारम्भ करके क्रमशः अधिक जटिल या उलझी हुई वस्तु या घटनाओं की ओर बढ़ने की विधि है। ऐसा करना उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि जो 'चन्दा मामा आ जा' शीर्षक कविता को ही नहीं समझता है वह भला 'प्रसाद' जी के 'आंसू' को क्या समझेगा ? इसे समझने के लिए 'चन्दा मामा आ जा' जैसी सरल कविता से ही आरम्भ करना होगा। इस सत्य को सामाजिक मानवशास्त्री भूल नहीं जाते हैं और यही कारण है कि वे विशाल और जटिल आधुनिक समाजों के अध्ययन की अपेक्षा सादे, सरल तथा छोटे आदिम समाजों के अध्ययन को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। सीमित क्षेत्र, कम जनसंख्या, सांस्कृतिक तथा प्रजातीय एकरूपता, अल्पसंख्या में सामाजिक समूह, सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति आदि के कारण आदिम समाजों के रूप में स्थिरता होती है और सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन में भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं। इन कारणों से सामाजिक व्यवस्थाओं, संरचना अथवा संस्थाओं का अध्ययन व विश्लेषण इन समाजों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान सभ्य समाजों के अध्ययन को सरल बना देता है। अतः हम कह सकते हैं कि मानवशास्त्री सरल आदिम समाजों का अध्ययन करके अधिक विकसित एवं जटिल समाजों के अध्ययन-कार्य को सरल बना रहे हैं। मानव-समाज को उचित रूप से समझने में सामाजिक मानवशास्त्रियों का यह अनुपम अनुदान है।

सामाजिक मानवशास्त्र के उद्देश्य
(Aims of Social Anthropology)

मानव-जीवन से सम्बन्धित किसी भी विज्ञान का उद्देश्य 'मानव-संसार' के किसी एक विशिष्ट अंग या भाग का अध्ययन करना और इस प्रकार तथ्यों के अध्ययन द्वारा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करना है जिससे कि मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान संभव हो सके। इस ज्ञान के आधार पर या तो हम अपने अनुसन्धान को और आगे बढ़ाते हैं अथवा मानव-कल्याण की वृद्धि के हेतु उस ज्ञान का व्यावहारिक रूप में प्रयोग करते हैं।[1] इस दृष्टिकोण से श्री पिडिंगटन (Piddington) ने सामाजिक मानवशास्त्र के निम्नलिखित दो प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख किया है[2]—

प्रथम : मानव-प्रकृति (human nature) के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक विरोधी मत प्रचलित हैं। कहा जाता है कि

---

1. "The aim of any science is to study a specified part of the real world and from a study of facts to formulate theories which shall serve as recipes for human conduct, whether that conduct be the carrying out of further research or the taking of practical steps for the promotion of human welfare"—Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 7.

2. *Ibid.*, pp. 9-10.

मानव स्वभाव से या प्राकृतिक रूप में साम्यवादी, परार्थवादी और शान्तिप्रिय है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि मानव वास्तव मे व्यक्तिवादी और युद्धप्रिय होता है; स्वभाव से धार्मिक होता है या धर्म और नीति आर्थिक परिवर्तन का ही परिणाम मात्र है। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध मे इन समस्त आकर्षक वाद-विवादों में आदिम मनुष्यों को अधिकतर खीचकर लाया जाता है ताकि उनके उदाहरण द्वारा वाद-विवाद करने वाले अपने-अपने मत की पुष्टि कर सकें। इन समस्त वाद-विवादों के मध्य सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथा ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करना तथा मानव-प्रकृति तथा मानव-सम्बन्धो के अन्तर्निहित नियमों (Laws) को ढूँढ़ निकालना है।

द्वितीय : सास्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया तथा परिणामों का अध्ययन करना। दूसरे शब्दो मे, सामाजिक मानवशास्त्र का दूसरा प्रमुख उद्देश्य उन परिणामों या प्रभावो का अध्ययन करना है जो कि सभ्य समाजों के सम्पर्क मे आने के कारण आदिम समाजों में दृष्टिगोचर होते है। जैसा कि कहा जा चुका है, सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने से आदिम मनुष्यों के जीवन मे अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं जो कि दिन-प्रतिदिन उनके जीवन को विघटित कर रही हैं। इस स्थिति को अधिक दिन तक बना रहने देना उचित न होगा। उनको उन समस्याओं को सुलझाना ही होगा। यह काम प्रशासको, सामाजिक नियोजको आदि का है और उनके इस काम मे समुचित सहायता मानवशास्त्रियों से प्राप्त हो सकती है। सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त समस्याओं के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान का संग्रह है या समस्याएँ उत्पन्न करने वाले कारणो को ढूँढ निकालना है ताकि इस प्रकार संकलित ज्ञान के आधार पर प्रशासक (administrator) तथा नियोजक (planner) अपने-अपने कार्यों को उचित ढग से कर सकें।

ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड की शाही मानवशास्त्रीय संस्था की एक समिति ने सामाजिक मानवशास्त्र के प्रमुख उद्देश्यों का सक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया है—(1) आदिम सस्कृति का उस रूप मे अध्ययन करना जिस रूप में वह आज है। (2) सांस्कृतिक सम्पर्क तथा परिवर्तन या विशिष्ट प्रक्रियाओ के रूप मे अध्ययन करना। जिस संस्कृति मे कुछ भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई हैं, उसमें बाहरी समूहों के उन प्रभावो को ढूँढ निकालना जिसके कारण वे परिवर्तन हुए हैं। (3) सामाजिक इतिहास का पुनर्निर्माण करना, और (4) सार्वभौमिक रूप मे प्रमाणित सामाजिक नियमों (Universally valid Social Laws) को ढूँढना।[1]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य विशेषकर आदिम समाजो के सामाजिक जीवन व सम्बन्धों, सामाजिक व्यवस्थाओ एवं संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना, सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तियो के सस्थागत व्यवहारों का वर्णन करना तथा उन सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण तथा निरूपण

1. *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1954, p 39.

करना है जिनके द्वारा मानवीय समाज, संस्कृति तथा सभ्यता विकसित एवं स्थिर रहती है। सामाजिक मानवशास्त्र का चरम लक्ष्य सर्वरूप से प्रमाणित सामाजिक नियमों को प्रतिपादित करना है।

सामाजिक मानवशास्त्र तथा अन्य विज्ञान
(Social Anthrapologa and other Sciences)

सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध से उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह विज्ञान मुख्यतः आदिम समाजों का अध्ययन है। अतः सामाजिक मानवशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान कहना ही उचित होगा। इस प्रकार इसका सम्बन्ध अन्य सामाजिक विज्ञानों—समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि—से घनिष्ठ होना स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र विस्तृत विज्ञान मानवशास्त्र की ही एक उपशाखा है इस कारण इसका अन्य मानवशास्त्रीय विज्ञानों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक मानवशास्त्र के सम्बन्ध में हमें अपनी धारणा और भी स्पष्ट करने के लिए इन विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करना अति आवश्यक है।

(1) सामाजिक मानवशास्त्र तथा प्रजातिशास्त्र
(Social Anthropology and Ethnology)

प्रजातिशास्त्र से सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध सबसे घनिष्ठ है। यह इस कारण है कि जिस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क मुख्यतः आदिम समाजों और कभी-कभी सभ्य समाजों से है, उसी प्रकार प्रजातिशास्त्री भी भूमण्डल में बिखरी हुई विविध संस्कृतियों को ढूंढ़ते, अध्ययन तथा वर्गीकरण करते हैं। अतः स्पष्ट है कि दोनों के अध्ययन-विषय में बहुत-कुछ समानता है। फिर आज ये दोनों ही पृथक् विज्ञान के रूप में इस कारण माने जाते हैं क्योंकि अब इन दो विज्ञानों के उद्देश्यों में पर्याप्त भिन्नता आ गई है। प्रजातिशास्त्र प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन नहीं है, यह कार्य तो शारीरिक मानवशास्त्र का है। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) के शब्दों में, "प्रजातिशास्त्र का कार्य प्रजातीय एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण करना और फिर वर्तमान समय में या भूतकाल में उनके वितरण को मनुष्य की गति तथा मिश्रण एवं सांस्कृतिक प्रसार के द्वारा व्याख्या करना है।"[1] आदिम समाजों का जो तुलनात्मक अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्री करते हैं उसमें प्रजातिशास्त्रियों द्वारा किया गया मनुष्यों तथा संस्कृतियों का वर्गीकरण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। फिर भी सामाजिक मानवशास्त्र प्रजातिशास्त्र नहीं है क्योंकि सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य

---

1. "The task of ethnology is to classify peoples on the basis of their racial and cultural characteristics and then to explain their distribution at the present time, or in past times, by the movement and mixture of peoples and the [illegible] of cultures."—E. E. Evans-Pritchard, *op. cit.*, p. 4.

मनुष्यों तथा संस्कृतियों का वर्गीकरण करना नहीं अपितु सामाजिक संस्थाओं और व्यवहारों का अध्ययन है।

(2) सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र
(Social Anthropology and Archaeology)

सामाजिक मानवशास्त्र तथा पुरातत्वशास्त्र में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। संक्षेप में पुरातत्वशास्त्र प्राथमिक रूप से प्राचीन समाजों तथा संस्कृतियों का अध्ययन है। पुरातत्वशास्त्र की सहायता से ही सामाजिक मानवशास्त्र उन अन्धकारमय युगों के समाजों के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करता है जिनके सम्बन्ध में कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन मानव-संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक विषयों का जो ज्ञान सामाजिक मानवशास्त्रियों को पुरातत्वशास्त्रियों की खोजों से प्राप्त होता है उसी के आधार पर वे मानव-समाज तथा संस्कृति के क्रमिक विकास का पता लगाते हैं और समकालीन आदिम समाजों के अध्ययन में उस जानकारी को काम में लगाते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुरातत्वशास्त्र मानव-संस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध में ज्ञान को अधिक विस्तृत करके तथा मानव की प्राचीनतम कृतियों एवं सांस्कृतिक विकास के सामान्य नियमों अथवा अन्तर्धाराओं से परिचित कराके सामाजिक मानवशास्त्रियों के अध्ययन-कार्य में अत्यधिक सहायता प्रदान करता है।

इन दो विज्ञानों में सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी इनमें अन्तर सुस्पष्ट है। पुरातत्वशास्त्र जमीन की खुदाइयों से उपलब्ध भौतिक अवशेषों का अध्ययन एवं विश्लेषण है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं और संस्थागत व्यवहारों का अध्ययन एवं निरूपण है। पुरातत्वशास्त्र उन प्राचीनतम मानव-कृतियों का अध्ययन है जिनके सम्बन्ध में साधारणतया कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं है; जबकि सामाजिक मानवशास्त्र समकालीन मानव-समाजों, मुख्यतः आदिम समाजों का वास्तविक अवलोकन के आधार पर अध्ययन है। इस प्रकार दो विज्ञानों की समस्याएँ, अध्ययन-विषय तथा लक्ष्य में पर्याप्त भिन्नता है।

(3) सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र
(Social Anthropology and Sociology)

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि किन्हीं-किन्हीं बातों में इनमें अन्तर करना बड़ा कठिन है। दोनों ही 'समाज' का अध्ययन हैं और दोनों का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक नियमों का प्रतिपादन करना है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, आदिम मानव तथा उसका समाज—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाएँ, व्यवस्था या संगठन अत्यन्त सादे, सरल व छोटे होते हैं और इनका अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है। इन अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर समाजशास्त्रियों को आधुनिक, जटिल व विशाल समाजों को समझने और उनके विश्लेषण एवं निरूपण में अत्यधिक सहायता मिलती

दूसरी ओर सामजशास्त्रियों द्वारा आधुनिक समाजों की विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित जो विशेष अध्ययन हुए हैं उनसे आदिम समाजों के अध्ययन के लिए सामाजिक मानवशास्त्रियों को अनेक नई उपकल्पनाएँ (hypothesis) मिलती रहती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन दो विज्ञानों में अत्यधिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। इन दो विज्ञानों को एक-दूसरे के इतने निकट लाने के विषय में श्री दुर्खीम (Durkheim) का अनुदान विशेष उल्लेखनीय है। श्री दुर्खीम ने अपने विस्तृत अध्ययनों और प्रमाणों द्वारा एक नये रूप में समस्त सामाजिक घटनाओं का सामाजिक कारण ढूंढ़ निकाला और 'समाज' को इन घटनाओं की व्याख्या में सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया। अंग्रेज मानवशास्त्री श्री दुर्खीम की इन धारणाओं से अत्यन्त ही प्रभावित प्रतीत होते हैं जिनके कारण सामाजिक मानवशास्त्रीय अनेक अध्ययनों में श्री दुर्खीम की समाजशास्त्रीय उपकल्पनाओं को काम में लाया गया है। यद्यपि अमेरिका में यह सम्बन्ध उतना आन्तरिक नहीं है, तथापि सामाजिक मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच कोई दृढ़ विभाजन-रेखा खींचने का सचेत प्रयत्न नहीं किया गया है।

समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र में सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी इन दो विज्ञानों में कुछ अन्तर भी है। सामान्यतया सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजों का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र आधुनिक सभ्य समाज है। दूसरा प्रमुख अन्तर अध्ययन-पद्धति का है। सामाजिक मानवशास्त्रियों की सर्वप्रमुख पद्धति 'अंशग्रहण अवलोकन पद्धति' (participant observation method) है और इसी कारण उन्हें जिस समाज का अध्ययन करना होता है उनमें जाकर वे बस जाते हैं और फिर तथ्यों का संग्रह करते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रलेखों (documents) तथा सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग होता है।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र और मनोविज्ञान
(Social Anthropology and Psychology)

सामाजिक मानवशास्त्र का मनोविज्ञान से भी अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविज्ञान मानव-स्वभाव व मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान है और मानव-स्वभाव का प्रभाव उसके सामाजिक कार्यों पर अति गम्भीर रूप में पड़ता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि समाज और संस्कृति का आधार मूलत: मनोवैज्ञानिक है। पर्याप्त मनोवैज्ञानिक ज्ञान के बिना हम सामाजिक व्यवस्था को यथार्थ रूप में कदापि नहीं समझ सकते। दूसरे शब्दों में, मानव-स्वभाव का प्रामाणिक अध्ययन किये बिना समाज या सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्थाओं, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, का अध्ययन सम्भव नहीं है। सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध मनोविज्ञान से सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ और भी घनिष्ठ हो गया है। सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों में और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व का अध्ययन करता है और सामाजिक मानवशास्त्र मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्थाओं या सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र और

सामाजिक मनोविज्ञान एक-दूसरे के पूरक के रूप में नियत प्रगतिशील हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सामाजिक मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मानव की मानसिक प्रक्रियाएँ और अनुभव हैं जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं या संस्थाओं का अध्ययन है। प्रथम का सम्पर्क व्यक्ति से है तो दूसरे का सम्पूर्ण समाज से। इन दो विज्ञानों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त भिन्नता है। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण मूलरूप में वैयक्तिक (individualistic) है क्योंकि यह प्रधानतया व्यक्तिगत मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। इसके विपरीत सामाजिक मानवशास्त्र का दृष्टिकोण सामाजिक है क्योंकि इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति के रूप में किसी का भी अध्ययन नहीं किया जाता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक या संस्थागत मानव-व्यवहारों, सामाजिक व्यवस्थाओं व संस्थाओं का अध्ययन करना सामाजिक मानवशास्त्र का विशेष उद्देश्य है।

(5) सामाजिक मानवशास्त्र और इतिहास
(Social Anthropology and History)

इतिहास भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण है। आधुनिक इतिहासकार घटनाओं का वर्णन तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धों के विश्लेषण द्वारा मानव-जीवन की धारा को भी समझने का प्रयत्न करते हैं। इससे सामाजिक मानवशास्त्रियों को उनके अध्ययन-कार्यों में पर्याप्त सहायता मिलती है। जैसा कि पिछले अध्याय में ही कहा जा चुका है, संस्कृति या समाज कोई तात्कालिक या क्षणिक घटना नहीं है जो एक दिन में बनती या बिगड़ती है। यह तो अतीत के अनेक युगों की मानवीय अन्त क्रियाओं के फलस्वरूप ही बनती है। अतीत की इन मानवीय अन्त.क्रियाओं से परिचित कराना आधुनिक इतिहासकार का एक प्रमुख कार्य है जिसके कारण सामाजिक मानवशास्त्रियों को उनके अनुसन्धान-कार्य के लिए अनेक उपयोगी उपकल्पनाएँ मिलती रहती हैं। दूसरी ओर सामाजिक मानवशास्त्री आदिम समाजों की उत्पत्ति, विकास आदि प्रक्रियाओं का जो अध्ययन करता है उससे इतिहास-कार को भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण करने तथा उन घटनाओं का मनुष्य जाति की कहानी में क्या महत्व है उसका मूल्यांकन करने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। फिर भी इन दो शास्त्रों का अध्ययन-क्षेत्र, दृष्टिकोण तथा पद्धतियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। इतिहास केवल अतीत की विशिष्ट घटनाओं का एक क्रमबद्ध वर्णन और उनके कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक व्यवस्था या संस्थाओं का अध्ययन है। दूसरे, इतिहास का सम्पर्क केवल भूत-काल की घटनाओं से होता है, जबकि सामाजिक मानवशास्त्र भूत और समकालीन दोनों ही प्रकार के समाजों का अध्ययन है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज के अध्ययन के रूप मे सामाजिक मानवशास्त्र मानवशास्त्रीय विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों के अत्यन्त निकट होकर भी उनमे पृथक् अस्तित्व रखता है। यह पृथक् अस्तित्व सामाजिक मानवशास्त्र के कि

अध्ययन-विषय तथा पद्धति के कारण है। फिर भी इन विज्ञानों के पारस्परिक आदान-प्रदान से आयोजित मानवीय अध्ययनों द्वारा हम मानव-जीवन के यथार्थ को समझने का यत्न करते हैं। सामाजिक तथा मानवीय विज्ञानों की सार्थकता भी इसी में है।

SELECTED READINGS

1. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press Glencoe, Illinois 1954.

2. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

3. Kroeber, *Anthropology*, Harcourt, Brace and Co., New York, 1948.

4. Nadel, *The Foundations of Social Anthropology*, Cohen & West Ltd., London, 1953.

5. Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

6. Radcliffe-Brown, *The Development of Social Anthropology*, University of Chicago, 1936.

3 सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

भूमिका
(Introduction)

सामाजिक मानवशास्त्र का उद्देश्य, अन्य सभी विज्ञानों की भाँति, प्रयोगसिद्ध और मौलिक प्रविधियों (techniques) का प्रतिपादन करना है जिनकी सहायता से निर्भर-योग्य व प्रामाणिक 'ज्ञान' (knowledge) को प्राप्त किया जा सके और तद्द्वारा सामाजिक घटनाओं (social phenomena) की यथार्थ व्याख्या, भविष्यवाणी और नियन्त्रण सम्भव हो सके। वास्तव में, क्रमबद्ध रूप में 'ज्ञान' के संकलन के हेतु प्रत्येक विज्ञान की ही अध्ययन-पद्धतियाँ होती हैं। ये पद्धतियाँ अनुसन्धानकर्त्ता के प्रयत्नों को एक सही दिशा में चालित करती हैं और उसे प्रकृति या मानव-जीवन की वास्तविकताओं (realities) को समझने में सहायता देती हैं। परन्तु उसका यह समझना, जानना या ज्ञान प्राप्त करना सदैव असम्पूर्ण रहता है और वह इस अर्थ में कि कल जो 'सत्य' (truth) था आज वह 'असत्य' हो सकता है और आज जिसे हम सत्य मानते हैं आगामी दिन वह भी असत्य सिद्ध हो सकता है। एक समय था जबकि पृथ्वी को चौरस (flat) माना जाता था और वही उस समय 'वास्तविक' था। परन्तु आज उसी वास्तविकता को अवास्तविक प्रमाणित करके पृथ्वी के आकार को प्रायः गोल माना जाता है। यही बात अन्य प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओं के विषय में भी लागू होती है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक एक महा-प्रश्न के उत्तर को खोजने का यत्न करते हैं और वह यह कि "इस समय हम जितनी चीजों को निःसन्देह ठीक-ठीक जानते हैं, उनमें से कितनी वास्तव में सत्य नहीं है?"[1] समस्त विज्ञान की उन्नति या विकास भी इसी प्रश्न के उत्तर में निहित है। श्री पास्चर (Pasteur) ने सच कहा है, "सब लोग आपसे यह कहेंगे कि आप सही हैं, यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कीजिए; मैं आपसे यह कहूँगा कि आप गलत हैं, यही प्रमाणित करने का आप प्रयत्न करें।"[2] किसी घटना को सही या गलत प्रमाणित करना वास्तविक तथ्यों (actual facts) पर निर्भर करता है। जिन तरीकों से एक विज्ञान इन वास्तविक तथ्यों का संग्रह करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उससे सामान्य निष्कर्ष व वैज्ञानिक

... ture ?" ... the late

... ou to try ... Pasteur

नियमों का प्रतिपादन करता है उसे उस विज्ञान की पद्धति कहते हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ
(Methods of Social Anthropology)

सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियाँ क्षेत्र-कार्य (field-work) पर अर्थात् आदिम समाज के विभिन्न पक्षों के प्रत्यक्ष अध्ययन पर आधारित हैं। सामाजिक मानवशास्त्री पहले अपने अध्ययन-क्षेत्र को चुनता है और फिर उस क्षेत्र में जाकर प्रत्यक्ष निरीक्षण या अवलोकन (direct observation) द्वारा अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करता है, और उसी के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकालता है। आदिम समाजों के विषय में जो प्रत्यक्ष अवलोकन किये गये हैं उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है—**प्रथम** तो वे अवलोकन जो कि भूतकाल में अप्रशिक्षित (untrained) व्यक्तियों, जैसे पर्यटक (travellers), मिशनरी (missionaries) आदि के द्वारा किये गये थे। इनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण (scientific point of view) का नितान्त अभाव था, इस कारण ये अध्ययन वर्णन-प्रधान तथा अतिरंजित ही होते थे। **दूसरी** श्रेणी में वे अवलोकन आते हैं जो कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आधुनिक मानवशास्त्रियों के द्वारा किये गये हैं और किये जा रहे हैं।

प्रथम प्रकार के अवलोकन अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हुए थे जब कि आदिम समाज के लोगों का सभ्य समाज के साथ प्रथम संस्पर्श पर्यटक तथा मिशनरी के मार्फत हुआ। इन पर्यटकों और मिशनरियों ने दुनिया के विभिन्न भागों में निवास करने वाले आदिम लोगों के जीवन के विभिन्न पक्षों के विषय में अनेक रोचक विवरण अपने देशवासियों को प्रस्तुत किये। परन्तु इन पर्यटकों और मिशनरियों को आदिम जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन या अवलोकन करने का न तो वैज्ञानिक प्रशिक्षण (scientific training) प्राप्त था और न इन्हें इस कार्य को करने की किसी क्रमबद्ध पद्धति का ज्ञान ही था। फलत: इन पर्यटकों तथा मिशनरियों ने केवल उन वस्तुओं, प्रथाओं या संस्थाओं को ही देखा और जाना जो कि उनके दृष्टिकोण से अधिक रोचक या अनोखे प्रतीत हुए या जिनके प्रति उनकी दृष्टि स्वभावत: ही आकर्षित हुई। उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उन सबको देखा और समझा और फिर अनेक बातों को अपनी कल्पना के अनुसार जोड़-तोड़कर उन्हें अधिकाधिक रोचक रूप में प्रस्तुत किया। अत: स्पष्ट है कि इनके विवरण में यथार्थता तो कम थी, पर अतिरंजना और कल्पना अधिक। इसी कारण इनकी वैज्ञानिक उपयोगिता भी अत्यन्त कम थी।

इसके पश्चात् श्री डार्विन (Darwin) की खोज के बाद विकासवादियों का एक वर्ग सामने आया। इस वर्ग ने विकासवादी (evolutionary) योजना को समस्त सामाजिक संस्थाओं के उद्भव तथा विकास में प्रयोग किया। इस कार्य में उन्हें उपरोक्त पर्यटकों तथा मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत विवरण से पर्याप्त सहायता मिली। परन्तु इन वैज्ञानिकों की सर्वप्रमुख कमी यह थी कि ये लोग घर बैठे ही विकासवादी योजना को लागू करते और उससे निष्कर्ष निकालते रहे। आदिम समाजों में जाकर वास्तविक अवलोकन

द्वारा अपने इन निष्कर्षों की यथार्थता की जाँच करने की आवश्यकता इन विकासवादी लेखकों ने अनुभव नहीं की। इस कारण वास्तविक तथ्यों से परे इनके सैद्धान्तिक निष्कर्षों में वैज्ञानिक यथार्थता (scientific exactness) बहुत कम थी। चूँकि वे वैज्ञानिक पर बैठे सैद्धान्तिक निष्कर्षों को निकाला करते थे, इस कारण इन्हें आरामकुर्सी वाले मानवशास्त्री (arm-chair anthropologist) कहा जाता है।

जिस प्रकार पर्यटकों तथा मिशनरियों की 'अध्ययन-पद्धति' को आज स्वीकार नहीं किया जाता है उसी प्रकार आरामकुर्सी वाले मानवशास्त्रियों की पद्धति को भी आज उचित नहीं माना जाता है। सैद्धान्तिक निष्कर्ष वास्तविक अथवा वैज्ञानिक नहीं भी हो सकता है; इस कारण इस पद्धति पर अधिक भरोसा करना उचित नहीं। सैद्धान्तिक निष्कर्षों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए। इसलिए आज के मानवशास्त्रियों ने अपनी अध्ययन-पद्धति में सैद्धान्तिक निष्कर्ष के साथ वास्तविक निरीक्षण या अवलोकन (actual observation) को भी जोड़ दिया है और इन दोनों के समन्वय (synthesis) से ही आधुनिक सामाजिक मानवशास्त्र का वैज्ञानिक विकास सम्भव हुआ है। आज यह अनुभव और स्वीकार किया जाता है कि वास्तविक रूप में अवलोकित तथ्यों के सुदृढ़ आधार पर आधारित किये बिना सैद्धान्तिक निष्कर्ष न तो यथार्थ और न ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस अध्ययन-पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तों (theories) का कोई भी स्थान नहीं है। इसके विपरीत इस पद्धति के अन्तर्गत सिद्धान्तों के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया जाता है। वास्तव में, क्रमबद्ध सिद्धान्त या सैद्धान्तिक ज्ञान अनुसन्धानकर्ता के ध्यान को उसके अध्ययन-विषय पर केन्द्रित रखता है, अध्ययन की दिशा बतलाने में सहायक होता है और व्यर्थ के तथ्यों को इकट्ठा करके इधर-उधर भटकने से बचाता है। सैद्धान्तिक ज्ञान वे लोरियाँ हैं जो व्यर्थ और अनावश्यक तथ्यों को गा-गाकर सुला देती हैं।

उपरोक्त सामान्य पद्धति के आधार पर सामाजिक मानवशास्त्र में चार विशेष पद्धतियों का विकास हुआ है। वे हैं—

(1) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(2) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(3) प्रकार्यात्मक पद्धति (Functional Method)
(4) पुरातत्त्वशास्त्रीय पद्धति (Archaeological Method)

अब हम उक्त पद्धतियों के सम्बन्ध में अलग-अलग विवेचन करेंगे।

(1) ऐतिहासिक पद्धति
(Historical Method)

जैसाकि प्रथम अध्याय में ही कहा जा चुका है, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इसके पूर्व यह विज्ञान सामान्यतः इतिहास का एक अंग माना जाता था। आज मानवशास्त्र इतिहास नहीं है, इतिहास से कुछ अधिक है; फिर भी मानवशास्त्र में विशेषकर सामाजिक

ऐतिहासिक पद्धति का महत्त्व आज भी सुस्पष्ट है। इतिहास, जैसा कि आज उसे समझा जाता है, केवल कोरी घटनाओं का एक संकलन-मात्र नहीं है जो कि निश्चित और महत्त्वपूर्ण संवतों, तारीखों और स्थानों के नाम और राजा-महाराजा, रानी-महारानी और सेनापतियों के कारनामों से भरा हुआ हो। आधुनिक इतिहास अतीत में घटित होने वाली घटनाओं की विधि के पुनर्निर्माण का अध्ययन है और उन घटनाओं का मनुष्य जाति की कहानी में क्या महत्त्व है, उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक इतिहास 'क्या था' का ही अध्ययन नहीं है, 'कैसे हुआ' का भी विश्लेषण और विवेचन है। कोई भी समाज, संस्था या संस्कृति एक दिन में बनती या बिगड़ती नहीं है। इनमें से प्रत्येक का एक इतिहास होता है। ऐतिहासिक पद्धति की सहायता से इस 'इतिहास' को अर्थात् उन मानवीय अन्तः क्रियात्मक प्रक्रियाओं (human interactional processes) को, जिनके फलस्वरूप किसी संस्था या सांस्कृतिक तत्त्व का क्रमविकास हुआ है, सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार ऐतिहासिक पद्धति विभिन्न युगों से गुजरते हुए मानव-जीवन की धारा को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। इसी कारण प्रोफेसर क्रोबर (Prof. Kroeber) आदि मानवशास्त्रियों ने इस पद्धति पर पर्याप्त भरोसा किया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पद्धति को उपयोग में लाकर हम यह जान सकते हैं कि एक विशेष प्रकार की संस्था या संस्कृति किस समय व किन परिस्थितियों में सम्भव हो सकी थी और उस समय या उन परिस्थितियों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस विशिष्ट संस्था या संस्कृति में किस प्रकार के परिवर्तन होते गये। इस प्रकार विभिन्न समयों या परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों की एक धारावाही प्रवृत्ति का पता चलाकर विभिन्न संस्थाओं तथा सांस्कृतिक तत्त्वों के क्रम-विकास-सम्बन्धी सामान्य नियमों को खोजा जा सकता है। जब हम ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते हैं तो हम किसी एक संस्कृति की या उस संस्कृति के किसी तत्त्व (element) की 'व्याख्या' करते हैं। यह व्याख्या इस भाँति होती है कि हम यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि अमुक संस्कृति या सांस्कृतिक तत्त्व ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप किस प्रकार उस रूप में है जिस रूप में आज हम उसे पाते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी संस्कृति या सांस्कृतिक तत्त्व या संस्था का वर्तमान रूप किस प्रकार से ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, इसकी व्याख्या को ऐतिहासिक पद्धति अपनाकर ही अधिक सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस पद्धति को सर्वोत्तम रूप में तभी काम में लाया जा सकता है जबकि एक विषय के सम्बन्ध में सम्पूर्ण लिपिवद्ध या लिखित ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हों। केवल अनुमान पर निर्भर रहकर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने से गलतियाँ अधिक होने की सम्भावना रहती है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के विषयों के अध्ययन हेतु इस पद्धति की उपयोगिता उतनी नहीं हो सकती जितनी कि समाजशास्त्र के विषयों के अध्ययन के लिए; क्योंकि सामाजिक मानवशास्त्र का, कि दूसरे अध्याय में ही बताया जा चुका है, विशेष सम्पर्क आदिवासी समाजों और

उनकी संस्कृतियों या संस्थाओं के साथ होता है जिनके सम्बन्ध मे लिपिबद्ध प्रमाण (documentary records) उपलब्ध नही होते हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इतिहास की पद्धति पिछली घटनाओं के पुनर्निर्माण (reconstruction) से विशेष रूप से सम्बन्धित होती है और कोई भी ऐतिहासिक निष्कर्ष या विश्लेषण उतना यथार्थ नही होता जितना कि दूसरे प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण तथा निष्कर्ष। वास्तव मे ऐतिहासिक निर्धारण (historical determination) गुणात्मक खोज (subjective findings) ही होते हैं जो कि यथार्थता या वास्तविकता के निकट तक ही पहुंच पाते हैं, यथार्थ या वास्तव मे नही होते। और जिन विषयो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव होता है, उनके सम्बन्ध मे तो इतिहास का निष्कर्ष व्यर्थ का ही समझना चाहिए। इतिहास मे एक और कमी यह है कि यद्यपि इतिहास सामाजिक घटनाओ की प्रक्रियाओं की अवहेलना नही करता, फिर भी यह केवल इन प्रक्रियाओं को ही अपने अध्ययन-विषय के रूप मे स्वीकार भी नही करता। साथ ही, ऐतिहासिक व्याख्या या निष्कर्षों को प्रयोग (experiment) द्वारा जांचा भी नही जाता। यह तो घटनात्मक तथ्यों (phenomenal facts) को एकत्रित करता है। श्री क्रोबर ने लिखा है कि "ऐतिहासिक व्याख्या की तुलना हम उस सीमेंट से कर सकते हैं जो कि मानव-इतिहास के पृथक् तथा अर्थहीन तथ्यों या घटनाओं को एक अर्थपूर्ण प्रतिमान या डिजाइन मे जोड़ता है।"[1]

उपरोक्त विवेचना से ऐतिहासिक पद्धति की कुछ कमियाँ स्पष्ट हैं। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने इस पद्धति की तीन कमियो की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है—(क) ऐतिहासिक पद्धति मे उपकल्पनात्मक पुनर्निर्माण (hypothetical reconstruction) अन्त तक उपकल्पना (hypothesis) ही रह जाता है क्योंकि इसकी परीक्षा (verification) और पुनःपरीक्षा सम्भव नही होती। (ख) इस पद्धति की यथार्थता इसी कारण अनुमान (assumption) पर आधारित होती है। यह अनुमान संस्कृति की प्रकृति तथा उसके विकास के नियमों के सम्बन्ध में होता है। दूसरे शब्दों मे, ऐतिहासिक पद्धति मे संस्कृति की यथार्थ प्रकृति तथा उसके विकास के नियमों के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान न होने के कारण हमें अनुमान पर ही निर्भर रहकर अपने निष्कर्षों को निकालना पड़ता है जिनके कारण इन निष्कर्षों की यथार्थता अधिक विश्वसनीय नही हुआ करती। (ग) फलतः इस पद्धति से किसी भी चीज की वास्तविक व्याख्या नही हो सकती। इतिहास हमें विस्तारपूर्वक केवल अतीत (past) की कुछ वास्तविक अवस्थाओं व घटनाओ मे और एक संस्कृति मे पाये जाने वाले सम्बन्धो को बताता है।[2] ऐतिहासिक घटनाओ के क्रमिक विकास के सम्बन्ध मे ज्ञान करा देने के अतिरिक्त इस पद्धति का और कोई

---

1. "Historical interpretation may be compared to a cement which binds the isolated and *per su* meaningless facts of events of human history into a meaningful pattern or design."—Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1953, p. 79

2. A. R. Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, edited by M.N. Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 34.

व्यावहारिक मूल्य (practical value) नहीं है।

(2) तुलनात्मक पद्धति
(Comparative Method)

सामाजिक मानवशास्त्र में इस पद्धति का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बहुत प्रयोग होता है, क्योंकि इस पद्धति के आधार पर समग्र मानव-संस्कृतियों की सामान्य विशेषताओं का पता चल सकता है। जो इस पद्धति को काम में लाते हैं वे सर्वप्रथम विभिन्न संस्कृतियों या उनके संकुलों या प्रतिमानों का अलग-अलग अध्ययन करते हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणों का पता लगाते हैं तथा उनके विकास या विनाश के आधारों को ढूंढ़ निकालते हैं, और फिर उनमें जो सामान्य चीजें होती हैं उन्हें छाँट लेते हैं और उनके आधार पर सामान्य निष्कर्षों को निकालते हैं। इस तुलनात्मक पद्धति के द्वारा विभिन्न समाजों की संस्कृति व संस्थाओं की उत्पत्ति, विकास और विनाश के सामान्य कारणों या आधारों का पता चल जाता है और हमें मानव-समाज में क्रियाशील उन सामान्य प्रेरक शक्तियों का भी ज्ञान होता है जिनके कारण संस्कृति के विभिन्न अंगों में संगठन या एकता बनी रहती है। यदि विभिन्न समाज व संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यों को सावधानी से एकत्रित किया जाय, उन्हें उचित ढंग से प्रस्तुत किया जाय तथा उनमें पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं दोनों को ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया जाय तो मानव-समाज, संस्कृति व संस्थाओं के सम्बन्ध में सामान्य नियमों को ढूंढ़ा जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह परम आवश्यक है कि विषयों का चुनाव और तुलना वैज्ञानिक ढंग से की जाय और अपने निजी अभिमत तथा दृष्टिकोण को दृढ़ता से दूर रखा जाय। दूसरे शब्दों में, इस पद्धति का अनुसरण करने वाले को समाज या संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से एकत्रित करना चाहिए और इन तथ्यों को वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण या प्रयोग के आधार पर तोलना चाहिए तथा इस प्रकार के अध्ययन-कार्य के किसी भी स्तर पर उसे आध्यात्मिक, दार्शनिक या उद्वेगात्मक (emotional) विचारों को आस-पास भटकने तक न देना चाहिए जिससे कि उनका तुलनात्मक कार्य और उसके आधार पर प्रतिपादित नियम (laws) या सिद्धांत विकृत न हों

विशिष्ट गुण या प्रवृति के सम्बन्ध में हमें ज्ञान हो सकता है। श्री फ्रांज बोआस (Franz Boas) ने समस्त संसार के सांस्कृतिक परिवर्तन या प्रसार की एकसाथ विवेचना करने के बजाय यह अधिक अच्छा समझा कि संसार को विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांट लिया जाय और तब एक-एक सांस्कृतिक क्षेत्र का तुलनात्मक अध्ययन व विश्लेषण किया जाय और अन्त में कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाला जाय जिससे सांस्कृतिक विकास, प्रसार या परिवर्तन के आधारभूत कारणों का पता चल सके।

वास्तव में सांस्कृतिक तुलना की कोई भी वैज्ञानिक और निर्भरयोग्य प्रविधि (technique) अभी तक उपलब्ध नहीं है जिसकी सहायता से विभिन्न संस्कृतियों के प्रकार्यात्मक सम्बन्ध का ठीक-ठीक पता लगाया जा सके। फिर भी सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन, फिर्थ (Firth), रिचार्ड्स (Dr. Audrey Richards) आदि विद्वानों ने इस प्रकार के कुछ अध्ययनों को प्रस्तुत किया है। अभी तक जितने भी तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं उनमें डा० नैडेल (Dr S. F. Nadel) द्वारा प्रस्तुत नूबा पर्वत (Nuba Mountains) का अध्ययन सबसे अच्छा है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए उपयोगी होते हुए भी एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक ही सीमित हैं। अधिक विस्तृत रूप में या ढंग से तुलनात्मक अध्ययन के लिए अधिक विस्तृत तुलनात्मक प्रविधि की आवश्यकता है, जिसका कि आज भी नितान्त अभाव है। उपस्थित ज्ञान के आधार पर हम अधिक-से-अधिक दो संस्कृतियों के विभिन्न पक्षों में पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं को ढूँढ सकते हैं; इनके बीच पाये जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन हम वास्तविक वैज्ञानिक आधारों पर नहीं कर सकते। तुलनात्मक पद्धति की यही सबसे बड़ी कमजोरी है।

(3) प्रकार्यात्मक पद्धति
(Functional Method)

प्रारम्भ के मानवशास्त्रियों ने सामाजिक संस्थाओं या संस्कृति के विभिन्न पक्षों के स्वरूपों के अध्ययन पर अधिक बल दिया। उनके विश्लेषणों से यह पता चलाना असम्भव-सा था कि सांस्कृतिक तत्त्वों का एक स्वरूप (form) ही नहीं, बल्कि कुछ-न-कुछ कार्य (function) भी होता है। प्रकार्यात्मक पद्धति इस कमी को पूरा करती है और संस्कृति के विभिन्न पक्षों के कार्यों के विश्लेषण तथा निरूपण पर अधिक बल देती है। इस पद्धति का अनुसरण करने वालों में सर्वश्री मैलिनोवस्की (Malinowski), इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard), रेमंड फ़िर्थ (Raymond Firth), रैडक्लिफ ब्राउन (Radcliffe-Brown) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सामाजिक मानवशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति के विषय में जो अस्पष्टता और अनिश्चितता पहले थी, उसे दूर करने का एक वैज्ञानिक कदम प्रकार्यात्मक पद्धति के प्रवर्तकों ने उठाया। इस पद्धति का पूर्ण विकसित रूप हमें सर्वप्रथम श्री मैलिनोवस्की की *A Scientific Theory of Culture and other Essays* (1944) और *The Dynamics of Culture Change* (1945) नामक पुस्तकों में देखने को मिलता है।

श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि आज मानवशास्त्र संस्कृति के विस्तृत विवरण को प्रस्तुत करने में अपना समय नष्ट नहीं करता, अपितु इस बात की जांच करता है कि वह (संस्कृति) कैसे और क्यों कार्य करती है, किस प्रकार उसके विभिन्न पक्ष सम्पूर्ण प्रतिमान में संबद्ध रहते हैं, उनके आधार पर कौनसी प्रेरक शक्ति क्रियाशील है और किस प्रकार से इसके विभिन्न पक्षों को संबद्ध रूप में एक संजीवित व्यवस्था के रूप में विकसित किया जा सकता है। प्रकार्यात्मक पद्धति इन समस्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का एक उपयोगी साधन है।

प्रकार्यात्मक पद्धति कुछ निश्चित आधारों या सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है, जो कि किसी भी संस्कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण या अध्ययन के लिए आवश्यक है। **प्रथम** आधार तो यह है कि यह इस बात पर बल देती है कि मानव-संस्कृति कुछ पृथक्-पृथक् तत्त्व (traits and elements) का संकलन मात्र नहीं है। इनमें एक सावयवी एकता (organic unity) हुआ करती है और इसलिए प्रत्येक अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होता है। इस पद्धति का **दूसरा** आधार यह है कि संस्कृति के प्रत्येक अंग, इकाई या तत्त्व (trait) का कोई न कोई कार्य अवश्य ही होता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का कथन है कि सावयव या शरीर के प्रत्येक अंग की सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) में एक या कुछ विशेष कार्य होते हैं; कोई भी यह नहीं कह सकता कि इन में से कोई अंग किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करता। प्रत्येक अंग का कार्य अलग-अलग बँटा हुआ है फिर भी प्रत्येक अंग अपने कार्यों को उचित ढंग से करने के लिए दूसरे अंगों से सम्बन्धित तथा उन पर आश्रित होता है। जो बात शरीर या सावयव के सम्बन्ध में सच है वही बात संस्कृति के सम्बन्ध में भी ठीक है। संस्कृति के अन्तर्गत भी प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता और निरंतरता को बनाये रखने में सहायक होते हैं। प्रत्येक के विना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के विना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार संस्कृति की प्रत्येक इकाई या संस्था का सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है।[1] हो सकता है कि बाहरी तौर पर एक संस्कृति की एक प्रथा-विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो, परन्तु यदि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ में उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक दृष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति में संस्कृति के किसी भी अंग या तत्त्व को न तो व्यर्थ का माना जाता है और न ही अर्थहीन। यह पद्धति तो संस्कृति की प्रत्येक इकाई के कार्यों को खोजती है और इसी कार्य के आधार पर दूसरी इकाइयों के साथ इसके प्रकार्या-

---

1. See A. R. Radcliffe-Brown, "On the concept of function in social science," *American Anthropologist*, Vol. 37, 1935, pp. 394-396.

त्मक सम्बन्ध को मालूम करने का प्रयत्न करती है जिससे कि अन्त में उसे यह पता चल जाय कि ये समस्त इकाइयाँ उस समाज की, जिसे कि वह अध्ययन कर रहा है, सम्पूर्ण जीवन-विधि (the total life-way) को बनाये रखने में मिल-जुलकर कैसे काम करती हैं। इस पद्धति का तीसरा आधार यह है कि यह मानव-समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (general theory) पर आधारित है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि मानव-समाजों में असंख्य भिन्नताओं के बीच कुछ सार्वभौम मानवीय आवश्यकताओं के आधार पर प्रत्येक समाज में एक प्रकार की सामान्य धारा बहती रहती है। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति मानव-क्रियाओं के प्रत्येक पहलू या पक्ष, चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक या सामाजिक या जादू या धर्म, का अध्ययन एक-दूसरे के कार्यों के आधार पर जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उसके सन्दर्भ में करती है ताकि यह पता चले कि ये समस्त पहलू किसी प्रकार मानव की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए उसके अस्तित्व को बनाये रखते हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति निश्चित रूप से यह स्वीकार करती है कि संस्कृति का हरएक तत्त्व किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया करने के लिए जन्म लेता है, अर्थात् प्रत्येक तत्त्व का कोई कार्य होता है, वह मानव की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस प्रकार संस्कृति का हरएक तत्त्व दूसरे तत्त्वों से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) के कारण जकड़ा रहता है। इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध को ढूँढ निकालना तथा उसका विश्लेषण और निरूपण करना ही इस पद्धति का प्रमुख उद्देश्य है।

अत: स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि संस्कृति के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे से आन्तरिक सम्बन्ध के कारण जकड़े हुए हैं, और ये सारे-के-सारे तत्त्व मिलकर ही सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण करते हैं। इसलिए किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व का हमें अन्य तत्त्वों से अलग करके अध्ययन नहीं करना चाहिए। सांस्कृतिक तत्त्व का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, न ही उसका अलग से कोई अर्थ होता है; सम्पूर्ण संस्कृति के प्रसंग में ही वह सार्थक कहा जा सकता है और उसी रूप में उसका अध्ययन मानवशास्त्री को करना चाहिए। संक्षेप में, इस पद्धति के अनुसार 'सम्पूर्ण संस्कृति' (total culture) या 'समग्र रूप में संस्कृति' (culture as a whole) का अध्ययन करना चाहिए, न कि इसके विभिन्न पक्ष, जैसे धर्म, जादू, विवाह आदि, का पृथक् अध्ययन।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार प्रकार्यात्मक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम मानव की उन आवश्यकताओं (needs) का पता लगाते हैं जो कि उसके शारीरिक और मानसिक (bio-psychic) तथा अन्त में (finally) उच्चतर बौद्धिक अस्तित्व (higher intellectual survival) को बनाये रखते हैं। फिर हम उन तरीकों (ways) या साधनों का पता लगाते हैं जिनके द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के तरीकों या साधनों के समग्र रूप को ही संस्कृति कहते हैं। वह संगठित व्यवस्था (integrated system), जिसमें एक खास ढंग से शरीर का पोषण होता है, एक खास ढंग से यौन-सम्बन्ध स्थापित होता है, खास ढंग से अन्य शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के

का संचय होता है और एक खास ढंग से यह सब 'कार्य' कर रही होती है, वही संस्कृति कहलाती है। प्रकार्यवादी पद्धति के अन्तर्गत संस्कृति का अध्ययन इसी रूप में होता है और श्री मैलिनोवस्की इस प्रकार के अध्ययन को ही संस्कृति का वास्तविक अध्ययन कहते हैं।

श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि संस्कृति एक सम्बद्ध या संगठित व्यवस्था (integrated system) है। एक समुदाय-विशेष के जीवन में संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व एक विशिष्ट 'पार्ट' (part) अदा करता है अर्थात उसका एक विशिष्ट कार्य होता है। यह पद्धति यह स्वीकार करती है कि सभी समाज या सभी संस्कृतियाँ कुछ सामान्य 'कार्य के नियमों' (laws of function) के द्वारा नियंत्रित और व्यवस्थित होती हैं। प्रकार्यात्मक पद्धति का उद्देश्य इन्हीं सामान्य नियमों को खोज निकालना है ताकि उस खोज के आधार पर किसी भी संस्कृति के किसी भी तत्त्व की व्याख्या या विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सके। उदाहरणार्थ, यदि हम एक यह सामान्य नियम ढूंढ़ निकालें कि संस्कार या उत्सवों का प्रमुख कार्य सामूहिक भावना को अभिव्यक्त करना तथा उसके द्वारा सामाजिक एकता को बनाये रखना है, तो इसी नियम के आधार पर हम किसी भी संस्कृति के संस्कारों या उत्सवों की व्याख्या कर सकते हैं और इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते हैं कि उन संस्कारों या उत्सवों द्वारा कौन-कौनसी सामूहिक भावनाएँ व्यक्त (express) होती हैं और इनका सामाजिक एकता बनाये रखने में क्या योगदान होता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन का दावा है कि जिस प्रकार की तार्किक पद्धतियों (logical methods) का प्रयोग भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानों में होता है, उसी प्रकार की पद्धतियों द्वारा प्रकार्यात्मक पद्धति भी सामान्य नियमों को खोजती तथा उनकी परीक्षा (verification) करती है।[1]

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति की तुलना में प्रकार्यात्मक पद्धति का महत्त्व अधिक है। इसका कारण यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र का समस्त ध्यान सामाजिक संस्थाओं के विश्लेपण और उनके कार्यों के निरूपण पर ही केन्द्रित होता है, इसका (सामाजिक मानवशास्त्र का) अधिक सम्पर्क उन व्यक्तियों से नहीं होता है जिनकी कि ये संस्थाएँ होती हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक मानवशास्त्र, विशिष्ट अर्थ में, व्यक्तियों या मनुष्यों का अध्ययन नहीं अपितु उनके द्वारा विकसित सामाजिक संस्थाओं या संस्कृति का अध्ययन है। व्यक्तियों या मनुष्यों का अध्ययन मानवशास्त्र और विशिष्ट अर्थ में इतिहास करता है। सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करते हुए सामाजिक मानवशास्त्र इन संस्थाओं के कार्यों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में प्रत्येक संस्था का क्या कार्य है, इसे मालूम करता है। यही प्रकार्यात्मक पद्धति का संक्षिप्त रूप है।

---

1. A. R. Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, Asia Publish-House, Bombay, 1958, pp. 34-35.

अभी तक प्रकार्यात्मक पद्धति के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इस पद्धति या प्रकार्यात्मक व्यवस्था में तीन प्रमुख तत्त्व होते हैं—प्रथम तो यह कि यह पद्धति संस्कृति के विभिन्न पक्षों या संस्थाओं में पाये जाने वाले कारणात्मक सम्बन्ध को ढूँढने और प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है। अगर धर्म का सम्पर्क या सम्बन्ध जादू-टोने से है तो यह पद्धति इस प्रश्न का उत्तर देगी कि यह सम्बन्ध क्यों है अर्थात् किन कारणों से है। दूसरे, यह पद्धति केवल सम्बन्ध के कारणों का पता लगाकर ही सन्तुष्ट नहीं होती है। वह यह भी पता लगाती है कि इनमें से प्रत्येक संस्था सम्पूर्ण सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था में कौनसा पार्ट अदा करती है अर्थात् उसका कार्य क्या है। सम्पूर्ण सामाजिक या सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता व निरन्तरता इसी बात पर निर्भर होती है कि ये विभिन्न इकाइयाँ या संस्थाएँ आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध को बनाये रखते हुए मिलकर क्रियाशील रहें। प्रकार्यात्मक पद्धति कार्यों के आधार पर एक अंग का सम्पूर्ण से क्या सम्बन्ध है, उसे मालूम करने का प्रयत्न करती है। संक्षेप में, यह पद्धति अंग-सम्पूर्ण सम्बन्ध (part-whole relationship) को ढूँढ़ती है। तीसरे, प्रकार्यात्मक पद्धति इस बात पर बल देती है कि संस्कृति की प्रत्येक इकाई या संस्था का स्वरूप उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर ही निर्भर होता है। यहाँ तक कि इन इकाइयों का अस्तित्व भी उनके कार्यों पर ही निर्भर है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने तो स्पष्ट ही कहा है कि कार्य-विहीन अस्तित्व (functionless survival) नाम की कोई चीज संस्कृति में नहीं हो सकती। उनका कथन है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए प्रकट होता है, ऐसी हालत में संस्कृति के किसी तत्त्व के विषय में यह कहना कि बिना किसी काम को किये भी उसका अस्तित्व बना रहेगा, संस्कृति के आधारभूत सिद्धांत को भुला देना है।

अतः स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक व्याख्या (functional explanation) इस सिद्धान्त पर आधारित होना है कि—(1) संस्कृति वह साधन या उपकरण है जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से मानव के लिए यह सरल हो जाता है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने पर्यावरण का सामना कर सके; (2) संस्कृति एक ऐसी व्यवस्था है जिसका प्रत्येक अंग किसी-न-किसी उद्देश्य (end) की पूर्ति का एक साधन (means) हुआ करता है अर्थात् संस्कृति का आधारभूत नियम ही यह है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व या अंग किसी-न-किसी काम को करता है, हमारी कोई-न-कोई आवश्यकता को पूरा करता है; (3) संस्कृति की इन इकाइयों, तत्त्वों तथा अंगों का सबसे स्पष्ट स्वरूप सामाजिक संस्थाएँ होती हैं जो कि मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थापित या मान्य साधन होते हैं; (4) संस्कृति के ये विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् कार्यों को करते हैं, फिर भी इन्हीं कार्यों के आधार पर वे सभी अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, अर्थात् संस्कृति वह सम्बद्ध या संगठित व्यवस्था है जिसके विभिन्न अंगों में अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता पाई जाती है; (5) संस्कृति का कोई भी विश्लेषण इन विभिन्न अंगों के कार्यों तथा उनके अन्तःसम्बन्ध तथा अन्तःनिर्भरता के आधार पर ही होना चाहिए। इसीलिए प्रकार्यात्मक पद्धति को मानने वाले [illegible]

पद्धति — पुरातात्त्विक पद्धति — का भी सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि जब प्राचीन [illegible] को अपने अध्ययन में ऐतिहासिक पुस्तकें [illegible] कठिन होती है। ऐतिहासिक पद्धति होने के बावजूद ऐतिहासिक पुस्तकें उपलब्ध नहीं होती हैं [illegible] पुरानी बातों के सम्बन्ध में गड़बड़ रहता है। इस कमी को पूरा करने के लिए हम पुरातात्त्विक शास्त्रीय पद्धति का सहारा लेना पड़ता है। यह हमें इतिहास के पहले की बातों प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में बताती है। इस पद्धति में खुदाई (Excavation) से प्राप्त अस्थिपंजर (Skeletal) तथा अन्य भौतिक अवशेषों के आधार पर प्राचीन मानव तथा उसकी संस्कृति की उत्पत्ति, उत्थान और पतन का पता लगाया जाता है। इस पद्धति की सहायता से हम उस युग के मानव-समाज व संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसके सम्बन्ध में कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। इस कारण इस पद्धति का एक मात्र आधार खुदाइयों से प्राप्त भौतिक अवशेष ही होते हैं। वैज्ञानिक इन अवशेषों का अध्ययन करके यह पता लगाते हैं कि वे किस युग के हैं। इनके युग का पता लगाने के अनेक तरीके हैं। पहला तरीका तो यह है कि यह अवशेष जिस जगह पर पाया गया है उस जगह की चट्टान की आयु मालूम कर ली जाती है चट्टानों की आयु भूगर्भशास्त्र के नियमों से पता चल जाती है। इस पद्धति की सहायता से चट्टान की जो आयु निश्चित की जाती है, वह आयु उस अवशेष की भी मान ली जाती है। एक दूसरा तरीका यह है कि फ्लोरीन गैस की मात्रा के कम या ज्यादा होने के आधार पर भी खुदाइयों से प्राप्त अवशेषों की आयु निश्चित की जाती है। यह तरीका विशेषकर उन चीजों की आयु मालूम करने के लिए काम में लाया जाता है जो कि फ्लोरीन गैस को अपने अन्दर सोख

---

1. "Function is the contribution which a partial activity makes to the total activity of which it is a part."
—A. R. Radcliffe-Brown.

(absorb) सकती हैं। यह गुण विशेषकर हड्डियों में पाया जाता है। वैज्ञानिकों ने यह मालूम किया है कि जमीन में दबी हड्डियाँ ज्यों-ज्यों पथराने लगती हैं, त्यों-त्यों फ्लोरीन गैस को अपने में सोखती जाती हैं। जिस हड्डी में जितनी अधिक फ्लोरीन गैस होगी, वह उतनी ही पुरानी होगी। इस उपाय से भी अनेक चीजों की आयु निश्चित कर ली जाती है। पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति के द्वारा जब प्रागैतिहासिक औजारों, उपकरणों तथा मानव-कलाकृति के अन्य अवशेषों का अध्ययन होता है तो मानव-इतिहास की प्रक्रियाओं, सामाजिक जीवन, संस्कृति आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पड़ता है तथा उनसे प्राचीन सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओं का वैज्ञानिक और इसलिए निर्भरयोग्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह पद्धति कठिन अवश्य ही है, परन्तु मानव-इतिहास तथा संस्कृति के पुनर्निर्माण में भी इसका महत्व भी उतना ही अधिक है। इतना होने पर भी इस पद्धति में प्रमुख कमी यह है कि इससे सामाजिक जीवन तथा संस्कृति का केवल आंशिक ज्ञान ही हो सकता है। इस पद्धति के माध्यम से हम प्राचीन मानव के जीवन के केवल भौतिक पक्षों से ही परिचित हो सकते हैं। उससे सम्भवतः हम यह जान सकते हैं कि वे कैसे घरों में रहते थे, किस प्रकार के उपकरणों या औजारों को काम में लाते थे, वे मूर्तिपूजक थे या नहीं, उनके आभूषण किस प्रकार के और किस चीज के बने होते थे, वे किसी धातु का प्रयोग जानते थे या नहीं। परन्तु इस पद्धति के आधार पर हम प्राचीन मानव के जीवन के अभौतिक (non-material) पक्षों के विषय में कुछ नहीं कह सकते, उस बीते हुए युग की समाज-व्यवस्था, सामाजिक नियम, कानून, आदर्श, मूल्य, विश्वास आदि विषयों पर कुछ भी प्रकाश डालना हमारे लिए असम्भव-सा ही होता है। इन विषयों के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष हम निकालते हैं उसे अधिक-से-अधिक 'वैज्ञानिक अनुमान' ही कहा जा सकता है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियों के दोष और गुण दोनों ही हैं। परन्तु अगर उन्हें एक योग्य अन्वेषक सही अर्थ में और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रयोग करे तो निश्चय ही वह वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन कर सकता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कौन-सी पद्धति सबसे अच्छी है? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक मानवशास्त्र *मानव की संस्कृति*, सामाजिक जीवन तथा उनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का विज्ञान है; और ये संस्कृति सामाजिक जीवन व प्रक्रियाएँ अनेक रूप में तथा विभिन्न दशाओं और परिस्थितियों में प्रकट होती हैं। इस कारण उनका किसी एक पद्धति से अध्ययन करना न तो उचित होगा और न किया ही जा सकता है। कुछ विषयों में ऐतिहासिक पद्धति उपयुक्त होगी तो कुछ अन्य विषयों के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति। ये सभी पद्धतियाँ वास्तव में एक-दूसरे की सहयोगी हैं, न कि प्रतियोगी; और किसी एक की सहायता से सामाजिक मानवशास्त्र का समुचित विकास नहीं हो सकता है। सच तो यह है कि एक पद्धति दूसरे दोषों का नाश करती है। अतः सामाजिक मानवशास्त्र की उपरोक्त पद्धतियाँ

दूसरे आवश्यक सामग्री समय, अवसर, स्थान तथा अध्ययन-विषय की मांग के अनुसार एक या अधिक पद्धतियों का पृथक् रूप से या सम्मिलित उपयोग ही उपयुक्त होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह है कि सामाजिक मानवशास्त्र की विभिन्न पद्धतियाँ होते हुए भी उन पद्धतियों की वास्तविक उपयोगिता सामान्य पद्धति अर्थात् क्षेत्र-कार्य (field-work) पद्धति के माध्यम से ही प्राप्त होती है या हो सकती है। इस सामान्य पद्धति—क्षेत्र-कार्य के तीन आवश्यक आधार हैं : प्रथम तो उपकल्पना (hypothesis), द्वितीय निरीक्षण (observation) और तृतीय परीक्षण (verification)। प्रारम्भ में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सिद्धान्त बनाने वाले (theorist) अन्य लोगों के, जैसे पर्यटक (travellers), मिशनरी-पादरी आदि के निरीक्षण पर भरोसा करके नियमों का प्रतिपादन करते थे। परन्तु ये नियम दो कारणों से वैज्ञानिक या यथार्थ नहीं हो पाते थे। प्रथम तो यह कि यह पता नहीं चल पाता था कि ये पर्यटक, मिशनरी-पादरी आदि जो कुछ खबर दे रहे हैं या एक विषय का जिस ढंग से निरूपण कर रहे हैं वह ठीक भी है या नहीं। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत बातों या उनके द्वारा देखी गई घटनाओं (phenomena) के वर्णन पर सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले विद्वानों का कोई भी नियन्त्रण नहीं रहता था जिसके फलस्वरूप इनका निष्कर्ष यथार्थ (exact) ही है, यह दावा नहीं किया जा सकता था। द्वितीय इस प्रकार से सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले विद्वान अपनी उपकल्पनाओं (hypothesis) की परीक्षा आगे और निरीक्षण (further observation) के द्वारा नहीं कर पाते थे किसी भी अध्ययन को यथार्थ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उपकल्पनाओं की परीक्षा और पुनःपरीक्षा (verification and reverification) वास्तविक निरीक्षण के आधार पर की जाय। आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते हैं कि उपरोक्त दोनों कमियों को दूर किये बिना सामाजिक मानवशास्त्र में कोई भी प्रगति सम्भव नहीं। प्रत्येक उपकल्पना की परीक्षा व पुनःपरीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा होना अनिवार्य और आवश्यक दोनों ही हैं। ऐसा देखा गया है कि कुछ विद्वानों ने स्वयं निरीक्षण किये बिना ही दूसरों की बातों या वर्णनों पर निर्भर रहकर एक समाज की जिन प्रथाओं के सम्बन्ध में लिखा है, वे वास्तव में वैसी कदापि नहीं हैं और अगर ये विद्वान उन प्रथाओं का वास्तविक निरीक्षण करने का कष्ट करते तो वे कभी उन प्रथाओं को उस रूप में प्रस्तुत नहीं करते जैसा कि उन्होंने किया है। आधुनिक मानवशास्त्रियों ने यह भी अनुभव किया है कि कुछ सामान्य ज्ञान के आधार पर किसी समाज की किन्हीं प्रथाओं के सम्बन्ध में उपकल्पनाओं को बना लेना ही पर्याप्त नहीं है। ये उपकल्पनाएँ तब तक अर्थहीन हैं जब तक उनकी पुनःपरीक्षा वास्तविक निरीक्षण के द्वारा न कर ली जाय। हो सकता है कि वास्तविक निरीक्षण उन उपकल्पनाओं को पूर्णतया गलत ही प्रमाणित कर दे।

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मानवशास्त्र की सर्वप्रमुख पद्धति उपकल्पना के निर्माण और वास्तविक निरीक्षण पर निर्भर है। सर्वप्रथम तथ्यों (facts) का निरीक्षण किया जाना चाहिए और उसके आधार पर उपकल्पनाओं को बनाना चाहिए। परन्तु ये दोनों ही प्रारम्भिक कार्य मात्र हैं। इसके बाद हमें फिर से एक बार वास्तविक निरीक्षण

का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए जिससे कि उन उपकल्पनाओं की परीक्षा व पुनःपरीक्षा सम्भव हो सके। ऐसा करने पर यह आवश्यकता अनुभव करेंगे कि जिस उपकल्पना को लेकर हम लोगों ने अध्ययन-कार्य प्रारम्भ किया था उसमें कुछ सुधार करना जरूरी है या उसे बिल्कुल बदलकर नई उपकल्पना का निर्माण आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक हमारी उपकल्पना की यथार्थता प्रमाणित न हो जाय।

अत: निरीक्षण और उपकल्पना को एक साथ मिला और काम में लाकर अध्ययन करने की पद्धति ही सामाजिक मानवशास्त्र की समस्त विशेष पद्धतियों का सार है। परन्तु इस पद्धति का प्रयोग क्षेत्र (field) में अर्थात् उस समुदाय या समाज में जाकर ही हो सकता है जिसका कि हमें अध्ययन करना है। आधुनिक मानवशास्त्रियों का दृढ़ मत है कि केवल इसी तरीके से हम मानवशास्त्रीय अध्ययन ठीक से कर सकते हैं या उन अध्ययनों को यथार्थ बना सकते हैं। इसलिए केवल निरीक्षण करने की प्रक्रिया ही काफी नहीं है, जब तक हम उस समुदाय में, जिसका कि हमें अध्ययन करना है, जाकर कुछ समय के लिए बस न जाएं। जिन लोगों का अध्ययन करना है उनके यथासम्भव निकट सम्पर्क में रहे बिना उनके या उनके सामाजिक जीवन या संस्कृति के विषय में कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना कदापि सम्भव नहीं। इसलिए आधुनिक मानवशास्त्री केवल निरीक्षण ही नहीं करते हैं बल्कि लोगों के निकट सम्पर्क में आकर और उनके साथ बसकर उनकी प्रथाओं, विश्वासों आदि के विषय में भी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और उनसे सम्बन्धित सामान्य नियमों को खोजते हैं। संक्षेप में, सामाजिक मानवशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन व संस्कृति का अध्ययन है, इस कारण इनका अध्ययन मानव समाज के वास्तविक क्षेत्र में वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण द्वारा ही सम्भव है और होना भी चाहिए।

SELECTED READINGS

1. Hoebel and others, *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co , New York, 1955.

2. Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, 1952.

3. Radcliffe-Brown, *Method in Social Anthropology*, edited by M. N. Srinivas, Asia Publishing House, Bombay, 1960.

4 मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ या व्यावहारिक मानवशास्त्र (Application of Anthropology or Applied Anthropology)

भूमिका (Introduction)

विभिन्न सामाजिक समस्याओं का समाधान के सम्बन्ध में जब से मानवशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग होना आरम्भ हुआ, व्यावहारिक मानवशास्त्र का जन्म भी तभी हुआ। वैसे भी मानवशास्त्र का सैद्धान्तिक महत्त्व कम नहीं है। मनुष्य अपने पूर्वजों के बारे की जो जिज्ञासा मन में मानव-हृदय में [illegible] रही है उसी से मानवशास्त्र के जन्म का स्वागत किया जाता है। यह प्रमाण इस विषय का सबूत है कि [illegible] मानव की विचित्रतम लीलाएँ अपनी [illegible] हुई हैं। [illegible] विभिन्न देशों के लोगों के रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास, कला, भाषा-साहित्य आदि जितने ही [illegible] अपने [illegible] को उन लोगों के सम्मुख उद्घाटित करते हैं जो उनके सम्बन्ध में जानने को उत्सुक और लालायित हैं। मानवशास्त्री भी उन लोगों में एक है जो कि विचित्र मानव के सम्बन्ध में कल्पना की तूलिका से अतिरंजित, रोमांचकारी और रहस्यमयी कथा-कहानियों को नहीं, अपितु वास्तविक तथ्यों पर आधारित यथार्थ ज्ञान को प्रस्तुत करता है। मानवशास्त्र मानव का सम्पूर्ण अध्ययन है; अतः इसके अन्तर्गत केवल मनुष्य 'क्या था' और 'क्या है' का ही अध्ययन नहीं बल्कि उन सामान्य सामाजिक नियमों या प्रक्रियाओं का विश्लेषण एवं निरूपण भी सम्मिलित है जिनके कारण मानव-समाज तथा सभ्यता विकसित होती एवं स्थिर रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से मानवशास्त्र का महत्त्व यह है कि इसके द्वारा हमें उस 'ज्ञान' की प्राप्ति होती है जो 'विचित्र मानव' की यथार्थताओं को समझने में सहायक होता है; साथ ही यह उन सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन सामाजिक नियमों से परिचित कराता है जो कि मानव-समाज के संगठन, निरन्तरता एवं स्थिरता के कारणों और शक्तियों की अभिव्यक्ति है।

परन्तु मानवशास्त्र का समस्त महत्त्व एवं उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओं तक सीमित है यह सोचना उचित न होगा। व्यावहारिक क्षेत्र में भी उसकी अनेक उपयोगिताएँ हैं जिसके कारण केवल आदिवासियों के सामाजिक जीवन की ही नहीं, सभ्य समाज की भी अनेक समस्याओं को हल करने में मानवशास्त्र सहायक सिद्ध हो रहा है। मानवशास्त्र का यह व्यावहारिक अंग ही व्यावहारिक मानवशास्त्र के नाम से परिचित है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Applied Anthropology)

व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र की वह शाखा है जो कि मानवशास्त्रीय ज्ञान को व्यावहारिक रूप में मानवीय समस्याओं को सुलझाने और सामाजिक परिवर्तन को नियोजित रूप में नियन्त्रित करने में प्रयुक्त होती है।

श्री इलियट चैपल (Elliot D. Chapple) के अनुसार, "व्यावहारिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र का वह पक्ष माना जाता है जो कि मानव-सम्बन्धों में परिवर्तनों का वर्णन करता है और इन्हें नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तों को पृथक् करता है।"[1]

व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव
(The Origin of Applied Anthropology)

जिस प्रकार सन् 1859 को, जिस वर्ष श्री डार्विन (Darwin) की प्रख्यात पुस्तक *Origin of Species* प्रकाशित हुई थी, मानवशास्त्र का जन्म-वर्ष माना जाता है; उसी प्रकार सन् 1921 को, जिस वर्ष 'अशान्ति' नामक जनजाति में तृतीय विद्रोह फैला था, व्यावहारिक मानवशास्त्र का उद्भव-वर्ष कहा जाता है। इसके पहले न तो सरकार को और न ही जनता को यह विश्वास था कि मानवशास्त्रीय ज्ञान का कोई व्यावहारिक उपयोग भी सम्भव है और मानवशास्त्री किसी भी समाज की दैनिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता कर सकते हैं। परन्तु उक्त घटना ने मानवशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष की ओर सर्वप्रथम लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर निवास करने वाली इस अशान्ति जनजाति का राजा एक साधारण 'स्टूल' (Stool) पर बैठता था। पर अपने हाथ को प्रायः उसी प्रकार के अन्य स्टूल पर, जिसका कि कुछ भाग सोने से ढका हुआ था, टेकता था। यह विश्वास किया जाता था कि वह स्टूल ईश्वर-प्रदत्त है और इस कारण उसे अत्यन्त पवित्र और शक्तिशाली सामूहिक प्रतीक के रूप में माना जाता था। सन् 1896 के लगभग ब्रिटिश शासक तथा उक्त जनजाति में कुछ संघर्ष उत्पन्न हुआ और ब्रिटिश अफसरों ने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार उस सोने के स्टूल को अशान्ति लोगों से छीन लें। उनका अनुमान था कि ऐसा करने पर उस जनजाति के लोगों को वश में करना सरल होगा। परन्तु हुआ इसका उल्टा। अशान्ति लोगों ने ब्रिटिश अफसरों के द्वारा स्टूल छीनने के प्रयत्नों का घोर विरोध किया और स्टूल को छिपा रखा गया। सन् 1921 में यह पता लगा कि कुछ अपराधियों ने स्टूल में सोने की जो सजावट थी उसमें से सोना निकालकर बेच डाला है। अतः अशान्ति लोगों ने अपना भयंकर रूप धारण किया और यह माँग पेश की कि अपराधियों को मार डाला

1. "Applied anthropology is regarded as that aspect of anthropology which deals with the description of changes in human relations and in the isolation of the principles that control them."—Elliot D. Chapple, *Applied Anthropology in Industry*, 1953, p. 819.

जाय। परिस्थिति जब अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी और विद्रोह होने ही वाला था कि कैप्टन रैटरे (Captain Rattray), जो कि एक सरकारी मानवशास्त्री थे, मध्यस्थ हुए और अशान्ति लोगों को स्टूल को रखने और अपराधियों को निर्वासन-दण्ड से दण्डित करने की अनुमति प्रदान की। इस प्रकार उस गम्भीर समस्या का समाधान हुआ और मानवशास्त्र का व्यावहारिक महत्त्व स्पष्ट हुआ।

प्राय: उसी समय भारत के छोटा नागपुर नामक आदिवासी क्षेत्र में एक दूसरा झगड़ा खड़ा हुआ था। इस भाग के प्रत्येक उराँव गाँव का अपना एक विशेष प्रकार का झण्डा होता है जिसे कि वे प्रतिवर्ष अन्तर्जनजातीय (Inter-tribal) नृत्य उत्सव, जिसे कि वे लोग 'यात्रा' कहते हैं, में योगदान करने जाते समय अपने साथ ले जाते हैं। इस उत्सव में भिन्न-भिन्न गाँव और जनजातियों के लोग अंश ग्रहण करते हैं। एक ठेकेदार को एक रेलवे पुल बनाने के कार्य में निकटवर्ती दो गाँव के लोगों की सहायता प्राप्त हुई थी। इनमें से एक गाँव उराँव लोगों का था और दूसरा हिन्दुओं का। इन लोगों में यह अन्धविश्वास था कि उस नदी पर कोई पुल नहीं बनाया जा सकता है। इस अन्धविश्वास को तोड़ने के लिए उक्त ठेकेदार ने हिन्दुओं के एक टूटे-फूटे मन्दिर को बनवाया और उराँव लोगों को एक झण्डा भेंट किया, जिस पर रेल के इंजन का चित्र अंकित था और उन्हें विश्वास दिलाया कि इसी से उन्हें शक्ति मिलेगी और पुल-निर्माण का कार्य सफलता से हो सकेगा। पुल के बन जाने पर झण्डे की शक्ति पर उराँव लोगों का विश्वास दृढ़ हुआ और वे अपने उस झण्डे के साथ 'यात्रा' के लिए जाने लगे। इसी की देखा-देखी एक दूसरे गाँव के लोगों ने अपनी शक्ति को और भी बढ़ाने के लिए प्रथम गाँव के लोगों के झण्डे से भी बहुत बड़ा एक झण्डा बनवाया और उस पर भी वही रेल के इंजन का चित्र बनवाया। प्रथम गाँव के लोगों ने इस अनुकरण का घोर प्रतिवाद किया और दोनों गाँवों में जो झगड़ा हुआ उसके फलस्वरूप दो व्यक्ति मारे गये और अनेक लोग घायल हुए। पुलिस को बाध्य होकर शान्ति-रक्षा करने के लिए दखल देना पड़ा। दूसरे वर्ष 'यात्रा' के समय इस प्रकार की किसी दुर्घटना को रोकने के लिए जिला मजिस्ट्रेट ने उस क्षेत्र के प्रसिद्ध मानवशास्त्री स्वर्गीय शरत्चन्द राय से सहायता करने की प्रार्थना की। श्री राय ने एक नया झण्डा बनवाया जिस पर रेल के इंजन के स्थान पर हवाई जहाज का चित्र अंकित किया और उसे दूसरे गाँव वालों को यह समझाते हुए भेंट किया कि हवाई जहाज रेल के इंजन से कहीं अधिक शक्तिशाली तथा उत्तम है। गाँव के लोगों की समझ में यह बात शीघ्र ही आ गई और उन्होंने रेल के इंजन वाले झण्डे के स्थान पर हवाई जहाज के चित्र वाला झण्डा स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दो गाँवों के बीच की वह शत्रुता सदैव के लिए दूर हो गई और वे फिर 'यात्रा' में मित्रतापूर्वक अंश ग्रहण करने और खुशियाँ मनाने लगे।

उक्त दोनों घटनाओं ने यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया कि मानवशास्त्र का
म॰॰ महत्त्व एवं उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु
सक। व्यावहारिक उपयोग मानव की अनेक समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध
सकता है।

व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Applied Anthropology)

चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र का सम्पर्क विशेषकर आदिम समाजों से होता है, इस कारण प्रारम्भ में यह सोचा जाता था कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र केवल आदिवासियों की दैनिक समस्याओं को सुलझाने या उनकी कठिनाइयों को कम करने तक ही सीमित है। इसी कारण सबसे पहले शासक, व्यवसायी तथा मिशनरी लोगों ने गोरी जातियों और आदिवासियों के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण उठने वाली समस्याओं को सुलझाने, उन पर शासन करने या उनमें ईसाई धर्म का प्रचार करने के प्रयत्नों में मानवशास्त्रीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु धीरे-धीरे व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र विकसित होता गया।

सन् 1909 से श्रीमती सेलिगमैन, श्री इवान्स-प्रिटचर्ड, डा० नैडेल आदि की अध्यक्षता में अनेक शोध-कार्य (research work) आदिवासियों के सम्बन्ध में प्रारम्भ हुए जिनका कि प्रमुख उद्देश्य था आदि संस्कृतियों के सम्बन्ध में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना तथा उस ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करना। इस व्यावहारिक ज्ञान का क्षेत्र केवल आदिवासियों के समाजों तक ही सीमित न रहा अपितु सभ्य समाजों की समस्याओं को सुलझाने में भी उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् 1928 में श्री फ्रांज बोआस (Franz Boas) की *Anthropology and Modern Life* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार अपराध में वंशानुसंक्रमण का प्रभाव, प्रजाति का महत्त्व, शिक्षा के कार्य आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं के अध्ययन में मानवशास्त्री अपने को वास्तव में उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार मानवशास्त्रियों के प्रयत्नों से सभ्य समाज की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सरलता से समझा और उन्हें सुलझाया जा सकता है। श्री बोआस ने स्वयं भी अपने को इन समस्याओं के अध्ययन-कार्य में नियोजित किया, विशेषकर उनके द्वारा किये गये वंशानुसंक्रमण की विशेषताओं पर पर्यावरण में भिन्नताओं का प्रभाव-सम्बन्धी अध्ययन हमें अनेक अन्धविश्वासों और गलत धारणाओं से मुक्त करता है। श्री बोआस के इन अध्ययनों का सर्वप्रमुख परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र अब केवल आदि समाजों की समस्याओं तक सीमित न रहकर मानव-समस्याओं तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार श्री बोआस ने मानवशास्त्र को मानवता की सेवा में उत्सर्ग किया।

दूसरी ओर श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे प्रकार से व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। आपने 'संस्कृति' का अध्ययन एक सैद्धान्तिक अवधारणा के रूप में न करके सांस्कृतिक तत्त्वों के कार्यों के जानने पर अत्यधिक बल दिया। इस कार्यवादी दृष्टिकोण से आपने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया कि : "संस्कृति मनुष्य के लिए क्या कार्य करती है ?" आपका निष्कर्ष था कि संस्कृति मनुष्य को प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त करती है तथा उसे अपने शारीरिक तथा सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखने में सहायता करती है और

ही उसके मानसिक जीवन को भी उच्च-स्तर पर लाने का प्रयत्न करती है। प्रो० रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) भी कार्यवादी विचारधारा के समर्थक थे। परन्तु आपका मत है कि संस्कृति केवल 'व्यक्ति' को नहीं, समग्र समाज के अस्तित्व को, उसकी संस्थाओं के द्वारा, बनाये रखने में सहायक होती है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार मानवशास्त्रीय ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग इस प्रकार हो कि व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व सरल तथा सुन्दर हो और वे समस्त प्राकृतिक तथा प्राणीशास्त्रीय दासता से विमुक्त होकर उत्तरोत्तर प्रगति कर सकें।

श्री रेमण्ड फ़िर्थ (Raymond Firth) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र के क्षेत्र को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्रियों का कार्य सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य करना है। आपका मत है कि आदि समाज तथा सभ्य समाज के बीच जो विस्तृत खाई है उसे इस प्रकार और इतनी सावधानी से पाटना है कि आदि समाजों में विघटन की स्थिति उत्पन्न न हो सके। यह कार्य व्यावहारिक मानवशास्त्र का वास्तविक क्षेत्र है और इसीलिए इसे सामाजिक इंजीनियरिंग (Social Engineering) कहना ही उचित होगा क्योंकि एक इंजीनियर की भांति मानवशास्त्री भी उस 'पुल' (bridge) को बनाने में अपने को नियोजित रखता है (या रखना चाहिए) जो कि आदि समाज और सभ्य समाज को एक साथ मिलाता है। व्यावहारिक मानवशास्त्र विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के बीच का एक वैज्ञानिक मिलन-सेतु है।

श्री क्लूखोन (Kluckhohn) का मत है, जसा कि श्री फ़िर्थ भी मानते थे, कि मानवशास्त्रियों के लिए सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य करना शायद यथार्थ रूप में सम्भव नहीं भी हो सकता है क्योंकि सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी नीति का निर्धारण-कार्य मानवशास्त्री नहीं कर सकते, यह कार्य तो प्रशासकों का है। मानवशास्त्रियों के लिए अपने को प्रशासकों के स्तर तक ले आना उचित न होगा क्योंकि कुछ भी हो मानवशास्त्री एक वैज्ञानिक है और वैज्ञानिक के कार्य-क्षेत्र में नीति-निर्धारण नहीं आता है। जो सामाजिक पुनः निर्माण-सम्बन्धी नीति को तय नहीं करता है वह सामाजिक इंजीनियर के रूप में कार्य कैसे करेगा? इस कारण अधिक अच्छा हो यदि मानवशास्त्री एक इंजीनियर के रूप में निर्माण-कार्य न करके एक डाक्टर के रूप में समाज का रोग-निर्णय (diagnosis) करने तथा औषधि-निर्देशन (prescription) का कार्य करे। सामाजिक समस्याओं का वास्तविक स्वरूप और प्रकृति क्या है; इन समस्याओं का सामाजिक जीवन पर संभावित क्या-क्या प्रभाव हो सकता है; इन समस्याओं को, सामाजिक विघटन की प्रक्रियाओं से बचते हुए किस प्रकार वैज्ञानिक तथा सरल ढंग से सुलझाया जा सकता है, इन समस्त विषयों में परामर्श देना तथा वास्तविकताओं से प्रशासकों को परिचित करवाना मानवशास्त्रियों का यथार्थ कार्य है। इस प्रकार श्री क्लूखोन के अनुसार सामाजिक औषधि
ocial medicine), न कि सामाजिक इंजीनियरिंग, व्यावहारिक मानवशास्त्र का
विक क्षेत्र है।

इस सम्बन्ध में श्री इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने लिखा है कि जो
न व्यावहारिक मानवशास्त्र की तुलना सामाजिक औषधि या सामाजिक इंजीनियर

के साथ करते हैं, वे सामाजिक मानवशास्त्र को उस प्राकृतिक विज्ञान के रूप में देखते हैं जिसका कि उद्देश्य सामाजिक जीवन के नियमों (laws) को स्थापित करना है; और एक बार सैद्धान्तिक निष्कर्षों के स्थापित हो जाने पर व्यावहारिक विज्ञान की स्थापना भी सम्भव हो जाती है। आज के अधिकतर सामाजिक मानवशास्त्री बिना संशय के या स्पष्ट रूप से प्राकृतिक विज्ञानों को अपने आदर्श नमूने के रूप में स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि मानवशास्त्र का उद्देश्य भविष्यवाणी तथा नियोजन द्वारा सामाजिक परिवर्तन को नियन्त्रित करना है। परन्तु श्री इवान्स-प्रिटचार्ड का व्यक्तिगत अभिमत यह है कि वे यह विश्वास नहीं करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान कोई समाज का विज्ञान हो भी सकता है। वास्तव में अभी तक किन्हीं समाजशास्त्रीय नियमों का आविष्कार ही नहीं हो पाया है और जब ज्ञात नियम ही कुछ नहीं हैं तो उन्हें प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्री इवान्स-प्रिटचार्ड ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, कि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक मानवशास्त्र किसी भी रूप या अर्थ में व्यावहारिक हो ही नहीं सकता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह औषधि-विज्ञान या इञ्जीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नहीं हो सकता।[1] व्यावहारिक मानवशास्त्र के विषय में विवेचना करते हुए उसकी इस सीमा को समझ लेना उचित होगा।

सन् 1953 में अपनी पुस्तक *Anthropology and Modern Life* में श्री नैडेल (Nadel) ने व्यावहारिक मानवशास्त्र व क्षेत्र के विषय में जो अभिमत प्रस्तुत किये हैं उसके अनुसार व्यावहारिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदिम समाजों की समस्याओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आधुनिक जीवन से है। श्री नैडेल का कथन है कि मानवशास्त्र को हम व्यावहारिक इसी अर्थ में कहते हैं कि इसके द्वारा हम लोगों की अपने समय की अनेक समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है। मानवशास्त्र औपनिवेशिक प्रशासन (colonial administration) के विषय में सहायता कर सकता है, विभिन्न प्रकार की मानव-संस्कृतियों की यथार्थताओं को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकता है और इस प्रकार से प्राप्त-ज्ञान के आधार पर अनेक मानवीय समस्याओं को हल करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। श्री

---

1. "Those who have spoken about applied medicine or engineering have regarded social anthropology as a natural science which aims at the establishment of laws of social life, and once theoretical, generalizations can be established an applied science becomes feasible. .. ..The majority of the social anthropologis's of to-day have, implicitly or explicitly, taken the natural sciences for their model and assumed that the purpose of anthropology is by prediction and planning to control social change. .... I do not believe that there can ever be a science of society which resembles the natural sciences. .... I do not think that there is any anthropologis' anywhere who would seriously maintain that upto the present time any sociological laws have been discovered, and if there are no laws known, they cannot be applied. This does not mean that social anthropology cannot be, even in a narrow and technical sense, applied any way. It only means that it cannot be an applied science like medicine engineering "—E. E. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, 1954, pp.

नैडेल का कथन है कि ऐसा भी देखा गया है कि कभी-कभी मानवशास्त्रीय ज्ञान या खोजों का दुरुपयोग भी होता है। मानवशास्त्रियों का नैतिक कर्तव्य इस प्रकार के दुरुपयोगों को रोकना भी है। श्री नैडेल के अनुसार इन्हीं अर्थों में मानवशास्त्र व्यावहारिक है।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अब व्यावहारिक मानवशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका है और इसी कारण यह विज्ञान आज केवल आदिवासियों की कठिनाइयों को दूर करने में या उनकी समस्याओं को सुलझाने में नहीं अपितु समस्त मानव की सेवा में उपयोगी कार्य कर रहा है।

मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ या व्यावहारिकताएँ

(Uses or Applications of Anthropology)

मानवशास्त्र बहुत पुराना विज्ञान नहीं है। इसकी आयु प्रायः एक सौ वर्ष की होगी। फिर भी इसके द्वारा मानव के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पर्याप्त विकसित हुआ है और साथ ही अनेक मानवीय कठिनाइयों या समस्याओं के हल करने में सहायता भी मिली है। आज का मानवशास्त्र केवल 'जंगलियों' की- रोचक कहानियाँ नहीं है, अपितु मानव और उसकी संस्कृतियों के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान का वितरक तथा 'मानवता का सेवक' है। दूसरे शब्दों में, आज के मानवशास्त्र का केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही नहीं, व्यावहारिक पक्ष भी विशेष उल्लेखनीय है। इस व्यावहारिक मानवशास्त्र की उपयोगिताएँ निम्न हैं—

(1) **औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र में उपयोगिता (Uses in the field of Colonial Administration)**—औपनिवेशिक प्रशासन के क्षेत्र में मानवशास्त्र की उपयोगिता आज प्रायः सभी लोग मानते हैं। गोरी जातियों (इंगलैंड, हालैंड, फ्रांस आदि) के द्वारा संसार में जगह-जगह उपनिवेश की स्थापना साम्राज्यवाद का ही स्वाभाविक परिणाम था। इन स्थानों में रहने वाले गोरी जातियों की दृष्टि में अत्यन्त ही पिछड़े हुए थे। इस कारण वे उन पर अपने विचार, आचार, धर्म, रीति-रिवाज तथा संस्थाओं को थोपने का प्रयत्न करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपने देश से प्रशासक, धर्म-प्रचारक या पादरी आदि भेजते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश इन प्रशासकों, धर्म-प्रचारकों आदि को उपनिवेशवासियों के जीवन, उनके रीति-रिवाज, नियम-कानून, महत्त्वपूर्ण संस्थाओं आदि के विषय में कोई भी ज्ञान न होने के कारण वे अपने ढंग से उन आदिवासियों पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयत्न करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि बहुधा आदिवासियों ने प्रशासकों का विरोध किया और उनके धर्म, विचार, संस्था आदि को ग्रहण करने से इन्कार किया। इसके उत्तर में, बिना कुछ समझे-विचारे, प्रशासकों ने बल और सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप प्रशासकों तथा

1. For detailed discussion please see S.F. Nadel, *Anthropology and odern Life*, Australian National University, Canberra, 1953.

आदिवासियों का पारस्परिक सम्बन्ध उत्तरोत्तर कटु और विपरीत होता गया। यह परि-
स्थिति न तो प्रशासकों के लिए और न ही प्रशासितों के लिए हितकर थी। ऐसी अवस्थ
में मानवशास्त्रियों ने अपने ज्ञान और अनुभव से प्रशासक तथा प्रशासित दोनों को ह
लाभ पहुँचाया। चूँकि मानवशास्त्रियों को एक ओर उपनिवेशवासियों के जीवन, उनके
रीति-रिवाज, नियम-कानून, संस्थाओं आदि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता
और दूसरी ओर वे प्रशासकों के दृष्टिकोण तथा इच्छाओं से परिचित होते हैं; इस कारण
सरलता से ही प्रशासक तथा प्रशासितों के बीच मध्यस्थ का कार्य अति उत्तम एवं उपयोग
ढंग से कर सकते हैं। प्रशासन-कार्य में सफलता तभी सम्भव है जब प्रशासितों को भल
प्रकार से समझ लिया जाय तथा इनके प्रति वास्तविक सहानुभूति के आधार पर शासन
नीति को इस प्रकार आयोजित किया जाय कि प्रशासकों को उनका विश्वास भी प्रा
हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रशासक वर्ग ऐसा कुछ भी न करे जिससे आदि
वासियों की भावनाओं को ठेस पहुँचे और वे भी प्रशासन-कार्य में सक्रिय सहयोग प्रद
कर सकें। यह सब-कुछ मानवशास्त्रीय ज्ञान के अधिकतम विस्तार पर ही निर्भर है
इसीलिए इंगलैंड, हालैंड, फ्रांस आदि देशों में मानवशास्त्रीय शिक्षा उनके लिए अनिव
है जिनकी नियुक्ति औपनिवेशिक प्रशासकों के रूप में होती है; क्योंकि आज
सत्य सर्वस्वीकृत है कि आदिवासियों के सम्बन्ध में अधिकतर गलतफहमियाँ तथा त्रुटि
प्रशासकों की असहनशीलता, संकीर्णता तथा पक्षपात के कारण हैं। मानवशास्त्री
ज्ञान-प्राप्त आज के सभी औपनिवेशिक प्रशासक यह मानते हैं कि पिछले दिनों आ
वासियों के क्षेत्रों में उठने वाली अनेक छोटी-बड़ी समस्याओं और संघर्षों का जन्म
शायद न होता यदि उस समय के प्रशासक वर्ग आदिवासियों की जीवन-दृष्टि से
मात्र भी परिचित होते। प्रशासन में व्यावहारिक मानवशास्त्र का महत्त्व तब ख
में स्पष्ट होता है जब आदिवासियों के रीति-रिवाज, प्रथा आदि से सम्बन्धित वि
विशेष समस्या का अध्ययन तथा उसके निराकरण के लिए मानवशास्त्रियों का आह
किया जाता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की एक जनजाति में यह प्रथा थी कि एक यु
तभी विवाह करने के योग्य माना जाता था जब वह एक नर-मुण्ड प्राप्त करके अ
वीरता का प्रमाण दे। गोरी जातियों की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रथा
अत्यन्त घृणित तथा असभ्य प्रथा समझा गया। इस कारण इसे रोकने का प्रयत्न f
गया। परन्तु इस प्रयत्न के मार्ग में उस जनजाति के लोगों की ओर से घोर बाधा
और उससे शान्ति भंग होने की आशंका की गई। इसलिए बल या सैनिक शक्ति
प्रयोग न करके सरकार ने मानवशास्त्रियों की सहायता से इस समस्या को सुलझ
अधिक उचित समझा। मानवशास्त्रियों ने उक्त जनजाति की उस प्रथा का अध्
किया और उनके प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके विश्वास को प्राप्त किया और
के बल पर जनजाति के नेताओं या मुखियाओं को समझा-बुझाकर एक नई प्रथ
सूत्रपात कराया, जिसके अनुसार विवाह के पूर्व प्रत्येक युवक के लिए नर-मुण्ड ले
आवश्यक न रहा, बल्कि उसके स्थान पर केवल एक जंगली सुअर का सिर ले
उसकी वीरता एवं योग्यता का पर्याप्त प्रमाण माना जाने लगा। इसी प्रकार की,

समस्याओं का समाधान मानवशास्त्रियों के द्वारा सम्भव हुआ है। अतः स्पष्ट है कि प्रशासकों तथा प्रशासितों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिकतर आन्तरिक तथा सहयोगी करने में मानवशास्त्रियों की उपयोगिता अत्यधिक है। शासन-नीतियों का निर्धारण करते समय प्रशासक वर्ग एक भारी गलती यह करते हैं कि वे एक ही नीति को सार्वभौमिक मानकर प्रत्येक प्रकार के समाज के लोगों पर उसे प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं। इस त्रुटि की ओर मानवशास्त्री ही प्रशासकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रोफेसर फ्लोवर (Flower) के शब्दों में, "उस शासक के लिए, जो कि सफलतापूर्वक शासन करेगा, यह नितान्त आवश्यक है कि वह मानव-प्रकृति को अमूर्त्त रूप में न देखे और न ही सार्वभौमिक नियमों का उस पर प्रयोग करे, अपितु प्रत्येक प्रजाति की, जिस पर कि उसे शासन करना है, विशिष्ट, बौद्धिक तथा सामाजिक क्षमताओं, आवश्यकताओं तथा अभिलाषाओं को ध्यान में रखे।"[1] इस प्रकार प्रत्येक जनजाति की अपनी-अपनी विशेषताओं को ध्यान में रखने से प्रशासकों का कार्य अत्यन्त सरल ही नहीं हो जायगा वल्कि जनजातियों के सम्बन्ध में अनेक गलतफहमियाँ भी दूर हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की अनेक जनजातियों में विवाह करने के इच्छुक युवक को कन्या पक्ष को कन्या-मूल्य (bride price) के रूप पशु देना पड़ता था। गोरे शासक इस पशु के देने का अर्थ कन्या को खरीदना समझते थे। इस कारण पादरी लोग इसे बुरा मानते थे और सरकार द्वारा यह प्रथा निषिद्ध थी। परन्तु मानवशास्त्रीय अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार अनेक सभ्य समाजों में दहेज प्रथा का अर्थ लड़के या वर को खरीदना नहीं है उसी प्रकार पशु देने का अर्थ भी कन्या का क्रय नहीं है। यह भी ज्ञात हुआ कि इस प्रथा को समाप्त कर देने पर न केवल विवाह-बन्धन तथा पारिवारिक सम्बन्ध शिथिल हो जाने की सम्भावना है अपितु स्त्रियों की स्थिति में भी पर्याप्त पतन होने की आशंका स्पष्ट है। इन खोजों के पश्चात् पादरी तथा सरकार दोनों का ही मनोभाव उक्त प्रथा के प्रति आमूल बदल गया। शायद इसीलिए श्री कीसिंग (Keesing) का कथन है कि व्यावहारिक मानवशास्त्र—अर्थात् वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में विज्ञान के दृष्टिकोण, ज्ञान तथा प्रविधियों (techniques) का प्रयोग—संसार के औपनिवेशिक क्षेत्रों में सर्वाधिक विकसित तथा परीक्षित है।

अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय ज्ञान प्रशासन-कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। इतना ही नहीं, मानवशास्त्री अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर प्रशासकों को किसी भी प्रशासन-कार्य के प्रभावों का यथार्थ मूल्यांकन करके बता सकते हैं। इस प्रकार किसी शासन-नीति के वास्तविक परिणामों या प्रभावों से शासकों को परिचित

---

1. "It is absolutely necessary for the statesman who would govern -cessfully, not to look upon human nature in the abstract and endeavour to ly universal rules, but to consider the special moral, intellectual and social abilities, wants and aspirations of each particular race with which he has ..l."—W. H. Flower, The President's Address, *Journal of the Anthropo-cal Institute*, 1834, p. 493.

कराना मानवशास्त्रियों का कार्य है। फिर भी शासन-नीति को प्रतिपादित करना मानवशास्त्रियों का कार्य नहीं है; उनका कार्य तो तथ्यों या यथार्थताओं को प्रस्तुत करना है जिससे शासकों के लिए नीति-निर्धारण-कार्य सरल हो सके। कुछ भी हो, औपनिवेशिक शासन के क्षेत्र में मानवशास्त्र का महत्त्व सर्वस्वीकृत है और यह महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने तो यहाँ तक आशा प्रकट की है कि "स्वयं विशुद्ध विज्ञान के अधिक द्रुत विकास तथा औपनिवेशिक शासनों के सहयोग के साथ-साथ हम एक ऐसा समय आने की भी आशा कर सकते हैं जब कि संसार के विभिन्न भागों के आदिवासियों की शिक्षा तथा सरकार मानवशास्त्रीय-विज्ञान द्वारा प्रतिपादित नियमों के व्यावहारिक प्रयोग पर आधारित एक कला के रूप में विकसित हो सकेगी।"[1]

(2) प्रजातीय भ्रान्तियाँ तथा मानवशास्त्र (Racial myths and anthropology)—'प्रजाति' के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ हैं, जैसे 'प्रजाति' को लोग प्रायः भाषा, धर्म, राष्ट्र आदि के साथ निरर्थक ही मिला देते हैं या बौद्धिक क्षमता तथा सांस्कृतिक अप्रगति व पिछड़ेपन की प्रजातीय आधार पर व्याख्या करके विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-नीच की भावना को जन्म देते हैं। इन सब प्रजातीय भ्रान्तियों के कारण विश्व के इतिहास में अनेक अत्याचारमयी भयंकर घटनाएँ घटित हुई हैं। मानवशास्त्रीय ज्ञान ने हमें इन भ्रान्तियों के पंजों से छुटकारा दिलाया है और प्रजाति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधारों पर सोचने तथा निष्कर्ष निकालने को बाध्य किया है। प्रजातिवाद (Racism) की विकट समस्या, जो कि आज भी अनेक मानव-समूहों को उत्पीड़ित कर रही है, मानवशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ही क्रमशः निर्बल होती जा रही है। मानवशास्त्रियों ने आज स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि प्रजाति एक सांस्कृतिक या क्षेत्रीय धारणा नहीं, अपितु एक विशुद्ध प्राणीशास्त्रीय विचार है और प्रजातियों के वर्गीकरण का आधार कुछ सामान्य शारीरिक लक्षण हैं; इस कारण इनमें उच्चता और निम्नता का कोई प्रश्न कदापि नहीं उठ सकता, प्रजातियों में तथाकथित ऊँच-नीच का संस्तरण स्वयं मनुष्य का अपना मनगढ़न्त या कपोल-कल्पित है; साथ ही बौद्धिक क्षमता केवल प्रजाति से ही सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के सदस्यों के बुद्धि-स्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। प्रजातियों के विषय में इन मानवशास्त्रीय निष्कर्षों ने अन्तर-प्रजातीय (inter-racial) सम्बन्धों को अधिक मित्रतापूर्ण तथा प्रीतिकर बनाया है।

---

1. "With the more rapid advance of the pure science itself, and with the cooperation of colonial administration, we might even look forward to a time when the government and education of native peoples in various parts of the world would mark some approach to being an art based on the applicat of discovered laws of anthropological science."—A. R. Rad.liffe 'Applied Anthropology', *Report of Australian and New Zealand Asso' Advancement of Science*, Section F. 1930, p. 3.

प्रजातीय संघर्ष की सम्भावना कम होने पर विश्वशान्ति की स्थापना सरल हो जायगी। मानवशास्त्र का यह अनुदान अत्यन्त महत्त्व का है।

(3) **उद्योग में व्यावहारिक मानवशास्त्र (Applied anthropology in industry)**—मानवशास्त्रीय ज्ञान तथा प्रविधियों का प्रयोग उद्योगों में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम प्रोफेसर एल्टन मेओ (Elton Mayo) ने किया था। आपने अपने अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित किया कि उद्योगों में कम उत्पादन का एक प्रमुख कारण औद्योगिक थकान (industrial fatigue) है और थकान का मुख्य कारण उद्योगों में स्वतन्त्रतापूर्वक मेल-मिलाप की सुविधाएँ न होना है। प्रोफेसर मेओ ने एक उद्योग में पुरुष तथा स्त्री श्रमिकों को एकसाथ काम करने तथा उनके मेल-मिलाप की सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने पर यह पाया कि वहाँ उत्पादन में क्रमशः वृद्धि होने लगी। इतना ही नहीं, उनमें सामूहिक भावना का विकास भी शीघ्रता से होने लगा। इसी प्रकार उद्योगों से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन सर्वश्री वार्नर (W. Lloyd Warner), गार्डनर (B. B. Gardner), होआइट (Whyte) आदि विद्वानों द्वारा किया जाता है। इनके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के पारस्परिक सम्बन्ध, मालिक और श्रमिकों के आपसी सम्बन्ध तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न औद्योगिक समस्याओं को समझने में पर्याप्त सुविधा हुई है। व्यावहारिक मानवशास्त्रियों ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए जिन सुझावों को प्रस्तुत किया है उनके अनुसार कार्य करके अनेक औद्योगिक संघर्षों से छुटकारा मिल सका है। आज प्रायः सभी प्रगतिशील देशों में औद्योगिक सम्बन्धों (industrial relations) के विषय में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मानवशास्त्रियों की सेवाओं का उपयोग किया जाता है।

(4) **औषधिशास्त्र में व्यावहारिक मानवशास्त्र (Applied anthropology in Medicine)**—औषधिशास्त्र के क्षेत्र में भी मानवशास्त्र ने व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का काम किया है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज रोगों के केवल प्राणीशास्त्रीय कारकों पर ही नहीं, सामाजिक कारकों पर भी अधिक बल दिया जाने लगा है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि अनेक गम्भीर तथा मानसिक रोगों का उद्भव सामूहिक परिस्थितियों (group situations) एवं विघटित मानवीय सम्बन्धों के फलस्वरूप होता है। इसी कारण आज रोग तथा स्वास्थ्य की प्राचीन परिभाषाओं को धीरे-धीरे बदला जा रहा है और रोगों की चिकित्साओं की अनेक ऐसी विधियों का सूत्रपात किया जा रहा है जो कि बहुतों के लिए इस समय भी अनोखी प्रतीत होंगी। आज कुछ रासायनिक पदार्थों का योग मात्र ही औषधि नहीं है, अपितु अन्य अनेक प्रकार की औषधियों का प्रचलन हो रहा है जैसे पर्यावरण-सम्बन्धी औषधि (environmental medicine), सामाजिक औषधि (social medicine), मनोदैहिक औषधि (psychosomatic medicine) आदि। इनमें से अनेक में व्यावहारिक मानवशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वश्री पार्सन्स (Parsons), फीलिक्स (Felix), फ्रैंक (Frank) गैल्डस्टन ...n) आदि ने जो अध्ययन किये हैं उससे औषधिशास्त्र तथा मानवशास्त्र दोनों

को ही लाभ पहुँचा है। श्री पार्संस ने तो औषधि को सामाजिक व्यवस्था (social system) के एक अंग के रूप में मानकर अध्ययन किया है जबकि श्री फ्रैंक (Lawrence K. Frank) ने अपनी प्रख्यात पुस्तक का नाम 'समाज रोगी के रूप में' (*Society as the Patient*) रखा है और उसमें यह विचार व्यक्त किया है कि समाज को ही डाक्टर के रूप में खोजने की आवश्यकता है।[1] दूसरे शब्दों में, श्री फ्रैंक का मत है कि जिस प्रकार समाज रोगों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार उन रोगों की औषधि भी समाज के पास ही है। दूसरी ओर श्री रॉबर्ट रॉपोपोर्ट (Robert Ropoport) तथा अन्य मानवशास्त्रियों की अध्यक्षता में हाल ही में 'मानसिक स्वास्थ्य का सामुदायिक अध्ययन' (Community studies of mental health) भी प्रारम्भ किया है जिसके फलस्वरूप मानसिक रोग व स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का स्पष्टीकरण सम्भव हुआ है जैसे, मानसिक स्वास्थ्य के लिए केवल मानसिक कारकों के अतिरिक्त अन्य कौनसे कारक उत्तरदायी हैं, व्यक्तित्व-निर्माण तथा सामाजिक पर्यावरण में वास्तविक सम्बन्ध क्या है; मानसिक विकार या रोग उत्पन्न करने में सामाजिक पर्यावरण के कौनसे कारक सर्वप्रमुख हैं, इत्यादि। इस प्रकार के सभी अध्ययनों ने औषधिशास्त्र या चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का काम किया है। उसी प्रकार लसीविद्या (serology) या रक्त समूहों (blood groups) के सम्बन्ध में अधिकाधिक अध्ययन करके मानवशास्त्री अपने ज्ञान को अधिक विस्तृत करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं उससे औषधि सम्बन्धी शोधों (mental researches) में पर्याप्त सहायता मिली है।

(5) **युद्ध और मानवशास्त्र** (War and anthropology)—मानवशास्त्रीय ज्ञान की उपयोगिता युद्ध के समय में भी अत्यधिक है। इसकी सर्वप्रथम परीक्षा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में ही हो गई थी। युद्ध के समय जहाँ-कहीं भी मानव-सम्बन्धों से सम्बन्धित किसी समस्या का उद्भव हुआ, वहीं मानवशास्त्रियों ने अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर उस समस्या को सुलझाने में यत्नवान प्रयत्न किये और उसे सुलझाया भी। श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने अमेरिका में मानवशास्त्रियों के उन अशदानों (contributions) के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये हैं जिनके कारण युद्ध में जीत सम्भव हो सकी। युद्ध के प्राय सभी महत्त्वपूर्ण विभागों में मानवशास्त्रियों ने कार्य किये थे और अपने ज्ञान तथा अनुभव को राष्ट्र की सेवा में नियोजित किया। उस समय मानवशास्त्रियों ने सर्वसाधारण की सहयोगिता प्राप्त करने तथा उनके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाये रखने में भी पर्याप्त हाथ में बँटाया था। कोरिया के युद्ध में भी मानवशास्त्रियों ने व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के काम किये थे।

(6) **मानवशास्त्र की अन्य उपयोगिताएँ** (Other uses of anthropology)—मानवशास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना को ही ले सकते हैं।

---

1. See Lawrence K. Frank, *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948.

ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि इस प्रकार की कोई भी योजना बनाते समय हम ग्रामवासियों के जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों का उचित ध्यान रखें ताकि योजना उनकी भावनाओं को ठेस न पहुँचाये। उनके जीवन तथा मूल्यों के विषय में वैज्ञानिक ज्ञान हमें मानवशास्त्र ही प्रदान कर सकता है। उसी प्रकार जनजातियों की समस्याओं का वास्तविक निराकरण तभी सम्भव है जब इस विषय में हम मानवशास्त्रियों की सहायता प्राप्त कर लेंगे क्योंकि प्रत्येक जनजाति की उनके प्रदेश तथा संस्कृति के आधार पर अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं; इस कारण जो योजना एक सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उचित है वह दूसरे के लिए उचित न भी हो सकती है। इस सत्य की ओर मानवशास्त्री ही हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं। संक्षेप में कोई भी पुनर्निर्माण या पुनर्वास योजना मानवशास्त्रीय ज्ञान पर आधारित तथा आयोजित होनी ही उचित तथा लाभप्रद है। राष्ट्रीय चरित्र के अध्ययन में भी मानवशास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा संस्कृति के उन तत्त्वों का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कि व्यक्तित्व तथा मानव-व्यवहारों के विभिन्न पक्षों के विकास में महत्त्वपूर्ण हैं। यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का ही नहीं अपितु व्यावहारिक उपयोग का भी इस अर्थ में है कि इस ज्ञान के आधार पर सामाजिक संगठन तथा सामाजिक नियन्त्रण-कार्य अधिक व्यवस्थित रूप में हो सकता है। उसी प्रकार जनसंख्या-सम्बन्धी समस्याएँ समाज-स्वास्थ्य की समस्या, अल्पसंख्यकों की समस्याएँ, अपराध-चिकित्सा की समस्या आदि के वास्तविक स्वरूप को समझने में तथा उनका वैज्ञानिक हल ढूंढ़ने में हमें मानवशास्त्र से अत्यधिक सहायता मिलती है।

मानवशास्त्र का अध्ययन-विषय प्रधानतः आदिम समाज है; परन्तु इन समाजों के अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव हमें अपने समाज को भी समझने में सहायता करता है। इसलिए अमेरिकन मानवशास्त्री श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) का कथन है कि "हमारे आश्रयदाता समाज का जो ऋण हम पर है उसका भुगतान हम दीर्घकालीन शर्तों पर संस्कृति की प्रकृति तथा प्रक्रियाओं को समझने में तथा उसके आधार पर अपनी आधारभूत समस्याओं को हल करने में अपने मौलिक अंशदान द्वारा करते हैं। दूसरों के समाजों तथा संस्कृतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके ही हम अपने समाज और संस्कृति को अधिक सरलता से समझ सकते हैं और उनसे सम्बन्धित समस्याओं को हल करने में अपने पिछले अध्ययनों से प्राप्त अनुभव तथा ज्ञान का सदुपयोग कर सकते हैं। एक वाक्य में, मानवशास्त्र सर्वाधिक आश्चर्यजनक जीव—मनुष्य—को, चाहे वह किसी युग का या किसी समाज का हो, अधिक उत्तम रूप में समझने में सहायता करता है।

SELECTED READINGS

1. Evans-Pritchard, *Social Anthropology*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1954.

2. Frank, Lawrence K., *Society as the Patient*, Rutgers University Press, New Brunswick, 1948

3. Kroeber and Others, *Anthropology Today*, The University of Chicago Press, Chicago, Illinois, 1953.

4. Hoebel and Others, *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Company, New York, 1955.

5 प्रजाति और प्रजातिवाद
(Race and Racism)

साधारण बोलचाल, साहित्य, यहाँ तक कि कुछ सामाजिक विज्ञानों के ग्रन्थों में 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग बहुधा किन्हीं निश्चित अर्थों में नहीं किया जाता है। फलतः प्रजाति के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों तथा अवैज्ञानिक धारणाओं का जन्म हुआ है और लोग इसके जैविकीय (biological) अर्थ के प्रति जान-बूझकर उदासीन रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, इसी प्रजाति की धारणा को संसार के अनेक स्वार्थ-समूहों ने, विशेषकर राजनैतिक नेताओं ने अपनी स्वार्थसिद्धि के साधन के रूप में भी प्रयोग किया है जिसके कारण विश्व का इतिहास अनेक अत्याचारपूर्ण और भयंकर घटनाओं से कलंकित है। नाज़ियों (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में जिस कल्पित कथा को प्रचलित किया और लाखों यहूदियों के प्राण लिए उससे तो संसार परिचित ही है। जापानियों ने भी इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की भ्रान्त धारणा को फैलाकर युद्ध की जिस आग को समस्त पूर्वीय देशों में भड़काया था उसे भी भूल जाना शायद ही किसी के लिए सम्भव हो सके। अमेरिका जैसे प्रगतिशील तथा शिक्षित देश में भी श्वेत (White) और श्याम (Black) प्रजातियों में ऊँच-नीच का भेदभाव उसके समस्त गौरवों पर कालिमा लेपन कर रहा। इन सबका प्रमुख कारण 'प्रजाति' के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाओं का होना है। ऐसी कुछ गलत धारणाएँ निम्न हैं—

प्रजाति के अर्थ के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ
(Misconceptions regarding the Meaning of Race)

श्री हक्सले (Huxley) ने उचित ही कहा है कि 'प्रजाति' शब्द का प्रयोग मानव-समूहों के लिए करते समय हम प्रायः उसका कोई जैविकीय अर्थ नहीं लगाते हैं। वास्तव में होता यह है कि—'प्रजाति' शब्द को किसी जैविकीय अर्थ में प्रयोग न करके लोग उसे भाषा, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के साथ भ्रान्त रूप से मिला देते हैं। उदाहरणार्थ, इस शब्द का प्रयोग उस मानव-समूह के लिए किया जाता है जो एक स्थान पर कई पीढ़ियों से निवास कर रहा है जैसे अंग्रेज प्रजाति, अमेरिकन प्रजाति या चीनी प्रजाति। किसी भी व्यक्ति-समूह के एक ही देश में पीढ़ियों से रहने से ही उसे प्रजाति नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रजाति कोई क्षेत्रीय अवधारणा नहीं है। दूसरे रूप में प्रजाति शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग तब होता है जब इस शब्द द्वारा ऐसे मानव-समूह का बोध कराया जाता है

जो कि एक समान भाषा बोलते हैं, जैसे जर्मन प्रजाति, आर्य प्रजाति, इत्यादि। 19वीं शताब्दी में प्रचलित 'आर्यवाद' के अनुसार आर्य भाषा बोलने वाले सभी लोग आर्य प्रजाति के हैं। परन्तु वैज्ञानिक रूप से कोई आर्य प्रजाति नहीं है। आर्य भाषा तो अवश्य है परन्तु उसे बोलने वाले व्यक्तियों को आर्य प्रजाति कहना गलत होगा। भाषा और प्रजाति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि एक भाषा बोलने वालों की प्रजाति भी एक ही हो। अगर ऐसा होता तो अमेरिका में आकर बसे हुए और अंग्रेजी भाषा बोलने वाले लाखों नीग्रो (Negroes) को श्वेत प्रजाति या काकेशायड (Caucasoid) कहा जाता। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक ऐसा कहने को सहमत न होगा। उसी प्रकार जर्मन भाषा बोलने वाले भी जर्मन प्रजाति के नहीं हैं। जर्मन राज्य में जर्मन भाषा बोलने वाली दो विभिन्न प्रजातियाँ हैं—उत्तरी जर्मनी के लोग नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति के हैं और दक्षिणी जर्मनी के लोग आल्पाइन (Alpine) प्रजाति से सम्बन्धित हैं। भाषा संस्कृति का एक अंग है और इसका कोई भी सम्बन्ध प्रजाति से नहीं है।

राष्ट्र भी प्रजाति नहीं है। परन्तु मानवशास्त्रीय-साहित्य (anthropological literature) तक में इन दोनों को किन्हीं-किन्हीं विद्वानों ने इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि उनमें कोई अन्तर रह ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ, सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) जैसे विद्वान का मत है कि प्रजाति और राष्ट्र में कोई भेद नहीं है। आपका मत है कि देश-प्रेम, समूह प्रवृत्ति (herd instinct), एकता की चेतना आदि जो तत्त्व राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी हैं वही प्रजाति-निर्माण के लिए भी अनिवार्य हैं। परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री श्री कीथ के इस मत से सहमत नहीं हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि राष्ट्र और प्रजाति में कोई अन्तर न मानने का ही फल है कि यूरोप में उग्र-राष्ट्रवाद हिंसक प्रजातिवाद के रूप में व्यक्त हुआ है। दोनों ही विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति के मार्ग पर घोर बाधक हैं। इसलिए राष्ट्र को प्रजाति के रूप में कल्पना करना भी उचित न होगा। एक राष्ट्र में अनेक प्रजातीय तत्त्वों का समावेश हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) का राष्ट्र अनेक प्रजातियों से मिलकर बना है। उसी प्रकार भारतवर्ष को भी प्रजातियों का अजायबघर (museum of races) कहा जाता है और इन समस्त प्रजातियों को मिलाकर ही भारतीय राष्ट्र का निर्माण हुआ है। अतः स्पष्ट है कि प्रजाति और राष्ट्र को सर्वथा पृथक् श्रेणियां मानना ही उचित होगा क्योंकि राष्ट्र सर्वथा एक क्षेत्रीय (territorial) अवधारणा है और प्रजाति से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

'प्रजाति' के अवैज्ञानिक प्रयोग का एक दूसरा रूप यह है कि कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग मनुष्यों के ऐसे समूहों के लिए भी किया जाता है जो कि एक विशेष धर्म को मानते हैं। इसीलिए हिन्दू प्रजाति, मुस्लिम प्रजाति, यहूदी प्रजाति आदि की चर्चा प्रायः सुनने को मिलती है। परन्तु यह भी एक गलत धारणा है। धर्म भी संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति तथा प्रजाति को समानार्थक (synonymous) समझना 'प्रजाति' के वैज्ञानिक अर्थ के प्रति उदासीन रहना ही होगा, क्योंकि अनेक प्रजातियों [illegible] संस्कृति हो सकती है जैसे, प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीप

विशेषताएँ पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियों (environmental conditions) से बिल्कुल ही परे हैं और उनमें कभी कोई परिवर्तन होता ही नहीं है। उनमें भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। फिर भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ प्रजाति की विशिष्ट शारीरिक विशेषताएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रायः उसी रूप में स्थिर बनी रहती हैं। इसीलिए डा० मजूमदार का मत है कि "प्रजातीय अन्तर वातावरण के प्रभावों से अप्रभावित विशेष आनुवंशिक गुणों (hereditary traits) पर आधारित होना चाहिए।"

प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाएँ

(Scientific Definitions of Race)

प्रजाति की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई प्रजाति की वैज्ञानिक परिभाषाओं का निरूपण अत्यन्त आवश्यक है। डा० मजूमदार (Majumdar) ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का उपादान' में प्रजाति को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है—"यदि व्यक्तियों के एक समूह को समान शारीरिक लक्षणों के आधार पर अन्य समूहों से पृथक् पहचाना जा सके तो चाहे इस जैविकीय समूह के सदस्य कितने ही बिखरे क्यों न हों, वे एक-प्रजाति हैं।"[1]

श्री हर्डलिका (Hrdlicka) के अनुसार, "प्रजाति एक जाति (species) के अन्तर्गत वह स्थिर धारा (strain) या मोटे तौर पर रक्त सम्बन्धित व्यक्ति हैं, जिनमें सतत अर्थात् वंशानुगत रूप से कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ होती हैं जो कि उन्हें अन्य सभी धाराओं या प्रजातियों से स्पष्टतः पृथक् करती हैं।"[2]

श्री हॉवल (Hoebel) के मतानुसार, "प्रजाति विशिष्ट जननिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट संयोग रखने वाले अन्तः-सम्बन्धित मनुष्यों का एक वृहत् समूह है।"[3]

अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक परिभाषा से अनुसार प्रजाति मनुष्यों का वह वृहत् समूह है जिसके सदस्यों में सापेक्षिक रूप से स्थिर कुछ वंशानुगत शारीरिक लक्षण समान सामान्य होते हैं जो कि प्रजनन द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित

---

1. "If a group of people who by their possession of a number of common physical traits can be distinguished from others, even if the numbers of this biological group are widely scattered, they from a race."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 16.

2. "Race is a persistent strain, within any species, or broadly blood-connected individuals carrying steadily, *i.e.*, hereditarily, more or less of well defined physical characteristics which distinguish them fairly from all other strains or races."—Hrdlicka (1941).

3. "A race is a major grouping of interrelated people possessing a distinctive combination of physical traits that are the result of distinctive genetic composition."—E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, p. 11[illegible].

होते हुए भी प्रायः उसी रूप में स्थिर बने रहते हैं और जिसके आधार पर एक प्रजातीय समूह को दूसरों से पृथक् किया जा सकता है।

हमारी उपर्युक्त परिभाषा से प्रजाति की तीन प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

(अ) प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण या विशेषताएँ सामान्य होती हैं, जिनके आधार पर उसे दूसरी प्रजातियों से अलग किया जा सकता है।

(ब) ये वंशानुगत शारीरिक लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातियों को एक-दूसरे से पृथक् किया जाता है, पर्यावरण (environment) के प्रभावों से बहुत थोड़ा परिवर्तित होते रहने पर भी सापेक्षिक रूप से स्थिर बने रहते हैं, अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-से बने रहते है।

(स) ये सामान्य लक्षण या विशेषताएँ एक विशाल जन-समूह मे पाये जाने पर ही *उस समूह को प्रजाति कहेंगे। यदि एक परिवार के व्यक्तियों में कुछ शारीरिक* विशेषताएँ सामान्य हैं तो उस समूह को एक प्रजाति नही कहा जायगा।

प्रजातियों की उत्पत्ति
(The Origin of Races)

आज यह सभी मानते हैं कि ससार के सभी जीवित मानव एक ही जाति (species)—मेधावी मानव (*Homo sapiens*)—की सन्तान हैं। परन्तु आज का मानव अनेक प्रजातीय समूहों और उप-समूहों में बँटा हुआ है जो कि एक-दूसरे से कुछ विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं के आधार पर पृथक् हो गये हैं। यदि विद्यमान प्रजातियाँ और उप-प्रजातियाँ एक ही पूर्वज की सन्तान हैं तो प्रजातियों के शारीरिक लक्षणों में आज जो भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उन भिन्नताओं के क्या कारण है ? इन परिवर्तनों का इतिहास क्या है ? दूसरे शब्दों मे विभिन्न प्रजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई यह प्रश्न हम स्वभावतः ही कर सकते हैं। मानव-समूहों मे परिवर्तन लाने वाले कारणो के *विषय मे हमें बहुत कम ज्ञान है, साथ ही मानव-प्रजातियों के इतिहास के सम्बन्ध में भी* हमारा ज्ञान आज भी अपूर्ण है। यत्र-तत्र जो कुछ भी प्रमाण मिलते हैं, वे सभी निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। इतिहास भी उक्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता, क्योकि लिखित इतिहास के पहले ही मनुष्यों की विभिन्न प्रजातियाँ बन चुकी थीं। यह सच है कि प्रागैतिहासिक पुरातत्वशास्त्र हमे मानव-इतिहास के उन अन्धकारमय युगों से भी परिचित करवाता है जिनके सम्बन्ध मे हमें कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नही है। फिर भी इस पर अधिक निर्भर नही रहा जा सकता है। अतः प्रख्यात मानवशास्त्री श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दों मे, "हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य की प्रजातियाँ, जैसी कि आज पृथ्वी पर फैली हुई हैं, बनने में कम-से-कम लाखों वर्ष अवश्य लगे होंगे। किन कारकों ने उनमें अन्तर उत्पन्न किया, पृथ्वी के किस भाग पर प्रत्येक ने अपनी विशेषताओं को प्राप्त किया, वे आगे कैसे उपविभागों मे विभक्त हुए,

उनको जोड़ने वाली कड़ियाँ कौनसी थीं तथा विभिन्न प्रजातियाँ कैसे पुनः मिश्रित हुईं—इन सभी विषयों पर अभी तक उत्तर अपूर्ण है।"[1]

मानव-जाति में प्रजातीय भिन्नताएँ अर्थात् प्रजातियों की रचना या उत्पत्ति निम्नलिखित कारकों (factors) का फल है—(1) उत्परिवर्तन (mutation), (2) प्राकृतिक प्रवरण (natural selection), (3) जननिक प्रवाह (genetic drift), (4) बहिर्समूह यौन-सम्बन्ध (crossing) और (5) पृथक्करण (isolation)। यहाँ हम इन कारकों के विषय में संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) **उत्परिवर्तन (Mutation)**—वंशानुसंक्रमण की वर्तमान वैज्ञानिक धारणा के अनुसार व्यक्ति के विभिन्न लक्षणों (traits) या विशेषताओं का निर्धारण वाहकाणुओं (genes) के द्वारा होता है। कभी-कभी एक वाहकाणु की संरचना (structure) में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही उत्परिवर्तन कहते हैं। इस उत्परिवर्तन के कारण व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह उत्परिवर्तन जब प्रबल (dominant) वाहकाणु में होता है तो उसका प्रभाव व्यक्ति के अधिकतर बच्चों में तुरन्त प्रकट होने लगता है। जब इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति अधिक तेजी से होती रहती है तो नवीन विशेषता वाले एक समूह की रचना हो जाती है। इस प्रकार के नये समूह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उत्परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति के शारीरिक लक्षण में जो परिवर्तन हो वह उसके अस्तित्व को बनाये रखने में भी सहायक सिद्ध हो ताकि अधिकाधिक व्यक्ति जीवित रहें और उस विशिष्ट शारीरिक लक्षण का विस्तार अधिक-से-अधिक व्यक्तियों और उनकी सन्तानों में होता रहे। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षण में परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति का उसके पर्यावरण से अनुकूलन कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में उत्परिवर्तन लाभदायक न होकर हानिप्रद होता है। फिर भी यह स्मरणीय है कि पर्यावरण स्वयं भी स्थिर नहीं रहता और उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे परिवर्तन के कारण वही उत्परिवर्तन, जो पहले हानिप्रद था, एक समय लाभदायक हो सकता है। संक्षेप में, अनुकूल पर्यावरण प्राप्त होने पर उत्परिवर्तन के कारण शारीरिक लक्षणों में होने वाले परिवर्तन का विस्तार सरल और व्यापक होता है और अन्त में एक प्रजातीय लक्षण (racial trait) के रूप में स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उत्परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्रजातीय लक्षणों का विकास सरल तथा दो-चार वर्षों की बात है। अनुमान है कि यदि उत्परिवर्तन प्रबल वाहकाणु में हो तो उसे एक प्रजातीय लक्षण के रूप में विकसित होने में प्रायः तीन हज़ार वर्षों का समय लगेगा।

---

1. "We can conclude that the races of man as they are spread over the earth to-day must have been at least some tens of thousands of years in forming. What caused them to differentiate, on which part of the earth's surface each took on its peculiarities, how they further subdivided, what were the connecting links between them, how the differentiating races may have reble[illegible] all these points the answer is as yet incomplete."—Kroeber, *An-*[illegible] York, 1948, p. 125.

(2) प्राकृतिक प्रवरण (Natural Selection)—श्री डार्विन (Darwin) के अनुसार जीवित प्राणियों से प्रकृति की यह सतत माँग है कि जीव अपने पर्यावरण से अनुकूलन करे। जो प्राणी अपने शारीरिक दोष या कमियों के कारण अनुकूलन करने में असफल होते हैं, प्रकृति उन्हें नष्ट कर देने के लिए चुन लेती है। इसके विपरीत जो प्राणी सफलतापूर्वक अनुकूलन कर लेते हैं, प्रकृति उन्हें जीवित रखने के लिए चुन लेती है। यही प्राकृतिक प्रवरण या चुनाव है। प्रकृति का यह नियम है कि "केवल सबसे योग्य प्राणी ही जीवित रहेंगे" (Only fittest shall survive)। इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष यह है कि एक विशेष प्रकार का शारीरिक लक्षण एक विशेष प्रकार के पर्यावरण के लिए अधिक उपयुक्त होता है, जैसे शरीर का काला रंग अफ्रीका प्रदेश के पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है क्योंकि काले रंग के शरीर की खाल (skin) पर अधिक तेज धूप का हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता है। पर्यावरण से अनुकूलन करने में सहायक है या पर्यावरण के लिए उपयुक्त तथा लाभकारी है, ऐसे शारीरिक लक्षणों को उत्पन्न करने वाले वाहकाणुओं का प्रकृति द्वारा चुनाव या प्रवरण होता है और उन लाभकारी वाहकाणुओं को विकसित होने में पर्यावरण का सहयोग प्राप्त होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की शारीरिक विशेषताओं का जो संयोग (combination) एक पर्यावरण विशेष के लिए लाभकारी और उपयुक्त होता है वह प्रत्येक पीढ़ी में क्रमशः बढ़ता चला जाता है क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति तथा उनकी सन्तान प्राकृतिक प्रवरण के नियम से अधिकतम संख्या में जीवित रहती है। इसके विपरीत वे व्यक्ति जिनमें उपयुक्त वाहकाणुओं का या दूसरे शब्दों में उपयुक्त शारीरिक विशेषताओं का अभाव होता है, अधिक संख्या में जीवित नहीं रह पाते। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक विशेष पर्यावरण में उस पर्यावरण के लिए उपयुक्त या लाभकारी वाहकाणुओं की या शारीरिक विशेषताओं की अधिकतम संरक्षा होती है। इस संरक्षण के फलस्वरूप ही कुछ विशिष्ट प्रजातीय लक्षण विकसित हो जाते हैं जो कि एक नवीन प्रजाति को जन्म देते हैं।

(3) जननिक प्रवाह (Genetic Drift)—उपर्युक्त दो प्रक्रियाओं के अतिरिक्त एक तीसरी प्रक्रिया भी है जिसके कारण प्रजातियों की रचना हो सकती है। ऐसा भी देखा गया है कि एक मानव-समूह की जननिक रचना (genetic composition) में उत्परिवर्तन या प्राकृतिक प्रवरण के बिना ही परिवर्तन हो जाय। यह 'सीवेल राइट प्रभाव' (Sewell Wright Effect) या 'जननिक प्रभाव' के फलस्वरूप होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए व्यक्तियों के एक समूह के एक नये क्षेत्र में जाकर बस जाने से उस समूह का समस्त सम्पर्क उसके पूर्वज-समूह (ancestral group) से छिन्न हो जाता है। यह भी मान लीजिए कि बाद की पीढ़ियों में प्रथम समूह की सन्तान भी उस प्रथम समूह से दूर जाकर अन्य किसी स्थान पर पृथक् जनसंख्या के रूप में बस जाती है। इस प्रकार से बिखरने या छिटकने का परिणाम यह होगा कि छिटकने वाले समूहों का मूल समूह से शारीरिक या जननिक सम्बन्ध बिलकुल नहीं रह जायगा और हो सकता है कि छिटके हुए किसी समूह में मूल समूह के सभी विशिष्ट -[illegible] लुप्त हो जाएँ या दब जाएँ [illegible] इस छिटके हुए समूह में एक नवीन जननिक

प्रारम्भ हो। इस प्रकार के जननिक प्रवाह के फलस्वरूप एक नई प्रजाति विकसित हो जाती है। वास्तव में होता यह है कि मूल समूह से पृथक् या दूर हो जाने से मूल समूह के वाहकाणुओं का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटता रहता है क्योंकि हर पीढ़ी में नये वाहकाणुओं का आयात होता जाता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि मूल समूह के वाहकाणु लुप्त हो जाते हैं और नये वाहकाणु नये प्रकार के शारीरिक लक्षण वाले समूह या प्रजाति को जन्म देते हैं। परन्तु यह भी अनेक पीढ़ियों के बाद ही सम्भव होता है।

(4) **बहिर्समूह यौन-सम्बन्ध** (Crossing)—भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को बाध्य होता है। इस विषय में सदैव मनुष्य पशुओं से कहीं अधिक गतिशील रहता है; क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति तथा विभिन्न पर्यावरण से अनुकूलन की क्षमता मनुष्य में पशुओं से अधिक होती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य अति सरलता से नये स्थानों में जाकर स्थायी रूप से बस जाता है और वहाँ के मूल निवासियों से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित करता है। बहिर्समूह से इस प्रकार यौन-सम्बन्ध के फलस्वरूप वर्णसंकर सन्तानों की उत्पत्ति होती है। ये सन्तानें आगे चलकर एक ऐसे समूह को विकसित करती हैं जिनमें कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का संयोग होता है और जिससे कि एक नवीन प्रजाति की रचना हो जाती है। भारतवर्ष में इस प्रक्रिया से कई प्रजातियों की रचना हुई है जिसके विषय में हम अगले अध्याय में विस्तृत विवेचना करेंगे।

(5) **पृथक्करण** (Isolation)—पृथक्करण का भी प्रजातियों की रचना में काफी प्रभाव पड़ता है क्योंकि इसके कारण मनुष्य अन्तःयौन सम्बन्ध (inbreeding) स्थापित करने को बाध्य होता है। सीमित समूह में विवाह, यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति का परिणाम यह होता है कि सन्तानों में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताएँ एकसमान या स्थिर बनी रहती हैं। पृथक्करण दो प्रकार का होता है—भौगोलिक तथा सांस्कृतिक। भौगोलिक पृथकता उस समय उत्पन्न होती है जब यातायात के साधनों के अभाव के कारण या अन्य प्राकृतिक बाधाओं के कारण दो समूहों का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। इससे प्रत्येक समूह की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओं को स्थिर बनाये रखने में बड़ी सरलता होती है। ये विशेषताएँ अधिक स्पष्ट होने पर ही प्रजाति की रचना होती है। सांस्कृतिक पृथकता धर्म, भाषा, रीति-रिवाज़ आदि के भेद पर आधारित होती है। इस प्रकार के सांस्कृतिक अन्तर के कारण भी दो समूहों के सदस्य आपस में हिल-मिल नहीं पाते हैं और एक-दूसरे से पृथक् रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है और वे अपनी शारीरिक विशेषताओं को पीढ़ी-दर पीढ़ी प्रायः उसी रूप में स्थिर बनाये रखने में सफल होते हैं। अतः स्पष्ट है कि पृथक्करण प्रजातियों की रचना में एक महान् कारक है।

उपर्युक्त विवेचना से हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही मेधावी मानव की सन्तान होते हुए भी उनमें प्रजातीय भिन्नताएँ अनेक उद्विकासीय प्रक्रियाओं के क्रियाशील होने के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई है। प्रजातियों

की रचना में उपरोक्त पाँच कारकों को उद्‌विकासीय प्रक्रियाएँ इस अर्थ में भी कह सकते हैं कि मनुष्य की विभिन्न प्रजातियों की, जैसी कि आज समस्त पृथ्वी पर फैली हुई हैं, रचना एकाएक या दो-चार सौ वर्ष में नहीं हुई है। इसमें तो नि:सन्देह ही लाखों वर्ष लगे होंगे। इन लाखों वर्षों के दौरान में प्रजातियों के निर्माण में अनेक कारकों का योग रहा होगा जिनमें से अधिकतर कारकों के विषय में हमारा ज्ञान आज भी अपूर्ण है। इस कारण प्रजातियों की उत्पत्ति के सम्पूर्ण निर्भरयोग्य कारकों का निरूपण हमारे लिए सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में दूसरी स्मरणीय बात यह है कि यद्यपि हम उद्‌विकासीय प्रक्रियाओं तथा अन्य कारकों की सहायता से प्रजातियों की रचना के सम्बन्ध में विवेचना करते हैं और कुछ निश्चित शारीरिक लक्षणों को एक प्रजाति विशेष से सम्बन्धित मानते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि संसार में कोई प्रजाति पूर्णतया शुद्ध है। इसका कारण यह है कि विभिन्न मानव-समूह किसी भी समय सम्पूर्णत: पृथक् नहीं रहे हैं। यदि एक ओर वे एक-दूसरे से पृथक् रहकर अलग-अलग प्रजातियों में विकसित हुए, तो दूसरी ओर उन प्रजातियों का आपस में सम्मिश्रण या मिलन भी होता रहा। इस प्रकार विभाजन और मिलन प्रजातीय इतिहास के दो अविभाज्य (indivisible) 'खण्ड' हैं।

प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधार
(Bases of Race Determination or Classification)

चूँकि प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है, इस कारण प्रजातियाँ कुछ शारीरिक लक्षणों (physical traits) के आधार पर निर्धारित की जाती हैं, अर्थात् प्रजातीय वर्गीकरण का आधार कुछ शारीरिक विशेषताएं हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों के विशिष्ट अंगों की विभिन्न प्रणालियों से परीक्षा और नाप-जोख कर उनका विभिन्न प्रजातियों में वर्गीकरण किया जाता है। परन्तु वर्गीकरण का यह कार्य जितना सरल प्रतीत होता है, वास्तव में वह उससे कहीं अधिक कठिन है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि जिन विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं पर हम प्रजातियों का निर्धारण व वर्गीकरण करते हैं वे विशेषताएँ 'औसतन' या 'आदर्श' विशेषताएँ होती हैं और ये औसत विशेषताएँ उस प्रजाति के सदस्यों में पाई जाने वाली व्यक्तिगत विशेषताओं से कुछ-न-कुछ भिन्न होती ही हैं जिसके कारण विभिन्न प्रजाति के सदस्यों को पृथक् करना कठिन हो जाता है। यह सच है कि एक नीग्रो और एक श्वेत प्रजाति के सदस्य को पहचानने में या पृथक् करने में कोई भूल नहीं करेगा, परन्तु ये तो दो चरम प्रकार (extreme type) है, इनके बीच जो हज़ारों विभिन्नताएँ हैं उनको वैज्ञानिक आधार पर छाँटकर वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी मानवशास्त्रियों ने ऐसे अनेक वैज्ञानिक उपकरणों तथा प्रविधियों को विकसित कर लिया है जिनकी सहायता से शारीरिक लक्षणों की परीक्षा और नाप-जोख अधिकाधिक यथार्थ रूप में हो सके।

सामान्यत: प्रजातीय वर्गीकरण ऐसे शारीरिक लक्षणों को आधार मानकर

विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का पता नहीं लग सकता और न ही उस जनसंख्या में व्यक्तिगत भिन्नता की मात्रा का ज्ञान हो सकता है।

(5) चूंकि आयु तथा लिंग प्रजातीय मापदंड को प्रभावित कर सकते हैं, इसलिए सदैव समान आयु तथा लिंग-समूहों के व्यक्तियों की ही तुलना करनी चाहिए।

(6) अन्तिम रूप में प्रजाति मापदंड प्रजनन-प्ररूपों (genotypes) पर ही आधारित होना चाहिए; परन्तु अब तक कुछ ही ऐसे लक्षण हैं, जैसे रक्त-समूह, जिनको इस कसौटी पर कसा जा सके।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखते हुए अब हम प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधारों की विवेचना कर सकते हैं। शारीरिक लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातियों का निर्णय किया जाता है, दो प्रकार के होते हैं—(1) निश्चित शारीरिक लक्षण, तथा (2) अनिश्चित शारीरिक लक्षण। इन दोनों प्रकार के लक्षणों में से कुछ लक्षणों पर हम यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

(1) निश्चित शारीरिक लक्षण
(Definite Physical Traits)

निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिनकी परीक्षा तथा निश्चित रूप से नाप-जोख की जा सकती है; साथ ही, इन लक्षणों पर पर्यावरण का प्रभाव भी न के समान पड़ता है। इसी कारण इन्हें निश्चित शारीरिक लक्षण कहते हैं। सिर की बनावट, नाक की बनावट, रक्त-समूह, कद आदि निश्चित शारीरिक लक्षण हैं। इन लक्षणों को विभिन्न प्रकार के उपकरणों से नापा जाता है। इन उपकरणों में मानव-मापक यन्त्र (Anthropometer), परकार (Compass), वर्नियर कैलिपर (Vernier Caliper), इस्पात का टेप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपकरणों की सहायता से शारीरिक लक्षणों की नाप-जोख में पर्याप्त यथार्थता (exactness) आ गई है। निश्चित शारीरिक लक्षणों में निम्नलिखित लक्षण विशेष महत्त्व के हैं—

(क) **सिर की बनावट** (Cranial Shape)—सिर की बनावट को मानवशास्त्री सबसे अधिक स्थायी तथा निश्चित शारीरिक लक्षण मानते हुए अत्यधिक महत्व देते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत व्यक्तियों के सिरों को भी अधिक दिनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है और इससे सिर के मौलिक प्ररूप या बनावट में कोई अन्तर नहीं आता। साथ ही, सिर को ठीक-ठीक नापना भी बहुत कठिन कार्य नहीं है। सिर की बनावट में सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर की सबसे अधिक लम्बाई और चौड़ाई का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सिर की सबसे अधिक लम्बाई माथे में भौं की हड्डी के ऊपर नाक की [illegible] एक छोटे-से गड्ढे (जिसे अंग्रेज़ी में glabella कहते हैं) से सिर के पीछे [illegible] ने से पता लगती है। [illegible] कार सिर की सबसे अधिक चौ[illegible] रू करके सिर के

।। श्री गणेशाय नमः ।।

मेरी सुपौत्री

सौ. कां. पिंकी (उमा)

सुपुत्री श्रीमति एवं श्री विद्यासागर आचार्य

का

शुभ विवाह

चि. महेश

सुपुत्र श्रीमति एवं श्री बद्रीनारायण रंगा

पोकरण निवासी

के साथ

सम्पन्न होने जा रहा है ।

इस शुभ अवसर पर

पधार कर

वर वधु को

शुभाशीर्वाद प्रदान करें ।

उत्तराकांक्षी	दर्शनाभिलाषी
आनन्द वि. आचार्य	गोपी कृष्ण आचार्य
मधु आचार्य	एवं समस्त आचार्य परिवार ।

–वैवाहिक कार्यक्रम–

हाथधान	—	*27* जून *1991* सायं *6* बजे
पाणिग्रहण संस्कार	—	*28* जून *1991* अर्धरात्री वेला

विवाह स्थल–कलकत्तिया भवन

आचार्यों का चौक, बीकानेर–३३४००१

प्रतिष्ठान

- नूतन प्रिण्टर्स, गोगागेट के बाहर, बीकानेर
- मधु पेपर सप्लायर्स, गोगागेट बीकानेर
- नूतन प्रकाशन, आचार्यों का चौक, बीकानेर

कारण प्रजातीय वर्गीकरण में किसी एक शारीरिक लक्षण को आधार न मानकर अधिकाधिक लक्षणों को आधार मानना ही उचित होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिए यह भी आवश्यक है कि अधिक-से-अधिक संख्या में व्यक्तियों का अध्ययन किया जाय। अवलोकन तथा परीक्षण के लिए जितनी कम संख्या मे व्यक्ति उपलब्ध होंगे, अध्ययन की यथार्थता उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत किसी जनसंख्या विशेष में से जितनी अधिक संख्या में व्यक्तियों के विशिष्ट अंगों की परीक्षा तथा नाप-जोख की जायगी, उस जनसंख्या की अपनी निजी शारीरिक विशेषताओं के सम्बन्ध मे उतना ही यथार्थ ज्ञान सम्भव होगा।

इस सम्बन्ध मे एक और स्मरणीय बात यह है कि प्रजातियों का निर्धारण करते समय आयु और लिंग भेद को भी ध्यान में रखना होगा। यह मानी हुई बात है कि एक शिशु की शारीरिक संरचना उसी प्रकार नहीं होगी जैसी कि एक बच्चे या एक युवक या एक प्रौढ़ या एक वृद्ध की। एक शिशु के अनेक अंग पूर्णतया विकसित न होने के कारण उसकी शारीरिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप मे प्रकट नही होती। इस कारण प्रजातियों के तुलनात्मक अध्ययन में समान आयु-समूहों (same age groups) का होना आवश्यक है। उसी प्रकार लिंग भेद को भी ध्यान में रखना होगा। कद मे स्त्रियाँ सामान्यतः पुरुषों से छोटी हैं। उनकी हड्डियां भी हलकी होती हैं। उसी प्रकार अन्य अनेक शारीरिक लक्षणों में स्त्रियों और पुरुषों मे भेद होता है। इस कारण किसी भी तुलनात्मक अध्ययन में केवल समान आयु-समूह ही नही, समान लिंग समूहों (sex groups) का होना भी आवश्यक है। इन भेदों का उचित ध्यान रखे बिना प्रजातीय वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार प्राप्त नही हो सकता।

प्रजातियों का शारीरिक लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण करने से पूर्व विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य उपर्युक्त सभी बातों को संक्षेप मे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है[1]—

(1) शरीर-संरचना की विशेषताएँ या रक्त-समूह जैसे शारीरिक लक्षण ही एकमात्र प्रजातीय मापदंड हैं।

(2) वे संरचनात्मक भिन्नताएँ जो कि प्रजातीय मापदंड के रूप मे उपयोगी है, उनका वंशानुगत तथा अ-अनुकूलनशील (non-adaptive) होना आवश्यक है।

(3) केवल एक लक्षण के आधार पर किसी भी प्रजाति का निर्धारण नही हो सकता। अनेक लक्षणों का प्रयोग करना होगा।

(4) जहाँ तक सम्भव हो सके एक प्रजाति के विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का अवलोकन जनसंख्या के अधिकाधिक व्यक्तियों में करना चाहिए। केवल कुछ ही व्यक्तियों में अवलोकन करने से हो सकता है कि वे लोग अपनी जनसंख्या का पूर्ण प्रतिनिधित्व न कर सकें। दूसरे शब्दों में, अति अल्प लोगों का अध्ययन करने से सम्पूर्ण जनसंख्या के

---

1. *Ibid*, p. 136.

जाता है जिनपर पर्यावरण का प्रभाव प्रायः न के समान होता है और जिन पर होता भी है वह अल्प काल के लिए। उदाहरणार्थ, आर्द्र या नम जलवायु में सिर के बाल घुँघराले हो जाते हैं तथा धूप में खुला रखने पर त्वचा (skin) का रंग काला पड़ जाता है। परन्तु इस प्रकार का प्रभाव पर्यावरण में परिवर्तन होने पर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। साथ ही ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है कि इस तरह के पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावों के फलस्वरूप शारीरिक विशेषताओं में जो परिवर्तन होता है वह प्रजनन द्वारा माता-पिता से बच्चों को भी मिलता है।[1]

शारीरिक विशेषताओं में कद तथा शरीर के वज़न पर भोजन तथा पोषण की मात्रा तथा गुणों कर विशेष प्रभाव पड़ता है। इस कारण कद तथा वज़न की भिन्नताओं में वंशानुसंक्रमण का महत्त्व अधिक नहीं है। अतः प्रजाति के शास्त्रीय वर्गीकरण में ये विशेषताएँ अधिक निर्भर योग्य नहीं हो सकतीं।

कभी-कभी सांस्कृतिक रीति-रिवाज़ भी शारीरिक विशेषताओं को उत्पन्न कर सकता है जैसे, शिशु के सिर को बाँधकर एक निश्चित आकार देने का प्रयत्न, या कान में भारी गहने लटकाकर उसे लम्बे आकार का बनाना या चीनी लोगों द्वारा लड़कियों के पैरों को छोटे-से-छोटे आकार का बनाने का प्रयत्न आदि। प्रजातीय अवधारणा में इस प्रकार की शारीरिक विशेषताओं को सम्मिलित न करना ही उचित होगा।

चूँकि मनुष्य, अन्य सभी पशुओं की भाँति, दीर्घ उद्विकासीय प्रक्रिया की उपज है, इस कारण प्राचीन मानव में जो शारीरिक विशेषताएँ अति स्पष्ट थीं, उनमें से अनेक विशेषताएँ आधुनिक मानव में या तो बिल्कुल ही नहीं हैं या परिवर्तित रूप में पाई जाती हैं। खोपड़ी का घनत्व, ठोढ़ी (chin) या चिबुक का विकास, दांतों की संरचना में रूपान्तर आदि ऐसी ही शारीरिक विशेषताएँ हैं जो कि उद्विकासीय प्रक्रिया के फलस्वरूप आधुनिक मानव में प्राचीन मानव से पर्याप्त परिवर्तित रूप में मिलती हैं। आधुनिक प्रजातियों में इन शारीरिक विशेषताओं के आधार पर कोई उल्लेख-योग्य अन्तर नहीं है।

ा। ता ग्गगग गग ..

ी सुपौत्री

ौ. कां. पिंकी (उमा)

ुत्री श्रीमति एवं श्री विद्यासागर प्राचार्य

।

भ विवाह

चि. महेश

पुत्र श्रीमति एवं श्री बद्रीनारायण रंगा

ोकरण निवासी

ह साथ

म्पन्न होने जा रहा है।

इस शुभ अवसर पर

धार कर

वर वधु को

शुभाशीर्वाद प्रदान करें।

उत्तराकांक्षी	दर्शनाभिलाषी
आनन्द वि. आचार्य	गोपी कृष्ण आचार्य
मधु आचार्य	एवं समस्त आचार्य परिवार।

–वैवाहिक कार्यक्रम–

हाथधान — *27* जून *1991* साय *6* बजे

पाणिग्रहण संस्कार — *28* जून *1991* अर्धरात्री वेला

विवाह स्थल–कलकत्तिया भवन

आचार्यों का चौक, बीकानेर–३३४००१

विशिष्ट शारीरिक लक्षणों का पता नहीं लग सकता और न ही उस जनसंख्या में व्यक्तिगत भिन्नता की मात्रा का ज्ञान हो सकता है।

(5) चूंकि आयु तथा लिंग प्रजातीय मापदंड को प्रभावित कर सकते हैं, इसलिए सदैव समान आयु तथा लिंग-समूहों के व्यक्तियों की ही तुलना करनी चाहिए।

(6) अन्तिम रूप में प्रजाति मापदंड प्रजनन-प्ररूपों (genotypes) पर ही आधारित होना चाहिए; परन्तु अब तक कुछ ही ऐसे लक्षण हैं, जैसे रक्त-समूह, जिनको इस कसौटी पर कसा जा सके।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखते हुए अब हम प्रजाति निर्धारण या वर्गीकरण के आधारों की विवेचना कर सकते हैं। शारीरिक लक्षण, जिनके आधार पर प्रजातियों का निर्णय किया जाता है, दो प्रकार के होते हैं—(1) निश्चित शारीरिक लक्षण, तथा (2) अनिश्चित शारीरिक लक्षण। इन दोनों प्रकार के लक्षणों में से कुछ लक्षणों पर हम यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

(1) निश्चित शारीरिक लक्षण
(Definite Physical Traits)

निश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिनकी परीक्षा तथा निश्चित रूप से नाप-जोख की जा सकती है; साथ ही, इन लक्षणों पर पर्यावरण का प्रभाव भी न के समान पड़ता है। इसी कारण इन्हें निश्चित शारीरिक लक्षण कहते हैं। सिर की बनावट, नाक की बनावट, रक्त-समूह, कद आदि निश्चित शारीरिक लक्षण हैं। इन लक्षणों को विभिन्न प्रकार के उपकरणों से नापा जाता है। इन उपकरणों में मानव-मापक यन्त्र (Anthropometer), परकार (Compass), वर्नियर कैलिपर (Vernier Caliper), इस्पात का टेप आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन उपकरणों की सहायता से शारीरिक लक्षणों की नाप-जोख में पर्याप्त यथार्थता (exactness) आ गई है। निश्चित शारीरिक लक्षणों में निम्नलिखित लक्षण विशेष महत्त्व के हैं—

(क) **सिर की बनावट (Cranial Shape)**—सिर की बनावट को मानवशास्त्री सबसे अधिक स्थायी तथा निश्चित शारीरिक लक्षण मानते हुए अत्यधिक महत्व देते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो यह कि सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत व्यक्तियों के सिरों को भी अधिक दिनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है और इससे सिर के मौलिक प्ररूप या बनावट में कोई अन्तर नहीं आता। साथ ही, सिर को ठीक-ठीक नापना भी बहुत कठिन कार्य नहीं है। सिर की बनावट में सबसे महत्त्वपूर्ण बात सिर की सबसे अधिक लम्बाई और चौड़ाई का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। सिर की सबसे अधिक लम्बाई माथे में भौं की हड्डी के ऊपर नाक की रेखा में स्थित एक छोटे-से गड्ढे (जिसे अंग्रेज़ी में glabella कहते हैं) से सिर के पीछे उक्त गड्ढे की सीध तक नापने से पता लगती है। इसी प्रकार सिर की सबसे अधिक चौड़ाई एक कान से कुछ ऊपर से शुरू करके सिर के

ऊपर से आरम्भ करके कान के पास ऊपर (प्रथम कान की नोक पर) तक की दूरी को नापने से प्राप्त होती है। सिर की चौड़ाई को 100 से गुणा करके तथा लम्बाई से भाग देने पर जो परिणाम निकलता है उसे कपालिक परिसूचि या शीर्ष देशना (Cephalic Index) कहते हैं। यह देशना निम्न पैमाने से अधिक स्पष्ट हो जाती है—

$$\text{शीर्ष देशना} = \frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times 100$$

उपर्युक्त शीर्ष देशना के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है (अ) दीर्घ कपाल या लम्बे सिर (Dolicho Cephalic)—यदि शीर्ष देशना 75 प्रतिशत से कम हो तो उस सिर को दीर्घ कपाल या लम्बे सिर कहेंगे। इस प्रकार का सिर विशेषतः नीग्रो, अमेरिकन-इण्डियन्स तथा यूरोप के उत्तरी और दक्षिणी भाग में रहने वालों का होता है। भारतवर्ष में लम्बे सिर वाले लोग प्रधानतः पंजाब, राजस्थान, कश्मीर, उत्तरप्रदेश आदि में अधिक पाये जाते हैं। (ब) मध्य कपाल या बीच का सिर (Meso Cephalic)—यदि शीर्ष देशना 75 और 80 प्रतिशत के बीच है तो वह सिर मध्य कपाल या बीच का सिर कहलाता है। इस प्रकार के सिर न तो अधिक चौड़े होते हैं और न लम्बे। नॉर्डिक (Nordic) प्रजाति इस प्रकार के सिर के सबसे उत्तम प्रतिनिधि हैं।[1] ये लोग फिनलैण्ड, स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशों (Baltic countries) तथा उत्तरी जर्मनी में पाये जाते हैं। वैसे तो भारतवर्ष में नॉर्डिक प्रजाति के लोग सिन्धु नदी की ऊपरी घाटी तथा स्वात, पंजकोरा, कुनार, चित्राल नदियों की घाटियों में और हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं तथा कश्मीर, पंजाब और राजस्थान में भी फैले हुए हैं, परन्तु यहाँ इस प्रजाति को लम्बे सिर वाला कहा गया है। शायद मध्य कपाल के शुद्ध प्रतिनिधि भारतवर्ष के किसी एक भाग में केन्द्रित नहीं हैं। (स) पृथुकपाल या चौड़ा सिर (Brachy Cephalic)—जब सिर की चौड़ाई उसकी लम्बाई के अनुपात से अधिक होती है तो उसे पृथुकपाल या चौड़ा सिर कहते हैं। इस प्रकार के सिर की शीर्ष देशना 80 प्रतिशत से अधिक होती है। आल्पाइन (Alpine), आर्मीनॉयड (Armenoid) तथा डिनारी (Dinaric) प्रजातियों के सदस्यों के सिर इस श्रेणी में आते हैं।[2] आल्पाइन प्रजाति के लोग केन्द्रीय तथा पूर्वी यूरोप में, आर्मीनॉयड प्रजाति के लोग टर्की, साइरिया तथा एशिया में और डिनारी प्रजाति के लोग प्रधानतः पूर्वी आल्प्स (Alps) में केन्द्रित हैं। भारतवर्ष की जनसंख्या में चौड़े सिर वाले लोग मध्य भारत, गुजरात, पटगाँव, बंगाल, आसाम आदि में विशेषकर पाये जाते हैं।

सिर के उपर्युक्त भेद, केवल अध्ययन में सरलता हो, इस उद्देश्य से किये गये हैं। वास्तव में एक जनसंख्या में विभिन्न प्रकार के सिर पाये जाते हैं। शीर्ष देशना उपप्रजातियों या जनजातियों में भेद करने में सहायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु मुख्य प्रजातियों के वर्गीकरण में शीर्ष देशना का आधार निर्भरयोग्य नहीं है। उदाहरणार्थ, काठियावाड़

1. Beals and Hoijer. *Ibid.*, p. 176.
2. *Ibid.*, pp. 176-178.

(Caucasoid) प्रजाति के लोगों में कोई निश्चित प्रकार के सिर नहीं मिलते हैं। इनमें लम्बे सिर, मध्य सिर तथा चौड़े सिर तीनों पाये जाते हैं। इसी प्रकार अमेरिकन इण्डियन्स सामान्यतः एक ही प्रजाति के सदस्य होते हुए भी विभिन्न प्रकार के सिर वाले हैं।[1] श्री फ्रांज बोआस (Franz Boas) द्वारा पर्यावरण से सिर की बनावट की परिवर्तनशीलता सिद्ध करने के बाद इस धारणा का महत्व और भी कम हो गया है। अन्य देशों से संयुक्त राज्य अमेरिका में आकर बसने वाले लोगों की सन्तानों का जो विस्तारित अध्ययन श्री बोआस ने किया है उससे प्रमाणित होता है कि इन बच्चों की शीर्ष देशना और उनके माता-पिता की शीर्ष देशना में उल्लेखनीय अन्तर है। किन्हीं-किन्हीं लोगों के बच्चों की शीर्ष देशना उनके माता-पिता की शीर्ष देशना से बढ़ गई है, तो किन्हीं-किन्हीं लोगों के बच्चों की शीर्ष देशना घट गई है।[2]

(ग) नाक की बनावट (Nose Shape)—सिर की बनावट की भांति नाक की बनावट भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण माना जाता है क्योंकि इसे भी सरलता से नापा जा सकता है और पर्यावरण-सम्बन्धी परिस्थितियों का प्रभाव इस पर कम पड़ता है। प्रजातियों को निश्चित करने में नाक की बनावट को आधार मानने का मुख्य श्रेय प्रोफेसर थामसन (Thompson) तथा बक्सटन (Buxton) को है। नाक की बनावट में भी, सिर की बनावट की भांति, सबसे प्रमुख बात नाक की लम्बाई और चौड़ाई का पारस्परिक सम्बन्ध या अनुपात होता है। इसी कारण शीर्ष देशना की भांति नाक की चौड़ाई में नाक की लम्बाई का भाग देकर 100 से गुणा करके नासिका देशना (Nasal Index) निकाली जाती है, अर्थात्—

$$\text{नासिका देशना} = \frac{\text{नाक की चौड़ाई}}{\text{नाक की लम्बाई}} \times 100$$

नासिका देशना के आधार पर नासिकाओं के तीन भेद किये जाते हैं—(अ) **पतली या लम्बी नासिका (Leptorrhine)**—यदि जीवित व्यक्तियों की नासिका देशना 70 से कम हो तो लम्बी नासिका होगी। मृत व्यक्तियों की खोपड़ियों या कर्परों की नासिका देशना यदि 47 से कम हो तो उनकी नाकों को लम्बी नासिका के अन्तर्गत माना जाता है। काकेशॉयड प्रजाति लम्बी नासिका की स्पष्ट प्रतिनिधि है। भारतवर्ष में काश्मीर, पंजाब तथा राजस्थान में लम्बी नासिका पाई जाती है। (ब) **मध्य या चपटी नासिका (Mesorrhine)**—जीवित व्यक्तियों की जिन नाकों की देशना 70 से 84 के बीच में हो, उन्हें मध्य या चपटी नासिका कहते हैं। कर्परों (Skulls) की नासिका देशना 47 से 51 के बीच होने पर उनकी नाकों को मध्य या चपटी नासिका माना जाता है। मंगोल (Mongoloid) प्रजाति के लोगों की नाक चपटी होती है। भारतवर्ष में इस प्रजाति के लोग अधिकतर उत्तर-पूर्वी भारत में पाये जाते हैं जैसे नेपाल और आसाम। (स) **चौड़ी नासिका (Platyrrhine)**—जीवित व्यक्तियों की जिन नासिकाओं की देशना 84 से

---

1. Kroeber, *op. cit.*, pp. 127-128.
2. Beals and Hoijer, *op. cit.*, pp. 140-141.

अधिक हो, उन्हें चौड़ी नासिका कहते हैं। जिन कर्परों की नासिका देशना 51 से अधिक है उन्हें इस श्रेणी के अन्तर्गत माना जाता है। चौड़ी नासिका के यथार्थ प्रतिनिधि नीग्रो प्रजाति के लोग हैं। भारतवर्ष में चौड़ी नासिका वाले लोग मद्रास, मध्य प्रदेश और छोटा नागपुर में प्रधानतः केन्द्रित हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि आयु तथा लिंग के अनुसार नासिका देशना में भी अन्तर आता जाता है। अतः तुलनात्मक अध्ययन के समय आयु तथा लिंग-समूहों का ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है, जीवित-मृत की नासिका देशना में भी अन्तर होता है।

(ग) खोपड़ी का घनत्व (Cranial Capacity)—स्पष्ट है कि खोपड़ी के घनत्व से सम्बन्धित कोई भी नाप-जोख मृत्यु के पश्चात् ही हो सकती है। इस प्रकार की नाप-जोख विशेषतः प्रागैतिहासिक कर्परों के अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हुई है। इनके अध्ययन से पता चलता है कि किन्हीं-किन्हीं कर्परों का घनत्व आधुनिक मनुष्यों की खोपड़ी के घनत्व से बहुत कम है; परन्तु ऐसे भी अनेक प्रागैतिहासिक कर्पर मिले हैं जिनका घनत्व आधुनिक मनुष्यों के समान है। आधुनिक पुरुष की खोपड़ी का औसत घनत्व प्रायः 1125 cc होता है, जबकि स्त्रियों की खोपड़ी का औसत घनत्व पुरुषों की अपेक्षा प्रायः 150 cc कम होता है। विभिन्न प्रजातीय-समूहों के सदस्यों की खोपड़ी का औसत घनत्व 1100 cc से 1500 cc के बीच में होता है।[1] सबसे अधिक घनत्व काकेशॉयड (Caucasoid) प्रजाति का और सबसे कम नीग्रो प्रजाति का होता है।

यद्यपि खोपड़ी का घनत्व और भेजा (मस्तिष्क) का आकार (size of the brain) परस्पर सम्बन्धित हैं, तथापि इसके आधार पर यह न समझना चाहिए कि मस्तिष्क के आकार का कोई सम्बन्ध बुद्धि (intelligence) से है। परन्तु लोग साधारणतः यही गलत धारणा बना लेते हैं कि अधिक घनत्व की खोपड़ी में चूंकि बड़े आकार का मस्तिष्क या भेजा (brain) होता है इस कारण इस प्रकार के लोग अधिक बुद्धिमान होते हैं। कहा जाता है कि लम्बे सिर वाले नीग्रो प्रजाति के लोगों की खोपड़ी का घनत्व कम होने के कारण ही वे कम बुद्धिमान होते हैं। किन्तु ये सब गलत धारणाएँ हैं। स्त्रियों की खोपड़ी का घनत्व पुरुषों की अपेक्षा कम होता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि स्त्रियां पुरुषों से कम बुद्धिमान होती हैं। यही बात किसी भी प्रजाति के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क का सर्वाधिक औसत आकार एस्किमो लोगों का माना जाता है, परन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि वे काकेशॉयड या अन्य किसी प्रजाति से श्रेष्ठ हैं।[2]

(घ) कद (Stature)—प्रजातीय वर्गीकरण में कद भी एक निश्चित शारीरिक लक्षण है क्योंकि इसे सरलता से नापा जा सकता है। यद्यपि कद पर पर्यावरण का अधिक

1. *Ibid.*, p. 138.
2. Jacobs and Stern, *General Anthropology*, Barnes and Noble, York, 1955, p. 41.

प्रभाव पड़ता है, फिर भी विभिन्न प्रजातियों के कद में कुछ स्पष्ट अन्तर होता ही है और एक निश्चित सीमा के अन्दर ही मनुष्य के कद का घटना या बढ़ना सम्भव है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों में, "प्रागैतिहासिक मनुष्य के औसत कद तथा उनमें भिन्नताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त आंकड़ों का अभाव है; परन्तु उपलब्ध आंकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी पर मनुष्य के प्रथम आविर्भाव से लेकर अब तक उसके कद में अल्प ही परिवर्तन हुए हैं। हाल में कुछ क्षेत्रों में कद में जो वृद्धि हुई है उसका कारण दीर्घकाल में होने वाले जननिक (genetic) परिवर्तन नहीं, बल्कि जीवनधारण की उन्नत अवस्थाएँ हैं।"[1]

उपर्युक्त विद्वानों ने कद के आधार पर निम्नलिखित पांच विभाग किये हैं।[2]

	पुरुष	स्त्री
बहुत छोटा	4′ 11″ से नीचे	4′ 7″ से नीचे
छोटा	5′ 0″—5′ 3″	4′ 8″—4′ 11″
मध्यम	5′ 4″—5′ 7″	5′ 0″—5′ 3″
लम्बा	5′ 8″—5′ 11″	5′ 4″—5′ 6″
बहुत लम्बा	6′ 0″ से ऊपर	5′ 7″ से ऊपर

उक्त पाँच विभागों के बीच प्रत्येक प्रजाति में अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं। फिर भी सामान्य रूप में आल्पाइन प्रजाति का औसत कद 5 फीट 5 इंच, आर्मीनॉयड प्रजाति का 5 फीट 6 इंच, भूमध्यसागरीय प्रजाति का 5 फीट 4 इंच, नॉर्डिक प्रजाति का 5 फीट 8 इंच, मंगोलियन प्रजातियों का 5 फीट से लेकर 5 फीट 8 इंच तक तथा नीग्रिटो प्रजाति का 4 फीट 8 इंच।[3] अफ्रीका के बुशमैन (African Bushman) का औसत कद संसार में सबसे छोटा है। वे औसत से 4 फीट 6 इंच के होते हैं। इसके विपरीत पैंटागोनियन्स (Pantagonians) अपनी ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध हैं; उनका औसत कद 6 फीट 4 इंच है।

भोजन का कद पर विशेष प्रभाव पड़ता है। एस्किमो, बुशमैन तथा पिग्मी सम्भवतः उचित भोजन के न मिलने के कारण ही नाटे होते हैं। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि कद को निश्चित करने में भोजन ही सब-कुछ है। यदि ऐसा ही होता तो दक्षिण अफ्रीका के दक्षिण में तीरा डेल फ्यूगो (Tierra del Fuego) के भारतीय (Indians), जिनकी अवस्था भोजन तथा जीवनधारण की समान्य अवस्थाओं की दृष्टि से एस्किमो के समान है, इतने अधिक लम्बे कद के न होते।[4]

---

1. "Adequate data on averages and ranges for prehistoric man are lacking, but the data available would seem to indicate that little change in stature has taken place since man's first appearance on earth. Recent increase in stature in some areas probably represent responses to improved living conditions rather than to any long term genetic change."—Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 157.

2. *Ibid.*, p. 157.
3. *Ibid.*, pp. 176, 181 and 188.
4. *Ibid.*, p. 158.

(८) रक्त-समूह (Blood groups)—मानवशास्त्रियों ने विभिन्न प्रजातीय समूहों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक नई प्रविधि अपनायी है। यह प्रविधि रक्त-समूहों के वितरण पर आधारित है। प्रजातीय वर्गीकरण में इसे भी एक निश्चित लक्षण इस कारण माना जाता है क्योंकि रक्त-समूह एक जनक गुण (genic character) है जो कि वंशानुसंक्रमण के नियम के अनुसार माता-पिता से बच्चों को मिलता है। बहुत कम शारीरिक लक्षण हैं जो पाहकाणुओं (genes) पर पूर्णतया आश्रित हैं। केवल रक्त-समूह ही एक ऐसा अपवाद है जो मानव-जाति में सरलता से पहचाने जाने वाले पाहकाणुओं द्वारा निश्चित या निर्धारित होते हैं। रक्त-कोषों में पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी या सलीय (Serological) अन्तर "विशुद्धरूपेण शारीरिक हैं जो कि वंशानुसंक्रमण द्वारा निश्चित होते हैं और जिन पर पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[1] तीन, या अभी हाल में प्राप्त सूचना के अनुसार चार, एलेलिक पाहकाणुओं (allelic genes) की अन्तः-क्रिया के फलस्वरूप चार रक्त-समूह उत्पन्न होते हैं जिन्हें A, B, O और A B का नाम दिया गया है। यद्यपि प्रत्येक प्रजाति में इन चार प्रकार के रक्त-समूह के लोग होते हैं, फिर भी प्रत्येक प्रजाति में सामान्यतः एक विशेष रक्त-समूह की प्रधानता होती है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप के लोगों में A रक्त-समूह की प्रधानता है, जबकि अमेरिका के रेड इंडियनों में O रक्त-समूह का प्रतिशत सबसे अधिक है। श्री ओटनबर्ग (Ottenberg) ने सन् 1925 में सलीय आँकड़ों (Serological data) के आधार पर संसार की जनसंख्या को छः स्पष्ट भागों में बाँटा था—(1) यूरोपीय, (2) माध्यमिक, (3) हुनान, (4) हिन्द-मंचूरियाई, (5) अफ्रीकी दक्षिणी-एशियाई, तथा (6) प्रशान्त अमरीकी। श्री सिडर (Synder) ने सात भागों को स्पष्ट किया था। इन सब वर्गीकरणों से पता चलता है कि यूरोप के लोगों में A का अनुपात अत्यधिक है, जबकि हिन्द-मंचूरियाई (Indo-Manchurians) में B के अनुपात की अधिकता है। रक्त-समूहों के विभिन्न अध्ययनों से आज यह स्पष्ट है कि यूरोप में A और एशिया में B रक्त-समूह की प्रधानता है, जबकि आदिवासियों और सीमान्त लोगों में B और AB की मात्रा अति अल्प है। आदिवासियों तथा सीमान्त लोगों में O का अनुपात अत्यधिक है और कहीं-कहीं उनमें A भी विद्यमान है। यों तो O सभी प्रजातियों में मिलता है, पर केवल अमेरिकन-इंडियनों में यह शुद्ध रूप में पाया जाता है। हाल ही में यह पता चला है कि मिश्रित अमेरिकन इंडियनों में A का अत्यधिक केन्द्रीकरण है। आस्ट्रेलियनों, अमेरिकन इंडियनों तथा विशुद्ध पॉलिनेशियनों में B की मात्रा बहुत कम है।[2]

सर्वश्री मेलोन (Malone), लाहिड़ी (Lahiri), मैकफार्लेन (Macfarlane), मजूमदार (Majumdar) आदि, जिन्होंने भारत में रक्त-समूहों के वितरणों के सम्बन्ध में पड़तालें की हैं, भारत में B रक्त-समूह का अत्यधिक एकत्रीकरण पाया। चीन, जापान और मलयेशिया में भी B की अधिकता देखने में आती है। भारत में नीलगिरी के टोडा

1. *cf.* D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 69.
2. *Ibid.*, pp. 75-76, 79 and 81.

में 38, मराठों में 34, जाटों में 37.2, बंगाल के मुसलमानों तथा दलित जातियों में क्रमश: 40 और 42.7 और उत्तर प्रदेश के चमारों तथा डोमों में क्रमश: 38.3 और 39.4 प्रतिशत B पाया गया। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों में O की अधिकता और B की कमी सम्भवत: इस प्रदेश के मुसलमानों के अधिक पृथक्करण और प्रजातीय शुद्धता की ओर संकेत करती है। भारत के बाहर के मुसलमानों में B की कमी और A की अधिकता उन्हें भारतीय मुसलमानों से पृथक् करती है। भारत में जाति और साम्प्रदायिक आधार पर हुए कुछ हाल के रक्त-समूह-पड़तालों के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि जैसे-जैसे हम उच्च जातियों से निम्न जातियों की ओर चलते हैं A घटता है और B की अधिकता होती जाती है, यद्यपि जनजातीय समूहों में B नहीं मिलता है।[1]

प्रत्येक प्रजातीय जनसंख्या में रक्त-समूहों की इतनी विविधता होती है कि उन्हें उचित रूप से छाँटकर उसी आधार पर प्रजातियों का वर्गीकरण कठिन तथा अवैज्ञानिक भी होता है। इस कारण सावधान वैज्ञानिकों द्वारा अन्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर किये गये प्रजातीय वर्गीकरण, रक्त-समूहों के आधार पर किये गये वर्गीकरण से कभी मिलते नहीं हैं।[2] श्री हैलडन (Haldane) ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि "रक्त-समूहों का अध्ययन एक विशेष प्रणाली द्वारा ही किया जा सकता है और ये (रक्त-समूह) एक-दूसरे में इस सीमा तक मिले-जुले हैं कि इनके द्वारा प्रजातीय अन्तरों का पता केवल कुछ सौ व्यक्तियों की जनसंख्या में ही लगाया जा सकता है।[3] इसलिए प्रजातियों के वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि हम अन्य प्रकार के विभिन्न लक्षणों को भी ध्यान में रखें।

(च) **अन्य निश्चित लक्षण** (Other definite traits)—उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त जबड़ों की बनावट, मुखाकृति, हाथ और पैर की लम्बाई, वक्षस्थल की परिधि आदि भी निश्चित शारीरिक लक्षण हैं, क्योंकि इन्हें भी निश्चित रूप से नापा जा सकता है। इस कारण ये भी प्रजातीय वर्गीकरण में उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

निश्चित शारीरिक लक्षणों के सम्बन्ध में एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम किसी शारीरिक लक्षण को 'निश्चित' कहते हैं. तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि 'निश्चित' शारीरिक लक्षण 'निश्चित' रूप से विभिन्न प्रजातियों का निर्धारण करते हैं या उनके आधार पर प्रजातियों का जो वर्गीकरण किया जाता है वह 'निश्चित' या यथार्थ ही होता है। ये निश्चित लक्षण केवल इसी अर्थ में हैं कि इनकी 'निश्चित' नाप-जोख संभव है।

---

1. *Ibid.*, pp. 79-80-85.
2. "Race classifications ventured by cautions scientists, which are based on clusters of distinctive features as well as on probable differences in gene frequencies, have never seemed to agree with a classification based on differences in percentages of blood types."—Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 46.
3. "The blood groups require a special technique for their study, and overlap to such an extent that racial differences can often only be detected in populations of some hundreds."—J. B. S. Haldane, *Anthropology and Human* *[illegible]ology*, 'Man', p. 163.

(२) अनिश्चित शारीरिक लक्षण
(Indefinite Physical Traits)

प्रजातीय-भेद के अनिश्चित शारीरिक लक्षण वे हैं जिन्हें निश्चित रूप से नापा नहीं जा सकता, जिनका केवल वर्णन ही किया जा सकता है। साथ ही, इस प्रकार के लक्षणों पर निश्चित लक्षणों की तुलना में पर्यावरण का प्रभाव भी अत्यधिक पड़ता है। आँखों का रंग, त्वचा का रंग, केश-रचना, शरीर पर केश-वितरण—ये सब ऐसे लक्षण हैं जिनमें प्रत्येक प्रजाति की अपनी विशेषता तो होती है, परन्तु उन्हें निश्चित रूप से नाप-जोखकर उनका वर्गीकरण करना कठिन होता है। इनमें से कुछ लक्षणों पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे—

(अ) त्वचा का रंग (Skin Colour)—साधारण व्यक्ति त्वचा या खाल के रंग के आधार पर मनुष्यों में भेद बड़ी सरलता से कर सकता है; पर प्रजातीय वर्गीकरण मे मानवशास्त्री इस लक्षण पर अधिक बल नहीं देते हैं क्योंकि त्वचा के रंग के सूक्ष्म भेदों का वैज्ञानिक रूप से नापना बहुत कठिन है, साथ ही, जलवायु के अनुसार खाल के रंग में बहुत हेर-फेर हो जाती है। यह सच है कि जलवायु या पर्यावरण के प्रभाव से त्वचा का रंग स्थायी रूप से नहीं बदल जाता है। उदाहरणार्थ, तेज धूप से खाल का रंग काला अवश्य पड़ जाता है, परन्तु जैसे ही इस प्रकार का प्रभाव समाप्त हो जाएगा वैसे ही खाल का रंग अपने मूल रंग का हो जाएगा। कोई भी पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभाव व्यक्ति के निजी रंग को एक समय पश्चात् परिवर्तित नहीं कर सकता। इसका कारण निम्न विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

खाल का रंग खाल के निचले स्तर पर पाई जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म कृष्ण कणिकाओं (melanin granules) द्वारा निश्चित होता है। इन कणिकाओं का सर्व-प्रमुख कार्य सूर्य की पराकाशनी (ultra-violet) किरणों या धूप से शरीर या रक्त की रक्षा करना है। साधारणतः सभी मानव में ये कृष्ण कणिकाएँ पाई जाती हैं; केवल अन्तर इतना होता है कि किसी मे इनकी मात्रा अधिक है तो किसी मे कम। जब इनकी मात्रा बहुत कम या न के समान होती है तब व्यक्ति का रंग गोरा होता है और जैसे-जैसे इन कणिकाओं की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे खाल का रंग भी काला होता जाता है। अत्यधिक तेज धूप से नीग्रो के रक्त की रक्षा करने के लिए ही उनके शरीर में उक्त कणि-*काओं की मात्रा सर्वाधिक होती है; इस कारण उनकी त्वचा का रंग* भी अत्यधिक काला होता है। ठंडे प्रदेशों में जहाँ सूर्य की धूप इतनी तेज न होने के कारण रक्त को इस प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ इन कणिकाओं की मात्रा न्यूनतम होती है; अत. वहाँ के निवासियों का रंग गोरा होता है। व्यक्ति के शरीर में इन कणिकाओं की मात्रा (amount) वंशानुगत कारकों (hereditary factors) द्वारा निर्धारित होती है। केवल उन रोगों को छोड़कर, जिनसे इन कणिकाओं की मात्रा घटती-बढ़ती है, व्यक्ति के जीवन काल मे उसकी त्वचा के रंग में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होता है। की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसकी त्वचा का रंग अधिक स्पष्ट होता जाता है और

वस्था में कुछ कालापन आ जाता है।[1]

खाल के रंग तीन प्रकार के होते हैं—गोरा रंग (Leucoderm), पीला रंग (Xanthoderm) और काला रंग (Melanoderm)। इन तीन प्रकार के रंगों को मानव की तीन प्रमुख प्रजातियों से सम्बन्धित माना जाता है जैसे काकेशॉयड प्रजाति का रंग श्वेत, मंगोलॉयड प्रजाति का रंग पीत या पीला और नीग्रॉयड प्रजाति का रंग श्याम या काला होता है। इसीलिए बहुधा इन तीन प्रजातियों को क्रमशः श्वेत प्रजाति, पीत प्रजाति और श्याम प्रजाति कहा जाता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि त्वचा के रंग के आधार पर उक्त वर्गीकरण केवल मोटा विभाजन (broad division) है। इनमें से प्रत्येक की बहुत लम्बी श्रेणियां हैं और उन्हें संख्यात्मक रूप से प्रस्तुत करना भी असम्भव है। उदाहरणार्थ, यूरोप में गोरे रंग वाले व्यक्ति उत्तरी प्रदेशों में कुछ गुलाबी रंग के होते हैं, जबकि दक्षिणी प्रदेशों में कुछ पीले-भूरे से होते हैं। उसी प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रंगों के बीच भूरे, सांवले, सलेटी आदि अगणित रंग होते हैं, जिनका वर्गीकरण और व्याख्या वास्तव में कठिन है। इन असुविधाओं के होते हुए भी, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, त्वचा का रंग प्रत्येक वर्गीकरण में ध्यान आकर्षित करने योग्य पर्याप्त महत्व-पूर्ण लक्षण है।[2]

(ब) केश-रचना (The texture of hair)—यद्यपि प्राचीन मनुष्यों के वर्गीकरण में केश-रचना का उपयोग सम्भव नहीं है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् केश शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथापि विद्यमान मानव के वर्गीकरण का अति उत्तम आधार है क्योंकि अन्य लक्षणों की तुलना में यह पर्यावरण द्वारा कम प्रभावित होता है।[3] फिर भी विद्यमान प्रविधियों की सहायता से केशों को निश्चित रूप से नापना सम्भव नहीं है। कुछ भी हो, यह सबसे सरल लक्षण है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने मानव-केश के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है[4]—(1) **सीधे केश** (straight hair)—इस प्रकार के केश प्रधानतः मंगोल प्रजाति के लोगों के होते हैं परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के कुछ लोगों के केश भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। (2) **लहरदार केश** (wavy hair)—इस प्रकार के केश ऐनू (Ainu) तथा पॉलीनेशियनों (Polynesians) की प्रमुख विशेषता हैं; यूँ तो ऑस्ट्रे-लॉयड (Australoid), द्राविड़ (Dravidian), भूमध्यसागरीय, आर्मीनॉयड आदि प्रजातियों के अनेक सदस्यों के केश लहरदार ही होते हैं। (3) **घुंघराले केश** (curly hair)—पश्चिमी एशिया, यूरोप, भारत तथा आस्ट्रेलिया के मनुष्यों में अधिकतर ऐसे केश पाये जाते हैं। (4) **ऐंठनदार केश** (kinky hair)—इस प्रकार के केश ओशियाना के नीग्रो (Oceanic Negro) लोगों की एक विशेषता है। (5) **ऊनी केश** (wooly hair)—ये बाल भेड़ के मोटे ऊन की तरह होते हैं। अधिकतर नीग्रो लोगों के केश इसी

1. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 154.
2. "In spite of these drawbacks, however, complexion remains sufficiently important to warrant consideration in every classification."—Kroeber, *op. cit.*, p. 130.
3. Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 43.
4. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 155.

प्रकार के होते हैं।

(स) आँखों का रंग और बनावट (Eye Colour and Folds) आँखों के रंग का प्रजातीय वर्गीकरण के आधार के रूप में कोई विशेष उपयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रायः सभी प्रजाति की आखों का रंग काला होता है। केवल काकेशॉयड प्रजाति के लोगों की आंखो का रग नीला, भूरा आदि होता है। त्वचा के रंग की भांति ही जिन व्यक्तियों की आंखों के आस-पास काला पदार्थ (pigment) अधिक होता है, उनकी आँखों का रंग काला होता है। भारत में आँखों की पुतली का रग प्रायः काला होता है। बम्बई के कोंकणस्थ ब्राह्मणों मे धूसर (grey) आँखें और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश के लोगों मे नीली आँखें मिलती हैं।

आँखों की बनावट कुछ प्रजातियों की विचित्र होती है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और जापान मे बादाम के आकार की तिरछी आँखें पाई जाती हैं। इस प्रकार की आंखो को अधखुली आँखें (slat eyes) भी कह सकते हैं। आँखो की दरार तिरछी और बाहर का कोना भीतर वाले कोने से कुछ ऊँचा तथा भीतर वाला कोना खाल की परत से ढका हुआ—ये मगोली आखों के गुण हैं। मंगोल तथा बुशमैन प्रजातियों के लोगों की आँखें देखने से ऐसा लगता है जैसे उनकी आँखों में एक और विशेष प्रकार का खिंचाव है।

उपसंहार में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक लक्षणों को आधार मानकर हम विभिन्न प्रजातियों को निश्चित करते हैं या उनका वर्गीकरण करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान रहे कि इनमे से अधिकांश लक्षणों पर संतुलित रूप से एक साथ विचार किये बिना विभिन्न प्रजातियों का निर्धारण अथवा वर्गीकरण वैज्ञानिक या प्रामाणिक नहीं हो सकता। किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन में इस बात को निरन्तर ध्यान मे रखना आवश्यक है।

आधुनिक प्रजातियाँ
(Modern Races)

संसार की जीवित मानव-प्रजातियों की संख्या के विषय में सदा से ही विद्वानों मे मतभेद है। उदाहरणार्थ, अठारहवी शताब्दी के अन्त में स्वीडिश विद्वान श्री लिनीयस (Linnaeus, 1707—1778) ने महाद्वीपों के आधार पर मानव-जाति को छः वर्गों मे बाँटा था। जर्मन प्राणीशास्त्री ब्लूमैनबाख (Blumenbach, 1752—1840) ने सर्वप्रथम मानव-जाति को काकेशियन (यूरोपियन), मगोल, ईथियोपियन, अमेरिकन और मलायन, इन पाँच प्रजातियों में बाँटा था। उनके वर्गीकरण को वैज्ञानिक आधार पर प्रजातीय वर्गीकरण का सर्वप्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है। बाद के अन्य विद्वानों ने मानव की तीन से तैंतीस प्रजातियों का उल्लेख किया है। संक्षेप में, मानव-प्रजातियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे, विद्वानों में कोई एक मत नहीं है। इस सम्बन्ध में वर्गीकरण की कुछ समस्याओं का उल्लेख आवश्यक होगा।

प्रजातीय वर्गीकरण की समस्याएँ
(Problems of Racial Classification)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रजाति की अवधारणा जैविकीय (biological) होने के कारण एकाधिक शारीरिक लक्षणों को ही वर्गीकरण का आधार माना जाता है। ये शारीरिक लक्षण वंशानुगत होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में समस्या यह है कि—

(1) मानव के विभिन्न शारीरिक लक्षणों के निर्धारण में वाहकाणुओं (genes) का प्रभाव, विशेषकर माता-पिता के अलग-अलग वाहकाणुओं के प्रभावों को निश्चित करना कठिन कार्य है, वास्तव में असम्भव ही है। प्रायः वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण दोनों का ही प्रभाव मानव-विकास तथा शारीरिक लक्षणों को निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण होता है। शायद ही कोई शारीरिक लक्षण ऐसा है जोकि पर्यावरण के प्रभाव से बिल्कुल ही नहीं बदलता हो। इस कारण शारीरिक लक्षणों को स्थिर मानकर वर्गीकरण करना एक कठिन समस्या है।

(2) प्रजातीय वर्गीकरण के शारीरिक लक्षणों के आधार के क्षेत्र में भी समस्या सरल नहीं है। प्रजातियों के वर्गीकरण में यह समस्या इस कारण जटिल है कि इस प्रकार का वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक लक्षणों की जो सूची बनाई जाती है उससे यह पता लगाना कठिन होता है कि कहाँ एक प्रजाति समाप्त होती है और कहाँ से दूसरी प्रजाति प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लक्षण एक से अधिक प्रजातियों में पाया जाता है। खाल के रंग को ही लीजिए—ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्हें कि उनके कुछ शारीरिक लक्षणों के आधार पर काकेशॉयड प्रजाति के अन्तर्गत रखा जा सकता है, परन्तु रंग के विषय में उनकी त्वचा का रंग नीग्रो प्रजाति की भाँति होता है। भारतवर्ष में भी अनेक व्यक्तियों का रंग काला होता है, पर उनकी शीर्ष देशना श्वेत प्रजाति की भाँति होती है। इन अवस्थाओं में समस्या यह होती है कि ऐसे व्यक्तियों को किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाय।

(3) आधुनिक संसार में यातायात के साधनों में उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप विभिन्न प्रजातियों में इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि सहसा उनके मौलिक (original) रूपों का पाना असम्भव-सा ही है। विभिन्न प्रजातियों में अन्तर्प्रजातीय (inter-racial) विवाह के कारण एक प्रजातीय समूह में वाहकाणुओं का नया संयोग हो सकता है और होता भी है। इस नये संयोग का परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति अपनी मूलप्रजाति के एकाधिक शारीरिक लक्षणों को खो बैठता है और दूसरी प्रजाति से मिलता-जुलता हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक संसार में प्रजातीय लक्षणों की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति की स्थिति किसी एक प्रजाति विशेष के अन्तर्गत स्थिर नहीं है। इस कारण प्रजातीय वर्गीकरण की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

प्रजातीय वर्गीकरण आज सामान्य रूप से किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार ही किया जाता है। प्रायः एकाधिक लक्षणों का एकसाथ विचार करके किसी मानव-

समूह को एक या दूसरे प्रजाति-समूह में रखा जाता है। साथ ही प्रजातीय वर्गीकरण में रंग या कद जैसे अनिश्चित लक्षणों पर अधिक बल नहीं दिया जाता है, क्योंकि इनसे गलती की सम्भावना अधिक रहती है, जैसे जापान के ऐनू (Ainu), जिनका रंग श्वेत है, भ्रमवश श्वेत प्रजाति में सम्मिलित कर लिए जा सकते हैं। उसी प्रकार बुद्धि (intelligence) को भी प्रजातीय विभाजन का आधार नहीं माना जाता है क्योंकि अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का सामाजिक सुविधाओं के अनुसार बुद्धि का स्तर भी ऊँचा-नीचा हो सकता है।

प्रजातियों के विभिन्न वर्गीकरण
(Different Classifications of Races)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रजाति वर्गीकरण के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों का एक मत नहीं है। इस कारण जितने लेखक हैं उतने ही वर्गीकरण भी हैं। हम यहाँ केवल प्रमुख वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे—

I. क्रोबर का वर्गीकरण (Classification by Kroeber)—समस्त मानव-जाति को श्री क्रोबर ने तीन मुख्य प्रजातियों में तथा ग्यारह उप-प्रजातियों में बाँटा है जो निम्न हैं[1]—

(1) काकेशियन या श्वेत (Caucasian or White)
  - (क) नॉर्डिक (Nordic)
  - (ख) आल्पाइन (Alpine)
  - (ग) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
  - (घ) हिन्दू (Hindu)

(2) मंगोलॉयड या पीत (Mongoloid or Yellow)
  - (क) मंगोलियन (Mongolian)
  - (ख) मलेशियन (Malaysian)
  - (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)

(3) नीग्रॉयड या श्याम (Negroid or Black)
  - (क) नीग्रो (Negro)
  - (ख) मेलानेशियन (Melanesian)
  - (ग) पिग्मी ब्लैक (Pygmy Black)
  - (घ) बुशमैन (Bushman)

उपर्युक्त प्रजातियों तथा उप-प्रजातियों के अतिरिक्त श्री क्रोबर ने चार सन्देहात्मक (doubtful) प्रजातियों अर्थात् ऐसी प्रजातियों का, जिनको कि वैज्ञानिक मापदंड के अनुसार उपर्युक्त किसी भी प्रजाति या उप-प्रजाति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सका, उल्लेख किया है। वे हैं—(क) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid), (ख) वेड्डॉयड (Veddoid

1. Kroeber, *op. cit.*, p. 132.

or Indo-Austral), (ग) पॉलीनेशियन (Polynesian) और (घ) ऐनू (Ainu).

II. हक्सले का वर्गीकरण (Classification by Huxley)—श्री हक्सले ने अपने वर्गीकरण में उप-प्रजातियों का कोई उल्लेख न करके केवल पाँच प्रमुख प्रजातियाँ बतलाई हैं। ये निम्न हैं—(1) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoids) जिसमें कि द्राविड़ (Dravidians) तथा मिस्र-निवासी (Egyptians) भी सम्मिलित हैं; (2) नीग्रॉयड (Negroids); (3) मंगोलॉयड (Mongoloids); (4) ऐन्थोक्रॉय (Xanthochroi) जो कि बहुत-कुछ नॉडिक तथा आल्पाइन प्रजातियों के अनुरूप हैं; और (5) मैलेनोक्रॉय (Melanochroi) जो कि प्रायः भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति ही है, परन्तु श्री हक्सले के विचार में इनकी स्थिति ऑस्ट्रेलॉयड तथा ऐन्थोक्रॉय प्रजातियों के बीच में है अर्थात् इन दो प्रजातियों की मिश्रित या वर्णसंकर सन्तति ही मैलेनोक्रॉय प्रजाति को जन्म देने वाली है।[1]

III. हॉबल का वर्गीकरण (Classification by Hoebel)—श्री हॉबल के मतानुसार यदि 'प्रजाति' की अत्यधिक प्रचलित परिभाषा को ध्यान में रखा जाय तो छः प्रजातियों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे काकेशॉयड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड, ऑस्ट्रेलॉयड, अफ्रीकन बुशमैन और पॉलीनेशियन। परन्तु यदि अधिक परिशुद्ध अन्तरों पर भी विचार किया जाय तो मानव-जाति को तीन मुख्य प्रजातियों और प्रत्येक मुख्य प्रजाति को तीन उप-जातियों में विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन निम्न हैं[2]—

(1) काकेशॉयड (Caucasoid)
- (क) नॉर्डिक (Nordic)
- (ख) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
- (ग) आल्पाइन (Alpine)

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)
- (क) एशियाटिक (Asiatic)
- (ख) ओशियानिक (Oceanic)
- (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)

(3) नीग्रॉयड (Negroid)
- (क) अफ्रीकन (African)
- (ख) ओशियानिक (Oceanic)
- (ग) नीग्रिटो (Negrito)

IV. बील्स तथा हॉइजर का वर्गीकरण (Classification by Beals and Hoijer)—सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर ने प्रजातीय वर्गीकरण और भी विस्तारित रूप में प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रकार है[3]—

---

1. *Ibid.*, p. 150.
2. E. A. Hoebel, *op. cit.*, pp. 129-130.
3. Beals and Hoijer, *op. cit.*, pp. 171-193.

(1) काकेशॉयड (Caucasoid)
- (A) आर्कइक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Archaic Caucasoid Races)
  - (क) ऐनू (Ainu)
  - (ख) आस्ट्रेलॉयड (Australoid)
  - (ग) द्राविड़ियन (Dravidian)
  - (घ) वेड्डा (Vedda)
- (B) प्राथमिक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Primary Caucasoid Races)
  - (क) आल्पाइन (Alpine)
  - (ख) आर्मीनॉयड (Armenoid)
  - (ग) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
  - (घ) नॉर्डिक (Nordic)
- (C) द्वैतीयक काकेशॉयड प्रजातियाँ (Secondary Caucasoid Races)
  - (क) डिनारिक (Dinaric)
  - (ख) पूर्वी बाल्टिक (East Baltic)
  - (ग) पॉलीनेशियन (Polynesian)

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)
  - (क) एशियाटिक मंगोलॉयड (Asiatic Mongoloid)
  - (ख) इण्डोनेशियन माले (Indonesian Malay)
  - (ग) अमेरिकन इण्डियन (American Indian)

(3) नीग्रॉयड (Negroid)
- (A) प्राथमिक नीग्रॉयड प्रजातियाँ (Primary Negroid Races)
  - (क) फॉरेस्ट नीग्रो (Forest Negro)
  - (ख) नीग्रिटो Negrito)
- (B) द्वैतीयक नीग्रॉयड प्रजातियाँ (Secondary Negroid Races)
  - (क) बुशमैन-हॉटेनटॉट (Bushman-Hottentot)
  - (ख) नाइलोटिक नीग्रो (Nilotic Negro)
  - (ग) ओशियानिक नीग्रो (Oceanic Negro)

मुख्य प्रजातियों की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of the Main Races)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा मानव-प्रजातियो वर्गीकरण विभिन्न तरीकों से किया गया है और किया जा सकता है क्योंकि विभि प्रजातियों में इतना अधिक मिश्रण हो गया है कि न तो आज कोई विशुद्ध और मौलि प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य में ऐसी प्रजाति की बनने की सम्भावना है। इस कारण प्रजातियों और विशेषकर उप-प्रजातियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध विद्वानों में एकमत न होना ही स्वाभाविक है। फिर भी आज प्रायः सभी मानवशा

मानव-जाति को निम्नलिखित मुख्य तीन भागों में बांटने के सम्बन्ध में एकमत हैं : (क) काकेशॉयड, (ख) मंगोलॉयड और (ग) नीग्रॉयड। यह भी सभी मानवशास्त्री मानते हैं कि इन तीन मुख्य प्रजातियों की एकाधिक उप-प्रजातियाँ भी हैं। परन्तु प्रत्येक मुख्य प्रजाति की कितनी उप-प्रजातियाँ हैं इस सम्बन्ध में उनमें मतभेद है। कुछ भी हो, जनसंख्या के आधार पर हम मानव-जाति को **ग्यारह** प्रजातियों में विभाजित कर सकते हैं। ये ग्यारह प्रजातियाँ निम्न हैं—(1) काकेशॉयड, (2) मंगोलॉयड, (3) अफ्रीकी नीग्रॉयड, (4) कांगो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी, (5) सुदूर-पूर्व के पिग्मी, (6) बुशमैन-हॉटेनटाट, (7) मेलानेशियन, (8) माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन, (9) आस्ट्रेलॉयड, (10) ऐनू, और (11) वेड्डॉयड।[1]

मुख्य प्रजातियों की उपर्युक्त सूची प्रस्तुत करते हुए सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने इन प्रजातियों की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण इस प्रकार किया है—

(1) **काकेशॉयड** (Caucasoid)—संसार में यह प्रजाति संख्या में प्रायः दस खरब (One billion) है। सर्वसाधारण की भाषा में इन्हें गोरी या श्वेत प्रजाति कहा जाता है। परन्तु वास्तव में उन्हें श्वेत प्रजाति कहना उचित न होगा, क्योंकि उनका रंग पूर्णतया सफेद नहीं होता। इस प्रजाति में सर्वाधिक हल्के रंग से लेकर गहरे भूरे रंग तक विविध रंगों के लोग पाये जाते हैं। सिर के केशों में भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है; सीधे केशों से लेकर घुंघराले केशों तक सब भेद इस प्रजाति के लोगों में मिलते हैं। केशों का रंग राख की-सी सफेदी लिए हुए से लेकर काले रंग तक का होता है। उनके शरीर पर भी पर्याप्त बाल होते हैं। आँखों का रंग हल्के नीले से लेकर गहरा बादामी तक होता है। नाक अधिकतर पतली तथा ऊँची होती है। कद तथा शीर्ष देशना में भी इस प्रजाति के लोगों में पर्याप्त विविधता पाई जाती है। इस प्रजाति के अन्तर्गत उप-प्रजातियों के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों में एक मत नहीं है। फिर भी काकेशॉयड प्रजाति की **तीन उप-प्रजातियां** उल्लेखनीय हैं—(अ) आल्पाइन (Alpine), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) नॉर्डिक (Nordic)।

आल्पाइन प्रजाति के लोग आज विशेष रूप से यूरोप के केन्द्रीय तथा पूर्वी भागों में पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद 5 फीट 5 इंच), सिर चौड़ा, लम्बी नासिका, कन्धे चौड़े, छाती गहरी, शरीर और मुंह पर पर्याप्त बाल, केश तथा आँखों का रंग मध्यम से लेकर गहरा भूरा, केश साधारणतया सीधे, होंठ मध्यम से लेकर पतले और त्वचा का रंग हल्का सफेद या पीला-भूरा। इस प्रजाति के नमूने भारत में विशेष रूप से गुजरात में मिलते हैं तथा मध्य भारत, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

भूमध्यसागरीय प्रजाति के लोग भूमध्यसागरीय प्रदेशों में तथा वहां से पूर्वीय दिशा [illegible] तक फैले हुए हैं। भारत में इस प्रजाति के लोग पंजाब, सिन्धु, राजपूताना

[1] [illegible] and Stern, *op. cit.*, pp. 48-64.

और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—कद मध्यम दर्जे का (औसत कद 5 फीट 4 इंच), सिर लम्बा, लम्बी नासिका, होंठ पतले, केश काले और लहरदार या घुंघराले तथा कभी-कभी सीधे होते हैं, चेहरे और शरीर के अन्य भागों में बहुत कम बाल, वजन में आल्पाइन प्रजाति के लोगों की अपेक्षा हल्के, आँखें बादामी और त्वचा का रंग हल्का बादामी या फीका जैतूनी होता है।

नॉर्डिक प्रजाति के लोगों के सिर मध्यम आकार के और नाक ऊँची तथा पतली होती है। इनके शरीर लम्बे (औसत कद 5 फीट 8 इंच) और पतले तथा चेहरे लम्बे होते हैं। इनके होंठ पतले तथा बाल सीधे या लहरदार होते हैं। आँखें नीली या भूरी होती हैं। इनकी त्वचा का रंग गुलाबीपन लिए हुए सफेद होता है। ये लोग विशेषत: स्कैण्डिनेविया (Scandinavia), बाल्टिक देशों (Baltic countries) तथा उत्तरी जर्मनी में पाये जाते हैं। भारत में इस प्रजाति के लोग मुख्यत: काश्मीर, पंजाब के पश्चिमी भाग और राजस्थान में फैले हुए हैं।

(2) मंगोलॉयड (Mongoloid)—जनसंख्या की दृष्टि से मंगोलॉयड प्रजाति के लोग संसार में सबसे अधिक संख्या में हैं। इस प्रजाति का सबसे प्रमुख शारीरिक लक्षण अधखुली आँखें (slant eyes) होती हैं। इन आँखों का रंग बादामी या गहरा बादामी होता है। शरीर-रचना में वे साधारणतया नाटे कद के तथा कुछ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोगों के केश सीधे और कभी-कभी हल्के घुंघराले होते हैं। इनकी नाक छोटी और चपटी होती है और सिर चौड़ा और माथा सीधा होता है। त्वचा का रंग पीला-सा या ताम्र गेहुँआ-सा होता है। इनके सिर के बाल काफी घने होते हैं परन्तु शरीर के अन्य भागों पर बाल बहुत ही कम होते हैं। इनके होंठ साधारणतया मोटे और ठोड़ी गोल होती है। इस प्रजाति के लोग विशेष रूप से उत्तर, मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में वास करते हैं। अनेक मानवशास्त्री अमेरिकन इण्डियनों को भी इसी प्रजाति का सदस्य मानते हैं। इस प्रजाति के उक्त भौगोलिक वितरण को ध्यान में रखते हुए ही सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने इसकी तीन उप-प्रजातियों का उल्लेख किया है—(क) एशियावासी मंगोल, (ख) इण्डोनेशिया तथा मलायावासी मंगोल, तथा (ग) अमेरिकन इण्डियन। परन्तु मंगोलियन उप-प्रजातियों के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत कुछ मतभेद है। उदाहरणार्थ, कुछ विद्वानों का कथन है कि अमेरिका के इण्डियन लोगों में थोड़े-से काकेशॉयड तथा नीग्रॉयड लक्षण और हिन्द-एशिया-वासी समूहों में भूमध्यसागरीय तत्त्व अधिक हैं।[1] फिर भी अधिकतर मानवशास्त्री इन दोनों मानव-समूहों को मंगोल प्रजाति के अन्तर्गत ही उप-प्रजातियाँ मानते हैं। भारतवर्ष में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएं हैं—प्राचीन मंगोलॉयड और तिब्बती मंगोलॉयड। ये लोग आसाम, पूर्वी सीमान्त प्रान्त, चटगाँव, सिक्किम और भूटान में पाये जाते हैं।

(3) अफ्रीकी नीग्रॉयड (The African Negroids)—मानव-जाति की तीसरी मुख्य प्रजाति अफ्रीकी नीग्रॉयड है जिसकी सदस्य-संख्या दस करोड़ के लगभग

1. For detailed discussion please see E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 133.

है। इस प्रजाति के लोग दक्षिणी सहारा से लेकर केप-ऑफ-गुडहोप तक फैले हुए हैं। यह सच है कि मानव की आधुनिक प्रजातियों में नीग्रो लोगों का रंग सबसे काला है फिर भी बहुत कम नीग्रो का रंग वास्तव में काला होता है। उनमें से अनेक का रंग गाढ़ा बादामी या बादामी काला होता है। नीग्रो लोगों के केश रूखे, ऊनी और कड़े घुँघराले होते हैं। शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं। नाक बहुत चौड़ी, कान छोटे तथा ऊपर का जबड़ा आगे को बढ़ा हुआ होता है। होंठ दूसरी प्रजातियों की अपेक्षा मोटे तथा बाहर को निकले हुए और लटकते-से होते हैं। सिर के बाल घने, पर छोटे होते हैं। पुरुषों की दाढ़ी-मूँछों में भी थोड़े बाल होते हैं। कद मध्यम लम्बा (medium tall), हाथों की कुहनी से आगे का भाग लम्बा और पैर ज़मीन पर बैठा-सा (low-arched) होता है जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रजाति के लोग प्रधानत: सहारा के दक्षिण में अफ्रीकी प्रदेशों में निवास करते रहे हैं, परन्तु 17वीं से 19वीं शताब्दियों के बीच कई लाख अफ्रीकी नीग्रो अपने मूल निवास स्थान से अमेरिका में जाकर बस गये हैं। पूर्वी अफ्रीका के **नाइलोटिस नीग्रो** (Nilotic Negro) अपनी कुछ दूसरी ही विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके शरीर का बीच का भाग (body) पतला और छोटा होता है जो कि लम्बे पैरों पर टिका हुआ होता है जिसके फलस्वरूप इनका कद दुबला और काफी ऊँचा होता है। पुरुषों की औसत ऊँचाई छ: फुट से भी अधिक होती है और आम (स्त्री-पुरुष दोनों को मिलाकर) औसत ऊँचाई 5 फीट 10 इंच या अधिक होती है। मुख्य नीग्रॉयड प्रजाति की एक और शाखा **ओशियानिक नीग्रो** (Oceanic Negro) के नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग विशेषकर सॉलोमन्स (Solomons), न्यू हैब्रिडीज़ (New Hebrides), न्यू कैलेडोनिया (New Caledonia) तथा न्यू गिनी (New Guinea) में पाये जाते हैं। इनकी शारीरिक विशेषताएँ प्राय: अफ्रीकी नीग्रो लोगों के अनुरूप ही होती है, केवल अन्तर इतना होता है कि इनके बाल अधिक कुंचित (frizzly) तथा झाड़ी-से (bushy) होते हैं; चेहरे में नाक प्रधान होती है जो अपनी जड़ के स्थान पर बहुत नीची होती है; और होंठ अफ्रीकी नीग्रो लोगों की अपेक्षा पतले तथा बाहर की ओर कम लटके हुए होते हैं।[1]

(4) **कांगो या मध्य अफ्रीकी पिग्मी** (The Cango or Central African Pygmies)—इनकी संख्या प्राय: एक लाख है। अधिकतर विद्वान नीग्रो प्रजातीय परिवार की इस शाखा को अफ्रीकी नीग्रॉयड के अन्तर्गत ही मानते हैं, परन्तु सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न के अनुसार इन दोनों में इतना अधिक भेद हैं कि इन्हें एक ही वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। इनका विद्यमान औसत कद 5 फीट से भी कम है (प्राय: 4 फीट 9 इंच)। दूसरे शब्दों में पिग्मी' लोग, जैसाकि उनके नाम से ही स्पष्ट है, बौने और नाटे कद के होते हैं। उनका माथा विशेष रूप से निकला हुआ होता है। इनके केश विशिष्ट प्रकार के चक्करदार होते हैं जोकि बहुत घने रूप में सिर को ढक लेते हैं। ये अफ्रीकी नीग्रॉयड मेलानेशियन जितने काले भी नहीं होते और इन दोनों

1. This paragraph is mainly based on E.A. Hoebel, *Ibid.*, pp. 133-134.

से इनके शरीर पर बाल भी अधिक होते हैं। इन सब विशिष्ट लक्षणों से ही उन्हें उनकी मूल प्रजाति से पृथक् कर दिया है।

(5) सुदूर-पूर्व के पिग्मी (The Far-Eastern Pygmies) — इस प्रजाति के लगभग दो हजार 2,000 लोग अण्डमान द्वीप के निवासी हैं, 25,000 के लगभग लूज़ोन (Luzon) मिण्डानाओ (Mindanao) तथा फिलिपाइन (Philippine) के अन्य द्वीपों के निवासी हैं और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदिवासी हैं। इण्डोनेशिया, न्यू गिनी तथा मेलानेशिया में भी इन नाटे कद वालों की अनिश्चित (undetermind) संख्या बिखरी हुई है। इन्हें अफ्रीकी पिग्मी प्रजाति में सम्मिलित करना उचित न होगा क्योंकि इनकी अपनी निजी कुछ शारीरिक विशेषताएँ हैं, जैसे इनके होंठ काफी मोटे, सिर के बाल ऊनी, त्वचा का रंग बहुत काला, शरीर पर बाल बहुत कम और ऊँचाई 5 फीट के लगभग होती है।

(6) बुशमैन-हॉटेनटॉट (The Bushman-Hottentot) — दक्षिणी अफ्रीका के कालाहारी रेगिस्तान तथा आस-पास के प्रदेशों में नाटे कद के पिग्मी प्रजाति से ही सम्बन्धित बीस हजार या उससे कुछ अधिक बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति का वास है। बन्तू (Bantu) भाषा बोलने वाले नीग्रॉयड प्रजाति के लोगों के आने के पूर्व तथा डच और ब्रिटिश द्वारा इस भाग में औपनिवेशीकरण (Colonization) के पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी अफ्रीका में यही बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति निवास करती थी। इन लोगों में नीग्रो और मंगोल इन दो प्रजातियों के शारीरिक लक्षणों का समावेश दिखाई पड़ता है। शरीर-रचना की दृष्टि से ये नाटे कद के पिग्मी अर्थात् नीग्रिटो प्रजाति की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, परन्तु उनकी त्वचा का रंग मंगोल प्रजाति का-सा पीला या पीला-भूरा (yellow brown) होता है। इनकी आँखें भी मंगोल जैसी अधखुली और कुछ तिरछी-सी होती हैं। इनकी औसत ऊँचाई 4 फीट 9 इंच से 5 फीट तक होती है। हॉटेनटॉट की लम्बाई बुशमैन से अधिक होती है। बुशमैन के सिर के बाल चक्करदार और हॉटेनटॉट के कुंचित होते हैं। नीग्रो-पिग्मी लोगों की भाँति इनके शरीर पर बाल अधिक नहीं होते हैं। उन्नत-नितम्बता (steatopygy) इस प्रजाति का अपना निजी एक शारीरिक लक्षण है अर्थात् इनकी जाँघों का ऊपरी और कमर के नीचे का हिस्सा (नितम्ब) मांसल होने के कारण उठा हुआ दिखाई देता है। इस प्रजाति में मंगोल प्रजाति के कुछ शारीरिक लक्षण विशेषकर अधखुली आँखों को देखकर कई विद्वानों का कहना है कि इस प्रजाति को मंगोल-वाहकाणु (Mongoloid genes) काफी मात्रा में प्राप्त हो गया है अर्थात् बुशमैन-हॉटेनटॉट प्रजाति की उत्पत्ति नीग्रो और मंगोल प्रजातियों के मिश्रण से ही हुई है। परन्तु यह सिद्धान्त निश्चय ही कम तथ्ययुक्त (factual) और यथार्थ है। अधिक सम्भावना यह है कि इस प्रजाति की आँखों या रंग का भी मंगोलों की भाँति समानान्तर विकास (parallel evolution) हुआ है।[1]

(7) मेलानेशियन (Melanesians)—नीग्रॉयड-सी इस प्रजाति के लोगों की

1. Jacobs and Stern, op. cit., 51.

संख्या 20 लाख से कुछ कम है। दक्षिणी प्रशान्त द्वीपों (South Pacific Islands) में, जिन्हें मेलानेशिया कहा जाता है, और जो न्यू गिनी (New Guinea) से फीजी (Fiji) तक तीन हजार मील तक बिखरे हुए हैं, इस प्रजाति के लोगों का निवास है। मेलानेशियन प्रजाति के लोगों में ऑस्ट्रेलॉयड और सुदूर-पूर्व के पिग्मी प्रजातीय तत्त्वों का समावेश दिखाई पड़ता है। इण्डोनेशियन द्वीपों (Indonesian Islands) के निवासियों से मेलानेशिया के लोगों के मिश्रण के भी प्रमाण मिलते हैं जिसके फलस्वरूप कुछ विशिष्ट शारीरिक लक्षण वाले एक पृथक् प्रजातीय-समूह का विकास हो गया है।[1] त्वचा का रंग काला या गहरा जैतूनी, कड़े घुँघराले बाल तथा उभरी हुई भौंएँ इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनका कद मध्यम, माथा गोलाई लिए तथा नाक चौड़ी होती है।

(8) **माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन** (Micronesians-Polynesians)—मेलानेशिया के उत्तर के द्वीपों में प्रायः एक लाख माइक्रोनेशियन तथा मेलानेशिया के पूर्व में त्रिभुजाकार में पाये जाने वाले द्वीपों में प्रायः तीन लाख पॉलीनेशियन निवास करते हैं। श्री कून (Coon) तथा उनके साथियों ने माइक्रोनेशियन लोगों की प्रजातीय स्थिति के सम्बन्ध में कुछ बताया नहीं है, परन्तु पॉलीनेशियनों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि इस वर्णसंकर-समूह (hybrid group) की उत्पत्ति प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी। परन्तु इस वर्णसंकर-समूह में किन-किन प्रजातियों का मिश्रण हुआ है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अमेरिकन इण्डियनों को छोड़कर प्रायः सभी प्रजातियों ने इस प्रजाति के निर्माण में अंशदान (contribution) किये हैं, जिनमें मंगोल तथा मेलानेशियन प्रजातियों का अंशदान विशेष उल्लेखनीय है। पॉलीनेशियन काकेशॉयड प्रजाति के लोगों से कुछ मिलते-जुलते हैं। परन्तु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि पॉलीनेशियनों में काकेशॉयड प्रजाति के जननिक (genetic) गुणों का संयोग है।[2] माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन प्रजाति के लोगों के शरीर पर बाल कम, केश घने और लहरदार तथा त्वचा का रंग कुछ हल्का होता है। मंगोल लोगों की भाँति उनका सिर गोलाई लिए हुए होता है।

(9) ऑस्ट्रेलॉयड (Australoids)—इस प्रजाति के लोग संख्या में चालीस हजार के लगभग हैं। इनका निवास स्थान आस्ट्रेलिया है। इन्हें किस प्रजाति के अन्तर्गत माना जाय, इस प्रश्न पर मानवशास्त्रियों में काफी मतभेद है। त्वचा के रंग को छोड़कर इनकी बहुत-सी विशेषताएँ काकेशॉयड प्रजाति के लोगों से मिलती-जुलती हैं; अतः कुछ विद्वान, जैसे सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer)[3] इन्हें काकेशॉयड प्रजाति की एक शाखा मानते हैं। परन्तु काकेशॉयड प्रजाति के साथ इनके जननिक (genetic) सम्बन्ध होने के कोई निश्चित और निर्भरयोग्य प्रमाण न होने के कारण अन्य विद्वान इन्हें स्वतन्त्र प्रजाति मानने के पक्ष में हैं। इस प्रजाति की प्रमुख विशेषताएँ

---

1. *Ibid.*, p. 59.
2. *Ibid.*, pp. 60-61.
3. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 172.

निम्न हैं—कद सामान्य, सिर लम्बा, केश काले या भूरे और लहरदार या घुंघराले, त्वचा का रंग चाकलेटी, नाक चौड़ा तथा नासामूल (nasal root) दबा हुआ, भौंएँ उठी हुई, आंखो का रंग काला-भूरा, मुंह कुछ निकला हुआ-सा तथा होंठ मोटे होते हैं। इस प्रजाति के लोग विन्ध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत मे भी पाये जाते हैं।

(10) ऐनू (Ainus)—जापान द्वीप-समूह जैसे होक्कायडो (Hokkaido) आदि में ऐनू प्रजाति जापान की प्राचीन जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी संख्या दस हजार के लगभग है। ऐनू प्रजाति के लोग दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया के आदि-वासियों से मिलते-जुलते हैं ; परन्तु इनका रंग बहुत-कुछ यूरोप के काकेशियन लोगों की भांति होता है। इस प्रजाति के लोगों की त्वचा का रंग पीला न होकर बहुत-कुछ सफेद-सा होता है। इनके केश लहरदार, होंठ पतले तथा शरीर, चेहरे आदि पर अत्यधिक बाल होते हैं। इनकी औसत ऊँचाई 5 फीट 2 इंच होती है। भौहों की हड्डियाँ ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोगों की भांति भारी होती हैं। आंखो का रंग हल्का भूरा या काला होता है। इनके केश लहरदार होते हैं।

(11) वेड्डॉयड (Veddoids)—इस प्रजाति के लोग देखने में बहुत-कुछ द्रविड़ प्रजाति की भांति होते हैं और केवल लंका (Ceylon) में बसे हुए हैं। इनकी संख्या कुछ ही सैकडों की होगी। इनका सिर लम्बा और संकरा होता है तथा केश लहर-दार या घुंघराले होते हैं। त्वचा का रग चाकलेटी-भूरा होता है। इनके शरीर पर बालो का वितरण बहुत कम होता है। इनका कद अधिक नही होता; औसत ऊँचाई 5 फीट होती है। इनकी नाक चौड़ी तथा होंठ अधिक मोटे नही होते।

मानव-प्रजातियो के उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध मे भी अनेक विद्वानों को आपत्ति हो सकती है और वे या तो उक्त ग्यारह प्रजातियों मे से कुछ प्रजातियों को पृथक् प्रजाति के रूप मे मानना न चाहेंगे या अन्य कुछ उप-प्रजातियों को भी प्रजातीय वर्गीकरण मे सम्मिलित करना चाहेंगे। उदाहरणार्थ, सर्वश्री कून, गार्न तथा बर्डसेल (Coon, Garn and Birdsell) ने अपने प्रजातीय वर्गीकरण मे छ: मुख्य स्कन्धों (stocks) तथा तीस प्रजातियो का उल्लेख किया है। वे छ: स्कन्ध हैं—मंगोलॉयड, श्वेत, नीग्रॉयड, ऑस्ट्रेलॉयड, अमेरिकन तथा पॉलीनेशियन। इन विद्वानों का कथन है कि इन स्कन्धो को कदापि प्रजाति नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इनमे से प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत-कुछ एक से एकाधिक प्रजातियाँ आ जाती हैं। कुछ भी हो, ग्यारह प्रजातियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से हमे सामान्यतः सभी मुख्य मानव-प्रजातियों के सम्बन्ध मे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

प्रजातिवाद
(Racism)

प्रजातिवाद का अर्थ
(Meaning of Racism)

जैसाकि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रजाति के सम्बन्ध में युगों से अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ चली आई हैं। इन अवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर ही विभिन्न प्रजातियों में अनेक विचार धारणाएँ प्रचलित हैं और कुछ प्रजातियाँ अपने को अन्य प्रजातियों से अधिक श्रेष्ठ और शुद्ध समझने लगी हैं। इन गलत विचार-धाराओं ने अनेक सामाजिक अन्यायों तथा बड़े-बड़े अत्याचारों को जन्म दिया है और विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-नीच की भावना को दृढ़ किया है। प्रजातियों के मानसिक गुणों, सृजनशीलता आदि के आधार पर कटु ऊँच-नीच की उग्र तथा आधुनिक भावना को ही प्रजातिवाद कहते हैं। संक्षेप में, **प्रजातिवाद वह कटु विचारधारा है जो कि विभिन्न प्रजातियों में ऊँच-नीच के संस्तरण को पनपाती है और जो प्रजातियों के शारीरिक तथा मानसिक गुणों, सृजनशीलता आदि से सम्बन्धित अवैज्ञानिक विभेदों पर आश्रित होती है।**

सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने प्रजातिवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मानवशास्त्र की खोजों के विपरीत प्रजातिवाद यह मानता है कि प्रत्येक मानव-समूह की अपनी निजी शारीरिक, मानसिक तथा स्वभाव-सम्बन्धी कुछ पैतृक विशेषताएँ होती हैं जोकि सापेक्षिक रूप से सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्य पर्यावरण-सम्बन्धी प्रभावों से अप्रभावित रहती हैं; जन्मगत उत्तम और अधम प्रजातियाँ तथा उप-प्रजातियाँ होती हैं और आनुवंशिक कारण (hereditary factors) ही मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष को निश्चित करता है। इन अवैज्ञानिक धारणाओं को बिना समझे-बूझे स्वीकार करने की बाह्य अभिव्यक्ति के कारण अनेक अशिष्ट विभेदकारी तथा विवेकहीन व्यवहार होते हैं।[1] प्रजातिवाद अपने उग्र रूप में तब व्यक्त होता है जबकि एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने लगती है और उस प्रजाति के सम्बन्ध में, जिसे कि वह अधम समझती है, केवल अनेक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संकीर्ण विभेदों का ही पोषण नहीं करती

---

1. "Contrary to the findings of anthropology, racism *holds that each* population is characterized by a cluster of inherited physical, mental, and temperamental features peculiar to itself, which are relatively unaffected by social, educational, or other environmental influences; that there are innately superior and inferior races and ethnic subdivisions and that hereditary factors determine every phase of a people's cultural life. Overt forms of snobbish, discriminatory, and irrational behaviour follow upon the uncritical acceptance of these unscientific premises,"—Jacobs and Stern, *op. cit.*, p. 75.

बल्कि उस प्रजाति पर अनेक अन्याय, अत्याचार और अविचार भी करती रहती है। प्रजातीय भेदभाव का इतिहास तो काफी पुराना है, परन्तु प्रजातिवाद का उग्र रूप बहुत-कुछ आधुनिक ही है जैसा कि निम्न विवेचना से स्पष्ट होगा।

प्रजातिवाद का विकास
(Development of Racism)

प्रजातिवाद का आधुनिक रूप 18-19वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ जो कि आर्यवाद (Aryanism) के रूप में प्रकट हुआ। इस आर्यवाद की उत्पत्ति उस समय के भाषा-शास्त्रियों की भाषा-सम्बन्धी खोज के आधार पर हुई। डब्लू० जोन्स (1788) ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और जर्मन भाषाओं में समानताएँ बतलायीं और इन भाषाओं के मूल स्रोत को टामस यंग (1813) ने इंडोयूरोपियन नाम दिया। उसके पश्चात् सन् 1861 में मैक्स मूलर (Max Muller) ने अपने भाषा-सम्बन्धी अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि जिन व्यक्तियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और वहाँ नई संस्कृति फैलायी, उनकी भाषा संस्कृत थी और वे आर्य प्रजाति के थे। संक्षेप में, इन विद्वानों ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि कुछ भाषाओं को छोड़कर यूरोप की अन्य सभी भाषाएँ संस्कृत भाषा से सम्बन्धित हैं। इस आधार पर यह विश्वास किया गया कि संस्कृत भाषा से सम्बन्धित भाषाओं के बोलने वाले एक ही परिवार के हैं और वे सभी लोग एक ही प्रजाति, जिसे 'आर्य प्रजाति' का नाम दिया गया, की सन्तानें हैं। इस आर्य प्रजाति के लोगों ने ही *प्राचीन काल में भारत, यूनान, रोम आदि की उच्च सभ्यताओं को जन्म दिया था।* दूसरे शब्दों में, उच्च सभ्यता का विकास 'आर्य प्रजाति' के बिना सम्भव नहीं क्योंकि सभ्यता को विकसित करने के लिए जिन क्षमताओं और योग्यताओं की आवश्यकता होती है वे केवल 'आर्य प्रजाति' में ही हैं, अर्थात् 'आर्य प्रजाति' सर्वश्रेष्ठ प्रजाति है। इस आर्यवाद का सर्वाधिक कटु रूप पिछली शताब्दी में श्री काउण्ट आर्थर डी गोबिनिउ (Count Arthur de Gobineau) की *Essay on the Inequality of Races* (1853-55) शीर्षक पुस्तक में देखने को मिलता है।[1]

आर्यवाद के आधार पर ही नॉडिकवाद (Nardicism) का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत यह भ्रान्त धारणा प्रचारित की गई कि 'विशुद्ध आर्य जाति' यूरोप के उत्तरी भाग में रहती है। उत्तर (North जिसे जर्मन भाषा में nord कहते हैं) में रहने के कारण इसे नॉडिक प्रजाति (Nordic Race) कहा गया और साथ ही यह विश्वास दिलाया गया कि संसार की उच्चतम सभ्यता को तथा नेता, कलाकार, वैज्ञानिक आदि सभी महापुरुषों को इसी 'विशुद्ध नॉडिक' प्रजाति ने ही जन्म दिया है। इसी आधार पर जर्मनी के नाज़ियों (Nazis) ने जर्मनी के निवासियों को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ और शासक प्रजाति घोषित किया; दूसरी प्रजातियों से मिश्रण को रोकने और अपनी विशुद्धता को

1. Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The MacMillan Co, New York, 1950, p. 60.

स्थिर रखने के लिए कठोर नियम बनाये और यहूदियों को अपने देश से निकाल दिया। नाज़ी जर्मनी में यहूदियों के प्रति जो अन्याय और अत्याचार हुआ था वह शायद अन्ध-विश्वासी 'सभ्य' समाज के माथे पर एक भारी कलंक के रूप में अमर रहेगा। उसी प्रकार हिटलर-कालीन जर्मनी में "नॉर्डिक प्रजाति की दैवी विशेषताओं तथा उनके संसार के शेष भाग पर राज्य करने के और उन्हें सभ्यता प्रदान करने के जन्मजात अधिकार-सम्बन्धी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलापों को अभी संसार भूला नहीं है। नॉर्डिक-वाद केवल जर्मनी में प्राथमिक रूप में सीमित न रहा, बल्कि जर्मनी में ही ट्यूटनवाद (Teutonism), इंगलैण्ड में ऐंग्लो-सैक्सनवाद (Anglo-Saxonism), तथा फ्रांस में गैलिकवाद (Gallicism) के रूप में विकसित और प्रचारित हुआ।[1]

इस प्रकार प्रजातिवाद का आधुनिक रूप यह है कि प्रजातिवाद के आधार पर एक प्रजातीय समूह दूसरे प्रजातीय समूह को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है और उसके प्रति ऐसी भ्रान्त और अवैज्ञानिक धारणाओं का पोषण करता है कि उससे विभेदों की सृष्टि होती है तथा अन्याय व अत्याचार का द्वार खुल जाता है। प्रजातीय श्रेष्ठता के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से नीचे की प्रजाति से विवाह आदि नहीं करती है और न ही उनको कोई आर्थिक और राजनैतिक अधिकार ही देना चाहती है। ये विभेद सामाजिक जीवन में भी स्पष्ट हो जाते हैं और तथाकथित (so-called) निम्न प्रजाति के लिए अलग होटल, रेलगाड़ी और बसों में अलग बैठने की सीटों की व्यवस्था करना तथा उन्हें शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्रदान न करना सामाजिक अन्याय के रूप में प्रकट होते हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण अमेरिका और अफ्रीका है। नीग्रो लोगों के प्रति गोरे अंग्रेज़ों और अमेरिकनों का मनोभाव न केवल अवहेलना का ही परिचायक है बल्कि घृणा और घोर सामाजिक अन्याय का भी। अमेरिका का ही उदाहरण लीजिए। वहाँ नीग्रो के प्रति कटु प्रजातीय भेदभाव देखने को मिलता है। उनके लिए रेलगाड़ी में अलग डिब्बे (compartments) तथा स्टेशनों पर पृथक् प्रतीक्षालय (waiting-rooms) होते हैं। 'कानून के सन्मुख समानता' (equality before law) की सामान्य नीति भी नीग्रो के लिए उलट-सी जाती है। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी नीग्रो लोगों को जो कठोर सज़ा भुगतनी पड़ती है, उसके विषय में सुनने से ही प्रजातिवाद का नग्न तथा भयंकर रूप सामने आ जाता है। उदाहरणार्थ, सन् 1951 में एक अमेरिकन स्त्री पर बलात्कार करने के अपराध में सात नीग्रो को मृत्यु-दण्ड की सजा दी गई थी। प्रजातिवाद के आधार पर प्रगतिशील मानव का इससे अधिक पिछड़ापन व संकीर्णता और क्या हो सकती है? दक्षिणी अफ्रीका में काले-गोरे का जो भेदभाव आज भी बरता जा रहा है, वह भी प्रजातिवाद के आधार पर बनी अंग्रेज़ द्वारा अपने को श्रेष्ठ मानने की भावना और नीति का ही परिणाम है। वहाँ अंग्रेज़ लोग 'जंगली' नीग्रो को न केवल शासन के क्षेत्र से दूर रखते हैं बल्कि अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन से भी उनका बहिष्कार करते हैं। वहाँ एक अंग्रेज़ मरीज़ को, जिसे कि रक्त की आवश्यकता है, बिना बताये

1. *Ibid.*, pp. 60-61.

किसी अन्य प्रजाति का रक्त देना अपराध है। उन्हें डर है कि कहीं उनका 'विशुद्ध' गोरा रंग 'अपवित्र' न हो जाय, उस पर काली छाया न पड़ जाय। इन सबको देखकर शायद मानवता बहुधा प्रश्न करती है—"वैज्ञानिक जगत् का मनुष्य इतना अवैज्ञानिक क्यों ?" इस प्रश्न का उचित उत्तर आज भी मिल नहीं सका है।

प्रजातिवाद के आधार
(Bases of Racism)

प्रजातिवाद का विष केवल यहाँ तक ही नहीं फैलता है कि गोरी प्रजाति काली या रंगीन (coloured) प्रजातियों के प्रति भ्रान्त धारणाओं या घृणा भाव का पोषण करे और उसे अशिष्ट तथा विवेकहीन बाह्य व्यवहारों द्वारा व्यक्त करे, बल्कि गोरी प्रजातियों में भी आपस में फूट और विद्वेष इसी प्रजातिवाद के कारण ही पड़ता है। एक समूह दूसरे समूह की अपेक्षा अपने को अधिक श्रेष्ठ समझने लगता है और सामाजिक विभेदों के बीज को बोता है। आर्यवाद और नॉर्डिकवाद, जिनके सम्बन्ध में हम पहले ही पढ़ चुके हैं, उसी बीज के विषवृक्ष हैं।[1]

अतः स्पष्ट है कि प्रजातीय विद्वेष का आधार केवल रंग नहीं है, यद्यपि त्वचा के रंग के आधार पर प्रजातिवाद का क्षेत्र पर्याप्त स्पष्ट है। एक रंगीन प्रजाति के सदस्य तथा एक गोरी प्रजाति के सदस्य के शारीरिक ढाँचे के विभिन्न अंग—आँख, कान, नाक, पेट, दो हाथ, दो पैर सब-कुछ गिनती में और प्राणीशास्त्रीय कार्य की दृष्टि से एक-से हैं। नीग्रो स्त्री श्वेत पुरुष के साथ सहवास द्वारा सतान उत्पन्न कर सकती है। इतनी समानताओं के होते हुए भी केवल रंग का भेद विभेद और विद्वेष उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। गोरी प्रजातियों का दावा है कि संसार में केवल वे ही यथार्थतः 'सभ्य' हैं, इसी कारण रंगीन प्रजातियों तक सभ्यता का प्रकाश पहुँचाने की वास्तविक योग्यता केवल उनमें ही है। साम्राज्यवाद ने इस धारणा को और भी उग्र रूप दिया। निर्बल राष्ट्रों को हराकर उन्हें गुलाम बनाकर उनपर शासन करने का एक अच्छा बहाना यह निकाला गया कि वे अपने देश का शासन-भार संभाल सकें, इतनी योग्यता उनमें नहीं है; इस कारण गोरे लोग उस भार को संभालकर उन रंगीन प्रजातियों का महा 'उपकार' कर रहे हैं। इस उपकार का जो मूल्य उन रंगीन प्रजातियों को चुकाना पड़ा उससे संसार भली-भाँति परिचित ही है।

यह तो रंगीन और गोरी प्रजातियों के बीच पाये जाने वाले विभेदों का आधार था; परन्तु जब गोरी प्रजातियों में भी विभेदों की आवश्यकता हुई तो रंग के आधार को छोड़कर रक्त की शुद्धता, मानसिक या सांस्कृतिक उच्चता के आधार को अपनाया गया। नॉर्डिकवाद, जैसाकि पिछले पृष्ठों में दिये गये विवरण से स्पष्ट है, इन्हीं आधारों पर आधारित था।

---

1. For an excellent discussion see M. F. Ashley Montagu, *Man's Most Dangerous Myth : The Fallacy of Race*, Columbia University Press, New York, 1945.

प्रजाति का सदस्य एक नीग्रो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहता है क्योंकि उसे डर है कि ऐसा करने पर उसके रक्त की शुद्धता नष्ट हो जायगी। इस कारण वह नीग्रो लोगों से दूर-दूर रहता है और उनके साथ हिल-मिल नहीं पाता है। यही दूर-दूर रहना प्रजातीय विद्वेष के रूप मे तब प्रकट हो जाता है जब एक प्रजाति या समूह द्वारा यह प्रचार किया जाता है कि उनका रक्त उच्च कोटि का है और दूसरे समूहो का रक्त निम्न श्रेणी का। इस प्रकार रक्त को आधार मानकर ऊँच-नीच की भावना धीरे-धीरे उग्र रूप धारण कर लेती है। यह भी प्रजातिवाद का एक स्वरूप है। परन्तु वास्तव मे ये सभी भ्रान्त तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ या युक्तियाँ हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानो से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मानव-रक्त को चार समूहों मे विभाजित तो किया जा सकता है परन्तु इन रक्त-समूहो मे उत्तम-अधम का कोई प्रश्न नही उठता। कोई भी रक्त-समूह दूसरे किसी रक्त-समूह से श्रेष्ठ है, ऐसा कोई प्रमाण अभी तक मिला नही है। साथ ही ये चारों प्रकार के रक्त प्रत्येक प्रजाति मे पाये जाते हैं। पिछले महायुद्ध मे सैनिक अस्पतालों में सेना अधिकारियों ने नीग्रो रक्त से अनेक गोरे लोगों की प्राणरक्षा की थी। नीग्रो रक्त उतना ही जीवनदायक था जितना कि अन्य किसी भी प्रजाति का। ऐसी अवस्था मे रक्त के आधार पर किसी प्रजाति की श्रेष्ठता या अधमता कैसे प्रमाणित हो सकती है। अतः स्पष्ट है कि रक्त की उच्चता का विचार मिथ्या एव अवैज्ञानिक है।

उसी प्रकार रक्त की शुद्धता का विचार भी भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रमाणित सत्य है कि विभिन्न प्रजातियों मे इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि कही, कोई भी समूह या प्रजाति या मनुष्य रक्त की शुद्धता का दावा नही कर सकता है। फलतः न तो आज-कल कोई विशुद्ध और मौलिक प्रजाति ही है और न सहसा निकट भविष्य मे ऐसी कोई शुद्ध प्रजाति के बनने की सम्भावना ही है। वास्तव मे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की प्रवृत्ति मनुष्य मे जानवरो से कही अधिक है और आधुनिक युग मे यातायात के साधनों मे उत्तरोत्तर उन्नति होने के साथ-साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती ही चली जा रही है। बहुत प्राचीन काल से ही भोजन की आवश्यकता या अन्य उद्देश्यो को पूरा करने के लिए मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़ा है। इस प्रकार नये स्थान पर पहुँचकर मनुष्य वहाँ के मूल निवासियो के साथ हिल-मिल गया है, धीरे-धीरे उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया है और वर्णसंकर सन्तानों को जन्म दिया है। आधुनिक युग मे तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से कार्य कर रही है क्योंकि आज विज्ञान ने विभिन्न प्रजातियो के बीच की दूरी या भौगोलिक पृथकता को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। आधुनिक संसार मे परिस्थितियाँ ही कुछ इस प्रकार की हैं कि कोई भी प्रजाति अपने को दूसरों से पृथक् नही रख सकती। इतना ही नहीं, प्राचीन काल में भी प्रजातियाँ बिलकुल विशुद्ध थीं, यह भी निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। प्रो० गोर्डन चाइल्ड (Gordon Child) ने लिखा है कि डेनमार्क तथा स्वीडन मे जो नॉर्डिक प्रजाति के प्रस्तरित-ककाल (fossils) मिले हैं, उनमे भी कई प्रजातियों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रजातीय या रक्त-सम्मिश्रण अति प्राचीन काल से ही होता आ रहा है जिसके कारण आज किसी भी प्रजाति द्वारा रक्त की शुद्धता का दावा समस्त वैज्ञानिक आधारों से परे

ताओं का पूर्णतया विकास नहीं कर पाते हैं। उन्हे भी अगर गोरे लोगों की भांति सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने लगें तो हो सकता है कि बुद्धि-परीक्षाओं का फल ही और कुछ निकले। सर्वश्री जैकब तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने उचित ही लिखा है कि कोई नहीं जानता कि जीवन-धारण की आदर्श अवस्थाओं को प्राप्त कर लेने के पश्चात् समूहों या व्यक्तियों की बुद्धि-परीक्षा का अंक (score) कितना अधिक चढ़ जाएगा।[1] उदाहरणार्थ, अमेरिका की सेना में भरती किये गये सैनिकों की जो बुद्धि-परीक्षा ली गई थी उससे पता चलता है कि उत्तरी अमेरिका के नीग्रो सैनिक उस देश के दक्षिणी भाग के *नीग्रो सैनिकों की अपेक्षा बुद्धि मे अधिक योग्य थे। साथ ही, उत्तरी अमेरिका के गोरे* सैनिक भी बुद्धि में दक्षिणी भाग के गोरों से अधिक योग्य थे, यहाँ तक कि उत्तर के कुछ नीग्रो सैनिक दक्षिणी भाग के कुछ गोरे सैनिकों से कही अधिक योग्य निकले। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि पर पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है और इसी कारण प्रजाति की मानसिक योग्यता या अयोग्यता को एक स्थिर आनुवंशिक लक्षण (hereditary trait) मानकर उसी के आधार पर प्रजातीय विद्वेष का पोषण करना बड़ी भूल होगी। आज के मनोवैज्ञानिकों का निश्चित मत यह है कि बुद्धि-परीक्षा द्वारा समूहों की जन्मगत बुद्धि का उतना पता नहीं लगता जितना कि उसकी सामाजिक स्थिति, पृष्ठभूमि तथा शिक्षा के प्रभावों का।[2] एक बच्चे को जीवन की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, वह स्कूल जाता है, घट पर रेडियो सुनता है, विभिन्न प्रकार के लोगों से मेल-मिलाप स्थापित करता है, इत्यादि ये सभी परिस्थितियाँ उसकी बुद्धि को विकसित करने मे सहायक हैं। बुद्धि-परीक्षा में प्राप्त अंक उस बच्चे को केवल प्रकृतिदत्त बुद्धि या मानसिक योग्यता को ही व्यक्त नहीं करते बल्कि उस अंक (score) मे उसे उसके जीवन की परिस्थितियों तथा सामान्य संस्कृति से प्राप्त मानसिक योग्यता भी सम्मिलित है। इसी कारण बुद्धि-लब्धि (I. Q.) व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार बदल भी सकती है। मानसिक योग्यता जन्मजात नहीं है और उसके निर्धारण मे पर्यावरण का भी बहुत भारी योग है, इससे हाल के ही एक परीक्षण से प्रमाणित किया जा सकता है। न्यूयार्क के शिक्षा अधिकारियों ने एक विशेष विद्यालय होनहार विद्यार्थियों के लिए प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसके लिए पूरे नगर के प्राथमिक स्कूलों से बुद्धि-परीक्षण द्वारा 500 होनहार बच्चों को चुना गया। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इस प्रकार जितने बालक उस विशेष विद्यालय मे आये उनमें नीग्रो प्रजाति के उतने ही प्रतिशत बच्चे थे जितने प्रतिशत जनसंख्या नीग्रो लोगों की उस नगर मे थी। न्यूयार्क नगर में 10 प्रतिशत नीग्रो थे और बुद्धि-परीक्षण द्वारा चुने गये 500 बच्चों मे भी 10 प्रतिशत अर्थात् 50 बच्चे नीग्रो प्रजाति के थे।[3] अत. स्पष्ट है

---

1. "No one knows how high an intelligence test score of groups or [illegible] a change to optimal condi- [illegible]

[illegible] udgement that the test scores [illegible] groups, but reflect influences arising from social status, background, and education."—*Ibid*, pp. 68-69.

3. *What is Race*, UNESCO Publication, Paris, 1952, p. 57.

कि मानसिक योग्यता के आधा
अनुसार ऊँच-नीच की भावना
देना है। मानसिक योग्यता के
तथा अवैज्ञानिक है।

(4) सांस्कृतिक श्रेष्ठ
प्रमाण नहीं है। विभिन्न देशों
तथ्य उपलब्ध हैं उनके आधार
नहीं होती है। यह प्रचार किय
तियों का योगदान सर्वाधिक म
के विरुद्ध है कि सभ्यता, सं
सच है कि आज के संसार में
करने में पर्याप्त योगदान कर र
से भी प्रमाणित नहीं होती है,
स्तर पर है उसका एक मात्र
जंगलों में घूमा करते थे तब
चुकी थीं। मानव-सभ्यता का
स्तम्भों को यहाँ के लोगों ने ही
कि "ब्रिटेनवासियों के सम्बन्ध
कारण दास बनाने योग्य भी न
वे किसी भी प्रकार की उच्च स
विकसित प्रजातियों की यह सि
माया-सभ्यता विकसित कर चु
बनाने तथा छापने की कला का
कि मानव-सभ्यता, संस्कृति या
कर इनकी रचना की है। अतः
हित करना सर्वथा अनुचित है।

उपर्युक्त विवेचना से र
अवैज्ञानिक है। मानव अपने अ
उन स्वरूपों में विविधता या
शारीरिक तथा मानसिक भिन्
उनमें ऊँच-नीच का संस्तरण
की अनुकूल परिस्थितियाँ बहुत
भी सत्य है। किसी प्रजाति में
बहुत अन्तर है वह कुछ तो वि
है। परन्तु इनमें से कोई कारक
में पाये जाने वाले अन्तर भी स

सोच का स्वरूप सर्वदा विकृत तथा अवैज्ञानिक है। प्रजातीय विद्वेष विश्व-शान्ति के लिए खतरा है। प्रजातिवाद की विवेचना प्रजाति के सम्बन्ध में विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित आधुनिकतम निष्कर्षों से और भी स्पष्ट हो जायगी।

प्रजाति के विषय में आधुनिकतम निष्कर्ष
(Latest Conclusions regarding Race)

यूनेस्को (UNESCO) द्वारा बुलायी गई शारीरिक मानवशास्त्र तथा मानव-अनुवंश विद्या (Human Genetics) के विद्वानों की बैठक में, जो कि सितम्बर सन् 1952 में हुई थी, प्रजाति के सम्बन्ध में जिन निष्कर्षों की घोषणा की गई थी, उनमें निम्न प्रमुख हैं[1]—

(1) समस्त वैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि आज जितने भी मनुष्य भूमण्डल में रह रहे हैं वे सभी एक ही जाति के सदस्य हैं जिसे मेधावी-मानव (*Homo Sapiens*) कहते हैं।

(2) कुछ शारीरिक लक्षणों में अन्तर वंशानुसंक्रमण से और कुछ पर्यावरण से होते हैं, परन्तु साधारणतया इन दोनों का ही प्रभाव होता है।

(3) वंशानुसंक्रमण में अन्तर दो प्रक्रियाओं के फलस्वरूप होता है—(अ) उत्परिवर्तन (mutation) और (ब) अन्तर्वर्ण-विवाह (cross-marriage)।

(4) राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषा-समूह प्रजाति नहीं हैं। इनको प्रजाति समझना बड़ी भूल होगी।

(5) विभिन्न तरीकों से मानव-प्रजातियों का वर्गीकरण किया गया है और किया जा सकता है, परन्तु आज सभी मानवशास्त्री मानव को निम्नलिखित तीन मुख्य प्रजातियों में बाँटने के सम्बन्ध में एकमत हैं—

(क) काकेशायड (Caucasoid)
(ख) मंगोलायड (Mongoloid)
(ग) निग्रोयड (Negroid)

यह वर्गीकरण किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नहीं है और न ही इनमें उच्चता या निम्नता का कोई प्रश्न उठता है।

(6) प्रजाति के वर्गीकरण में बुद्धि को सम्मिलित नहीं किया जाता है क्योंकि यह देखा गया है कि यदि पर्यावरण एक-सा है तो विभिन्न प्रजाति के बुद्धि-स्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। प्रत्येक प्रजाति में बुद्धिमान व्यक्ति पाये जाते हैं।

(7) सांस्कृतिक भिन्नताएँ प्रजातीय भिन्नताओं के कारण नहीं हैं।

(8) तथा-कथित (so-called) विशुद्ध प्रजातियाँ आज कहीं नहीं पाई जाती हैं। प्रजातीय सम्मिश्रण अतीत काल से होता चला आ रहा है। मनुष्य हमेशा से ही अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक जगह से दूसरी जगह को जाता रहा और

---

1. *Race Concept*, UNESCO Publication ,Paris, 1952.

सम्मिश्रण होता रहा है। आज आवागमन के साधनों में उन्नति के साथ यह सम्मिश्रण और भी सरल और व्यापक हो गया है। ऐसे सम्मिश्रण से कोई हानि होती है, इसका कोई प्रमाण नहीं है और इसलिए ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता जिसके आधार पर अन्तः-प्रजातीय विवाह को रोका जाये।

(9) मनुष्य-मनुष्य समान हैं और प्रत्येक को समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिए तथा कानून के सम्मुख सबको समान मानना चाहिए।

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि दुर्भाग्यवश प्रजाति शब्द का प्रयोग प्राणी-शास्त्रीय अर्थ में वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया जाता है। मनमाने अर्थों से अनेक अनर्थों की सृष्टि तथा मानव-समूहों और राष्ट्रों पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं। इन सबके फलस्वरूप 'प्रजाति' शब्द के अर्थ में पर्याप्त अवैज्ञानिकता तथा निःसारता आ गई है। अतएव सर्वश्री हक्सले तथा हड्डन (Huxley and Haddon) का मत है कि 'प्रजाति' शब्द एक उप-कल्पित भूत या एक अनिश्चित भविष्य के लिए ही उपयुक्त है, वास्तविक वर्तमान के लिए नहीं।"

उपर्युक्त परिस्थितियों में, जैसाकि अनेक विद्वानों का मत है, "यह अत्यन्त आव-श्यक है कि मनुष्यों के समुदायों के लिए प्रयुक्त 'प्रजाति' शब्द वैज्ञानिक शब्दकोष से हटा देना चाहिए और 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर 'सम-शारीरिक लक्षण वाले समूह' या नृवंशीय समूह (Ethnic group) शब्द का प्रयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। 'प्रजाति' शब्द से मानव-जाति को अत्यधिक हानि पहुँची है; इस कारण इससे जान-बूझकर बचना होगा, नहीं तो विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की कल्पना एक निरर्थक स्वप्न ही रह जायगी।

SELECTED READINGS

1. Ashley Montagu, M. F. : *Man's Most Dangerous Myth : The Fallacy of Race*, Columbia University Press, New York, 1945.

2. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959.

3. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Jacobs and Stern, : *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.

5. Kroeber : *Anthropology*, New York, 1948.

6. Majumdar, D.N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

7. UNESCO Publication : *What is Race*, Paris, 1952.

6 भारत की प्रजातियाँ (Races of India)

भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की समस्या न केवल अस्पष्ट है, अपितु जटिल भी। इसका उचित और वैज्ञानिक मूल्यांकन एक कठिन कार्य है। इस कारण भारत की प्रजातियों का यह निरूपण कहाँ तक यथार्थ है या हो सकता है, यह बताना भी कठिन है।

प्रागैतिहासिक (pre-historic) समय से ही भारतवर्ष में विभिन्न प्रजातियों का आगमन हुआ है। इसका कारण राजनैतिक उतना नहीं जितना कि भौगोलिक है। भारतवर्ष एक विस्तृत उप-महाद्वीप (sub-continent) है और यहाँ प्रारम्भ से ही समयानुसार जीवित रहने के साधन उपलब्ध थे। इन अनुकूल अवस्थाओं से आकर्षित होकर अनेक विदेशी प्रजातीय-समूहों ने समय-समय पर इस देश पर आक्रमण किया और यहाँ के निवासियों को हराकर यहाँ बस गये। इनमें से कुछ आक्रमणकारी समूह लूटपाट कर लौट भी गये, पर अधिकांश यहीं बस गये। इस कारण यहाँ धीरे-धीरे अनेक प्रजातियों का जमघट बढ़ता ही गया। परन्तु प्राचीनकाल में, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग में कब और कौन-कौनसी प्रजातियाँ यहाँ आयीं, इसका अभी तक सही-सही पता नहीं लग पाया है। फिर भी अनुमान और अनुसन्धानों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

भारत में प्रजातियों का अध्ययन
(Studies regarding Races in India)

भारतीय सिविल सर्विस के एक यशस्वी अधिकारी सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley, 1851—1911) ने सर्वप्रथम भारतीय जनसंख्या में प्राचीन तत्वों के अध्ययन का बीड़ा उठाया। सन् 1890 में सर्वप्रथम आपने एक मानवशास्त्रीय पत्रिका (The Journal of Anthropological Institute) में बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) और पंजाब की 89 प्रमुख जातियों के कद, खोपड़ी, नाक की लम्बाई-चौड़ाई आदि के नाप संक्षेप में प्रस्तुत किये।[1] परन्तु आपकी वास्तविक देन इससे कहीं बाद की थी। सन् 1899 में भारत सरकार ने सर रिज़ले को सन् 1901 में होने वाली जनगणना (census) का अध्यक्ष नियुक्त किया। सन्

1. Sir H. H. Risley, 'The Study of Ethnology in India', Published in *T' Journal of Anthropological Institute*, 1890, Vol. XX, p. 235.

1901 की जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् 1915 में प्रकाशित सर रिज़ले की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दी पीपल ऑफ इंडिया' (The People of India) भारत की प्रजातियों के अध्ययन की आधारशिला है।

इसके पश्चात् सन् 1931 की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J.H. Hutton) ने नये अनुसंधानों के आधार पर डा० बी० एस० गुहा (B. S. Guha) को नये तौर पर मानवसमितीय नाप (anthropometric measurements) लेने का कार्य सौंपा। डा० गुहा ने भारतवर्ष की प्रजातियों का अध्ययन और वर्गीकरण सर रिज़ले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रीति से किया। श्री हट्टन ने इसका समर्थन किया, पर डा० डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar), डा० एस० सी० सरकार (S. C. Sarkar) आदि कुछ विद्वानों ने डा० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण की कुछ बातों को स्वीकार नहीं किया है। सर रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार तक के इन प्रजातीय अध्ययनों को समझने के लिए हमें भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को समझना होगा।

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(Racial History of India)

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) प्रागैतिहासिक युग, तथा (2) ऐतिहासिक युग। इन दो युगों के विषय में अब हम संक्षेप में विवेचना करेंगे।

(1) प्रागैतिहासिक युग
(Pre-historic Age)

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग का इतिहास, अत्यधिक अस्पष्ट और मुख्यतः अनुमान पर ही आश्रित है क्योंकि प्रजातीय तत्त्वों के अध्ययन में सहायक हो सके—ऐसी पुरानी हड्डियों, अस्थि-पंजरों तथा अन्य वस्तुओं का भारत में नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध में सर हर्बर्ट रिज़ले ने लिखा था कि, "यहाँ पर आदिम मनुष्यों के जीवन के उतार-चढ़ावों का चित्रण करने वाली न कोई गुफाएँ, समाधियों के टीले, हड्डियों के ढेर, या उस प्रकार के किले-नुमा नगर ही हैं जैसा कि आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान में ज़मीन से खोदकर निकाले जा रहे हैं, और न ही हड्डियों से बनी चीजें या हथियार प्राप्त हैं।" इसका एक कारण इस देश की जलवायु है। भारत की जलवायु उष्ण है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की हड्डियाँ, नर-कंकाल आदि सुरक्षित नहीं रह पाये क्योंकि गर्म जलवायु में हड्डियाँ शीघ्र गल जाती हैं और साथ ही ऐसी जलवायु में कीड़े-मकोड़े भी अधिक होते हैं, जो कि ऐसी वस्तुओं को या तो खा जाते हैं या उन्हें नष्ट कर देते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लोगों के लिए हड्डी आदि प्राप्त करने के हेतु खुदाई में मग्न होना विलासिता मात्र है; इस कारण भारतवासी इस ओर उदासीन ही रहे। साथ ही, मुगल तथा ब्रिटिश

आदि विदेशी शासक भी अपने-अपने राज्य को दृढ़ बनाने में लगे रहे और इस प्रकार की खुदाई आदि की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। इन सब कारणों से भारत में थोड़े ही कर्परीय (cranial) और कंकालीय (skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किये जा सके हैं; और जो प्राप्त भी हुए हैं वे बहुत अधिक प्राचीन नहीं हैं। डा० मजूमदार (Dr. Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमें अब तक जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे एक आने के डाक-टिकट के पीछे लिखा जा सकता है।"[1] अतः उस युग में भारत के प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध में हमें अनुमान पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है। हाल में भारतीय प्रागैतिहासिक और पुरा-इतिहास की कुछ उपयोगी सामग्री मानवशास्त्रियों को प्राप्त हुई है जिससे प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत-कुछ सहायता मिली है; फिर भी पहले की ही भाँति अब भी समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रायः अनुमान पर आश्रित है।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि भारत के प्रागैतिहास की विवेचना बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् करके नहीं की जा सकती है। बहुतेरे विषयों में ये दोनों अभिन्न हैं। श्री क्रोपोटकिन का मत है कि सभ्यता के उद्‌भव का सबसे अनुकूल स्थान मेसोपोटामिया रहा होगा। श्री हड्डन (Haddon) के मत में मनुष्य का उद्‌विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा।[2] अतः स्पष्ट है कि भारत की बिल्कुल पृथक् रूप से विवेचना करना उचित न होगा।

प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हमें 2,50,000 वर्ष पुरानी नर्मदा घाटी की सभ्यता तथा 5000 वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त होती है। परन्तु ये प्रमाण इतने अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हैं कि इन पर अधिक निर्भर रहना उचित न होगा। फिर भी इनके आधार पर उस युग की भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों की एक रूपरेखा अवश्य ही प्रस्तुत की जा सकती है।

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रायद्वीप के हिस्से की जमीन सबसे अधिक प्राचीन कही जाती है और वहाँ पर पाषाण युग की संस्कृति के तत्त्व भी मिलते हैं। इस आधार पर श्री स्टुअर्ट पिगट (Stuart Piggot) का मत है कि यहाँ के निवासी पूर्व-पुरुषम (Palaeo-anthropoid) के प्रतिनिधि और जावा (Jova) में पाये जाने वाले सर्वप्रथम 'सीधे चलने वाले मनुष्य' (Pithecanthropuseractus) से सम्बन्धित हो सकते हैं।

नवपाषाणकालीन (Neolithic) संस्कृति के तत्त्व भारत के पूर्वी भाग में मिलते हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत के पूर्वी

1. "In any case, all the knowledge of the Indian pre-historic age we have had so far could be written on the back of an anna postage stamp."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 20.

2.

1901 की जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् 1915 में प्रकाशित सर रिज़ले की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दी पीपल ऑफ इंडिया' (The People of India) भारत की प्रजातियों के अध्ययन की आधारशिला है।

इसके पश्चात् सन् 1931 की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J.H. Hutton) ने नये अनुसंधानों के आधार पर डा० बी० एस० गुहा (B. S. Guha) को नये तौर पर मानवसमितीय नाप (anthropometric measurements) लेने का कार्य सौंपा। डा० गुहा ने भारतवर्ष की प्रजातियों का अध्ययन और वर्गीकरण सर रिज़ले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रीति से किया। श्री हट्टन ने इसका समर्थन किया, पर डा० डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar), डा० एस० सी० सरकार (S. C. Sarkar) आदि कुछ विद्वानों ने डा० गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण की कुछ बातों को स्वीकार नहीं किया है। सर रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार तक के इन प्रजातीय अध्ययनों को समझने के लिए हमें भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को समझना होगा।

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास
(Racial History of India)

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) प्रागैतिहासिक युग, तथा (2) ऐतिहासिक युग। इन दो युगों के विषय में अब हम संक्षेप में विवेचना करेंगे।

(1) प्रागैतिहासिक युग
(Pre-historic Age)

भारतवर्ष का प्रजातीय इतिहास, विशेषकर प्रागैतिहासिक युग का इतिहास, अत्यधिक अस्पष्ट और मुख्यतः अनुमान पर ही आश्रित है क्योंकि प्रजातीय तत्त्वों के अध्ययन में सहायक हो सके—ऐसी पुरानी हड्डियों, अस्थि-पंजरों तथा अन्य वस्तुओं का भारत में नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध में सर हर्बर्ट रिज़ले ने लिखा था कि, "यहाँ पर आदिम मनुष्यों के जीवन के उतार-चढ़ावों का चित्रण करने वाली न कोई गुफाएँ, समाधियों के टीले, हड्डियों के ढेर, या उस प्रकार के किले-नुमा नगर ही हैं जैसा कि आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान में ज़मीन से खोदकर निकाले जा रहे हैं, और न ही हड्डियों से बनी चीजें या हथियार प्राप्त हैं।" इसका एक कारण इस देश की जलवायु है। भारत की जलवायु उष्ण है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की हड्डियाँ, नर-कंकाल आदि सुरक्षित नहीं रह पाये क्योंकि गर्म जलवायु में हड्डियाँ शीघ्र गल जाती हैं और साथ ही ऐसी जलवायु में कीड़े-मकोड़े भी अधिक होते हैं, जो कि ऐसी वस्तुओं को या तो खा जाते हैं या उन्हें नष्ट कर देते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लोगों के लिए हड्डी आदि प्राप्त करने के हेतु खुदाई में मग्न होना विलासिता मात्र ...ी; इस कारण भारतवासी इस ओर उदासीन ही रहे। साथ ही, मुगल तथा ब्रिटिश

आदि विदेशी शासक भी अपने-अपने राज्य को दृढ़ बनाने में लगे रहे और इस प्रकार की खुदाई आदि की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। इन सब कारणों से भारत मे थोड़े ही कर्परीय (cranial) और कंकालीय (skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किये जा सके हैं; और जो प्राप्त भी हुए हैं वे बहुत अधिक प्राचीन नहीं हैं। डा० मजूमदार (Dr. Majumdar) ने उचित ही लिखा है कि "भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में हमें अब तक जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे एक आने के डाक-टिकट के पीछे लिखा जा सकता है।"[1] अतः उस युग में भारत के प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध मे हमें अनुमान पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है। हाल मे भारतीय प्रागैतिहासिक और पुरा-इतिहास की कुछ उपयोगी सामग्री मानवशास्त्रियों को प्राप्त हुई है जिससे प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय इतिहास के पुनर्निर्माण मे बहुत-कुछ सहायता मिली है; फिर भी पहले की ही भांति अब भी समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रायः अनुमान पर आश्रित हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है और वह यह कि भारत के प्रागैतिहास की विवेचना बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् करके नही की जा सकती है। बहुतेरे विषयों मे ये दोनों अभिन्न हैं। श्री क्रोपोटकिन का मत है कि सभ्यता के उद्भव का सबसे अनुकूल स्थान मेसोपोटामिया रहा होगा। श्री हड्डन (Haddon) के मत में मनुष्य का उद्विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा।[2] अतः स्पष्ट है कि भारत की बिल्कुल पृथक् रूप से विवेचना करना उचित न होगा।

प्रागैतिहासिक युग के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हमें 2,50,000 वर्ष पुरानी नर्मदा घाटी की सभ्यता तथा 5000 वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त होती है। परन्तु ये प्रमाण इतने अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हैं कि इन पर अधिक निर्भर रहना उचित न होगा। फिर भी इनके आधार पर उस युग की भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों की एक रूपरेखा अवश्य ही प्रस्तुत की जा सकती है।

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रायद्वीप के हिस्से की जमीन सबसे अधिक प्राचीन कही जाती है और वहाँ पर पाषाण युग की संस्कृति के तत्त्व भी मिलते हैं। इस आधार पर श्री स्टुअर्ट पिगट (Stuart Piggot) का मत है कि यहाँ के निवासी पूर्व-पुरुषभ (Palaeo-anthropoid) के प्रतिनिधि और जावा (Jova) में पाये जाने वाले सर्वप्रथम 'सीधे चलने वाले मनुष्य' (Pithecanthropuseractus) से सम्बन्धित हो सकते हैं।

नवपाषाणकालीन (Neolithic) संस्कृति के तत्त्व भारत के पूर्वी भाग में मिलते हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत के पूर्वी

1 "In any case, all the knowledge of the Indian pre-historic age we have had so far could be written on the back of an anna postage stamp."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p 20.

2. *Ibid*., p. 21

भाग में रहने वाली प्रजाति ने ही इस संस्कृति को जन्म दिया था। परन्तु यह प्रजाति कौनसी थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें क्रो-मैगनन (Cro-Magnon) प्रजाति से सम्बन्धित मानते हैं और कुछ लोग इन्हें प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid) से सम्बन्धित करते हैं। इस विषय में कोई निश्चित निष्कर्ष आज भी नहीं हो पाया है।

मोहनजो-दड़ो, हड़प्पा, चानूदारों आदि की खुदाई से प्राप्त वस्तुओं से इस प्रागैतिहासिक युग के प्रजातीय तत्त्वों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन खुदाइयों से पचास नर-कंकाल और ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से एकाधिक प्रजातीय तत्त्वों का प्रमाण मिलता है। इनमें से (अ) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid), (ब) भूमध्यसागरीय (Mediterranean), और (स) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्रजातियों के विषय में विस्तारपूर्वक कुछ बताना सम्भव न होगा क्योंकि इनसे सम्बन्धित बहुत ही थोड़े शारीरिक अवशेष जैसे कर्पर, कंकाल, हड्डियाँ आदि प्राप्त किये जा सके हैं। सन् 1912 में एक कर्पर (crania) बयाना में और एक कर्पर स्यालकोट में पाया गया था। ये दोनों कर्पर बहुत प्राचीन नहीं थे और इनकी हड्डियों का रंग मटमैला भूरा था। सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith) ने इन कर्परों की जांच बम्बई मानवशास्त्रीय समिति (Bombay Anthropological Society) के अनुरोध से की थी। आपके अनुसार ये कर्पर पुरुषों के थे, पर इनका आकार छोटा था। श्री कीथ के मत में इन कर्परों के आकार और प्रकार बहुत-कुछ वैसे ही हैं जैसे आज के पंजाब के लोगों के हैं और बयाना में पाये गये कर्पर की पतली नाक की हड्डियों के आधार पर आपने उन्हें प्रमुख आर्य पुरुष के ही प्रतिनिधि माना है।[1] मोहनजो-दड़ो में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के उपलब्ध तीन कर्परों को सर्वश्री फ्रेडरिक और मुलर ने वेड्डॉयड (Veddoid) बताया है और हड़प्पा के कब्रिस्तान की दो तहों में विशेषतः निचली तह में प्राप्त कर्पर ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित माने जाते हैं। स्यालकोट में पाया गया कर्पर प्रमुख रूप से भूमध्यसागरीय प्रजातीय स्कन्ध (Stock) से मिलता है, जबकि बयाना के कर्पर को मिश्रित प्रकार का माना जा सकता है। हैदराबाद के रायचूर जिले के मस्की नामक स्थान में प्राप्त कंकालों में दो प्रजातीय तत्त्व पाये गये हैं—एक भूमध्यसागरीय तथा दूसरी पश्चिमी आल्पाइन की आर्मीनॉयड शाखा। मस्की के उन कंकालों में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व नहीं पाये गये परन्तु वहाँ एक दूसरा प्रमाण उपलब्ध है जिसके आधार पर प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी होना प्रमाणित होता है। मस्की की वर्तमान जनसंख्या लम्बे तथा चौड़े सिर और पतली नाक वाली है परन्तु वहाँ लम्बे सिर और चपटी नाक वाले लोगों का भी अभाव नहीं है। ये लक्षण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से सम्बन्धित हैं। इससे वहाँ प्रोटो- ऑस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्त्व का भी आभास होता है।[2] संक्षेप में बयाना, स्याल-

1. *Ioid.*, p. 25.
2. *Ibid.*, p. 26.

(2) ऐतिहासिक युग
(Historical Age)

ऐतिहासिक युग भारत में आर्यों के आने के बाद से ही प्रारम्भ होता है। आर्यों के आने के बाद अनेक प्रजातियाँ भारत में आयीं। परन्तु उनके सम्बन्ध में भी कोई निर्भर-योग्य जानकारी हमें प्राप्त न होने के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष सम्भव नहीं है। ऐसे तो अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक खोजें की हैं परन्तु पर्याप्त कपालीय (cranial) और कंकालीय (skeletal) सामग्रियों के अभाव के कारण उनके अध्ययनों को एक वैज्ञानिक आधार नहीं मिल पाया है। जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, भारत की उष्ण जलवायु शारीरिक अवशेषों को सुरक्षित रखने के अनुकूल नहीं है और यही कारण है कि इस देश में मानव-कपालीय सामग्रियों का सदैव अभाव अनुभव किया गया है। इसीलिए यहाँ कोई प्रजातीय अध्ययन भी यथार्थ नहीं हो पाता है। अधिकतर हमें अनुमान की ही लाठी पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐतिहासिक युग में भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत निम्नलिखित है—

(1) रिज़ले (Risley)—जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, भारतवर्ष की विभिन्न प्रजातियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से सामग्री एकत्र करने का सर्वप्रथम श्रेय सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley) को है। आपके अनुसार भारतवर्ष में सात प्रजातीय तत्त्वों का समावेश है।[1] इनमें केवल तीन प्रजातियाँ—द्राविड़ (Dravidian), मंगोल (Mongoloid) और इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—मौलिक हैं। शेष चार प्रजातियाँ इन तीन मौलिक प्रजातियों के परस्पर सम्मिश्रण का परिणाम हैं। ये चार मिश्रित प्रजातियाँ तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian), सीथो-द्राविड़ियन (Scytho-Dravidian), आर्यो द्राविड़ियन (Aryo-Dravidian), और मंगोलो-द्राविड़ियन (Mongolo-Dravidian) हैं।

उपरोक्त सात प्रजातियों में नीग्रिटो (Negrito) प्रजाति को सर रिज़ले ने सम्मिलित नहीं किया है क्योंकि आपका मत है कि इस प्रजाति का भारत की जनसंख्या के निर्माण में कोई उल्लेखनीय हाथ नहीं है।

सर रिज़ले ने 'द्राविड़ प्रजाति' को भारत का प्राचीनतम आदिवासी माना है। आपने उन विद्वानों के मत को स्वीकार नहीं किया है जो कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियों और भारत में द्राविड़ों में सम्बन्ध मानते हैं। सर रिज़ले ने सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) द्वारा आस्ट्रेलियन तथा द्राविड़ खोपड़ियों पर किये गये परीक्षणों के आधार पर इन दोनों को सर्वथा भिन्न माना है, साथ ही, आपने अण्डमान तथा फिलिप्पाइन द्वीपों के नीग्रिटो लोगों के साथ ही द्राविड़ों का कोई सम्बन्ध नहीं माना है।[2] संक्षेप में सर रिज़ले अपने इस सिद्धान्त पर अटल रहे हैं कि द्राविड़ प्रजाति भारत की मूल और प्राचीनतम निवासी है। ये लोग प्रारम्भ से ही भारत में रहते थे और इस कारण इनके बाहर से आने का प्रश्न नहीं उठता। द्राविड़ को छोड़-

1. H. H. Risley, *The People of India*, 1915, pp. 32—61.
2. *Ibid*, pp 47—48.

है। परन्तु ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के पक्ष में नहीं हैं। डा० मजूमदार (Majumdar) के अनुसार जिस समय कि 'द्राविड़' लोग सिन्धु घाटी में एक उच्चकोटि की सभ्यता का निर्माण कर रहे थे, उस समय भारत के सबसे पुराने आदिवासी प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड नवपाषाणकालीन अवस्था में थे। अपने तर्क को और भी स्पष्ट करते हुए डा० मजूमदार ने लिखा है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई से जो मूर्तियाँ मिली हैं उससे इस सम्बन्ध में सारे वाद-विवाद का ही अन्त हो जाता है, क्योंकि प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग अवैयक्तिक सत्ता (impersonal power) पर विश्वास करते हैं और आज भी वे इस शक्ति को देवताओं के रूप में या उनको व्यक्त करने वाली मूर्तियों के रूप में स्थूल या साकार रूप देने में सफल नहीं हुए हैं।[1] चूँकि मोहनजोदड़ो की खुदाई से मूर्तियाँ मिली हैं और चूँकि प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के लोग मूर्तिपूजक नहीं थे, इससे स्पष्टतः यह प्रमाणित होता है कि सिन्धु-सभ्यता का निर्माण प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति के द्वारा नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं जो नग्न दशा में हैं। ऐसी नग्न-मूर्तियाँ बिलोचिस्तान, मेसोपोटामिया आदि में भी मिली हैं। यह प्रमाण भी सिन्धु-सभ्यता के निर्माण में भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्व की प्रधानता की ओर संकेत करता है।

मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में पाये गये कुछ मृतक अवशेषों की अस्थि-परीक्षा से यह पता चलता है कि उनमें से कई की आक्रमण द्वारा हत्या हुई है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह आक्रमण सम्भवतः आर्य लोगों का रहा होगा। जब आर्य लोग भारत में आये तब यहाँ सिन्धु-सभ्यता विकसित और पुष्पित हो चुकी थी। आर्यों ने द्राविड़ लोगों पर आक्रमण किया और उन्हें हराया। द्राविड़ लोग कुछ तो युद्ध में मरे और कुछ आर्यों की मार खाकर दक्षिण भारत की तरफ भाग खड़े हुए और वहीं जा बसे। ये लोग भारत में आने वाली भूमध्यसागरीय प्रजाति की सबसे पुरानी शाखा से सम्बन्धित थे जो कि अब कन्नड़, तामिल तथा मलयालम भाषा-भाषी प्रदेशों में पाई जाती है। परन्तु ये सभी निष्कर्ष बहुत-कुछ कल्पनाओं पर आधारित हैं, इस कारण इनमें कितनी सत्यता है, यह कहा नहीं जा सकता।

उपर्युक्त विवेचना से प्रागैतिहासिक युग की भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों के सम्बन्ध में एक अस्पष्ट या धुँधली धारणा मात्र होती है और इसी कारण इसके आधार पर हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। पर हाँ, इस सम्बन्ध में इतना निश्चित ही है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष की भूमि में एक से अधिक प्रजातियों का जमघट रहा है और उनमें कुछ-न-कुछ संमिश्रण भी होता रहा है।

---

1. "The iconic character of Mohenjodaro civilization also puts the lid on the controversy for the proto-Australoids believe in impersonal force or power and even today they have not succeded in concretizing this power in the shape of gods or idols representing them."—D. N. Majumdar, *Ibid.*, p. 27.

(2) ऐतिहासिक युग
(Historical Age)

ऐतिहासिक युग भारत में आर्यों के आने के बाद से ही प्रारम्भ होता है। आर्यों के आने के बाद अनेक प्रजातियाँ भारत में आयीं। परन्तु उनके सम्बन्ध में भी कोई निर्भर-योग्य जानकारी हमें प्राप्त न होने के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष सम्भव नहीं है। ऐसे तो अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक खोजें की हैं परन्तु पर्याप्त कपरीय (cranial) और कंकालीय (skeletal) सामग्रियों के अभाव के कारण उनके अध्ययनों को एक वैज्ञानिक आधार नहीं मिल पाया है। जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, भारत की उष्ण जलवायु शारीरिक अवशेषों को सुरक्षित रखने के अनुकूल नहीं है और यही कारण है कि इस देश में मानव-कंकालीय सामग्रियों का सदैव अभाव अनुभव किया गया है। इसीलिए यहाँ कोई प्रजातीय अध्ययन भी यथार्थ नहीं हो पाता है। अधिकतर हमें अनुमान की ही साक्षी पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐतिहासिक युग में भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत निम्नलिखित है—

(1) रिज़ले (Risley)—जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, भारतवर्ष की विभिन्न प्रजातियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से सामग्री एकत्र करने का सर्वप्रथम श्रेय सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley) को है। आपके अनुसार भारतवर्ष में सात प्रजातीय तत्त्वों का समावेश है।[1] इनमें केवल तीन प्रजातियाँ—द्राविड़ (Dravidian), मंगोल (Mongoloid) और इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—मौलिक हैं। शेष चार प्रजातियाँ इन तीन मौलिक प्रजातियों के परस्पर सम्मिश्रण का परिणाम हैं। ये चार मिश्रित प्रजातियाँ तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian), सीथो-द्राविड़ियन (Scytho-Dravidian), आर्यो-द्राविड़ियन (Aryo-Dravidian), और मंगोलो-द्राविड़ियन (Mongolo-Dravidian) हैं।

उपरोक्त सात प्रजातियों में नीग्रिटो (Negrito) प्रजाति को सर रिज़ले ने सम्मिलित नहीं किया है क्योंकि आपका मत है कि इस प्रजाति का भारत की जनसंख्या के निर्माण में कोई उल्लेखनीय हाथ नहीं है।

सर रिज़ले ने 'द्राविड़ प्रजाति' को भारत का प्राचीनतम आदिवासी माना है। *आपने उन विद्वानों के मत को स्वीकार नहीं किया है जो कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियों और भारत में द्राविड़ों में सम्बन्ध मानते हैं।* सर रिज़ले ने सर विलियम टर्नर (Sir William Turner) द्वारा आस्ट्रेलियन तथा द्राविड़ खोपड़ियों पर किये गये परीक्षणों के आधार पर इन दोनों को सर्वथा भिन्न माना है, साथ ही, आपने अण्डमान तथा फिलिप्पाइन द्वीपों के नीग्रिटो लोगों के साथ ही द्राविड़ों का कोई सम्बन्ध नहीं माना है।[2] संक्षेप में सर रिज़ले अपने इस सिद्धान्त पर अटल रहे हैं कि द्राविड़ प्रजाति भारत की मूल और प्राचीनतम निवासी है। ये लोग प्रारम्भ से ही भारत में रहते थे और इस कारण इनके बाहर से आने का प्रश्न नहीं उठता। द्राविड़ को छोड़-

1. H. H. Risley, *The People of India*, 1915, pp. 32—61.
2. *Ibid*, pp. 47—48.

के प्रजातीय वर्गीकरण में ऐसी एकाधिक प्रजातियों का कोई भी उल्लेख नहीं किया है "जिनकी लहरें समय-समय पर भारत में आयी और जिनके शरीर-वैशिष्ट्य के गुण अभी भी, विश्लेषण करने पर, हमें भारतीय समाज में मिलते है।"

(२) हड्डन (Haddon)—सर रिजले के बाद भारतवर्ष के प्रजातीय तत्त्वों के सम्बन्ध में अनुसधान का दूसरा प्रयत्न श्री ए० सी० हड्डन (A. C. Haddon) द्वारा हुआ था। आपने सर रिजले के दो प्रमुख निष्कर्षों का खण्डन किया। प्रथम तो यह कि द्राविड भारत की सबसे पुरानी प्रजाति नही है। द्राविड प्रजाति भारत में बाहर से आयी थी। उस प्रजाति के लोगों के भारत-प्रवेश के पूर्व यहाँ पूर्व-द्राविड़ (Pre-Dravidian) प्रजाति के लोग रहते थे। वास्तव में भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति यही पूर्व-द्राविड है। दूसरे श्री हड्डन के अनुसार सर रिजले का यह कथन भी गलत है कि भारत मे पाये जाने वाले चौड़े सिर वाले व्यक्ति मंगोल प्रजाति के हैं। श्री हड्डन के मतानुसार ये आल्पाइन (Alpine) प्रजाति के हैं और मंगोल प्रजाति के भारत में आने से पहले ही यहाँ आये थे।

अतः स्पष्ट है कि श्री हड्डन ने भारत की सबसे पुरानी प्रजाति पूर्व-द्राविड मानी है। इस प्रजाति के अन्तर्गत वे सभी जंगली जनजातियाँ (Jungle Tribes) आ जाती हैं जो कि द्राविड जाति के भारत में आने से पूर्व यहाँ निवास करती थी। इन विभिन्न जनजातियों के सदस्यों में स्पष्ट प्रजातीय समानताएँ थी। इस कारण श्री हड्डन ने इन्हें एक ही प्रजाति के अन्तर्गत माना है। आपका अनुमान है कि द्राविड़ प्रजाति सबसे पहले पश्चिमी बंगाल में गंगा की घाटी मे रहती होगी। इसके बाद इस प्रजाति के लोग देश के अनेक स्थानों में घूमते हुए अन्त में मुख्यत छोटा नागपुर में आकर बसे होंगे। आर्य-भाषा बोलने वाली प्रजाति ईसा के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत में सर्वप्रथम आयी थी।[1] भारतीय जनसंख्या में चौड़े सिर वाले व्यक्ति, जैसा कि पहले ही कहा गया है, श्री हड्डन के अनुसार आल्पाइन प्रजातीय तत्त्व के होने का प्रमाण हैं; यद्यपि इस प्रजाति के भारत आकर बसने का इतिहास अभी अधूरा ही है। भारत में मंगोल प्रजाति का प्रवेश भारत के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व की ओर से हुआ है, ऐसा अनुमान श्री हड्डन का है। इस प्रकार श्री हड्डन ने भारत की जनसंख्या मे पाँच प्रजातीय तत्त्वों का समावेश पाया जो क्रम से (अ) प्राग या पूर्व-द्राविड (Pre-Dravidian), (ब) द्राविड़ (Dravidian), (स) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan), (द) इण्डो-आल्पाइन (Indo-Alpine), और (य) मंगोल (Mongolian) है।[2]

(३) हट्टन (Hutton)—श्री जे० एच० हट्टन का कथन है कि यद्यपि भारतीय प्रजातियों के सम्बन्ध में उनका मत अन्तिम (final) नहीं है, फिर भी

1. "The Dravidians may have been the original inhabitants of the valley of the Ganges in Western Bengal. ....After many wanderings, apparently across India, they settled mainly in Chhota Nagpur" "The Aryan-speaking people first migrated into India early in the second millennium B.C."—A. C. Haddon, *cf.* D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 30.

2. *Ibid.*, pp. 30-31.

कर शेप प्रजातियाँ भारत में बाहर से आयीं। इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोगों ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त से भारत में प्रवेश किया था। ये लोग एकसाथ भारत में नहीं आये, बल्कि धीरे-धीरे आते रहे और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब में बस गये। सर रिज़ले के अनुसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार में विशुद्ध आर्य प्रजाति के लोग नहीं पाये जाते। इन स्थानों के लोग आर्यो-द्राविड़ियन अर्थात् आर्य और द्राविड़ इन दो प्रजातियों के मिश्रण हैं।[1] मंगोल बाहर से आकर उत्तर-पूर्वी भारत विशेषतः आसाम और नेपाल में बसने वाली दूसरी प्रजाति थी। प्रागैतिहासिक काल में ही मंगोल प्रजातीय तत्त्व का भारतीय जनसंख्या में होने का कुछ आभास मिलता है परन्तु ऐतिहासिक काल में इनके यहाँ आने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। बाद में इनका मिश्रण द्राविड़ लोगों से हुआ जो कि बंगाल और उड़ीसा में पाये जाते हैं। भारत में बाहर से आकर बसने वाली तीसरी प्रजाति मध्य एशिया के रहने वाले सीथियन या शक थे। इन लोगों ने अपने को सिन्ध, पंजाब, राजपूताना, काठियावाड़, गुजरात और मध्यभारत में विस्तृत कर लिया था; परन्तु बाद में उन पर जो आक्रमण हुए उनके कारण उन्हें विवश होकर दक्षिण की ओर बढ़ना पड़ा जहाँ द्राविड़ लोगों से उनका मिश्रण हुआ। मराठा लोग इसी संमिश्रण के फल हैं।[2] इस प्रकार, सर रिज़ले के अनुसार, भारत में बाहर से आकर बसने वाली तीन प्रजातियाँ इण्डो-आर्यन, मंगोल तथा सीथियन या शक थे। इन प्रजातियों के भारत में फैलने और यहाँ के मूल निवासी द्राविड़ों से सम्मिश्रित होने के फलस्वरूप अन्य तीन मिश्रित प्रजातियों आर्यो-द्राविड़ियन, मंगोल-द्राविड़ियन तथा सीथो-द्राविड़ियन का जन्म हुआ। सातवीं प्रजाति उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की तुर्को-ईरानियन है। इन सातों प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं तथा भारतीय जनसंख्या में उनके वितरण का विस्तृत विवरण हम आगे देंगे।

सन् 1931 की जनगणना के अध्यक्ष श्री जे० एच० हट्टन (J. H. Hutton)

है—प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड तथा दूसरी शाखा तिब्बती-मंगोलॉयड है। भारतीय जनसंख्या में पाई जाने वाली एक और प्रजाति भूमध्यसागरीय है। भारत में इस प्रजाति की कई शाखाएँ तथा नमूने आये हैं। डा० गुहा के अनुसार भारतवर्ष में चौड़े सिर केवल आर्मीनॉयड शाखा की देन नहीं हैं, बल्कि यहाँ के चौड़े सिर वाले लोग अल्पाइन, डिनारी तथा आर्मीनॉयड, इन तीन प्रजातियों से सम्बन्धित हैं। इन प्रजातियों के अतिरिक्त भारतीय जनसंख्या में नॉर्डिक प्रजातीय तत्त्व का भी समावेश है। डा० गुहा ने अपने प्रजातीय विश्लेषण का उपसंहार निम्न शब्दों में दिया है—'यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारत में प्रजातियों का कोई दृढ़ विभाजन या पृथक्करण सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ विभिन्न प्रजातीय तत्त्व एक-दूसरे के क्षेत्र में मिले-जुले पाये गये है। फिर भी मोटे-तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत नॉर्डिक लोगों का क्षेत्र है और वे भूमध्यसागरीय तथा पूर्वी-प्ररूप (oriental-type) के साथ मिले हुए है। इस क्षेत्र को प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत से स्पष्ट रूप से पृथक् किया जा सकता है जहाँ कि प्राचीन भूमध्यसागरीय तत्त्व पाया जाता है। इस क्षेत्र के दोनों ओर अन्य प्रजातीय प्रकारों से मिले हुए अल्पो-डिनारिक क्षेत्र है। आदिम काले तत्त्व (Primitive darker element) सर्वत्र अन्य प्रजातियों, विशेषकर प्राचीन भूमध्यसागरीय प्रजाति से मिश्रित हैं और जनसंख्या के निम्न भाग का निर्माण करते हैं। मंगोलॉयड उत्तरी तथा पूर्वी पहाड़ों के निचले भागों में पाये जाते हैं और कई स्थानों पर जनसंख्या के निर्माण में इनका बहुत बड़ा योग रहा है।"[1]

डा० गुहा उपर्युक्त वर्गीकरण प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज का प्रायः पूर्ण विश्लेषण है और इसके नीग्रिटो तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी बातों को अधिकांश विद्वान स्वीकार करते हैं। डा० डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar) तथा कुछ अन्य विद्वान् श्री हट्टन और डा० गुहा के इस मत से सहमत नहीं हैं कि नीग्रिटो भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति है। इन विद्वानों ने नीग्रिटो तत्त्व के विरोध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध में मतभेद
(Disagreement about Negrito Strain)

डा० मजूमदार ने इस मत की कड़ी आलोचना की है कि भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति नीग्रिटो है। आपने अनेक विद्वानों के अनुसंधानों तथा निष्कर्षों को ... मानकर जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, वे निम्न हैं[2]—

(1) अगर नीग्रिटो यहाँ की प्राचीनतम प्रजाति होती तो इसका प्रभाव और भारत के मूल भागों में अवश्य ही होता। परन्तु ऐसा नहीं है; न तो उत्तरी, न ... में इस प्रजाति के स्पष्ट लक्षण देखने को मिलते हैं। हाँ, अण्डमान

---

1. Guha, *Racial Elements in Indian Population*, Oxford Pamphlet on ... 22, Oxford University Press, Bombay, 1944, p. 26.
2. Majumdar, ... pp 34—36.

उन्होंने अब तक के प्राप्त तथ्यों के आधार पर अधिकृत रूप में प्रजातियों का विश्लेषण एवं निरूपण करने का प्रयत्न किया है। आपके मतानुसार भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति नीग्रिटो (Negrito) है जिनकी जन्मभूमि अफ्रीका है। ये अफ्रीका से अरब होते हुए, ईरान और विलोचिस्तान के समुद्रतट के साथ चलते हुए भारत आये थे।[1] चूंकि इन्हें इनके वाद आने वाली प्रजातियों ने पूर्णतया नष्ट कर दिया था, इस कारण नीग्रिटो प्रजाति का कोई चिन्ह अब भारत के मुख्य भागों में नहीं है। नीग्रिटो प्रजाति के वाद भारत में आने वाली दूसरी प्रजाति प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid) थी। श्री हट्टन का मत है कि इस प्रजाति के लोगों के पूर्वज पैलेस्टाइन में निवास करते थे और ये लोग भारत में पश्चिम से आये थे। यह परिणाम पश्चिमी एशिया और भारत में पाये गये पुराने कर्परों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। इसके पश्चात् भारतवर्ष में भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजाति का प्रवेश हुआ। इस प्रजाति का मूल स्थान सम्भवतः पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश था। इस प्रजाति के लोग दो शाखाओं में बँटकर भारत में आये थे। इनमें पहली शाखा को खेती का ज्ञान था और दूसरी को धातुओं का प्रयोग आता था। श्री हट्टन का विश्वास है कि दूसरी शाखा ने सिन्धु-सभ्यता का विकास किया। भारतीय जनसंख्या में पाये जाने वाले चौड़े सिर वाले लोग आलपाइन प्रजाति की आर्मीनायड शाखा (Armenoid branch of Alpine Race) से सम्बन्धित हैं। ये लोग द्राविड़ भाषा वोलते थे और इन लोगों ने मेसोपोटामिया में ईसा के चार हज़ार वर्ष पूर्व अपनी संस्कृति का पर्याप्त विकास कर लिया था। इसके वाद पूर्व की ओर से मंगोल (Mongoloid) प्रजाति की एक शाखा दक्षिण की ओर धीरे-धीरे बढ़ती हुई बंगाल की खाड़ी और इंडोनेशिया (Indonesia) तक फैल गई। अन्त में ईसा से 1500 वर्ष पूर्व इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan) प्रजाति ने पंजाव में प्रवेश किया।

(४) **गुहा** (Guha)—डा० वी० सी० गुहा (B. C. Guha) ने भारतीय जनसंख्या में प्रजातीय तत्त्वों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह सन् 1931 की जनगणना के समय किये गये मानवमितीय (anthropometric) नापों पर आधारित है और श्री हट्टन के प्रजातीय वर्गीकरण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। डा० गुहा के मतानुसार नीग्रिटो प्रजाति भारतवर्ष की सबसे प्रचीन प्रजाति है, परन्तु वर्तमान में इस प्रजाति के प्रमुख लक्षण भारतीय जनसंख्या में अब बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रिटो प्रजाति के कुछ लक्षण कोचीन और ट्रावनकोर की पहाड़ियों तथा आसाम में रहने वाली एक-दो जनजातियों में मिलते हैं। इसके वाद भारत में प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति का प्रवेश हुआ था। इस प्रजाति के लोग सम्भवतः पैलेस्टाइन से आये थे इनके तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की शारीरिक विशेषताओं में अनेक समानताएँ थीं। प्रोटो-ऑस्ट्रेलायड प्रजाति के वाद भारत में आने वाली एक दूसरी प्रजाति मंगोलॉयड थी। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाओं का प्रवेश हुआ

है—प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड तथा दूसरी शाखा तिब्बती-मंगोलॉयड है। भारतीय जनसंख्या में पाई जाने वाली एक और प्रजाति भूमध्यसागरीय है। भारत में इस प्रजाति की कई शाखाएँ तथा नमूने पाये हैं। डा० गुहा के अनुसार भारतवर्ष में चौड़े सिर केवल आर्मीनॉयड शाखा की देन नहीं हैं, बल्कि यहाँ के चौड़े सिर वाले लोग *अल्पाइन, डिनारी तथा आर्मीनॉयड, इन तीन प्रजातियों से सम्बन्धित हैं।* इन प्रजातियों के अतिरिक्त भारतीय जनसंख्या में नॉर्डिक प्रजातीय तत्त्व का भी समावेश है। डा० गुहा ने अपने प्रजातीय विश्लेषण का उपसंहार निम्न शब्दों में दिया है—'यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारत में प्रजातियों का कोई दृढ़ विभाजन या पृथक्करण सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ विभिन्न प्रजातीय तत्त्व एक-दूसरे के क्षेत्र में मिले-जुले पाये गये हैं। फिर भी मोटे-तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत नॉर्डिक लोगों का क्षेत्र है और वे भूमध्यसागरीय तथा पूर्वी-प्ररूप (oriental-type) के साथ मिले हुए हैं। इस क्षेत्र को प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत से स्पष्ट रूप से *पृथक् किया जा सकता है जहाँ कि प्राचीन भूमध्यसागरीय तत्त्व पाया जाता है।* इस क्षेत्र के दोनों ओर अन्य प्रजातीय प्रकारों से मिले हुए आल्पो-डिनारिक क्षेत्र हैं। आदिम काले तत्त्व (Primitive darker element) सर्वत्र अन्य प्रजातियों, विशेषकर प्राचीन भूमध्यसागरीय प्रजाति से मिश्रित हैं और जनसंख्या के निम्न भाग का निर्माण करते हैं। मंगोलॉयड उत्तरी तथा पूर्वी पहाड़ों के निचले भागों में पाये जाते हैं और कई स्थानों पर जनसंख्या के निर्माण में इनका बहुत बड़ा योग रहा है।''[1]

डा० गुहा उपर्युक्त वर्गीकरण प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज का प्रायः पूर्ण विश्लेषण है और इसके नीग्रिटो तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी बातों को अधिकांश विद्वान स्वीकार करते हैं। डा० डी० एन० मजूमदार (D N. Majumdar) तथा कुछ अन्य विद्वान् श्री हट्टन और डा० गुहा के इस मत से सहमत नहीं हैं कि नीग्रिटो भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति है। इन विद्वानों ने नीग्रिटो तत्त्व के विरोध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

नीग्रिटो प्रजाति के सम्बन्ध में मतभेद
(Disagreement about Negrito Strain)

डा० मजूमदार ने इस मत की कड़ी आलोचना की है कि भारतवर्ष की सबसे पुरानी प्रजाति नीग्रिटो है। आपने अनेक विद्वानों के अनुसंधानों तथा निष्कर्षों को आधार मानकर जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, वे निम्न हैं[2]—

(1) अगर नीग्रिटो यहाँ की प्राचीनतम प्रजाति होती तो इसका प्रभाव [illegible] चिन्ह भारत के मूल भागों में अवश्य ही होता। परन्तु ऐसा नहीं है; न तो [illegible] ही दक्षिणी भारत में इस प्रजाति के स्पष्ट लक्षण देखने को मिलते हैं। हाँ,

1. B C. G [illegible] *Elements in Indian Population*, C [illegible]
Indian Affairs No [illegible] University Press, Bombay, 1944, [illegible]
2. D. N [illegible] pp. 34—36.

मुद्दा के सिद्धान्त के प्रमुख आधार हैं, नीग्रिटो प्रजाति के नहीं कहे जा सकते।

(2) रक्त-समूहों (blood groups) की परीक्षा से भारत की जनसंख्या में नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व का होना प्रमाणित नहीं होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नीग्रिटो लोगों में 'बी' रक्त-समूह अधिक मात्रा में पाया जाता है जबकि भारत के आदिवासियों में 'ए' रक्त की प्रतिशत मात्रा अधिक मिलती है और जिन जनजातियों में 'बी' रक्त की मात्रा अधिक भी है, जैसे मुण्डा और भील, उनमें नीग्रिटो लोगों की कोई अन्य विशेषता नहीं पाई जाती। संक्षेप में, भारतीय जनजातियों में 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है और यह 'ए' रक्त-समूह भी प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति की ओर संकेत करता है। श्री एस० सी० सरकार (S. C. Sarkar) को भी मानवमिति तथा लसी विद्या (Serology) के आधार पर नीग्रिटो तत्त्व के सम्बन्ध में कोई निर्भरयोग्य प्रमाण नहीं मिले हैं।[1]

उपर्युक्त अनुसन्धानों, प्रमाणों तथा निष्कर्षों के आधार पर डा० मजूमदार का कथन है कि 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड या इण्डो-ऑस्ट्रेलॉयड को भारतवर्ष के सबसे आदिकालीन निवासी मान लेने के एकाधिक कारण हैं।[2]

भारत में प्रजातीय तत्त्व और उसका वर्गीकरण
(Race Element in India and Its Classification)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि भारत की जनसंख्या का आधार अनेक प्रजातीय तत्त्व हैं, जिनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। उनमें से कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

(1) रिज़ले का वर्गीकरण
(Classification by Risley)

सर रिज़ले ने भारतवर्ष की जनसंख्या में सात प्रजातीय तत्त्वों का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं[3]—

(1) तुर्को-ईरानियन (Turko-Iranian)—बिलोचिस्तान के बलोच और ब्राहुई लोग और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के अफगान इसी प्रजाति के लोग हैं। ये लोग तुर्की और ईरानी तत्त्वों के सम्मिश्रण हैं। औसत से ऊँचा कद, गोरा रंग, प्रायः काली पर कभी-कभी धूसर (grey) आँखें, चौड़ा सिर, नाक लम्बी और बाल अधिक इस प्रजाति के मुख्य शारीरिक लक्षण हैं।

(2) ईण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)—इस प्रजाति के लोग पंजाब, राजपूताना

1. S. C. Sarkar, *The Aboriginal Races of India*, 1954, pp. 70 91.
2. "There are therefore more reasons than one, we think, earliest inhabitants of India as proto-Australoids or Indo-Aust Majumdar, *op. cit.*, p. 46
3. " *The People of India*, 1915, pp 32-61.

और काश्मीर में पाये जाते हैं। इनके मुख्य शारीरिक लक्षण निम्न हैं—कद प्रायः ऊचा, रंग गोरा, आँखें काली, चेहरे पर बाल घने, सिर लम्बा, नाक पतली और सुन्दर, पर अधिक लम्बी नहीं।

(3) **सीथो-द्राविड़ियन** (Scytho-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र और कुर्ग के पहाड़ी क्षेत्रों में अधिकतर पाये जाते हैं। इसके मुख्य प्रतिनिधि गुजरात के नागर ब्राह्मण, महाराष्ट्र के मराठा ब्राह्मण और कुर्गवासी कुर्ग हैं। इस प्रजाति का निर्माण सीथियन और द्राविड़ तत्त्वों के संमिश्रण से हुआ है। इनकी मुख्य शारीरिक विशेषताएँ निम्न हैं—चौड़ा सिर, गोरा रंग, दाढ़ी-मूंछ का कम उगना, मध्यम कद, नाक सुन्दर, पर अधिक लम्बी नहीं।

(4) **आर्यो-द्राविड़ियन** (Aryo-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग पंजाब की पूर्वी सीमा, उत्तर प्रदेश, राजपूताना और बिहार के कुछ भागों में पाये जाते हैं। यह आर्य द्राविड़ प्रजातियों का एक सम्मिश्रण है। इस कारण उच्च जातियों में इस प्रजाति के लोगों की विशेषताएँ बहुत-कुछ आर्यों की भाँति और निम्न जातियों में द्राविड़ों की भाँति हैं। इनका लम्बा सिर, मध्यम कद और रंग हल्के भूरे से काले तक होता है। नाक इण्डो-आर्यन लोगों से अधिक चौड़ी होती है, पर कद उनसे कम होता है।

(5) **मंगोलो-द्राविड़ियन** (Mongolo-Dravidian)—इस प्रजाति के लोग बंगाल और उड़ीसा में पाये जाते हैं। यह प्रजाति मंगोल और द्राविड़ से मिलकर बनी है। इनका रंग काला, सिर चौड़ा, नाक मध्यम, कभी-कभी चपटी, कद मध्यम और चेहरे पर बाल घने होते हैं।

(6) **मंगोलॉयड** (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोग अधिकतर उत्तर-पूर्वी भारत में पाये जाते हैं, जैसे नेपाल और आसाम। इनका सिर चौड़ा, रंग पीला, दाढ़ी-मूंछ के बहुत कम बाल, कद छोटा या औसत से कम, नाक पतली से चौड़ी, चेहरा चौरस और आँखों की पलकें झुकी हुई होती हैं।

(7) **द्राविड़ियन** (Dravidian)—इस प्रजाति के लोग मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग और छोटा नागपुर में पाये जाते हैं। इनके सर्वोत्तम प्रतिनिधि दक्षिणी भारत की पहाड़ियों के पनियन और छोटा नागपुर के संथाल हैं। इनका कद छोटा, रंग बहुत काला, बाल अधिक और घुंघराले, आँखें काली, सिर लम्बा और नाक बहुत चौड़ी होती है।

(2) हड्डन का वर्गीकरण
(Classification by Haddon)

श्री हड्डन के अनुसार भारत की जनसंख्या का आधार निम्नलिखित प्रजातियाँ हैं—

(1) प्राग-द्राविड़ (Pre-Dravidian)
(2) द्राविड़ (Dravidian)

(3) इण्डो-आल्पाइन (Indo-Alpine)
(4) मंगोल (Mongolian)
(5) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)

(3) हट्टन का वर्गीकरण
(Classification by Hutton)

श्री हट्टन के मतानुसार भारतवर्ष की जनसंख्या में निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं—

(1) नीग्रिटो (Negrito)
(2) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)
(3) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
 (क) पूर्व भूमध्यसागरीय (East Mediterranean)
 (ख) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(4) आल्पाइन प्रजाति की आर्मीनॉयड शाखा (Armenoid branch of Alpine)
(5) मंगोलॉयड (Mongoloid)
(6) इण्डो-आर्यन (Indo-Aryan)

(4) गुहा का वर्गीकरण
(Classification by Guha)

पहले ही कहा जा चुका है कि डा० गुहा का वर्गीकरण श्री हट्टन के वर्गीकरण से मिलता-जुलता है। आपने श्री हट्टन के वर्गीकरण को और भी विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार भारतवर्ष में निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं[1]—

(1) नीग्रिटो (Negrito)
(2) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)
(3) मंगोलॉयड (Mongoloid)
 (i) प्राचीन मंगोलॉयड (Palaeo-Mongoloid)
  (क) लम्बे सिर वाले (Long-headed)
  (ख) चौड़े सिर वाले (Broad-headed)
 (ii) तिब्बती मंगोलॉयड (Tibeto-Mongoloid)
(4) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
 (i) प्राचीन भूमध्यसागरीय (Palaeo-Mediterranean
 (ii) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
 (iii) पूर्वी-प्ररूप (Oriental Type)

1. B S. Guha, [illegible] ...ments in Indian Population, [illegible] Indian Affairs No [illegible] ...ersity Press, Bombay, [illegible]

(5) पश्चिमी चौड़े सिर वाले (Western Brachy Cephalic)
(i) आल्पाइन (Alpinoid)
(ii) डिनारी (Dinaric)
(iii) आर्मिनॉयड (Armenoid)
(6) नॉर्डिक (Nordic)

डा० गुहा द्वारा उल्लेखित उपरोक्त प्रजातियों के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त विवरण उपयोगी सिद्ध होगा—

(1) **नीग्रिटो** (Negrito)—यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। इस उप-प्रजाति के लोगों की अन्य शारीरिक विशेषताएँ चौड़ा सिर, गहरा काला रंग, काले ऊनी बाल, मोटे होंठ और चौड़ी नाक हैं। डा० गुहा के अनुसार यह भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है और इसके कुछ चिह्न कोचीन तथा ट्रावनकोर की पहाड़ियों में रहने वाली कादर और पलयन नामक जनजातियों में, आसाम के अंगामी नागाओं में और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियों की जनजातियों में मिलते हैं।

(2) **प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड** (Proto-Australoid)—इस प्रजाति के लोगों के सिर लम्बे, कद छोटा, बाल घुँघराले, खाल का रंग चॉकलेटी, नाक चौड़ी और होंठ मोटे होते हैं। इनके बालों का रंग काला और आँखों का काला और भूरा होता है। मध्य भारत की अधिकांश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिण भारत में भी ये लोग पाये जाते हैं। भील और चेनचू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती हैं।

(3) **मंगोलॉयड** (Mongoloid)—इस प्रजाति के लोगों की प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ पीला या भूरा रंग, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई, नाक छोटी और चपटी, सिर चौड़ा और होंठ मोटे होते हैं। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएँ हैं—प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलॉयड है। इनमें लम्बे सिर और चौड़े सिर, यह दो भेद होते हैं। लम्बे सिर वाले आसाम और सीमान्त प्रान्त में बसी जनजातियों में, और चौड़े सिर वाले चटगाँव तथा बर्मा में पाये जाते हैं। दूसरी शाखा तिब्बती मंगोलॉयड है। ये लोग सिक्किम और भूटान में तिब्बत से आकर बस गये हैं।

(4) **भूमध्यसागरीय** (Mediterranean)—इस प्रजाति के लोगों की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—मध्यम कद, लम्बा सिर, हलका भूरा रंग, चौड़ा मुँह, पतले होंठ और घुँघराले बाल। भारत में इसकी तीन शाखाएँ हैं, पर सभी लम्बे सिर वाले हैं। इन तीन शाखाओं में सबसे पुरानी उप-प्रजाति प्राचीन-भूमध्यसागरीय है जो कि कन्नड़, तामिल तथा मलयालम भाषा-भाषी प्रदेशों में पाई जाती है। दूसरी शाखा भूमध्यसागरीय है जो पंजाब और गंगा की ऊपरी घाटी में मिलती है, और तीसरी शाखा पूर्वीप्ररूप है जो पंजाब, सिन्ध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है।

(5) **पश्चिमी चौड़े सिर वाले** (Western Brachy Cephalic)—भारतवर्ष की जनसंख्या में इस प्रजाति के भी तीन प्रकार हैं। पहला प्रकार आल्पाइन [illegible] lpinoi[illegible] इसका सबसे महत्त्वपूर्ण शारीरिक लक्षण चौड़ा सिर है। इसके

घाटी में अन्य प्रजातियों के साथ संमिश्रित रूप में पाये जाते हैं।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना और भारत के प्रजातीय इतिहास से एक बात स्पष्ट ही है कि भारत की जनसंख्या के निर्माण में एक नहीं, अनेक प्रजातियों का योग रहा है। ये विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न समय में भारत आयीं और एक-दूसरे से मिश्रित होती रहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि भारत की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि इनमें से प्रत्येक प्रजाति को इसमें कोई न कोई स्थान मिल ही गया और वे यहाँ के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे की एक अभिन्न अंग बन गईं। इससे उनको आपस में संमिश्रित होने के अधिक अवसर प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति में किसी भी प्रजाति के लिए यह सम्भव न था कि वह अपने शुद्ध रूप को बनाये रखे। यही कारण है कि आज संसार के अन्य देशों की भाँति भारत में भी कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि "स्मरणातीत युगों से भारत परस्पर विरोधी प्रजातियों और सभ्यताओं का संगमस्थल रहा है और इनमें आत्मसात्करण तथा समन्वय की प्रक्रियाएं चलती रही हैं।" और इसी कारण यह कहने में भी अतिशयोक्ति न होगी कि "भारत प्रजातियों का एक अजायबघर है" (India is a museum of races) या "भारत प्रजातियों का एक द्रावणपात्र है" (India is a melting pot of the races)।

SELECTED READINGS

1. Aiyappan, A. : *Report on the Socio-economic Conditions of the Aboriginals Tribes in the Province of Madras*, Madras Govt. Press, 1948.

2. Guha, B. C. : *Racial Elements in Indian Population*, Oxford University Press, Bombay, 1944.

3. Govt. of India Publication : *Census of India*, 1931, Vol. I, Part I.

4. Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

5. Risley, H. H. : *The People of India*, 1915.

7 संस्कृति की अवधारणा (Concept of Culture)

भूमिका—मानव : संस्कृति-निर्माता के रूप में (Introduction—Man as a Creator of Culture)

मनुष्य एक अनोखा प्राणी है, और वह अनोखा इसलिए हो पाया है कि वह संस्कृति का निर्माता है। यह संस्कृति ही है जो कि मनुष्य को अन्य सभी पशुओं से अलग कर देती है। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि संस्कृति का उद्भव मानव के मध्य ही होता है। पशु संस्कृति के अधिकारी नहीं होते और यदि होते भी हैं तो वह नाम मात्र के लिये या 'ना' के बराबर। किसी ने सच कहा है कि "मनुष्य के पास से उसकी संस्कृति को छीन लीजिए, जो कुछ शेष रहेगा वह निश्चय ही मानव नहीं, बल्कि एक प्रकार का बन्दर।" इसी कारण श्री हॉवल का कथन है कि संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-घटना (human phenomenon) है और वह इस अर्थ में कि पशु-जगत् में अन्य सभी प्राणियों में मनुष्य ही अकेला एक ऐसा प्राणी है जो कि संस्कृति को बनाने और उसे बनाये रखने की क्षमता रखता है। इसी संस्कृति की अवधारणा (concept) की सहायता से मानव के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों (mysteries) का उद्घाटन होता है।

यह सच है कि मानव संस्कृति का निर्माता है, फिर भी संस्कृति-निर्माण की क्षमताएँ मानव को प्रकृति से ही मिली हैं और वह इस अर्थ में कि मानव को प्रकृति से कुछ इस प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ या क्षमताएँ मिल गई हैं जिनके सम्मिलित उपयोग से संस्कृति का निर्माण मनुष्य के लिए सम्भव हो गया है। श्री ह्वाइट (White) ने प्रकृति से मानव को प्राप्त इस प्रकार की पाँच क्षमताओं का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं[1]—

(1) मानव की सीधे खड़े हो सकने की क्षमता जिसके कारण मनुष्य उन्हीं हाथों को, जिन्हें कि दूसरे पशु चलने के काम में लाते हैं, दूसरे उपयोगी कार्यों में लगा सकता है।

(2) स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथ (opposabl[e] जिनकी सहायता से मानव वस्तुओं को अधिक अच्छी तरह और ...

1. Leslie A. ... Evolution of Culture, McG... New York, 1959

सकता है। मानव के हाथों में स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने की क्षमता उसे इस योग्य बना देती है कि वह सामान्य तीर-धनुष से लेकर बड़ी-से-बड़ी मशीनों को भी सरलता से चला सकता है और उन पर नियन्त्रण कर सकता है। यदि यह क्षमता न होती तो वास्तुकला (architecture) से लेकर चित्रकला तक कोई भी रचनात्मक सृष्टि मानव के लिए सम्भव न होती।

(3) मानव की तीक्ष्ण एवं केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि (stereoscopic and chromatic vision) जिसके कारण मानव को यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्राकृतिक तथा अन्य घटनाओं (Phenomena) का निरीक्षण करे और उनके सम्बन्ध में नयी-नयी खोज करे।

(4) मेधावी मस्तिष्क जिसकी सहायता से मनुष्य अन्य पशुओं से कहीं अधिक अच्छी तरह विचार कर सकता है, योजना बना सकता है, तर्क प्रस्तुत कर सकता है, और कार्य-कारण सम्बन्ध को ढूंढ़ सकता है। समस्त आविष्कार इसी मेधावी मस्तिष्क की उपज होते हैं, जो नित्य नयी शक्ति से मानव को शक्तिवान बनाता रहता है। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव का सबसे प्रमुख बल है। कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ, श्री डार्विन (Darwin) ने यह घोषणा की थी कि मानसिक क्षमताओं के विषय में मनुष्य तथा ऊँची जाति के दूध पिलाने वाले जानवरों (higher mammals) में कोई भी आधारभूत अन्तर नहीं है, उनमें जो कुछ भी अन्तर है वह मुख्यतः यह है कि मनुष्य में विविध प्रकार की आवाज़ तथा विचारों को जोड़ने की अत्यधिक शक्ति है, और इस अर्थ में उच्च जाति के जानवरों तथा मनुष्यों की मानसिक शक्ति में जो अन्तर है वह **प्रकार** (kind) का नहीं, बल्कि **मात्रा** (degree) का है।[1] प्रोफेसर लिण्टन (Professor Ralph Linton) का भी कथन है कि "मनुष्यों तथा पशुओं के व्यवहारों में अनेक अन्तर हैं, परन्तु ये अन्तर **मात्रा** (quantity) के हैं, न कि **प्रकार** (quality) के।" हम इन विचारों से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि यह प्रमाणित करना कठिन नहीं कि मनुष्यों तथा पशुओं की मानसिक शक्ति में अन्तर केवल **मात्रा** का नहीं बल्कि **प्रकार** का भी है। इसी अन्तर के कारण मनुष्य अनेक ऐसे काम कर सकता है जो पशुओं के लिए करने असम्भव हैं। केवल मनुष्य ही गंगाजल में और नल के पानी में अन्तर बता सकता है, कोई भी कुत्ता, बिल्ली या बन्दर इस अन्तर को नहीं समझ सकता; केवल मनुष्य ही बहन और बहू में अन्तर जानता है, कोई पशु नहीं; केवल मनुष्य ही धनुष-बाण से लेकर जहाज़ तक बना सकता है; कोई भी जानवर ये काम कर सकता है—यह सोचना भी मूर्खता है। केवल मनुष्य जादू का चमत्कार दिखा सकता है, कोई भी पशु नहीं; केवल मनुष्य का

1. "There is no fundamental difference between man and the higher mammals in their mental faculties," that the difference between them consist "solely in his (man's) almost infinitely larger power of associating together the most diversified sounds ane ideas.........the mental powers of higher animals do not differ in kind, though greatly in degree, from corresponding powers of man."—Charles Darwin, *The Descent of Man*, 1904, Chapter 3, p. 18.

ही भगवान, शैतान, दानव-देवता, स्वर्ग और नरक होता है, केवल मनुष्य ही अमरत्व को अनुभव करता है, मृत्यु को जानता है, कोई भी पशु नहीं। ये सभी अन्तर मनुष्य तथा पशु के मस्तिष्क में केवल मात्रा-भेद के कारण ही नहीं, बल्कि प्रकार-भेद के कारण ही सम्भव हैं। यह प्रकार-भेद ही मनुष्य की शक्ति है, मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने में सहायक है।

(5) मानव को संस्कृति-निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित करने में मानव की भाषा और प्रतीकों (symbols) के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की क्षमता सर्व-प्रमुख है। यह सच है कि बहुत से पशु, जैसा कि श्री डार्विन (Darwin) बहुत पहले ही लिख गये हैं, शब्दों और वाक्यों को समझते हैं, फिर भी यह केवल मनुष्य ही है जो कि प्रतीकों (symbols) को जन्म देता है और उनको अर्थयुक्त (meaningful) करता है। इन अर्थपूर्ण प्रतीकों को भाषा के माध्यम से व्यक्त करने की तथा तद्द्वारा विचारों के आदान-प्रदान करने की क्षमता मनुष्य में अनोखी है जो कि किसी भी पशु की क्षमता से परे है। भाषा के द्वारा मनुष्य ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करता है। मनुष्य और पशु में जो सबसे बड़ा अन्तर है, वह भाषा का ही है। भाषा के न होने से पशुओं में ज्ञान का अभाव और इसलिए संस्कृति का भी अभाव है। पशु अपने अनुभवों को दूसरों तक नहीं पहुँचा सकते, परन्तु मनुष्य भाषा व प्रतीकों के सहारे अपने ज्ञान और अनु-भव को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचा सकता है। इन भाषा व प्रतीकों के सहारे प्रत्येक समाज में बचपन से ही मनुष्य को अनुभव का पुंज मिलता है और नवीन सांस्कृतिक तत्त्वों का जन्म, सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरंतरता सम्भव होती है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति के निर्माण, विकास, परिवर्तन तथा विस्तार में भाषा और प्रतीकों का बहुत बड़ा योग है।

संस्कृति की परिभाषा
(Definition of Culture)

संस्कृति की परिभाषाएँ असंख्य हैं। अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकारों के लिए संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। कुछ विद्वान संस्कृति से नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उन्नति समझते हैं। शाब्दिक अर्थ में 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है उसके बाद वह कहीं 'संस्कृत' (परिमार्जित या cultured) कहा जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू की शुद्धि (refinement) के लिए आव-श्यक कृत्यों या संस्कारों की योजना को 'संस्कृति' मान लिया जाता है। उसी तरह इतिहासकारों के लिए एक देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही संस्कृति है।

परन्तु मानवशास्त्री 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं। उनके लिए संस्कृति सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) की वह समग्रता है जिसमें कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों में श्री

टायलर (Tylor) ने सर्वप्रथम संस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियों में किया। आपके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता (complex whole) है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"[1] इस परिभाषा में इस बात पर वल दिया गया है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है, यह व्यक्ति को समाज का 'उपसंहार' है जो कि उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप में, श्री टायलर के अनुसार संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस 'सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लैण्डिस (Landis) ने लिखा है कि "संस्कृति वह दुनिया है जिसमें कि एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।"[2]

श्री पिडिंगटन (Piddington) ने संस्कृति को एक दूसरे ढंग से परिभाषित किया है। आपके शब्दों में, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[3] इस प्रकार श्री पिडिंगटन के अनुसार किसी भी मानव की संस्कृति में दो प्रकार की घटनाओं (Phenomena) का समावेश होता है—**प्रथमतः**, भौतिक वस्तुएँ (material objects) जिन्हें कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाता है जैसे, उपकरण, औज़ार, बर्तन वस्त्र, मकान, मन्दिर, मूर्तियाँ आदि। **द्वितीयतः**, ज्ञान, विश्वास, मूल्य, (values) आदि अभौतिक या अमूर्त्त घटनाओं (phenomena) का भी समावेश संस्कृति में होता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से सम्वन्धित तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

श्री विडने (Bidney) ने अपनी परिभाषा में संस्कृति के तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि संस्कृति कृषि-सम्बन्धी तथ्यों (argo facts), प्राविधिक तथ्यों (arti facts), सामाजिक तथ्यों (soci facts) तथा मानसिक तथ्यों (menti-facts) की उपज है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति में कृषि कला, प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, भाषा, धर्म, कला आदि का समावेश होता है।

---

1. Culture is "that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."—E. B Tylor, *Primitive Culture*, New York, 1874, p. 1.

2. "Culture then is, in a very vital sense, the world in which one lives and moves and has his being from the time he is first housebroken to the time he is ceremoniously laid down."

3. "The culture of a people may be defined as the sum total of the material and intellectual equipment whereby they satisfy their biological and social needs and adapt themselves to their environment."—Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, pp. 3-4.

ष्कारों (social inventions) का परिणाम होती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मानव का आविष्कार है। इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और इस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रहती है। अतः, श्री हॉवल के अनुसार, संस्कृति में किसी सामाजिक समूह विशेष की जीवन-विधि (life-way) निहित होती है।

संस्कृति की एक संक्षिप्त तथा उपयोगी परिभाषा श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने दी है। आपके शब्दों में, "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग है।"[1] यह परिभाषा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करती है कि मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणों में पलता है—**प्रथम** तो प्राकृतिक पर्यावरण और दूसरा सामाजिक पर्यावरण। मानव का सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही उसकी संस्कृति है। इस सामाजिक पर्यावरण को मानव स्वयं बनाता है। इस निर्माण-कार्य में प्राकृतिक घटनाओं या पर्यावरण का कुछ भी योग नहीं होता, ऐसी बात नहीं परन्तु एक प्राकृतिक चीज से जो कुछ भी मानव बनाता है वह उसकी कृति (work) होती है और इनके सम्पूर्ण योग से ही संस्कृति का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है परन्तु उसी मिट्टी से मनुष्य जब अपने लिए बर्तन, मूर्ति आदि बना लेता है तो वे सब उसकी संस्कृति के अंग बन जाते हैं। वायु या पानी या पहाड़ संस्कृति नहीं हैं क्योंकि ये सभी प्राकृतिक पर्यावरण के अंग हैं और इनका निर्माण मानव ने नहीं किया है। संस्कृति के अर्न्तगत तो सम्पूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें स्वयं मानव ने बनाया है। 'वस्तुओं' से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वस्तुओं (material things) से ही नहीं है बल्कि अभौतिक (non-material) वस्तुओं से भी है। इस प्रकार संस्कृति में उपकरण, औजार, मशीन आभूषण, मकान, प्रथा, परम्परा, कला, आचार, धर्म, भाषा आदि सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का समावेश रहता है, क्योंकि इन सभी को मनुष्य ने बनाया है। उपरोक्त परिभाषा से इस बात का भी स्पष्टीकरण होता है कि संस्कृति एक प्राणीशास्त्रीय घटना (biological phenomenon) से कहीं अधिक है और वह इस अर्थ में कि संस्कृति के अन्तर्गत मानव की परिपक्व क्षमताओं से भी सभी तत्त्व (elements) आ जाते हैं जिन्हें कि वह अपने समूह से सचेत रूप में या अनिवार्य प्रक्रियाओं के माध्यम से सीखता है और इस सीखने की प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार की प्रविधियों (techniques), सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, विश्वासों तथा आचरण के तरीकों का योग होता है। यह सच है कि संस्कृति का सृजन मानव-मस्तिष्क में ही होता है, परन्तु संस्कृति के अन्तर्गत मस्तिष्क का समावेश नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति मानव-मस्तिष्क की ही उपज है, परन्तु संस्कृति नहीं है। संस्कृति तो मस्तिष्क से भी कुछ अधिक है। इस अर्थ में, संस्कृति की तुलना उन कच्चे मालों (raw

materials) से की जा सकती है जिनमें कि संस्कृति का बाहरी तथा अन्दरूनी भाग बनता है। प्राकृतिक दुनिया से जो कच्चा माल प्राप्त होता है उनसे मानव अपनी विद्यमान (existing) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं को बनाता है। यह संस्कृति का बाहरी रूप है। इसके विपरीत, मनुष्य अपने जन्मजात लक्षणों (inborn traits) या क्षमताओं को भी इस प्रकार ढालता है जिससे उसे व्यवहार करने के कुछ निश्चित प्रतिमान प्राप्त हों और जो कि ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म, कला आदि के रूप में अभिव्यक्त होते हों। ये संस्कृति के आन्तरिक पक्ष हैं। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल हमें प्रकृति तथा वंशानुसंक्रमण (heredity) या प्राणीशास्त्रीय घटनाओं (phenomena) से प्राप्त होता है, परन्तु इस कच्चे माल से जो कुछ भी तैयार होता है वह सम्पूर्ण पर्यावरण का मानव-निर्मित (man-made) भाग होता है जिसे कि संस्कृति कहा जाता है। इसलिए श्री हर्षकॉविट्स के अनुसार 'संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।'

श्री लिण्टन (Linton) ने संस्कृति की परिभाषा को और भी संक्षेप में प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार संस्कृति, 'सामाजिक वंशानुसंक्रमण' (Social heredity) है और श्री लोई (Lowie) के शब्दों में संस्कृति 'सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा' (the whole of social tradition) है। श्री लिण्टन ने अपनी परिभाषा में जो 'वंशानुसंक्रमण' शब्द का प्रयोग किया है वह शायद उचित नहीं है, क्योंकि इससे यह गलत धारणा बन सकती है कि शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति भी प्रजनन के माध्यम से (genetically) व्यक्ति को मिलती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। 'मनुष्य संस्कृति में जन्म लेता है, संस्कृति सहित जन्म नहीं लेता।' सांस्कृतिक गुण, लक्षण या विशेषताएँ तो उसे समाजीकरण या संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती हैं। इस अर्थ में संस्कृति एक सामाजिक अवधारणा है, न कि एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा (concept), जैसा कि श्री लिण्टन की परिभाषा से प्रतीत होता है, परन्तु यदि आपकी परिभाषा में 'वंशानुसंक्रमण' (heredity) शब्द के स्थान पर 'विरासत' (inheritance) शब्द का प्रयोग किया जाय तो उनकी परिभाषा का बहुत-कुछ वही अर्थ होगा जो श्री लोई की 'सामाजिक परम्परा' से प्रकट होता है।

श्री क्लूखौन (Kluckhohn) ने श्री लिण्टन की परिभाषा के एक और दोष या कमी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। संस्कृति को 'सामाजिक वंशानुसंक्रमण' कहकर परिभाषित करने से यह गलत धारणा भी पनप सकती है कि वंशानुसंक्रमण की भाँति संस्कृति भी बहुत-कुछ स्थिर (stable) है और इसके निर्माण में मानव का कोई भी हाथ या योग नहीं होता। यह परिभाषा यह सुझाती है कि मनुष्य बिना किसी प्रयत्न और बिना किसी विरोध के संस्कृति के तत्त्वों को उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे कि वह पित्र्यैकों (genes) को प्राप्त किया करता है। यह परिभाषा हमें यह स्वीकार कर लेने को प्रेरित करती है कि मनुष्य, जैसा कि श्री डोलार्ड (Dollard) का कथन है, "सामाजिक परम्परा का निष्क्रिय वाहक (passive porter) है।" परन्तु वास्तव में ये सभी बातें गलत हैं। न तो संस्कृति वंशानुसंक्रमण की भाँति

स्थिर है, और न ही वाहकाणुओं की भाँति संस्कृति को मानव बिना किसी प्रयत्न और बिना किसी विरोध के प्राप्त करता है। जैसा कि श्री सिम्मन्स (Simmons) ने अभी हाल में ही हमें याद दिलाया है कि मनुष्य संस्कृति का केवल वाहक (carrier) और दास (creature) ही नहीं, बल्कि उसका निर्माता (creator) और संशोधक भी है।

श्री सी० एस० फोर्ड (C. S. Ford) के मतानुसार संस्कृति में **समस्याओं को सुलझाने के परम्परात्मक तरीकों** (traditional ways of solving problems) या **समस्याओं से सीखे हुए हलों** (learned problem solutions) का समावेश होता है। श्री क्लूखौन का कथन है कि इस रूप से भी संस्कृति की परिभाषा असन्तोषजनक है। आपके मतानुसार यह सच है कि अन्य चीजों के साथ संस्कृति में बाहरी पर्यावरण तथा दूसरे मनुष्यों के साथ अनुकूलन करने की कुछ प्रविधियों (techniques) का भी समावेश होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये प्रविधियाँ या समस्याओं को सुलझाने के तरीके ही सब-कुछ हैं और इन्हीं को संस्कृति समझा जा सकता है। इस प्रकार परिभाषाओं के लेखक यह भूल जाते हैं कि संस्कृति आवश्यकताओं को जन्म देती है और उनकी पूर्ति के साधनों को भी जुटाती है।

सर्वश्री लिण्टन, फोर्ड आदि की उपरोक्त परिभाषाओं की त्रुटियों को दूर करने के लिए संस्कृति को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है—"संस्कृति से तात्पर्य ऐतिहासिक रीति से रचित जीवनयापन के स्पष्ट और उपलक्षित, तर्कसंगत, अतर्कसंगत और तर्कहीन इन सभी नमूनों से है जो **एक समय विशेष में** मनुष्यों के व्यवहार के शक्तिशाली पथप्रदर्शक के रूप में विद्यमान होते हैं।"[1] इस परिभाषा में 'एक समय विशेष में' (at any given time) यह वाक्यांश (phrase) यह सुझाता है कि संस्कृति एक गतिशील (dynamic) अवधारणा है। प्रत्येक समय या युग में इसका रूप या स्वरूप एकसमान नहीं रहता बल्कि ऐतिहासिक विकास के दौरान में अर्थात् समय-परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति में परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है जिसके फलस्वरूप एक संस्कृति में अनेक नये तत्त्व जुड़ते हैं, अनेक पुराने तत्त्वों में परिवर्तन होता है और कुछ तत्त्वों का अन्त भी होता है। इस प्रकार श्री क्लूखौन ने इस बात पर बल दिया है कि सस्कृति की किसी भी परिभाषा से यह धारणा नहीं बननी चाहिए कि संस्कृति स्थिर या पूर्णतया स्थायी है। यदि ऐसा होता है तो वह परिभाषा दोषपूर्ण है। वास्तव में नई आवश्यकताओं के अनुसार अपने-आपमें आवश्यक परिवर्तन कर लेने की शक्ति या गुण संस्कृति में होता है। संस्कृति की किसी भी वैज्ञानिक परिभाषा के लेखक को इस सत्य को भूलना न चाहिए।

उपरोक्त परिभाषाओं की विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि

---

1. Culture may be defined as "all those historically created designs for living, explicit and implicit, rational irrational and nonrational, which exist at any given time as potential guides for the behaviour of men."—Clyde Kluckhohn and William Kelly. 'The Concept of Culture, "*The Science of Man in the World Crisis*, ed. Ralph Linton, Columbia University Press, New York, 1945, p. 97.

सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals & Hoijer) ने लिखा है, संस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में करते हैं जैसे, संस्कृति (1) समस्त मानव-जाति में एक समय-विशेष में सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) हैं; या (2) समाजों के एक समूह, जिनमें कि थोड़ी-बहुत अन्तःक्रिया होती रहती है, के रहन-सहन के तरीके हैं; या (3) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) हैं जो कि एक समाज-विशेष में विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं; या (4) व्यवहार करने के वे विशिष्ट तरीके हैं जो कि बड़े और जटिल रूप में संगठित समाज के विभिन्न भागों में विशेष रूप से पाये जाते हैं।[1]

संस्कृति की प्रकृति
(The Nature of Culture)

उपरोक्त परिभाषाओं से संस्कृति की प्रकृति का बहुत-कुछ स्पष्टीकरण हो गया होगा। फिर भी संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने में सहायक होंगी—

(1) **संस्कृति सीखी जाती है (Culture is learned)**—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) के सम्पूर्ण योग को संस्कृति कहते हैं। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति *प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, बल्कि वह जिस संस्कृति में जन्म* लेता है उससे वह उसे सीखता है। मानव की भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति इस बात की द्योतक है कि वह दूसरों से संस्कृति के तत्वों को सीख सकता है। संस्कृतियों में भिन्नताएँ इस कारण नहीं होती हैं कि लोगों की जन्मजात क्षमताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, बल्कि इसलिए होती हैं कि उन्हें अलग-अलग तरीके से पाला-पोसा जाता है। जन्म के समय बच्चों में संस्कृति संगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नहीं होता है, इन्हें तो वह बड़े होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध में एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति सीखी जाती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सभी सीखे हुए व्यवहार संस्कृति हैं। पशु भी बहुत-कुछ सीख जाते हैं, परन्तु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हें संस्कृति का अधिकारी मानता हो। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव

1. "To summarise: 'Culture', as the term is used by the anthropologist, may be applied (1) to the ways of life or designs for living common at any one time to all mankind, (2) to the ways of living peculiar to a group of societies between which there is a greater or less degree of interaction, (3) to the patterns of behaviour peculiar to a given society, and (4) to special ways of behaving characteristic of the segments of a large and complexly organized society."—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959, pp 238-229.

के संस्कृति पर आधारित व्यवहार में जो अन्तर है उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता है।[1] यह सच है कि पशु मानव की भांति कुछ व्यवहारों को सीख सकता है व सीखता भी है और इसी के आधार पर उसमें कुछ आदतें भी पनप जाती हैं। परन्तु केवल आदतों के आधार पर ही संस्कृति की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति में आदतों या व्यवहारों का समावेश रहता है, परन्तु संस्कृति में निहित ये आदतें तथा व्यवहार-तरीके व्यक्तिगत (individual) आदतों तथा व्यवहारों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे आदतें तथा व्यवहार-तरीके किसी व्यक्ति विशेष के नहीं बल्कि एक समाज के सभी या अधिकतर सदस्यों की सामान्य (common) आदतें तथा व्यवहार-तरीके होते हैं। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं इसीलिए उसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता; इसके विपरीत मानव की सांस्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार-तरीके या आदतें 'सामूहिक आदतें' (group habits) होती हैं जिसे कि हम जन-रीति (folk ways), रूढ़ि (mores) या प्रथा (customs) कहते हैं। इस प्रकार की कोई भी चीज पशु-समाज में नहीं मिलती। इस दृष्टिकोण से आज भी चिम्पांजी या बन्दर उसी स्तर पर हैं जिस पर कि वे सौ साल पहले थे, पर मानव आज वह नहीं है जो दस साल पहले था। नित्य नये ढंग से प्रकृति का विकास मानव ही कर सकता है और करता भी है; मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति मानव-समाज में ही पनपती है; मानव द्वारा मानव-समाज में ही संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन और विस्तार होता है।

(2) **संस्कृति में संचारित या हस्तान्तरित होने का गुण निहित है** (Culture has transmissive quality)—संस्कृति को केवल सीखा ही नहीं जा सकता, अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पशु भी बहुत-कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं, परन्तु उनके इन सीखे हुए व्यवहारों व अनुभवों से दूसरे पशु लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि अपने विचारों तथा अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने या फैलाने की क्षमता उनमें नहीं होती। मानव अपनी भाषा और प्रतीकों (symbols) की सहायता से यह काम बड़ी सरलता से कर सकता है और अपनी संस्कृति को दूसरे लोगों में फैला देता है या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता है। संस्कृति के इस गुण का तात्पर्य यह हुआ कि मानव अपनी पिछली पीढ़ियों की कृतियों के आधार पर अपना वर्तमान जीवन-तरीका प्रारम्भ करता है और प्रत्येक पीढ़ी को फिर शुरू से सब-कुछ सीखना या आविष्कार करना नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि एक पीढ़ी बैलगाड़ी का आविष्कार करती है तो दूसरी पीढ़ी को फिर से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को नहीं खोजना पड़ेगा; वह अपनी पिछली पीढ़ी से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को सीख लेगी और इस प्रकार प्राप्त अनुभवों और ज्ञानों के

1. *Ibid.*, p. 240.

आधार पर बैलगाड़ी से अधिक उन्नत ढंग के यातायात के साधन का आविष्कार करने का प्रयत्न करेगी जिसके फलस्वरूप साइकिल या रेलवे इंजन का आविष्कार होगा। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति मे, संचारित तथा हस्तान्तरित होने के गुण निहित होने के कारण ही संस्कृति का विकास, विस्तार, परिमार्जन और परिवर्द्धन सम्भव होता है। इससे संस्कृति की एक अन्य विशेषता स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि संस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरन्तरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नही रहती क्योंकि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की अन्त क्रिया तथा एकाधिक पीढ़ियों की कीर्तियों (achievements) का फल होती है।

(3) **संस्कृति प्रत्येक समाज में एक विशेष प्रकार की होती है** (Culture is distinctive in every separate society)—प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियां भी अलग-अलग होती हैं। संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है। आविष्कार करने की जरूरत मानव-आवश्यकताओं के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं; इसी कारण संस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक् होती है। इतना ही नही संस्कृति में परिवर्तन तभी होता है जबकि उस समाज के विशिष्ट व्यवहारों मे परिवर्तन होता है। इन विशिष्ट व्यवहारों मे परिवर्तन सभी समाजों में एक-से नही होते, इस कारण सभी समाजों मे सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा, गति और स्वरूप भी एक-सा नही होता। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज मे संस्कृति की भिन्नता स्वाभाविक ही है। फिर भी, संस्कृति के कुछ तत्त्व सभी समाजों में एक-से या सामान्य होते हैं जिन्हें कि श्री मुरडॉक (Murdock) ने 'संस्कृति का सामान्य हर' (The Common Denominator of Culture) कहा है।[1] सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि न्यूयार्क या पेरिस और एस्किमों की संस्कृतियों मे पर्याप्त अन्तर है, परन्तु यदि इन दोनो संस्कृतियों का विश्लेषण किया जाय तो उनमें सामान्य विशेषताओं को ढूंढा जा सकता है।[2] विभिन्न संस्कृतियों की सामान्यता को ढूंढने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उनके कार्यों का विश्लेषण किया जाय। ऐसा करने पर यह मालूम होगा कि कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक संस्कृति मे अलग-अलग तरीके हैं। किसी भी संस्कृति के अध्ययन से यह पता चलता है कि संस्कृति समाज के सदस्यों की कुछ शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति उन साधनों को प्रस्तुत करती है जिनकी सहायता से मनुष्य को वस्त्र तथा निवास प्राप्त होता है, वह जिन्दा रहता है

1. G. P. Murdock, 'The Common Denominator of Culture,' in Ralph Linton (ed), *The Science of Man in the World Crisis*, pp, 123-142.
2. Beals and Hoijer, *op. cit*, p. 245.

और समाज की निरंतरता बनी रहती है। परन्तु समाज की निरंतरता के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है; समाज-व्यवस्था (social order) भी आवश्यक है। संस्कृति समाज के सदस्यों के सम्बन्धों को नियमित (regulate) करती है और उन्हें ज्ञान और अनुभव हस्तान्तरित करती है। साथ ही, अनेक प्रकार की प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि के माध्यम से भी संस्कृति अपने समाज के सदस्यों के व्यवहार में एक-रूपता उत्पन्न करती है। ये कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि प्रत्येक समाज की संस्कृति की ही विशेषता हैं, यद्यपि इनके स्वरूपों में भिन्नताएँ होती ही हैं। इस प्रकार विभिन्न समाज की संस्कृतियों में भिन्नताएँ और समानताएँ दोनों ही होती हैं। स्वरूपों में भिन्नताएँ और अनेक कार्यों में समानताएँ या एकता सभी संस्कृतियों की एक प्रमुख विशेषता है।

(4) **संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है** (Culture has social quality)—संस्कृति की प्रकृति निश्चय ही सामाजिक है क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक आविष्कार का फल है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ में भी है कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती; उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है, अर्थात् संस्कृति समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होती है और इसीलिए संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। इसी सामाजिक गुण के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृति को अपनाता है। चूँकि संस्कृति 'सबका' सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान या व्यवहार-प्रकारों की समग्रता है, इस कारण इसमें व्यक्तिगत व्यवहारों पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी सामाजिक दबाव (social pressure) के कारण, सदस्यों की व्यवहार-विधि में अधिक अन्तर या भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं और इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) में एकरूपता होती है और संस्कृति के रूप या स्वरूप में भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। परन्तु इस 'स्थिरता' का तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृति में परिवर्तन होता ही नहीं है, इसका तात्पर्य केवल इतना है कि संस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा (concept) नहीं है क्योंकि, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, यह तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधियों का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही एक समाज के सदस्यों को अपनी संस्कृति से कुछ आशाएँ (expectations) होती हैं। सदस्यों की ये आशाएँ भी संस्कृति के सामाजिक गुण को ही बतलाती हैं और वह इस अर्थ में कि ये आशाएँ सामाजिक या सामूहिक अनुभवों, आदतों आदि की ही उपज होती हैं। संस्कृति के अन्तर्गत जो प्रथा, परम्परा जन-रीति, रूढ़ि, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, उसी से यह स्पष्ट है कि संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं क्योंकि ये प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करते हैं।

(5) **समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है** (Culture is ideal for the

group)—श्री मुरडॉक (Murdock) ने संस्कृति की इस विशेषता या प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आपके मतानुसार, "काफी हद तक सामूहिक आदतों को, जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है, व्यवहार के आदर्श नियम या प्रतिमान (pattern) माना या कहा जाता है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक समाज या समूहों के सदस्यों की दृष्टि में उनकी संस्कृति सामाजिक व्यवहार का एक आदर्श मान (standard) है और इस कारण उसे स्वीकार करना और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालना ही उचित है। यद्यपि यह सच है कि व्यावहारिक तौर पर इन आदर्शों को आदर्श के रूप में शायद ही ग्रहण किया जाता हो, फिर भी इस विषय में सचेतता अवश्य ही पाई जाती है, विशेषकर जब अपनी संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से करने की आवश्यकता होती है तो अपनी संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का मनोभाव उस समाज के अधिकतर लोगों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म को ही लीजिए। जब एक ईसाई पादरी एक हिन्दू को ईसाई धर्म को स्वीकार करने को कहता है तो वह हिन्दू धर्म की बुराइयों तथा ईसाई धर्म की अच्छाइयों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार एक भारतवासी को प्राय: अपनी भारतीय संस्कृति के गुण-गान में मुखरित होते देखा जाता है। संस्कृति आदर्श इसलिए भी है कि यह व्यवहार-प्रतिमान किसी व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, बल्कि सारे समूह का व्यवहार है। इसी कारण ये व्यवहार आदर्श व्यवहार हैं। इन्हें मानने से समाज या समूह से प्रशंसा प्राप्त होती है और न मानने से निन्दा मिलती है। इसीलिए इन आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों से सम्बन्धित सामूहिक अभिमतियों (group sanctions) के बारे में व्यक्ति बहुत-कुछ सचेत रहता है।

(6) संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करती है (Culture satisfies human wants)—मानव-समाज में संस्कृति के कुछ विशिष्ट कार्य होते हैं। वह मानव की प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाती है। किसी संस्कृति या सांस्कृतिक तत्त्व अथवा प्रतिमान की निरंतरता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसमें शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता है या नहीं ? जिस प्रकार व्यक्तिगत आदत (individual habit) तभी बनी रहती है जब कि उससे व्यक्ति को सचेत या अचेत इच्छा या प्रेरणा (drive) की तृप्ति या पूर्ति होती है; उसी प्रकार संस्कृति की सामूहिक आदतों में भी समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का गुण होता है। सम्पूर्ण संस्कृति तक की समाप्ति हो सकती है यदि वह निरन्तर अपने समाज के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहे। वास्तव में एक संस्कृति के अन्तर्गत अनेक भाग और उपभाग होते हैं जो कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में संगठित होते हैं यद्यपि इनमें से प्रत्येक भाग का एक विशिष्ट स्वरूप होता है जैसे कि एक नाव या एक बर्तन, एक मूर्ति या एक प्रथा का एक स्वरूप होता है। इनमें से प्रत्येक का सम्पूर्ण जीवन-विधि में या सामाजिक जीवन में कोई न कोई कार्य होता ही है। ये व्यर्थ में ही नहीं बने रहते। इन समस्त भागों और उपभागों में जो पारस्परिक सम्बन्ध

तथा प्रभाव होता है उनके सम्पूर्ण योग से ही संस्कृति के ढाँचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में जो योगदान (contribution) होता है उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो कि उसके स्वरूप (form) से पृथक् होता है।[1] इस प्रकार एक नाव, जिसका कि स्वरूप नाप और चित्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, कुछ कार्यों को भी करती है जैसे, यातायात के साधन के रूप में या मछली पकड़ने में सहायक के रूप में कार्य करती है। उसी प्रकार बाहरी तौर पर, एक संस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिए अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ में उस प्रथा के कार्यों की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायगा। फिर वह एक अनोखी या बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक तौर पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरन्तरता को बनाये रखने में सहायक होता है। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक संस्था का सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। संस्कृति के अध्ययन में प्रकार्यवादियों (functionlists) ने, जिनमें सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) तथा मैलिनोवस्की (Malinowski) का नाम विशेष उल्लेखनीय है, संस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।[2]

(7) **संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है** (Culture has adaptive quality)—संस्कृति की इस विशेषता या गुण के दो स्पष्ट पहलू हैं—**प्रथम** तो यह कि संस्कृति जड़ और स्थिर नहीं होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है और **दूसरा** यह कि इस गतिशीलता या समय-समय पर संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियों से होता रहता है। इस प्रकार के अनुकूलन में संस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। एक जंगल में रहने वाला समुदाय अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन जंगल की परिस्थितियों से करता है या टुण्ड्रा निवासियों की संस्कृति वहाँ के बर्फीले पर्यावरण के अनुकूल होती है। परन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति को निश्चित करता है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भौगोलिक पर्यावरण सांस्कृतिक विकास की कुछ सीमाओं को निश्चित करता है जिससे आगे एक निश्चित सांस्कृतिक स्तर के लोग नहीं जा सकते। बर्फ से ढँके हुए

1. E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 164.
2. See A. R. Radcliffe-Brown, 'On the Concept of Function in Social Science', American Anthropologist, Vol. 37, 1935, pp. 394-395 and B. Malinowski. 'Culture', *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol. 4, 1931, pp. 621—646.

टुण्ड्रा प्रदेश के अत्यधिक प्रतिकूल भौगोलिक पर्यावरण में अमेरिका जैसी संस्कृति का विकास सम्भव नहीं। भौगोलिक पर्यावरण उन कच्चे मालों को प्रदान करता है जिससे संस्कृति के निर्माण-कार्य में सहायता मिलती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि मनुष्य स्वयं अपनी संस्कृति का निर्माता है; भौगोलिक पर्यावरण का कार्य उस निर्माण-कार्य में आवश्यक कच्चे माल को प्रदान करना है। परन्तु उस कच्चे माल से संस्कृति की झोंपड़ी बनेगी या महल, इसे तो मनुष्य स्वयं ही निश्चित करता है। मानव भौगोलिक पर्यावरण के हाथ में एक कठपुतली मात्र नहीं कि वह जैसे भी चाहे उसे नचा सकता है। ज्यों-ज्यों मानव की संस्कृति का विकास होता है, त्यों-त्यों भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव कम होता जाता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति परिवर्तनशील या गतिशील होती है। प्रत्येक संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य तथा कार्य मानव के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। अतः इन आवश्यकताओं के अनुसार संस्कृति का स्वरूप भी प्रभावित होता है और इनमें होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति के ढाँचे तथा स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग की माँग पृथक्-पृथक् होती है; समय परिवर्तन के साथ-साथ अनेक नयी आवश्यकताएँ पनपती हैं और अनेक पुरानी आवश्यकताएँ समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों अवस्थाओं के साथ ही अपना अनुकूलन कर सकने का गुण संस्कृति में होता है। अनेक मानवीय आवश्यकताओं तथा पर्यावरण-सम्बन्धी व ऐतिहासिक परिस्थितियों या घटनाओं (phenomena) के कारण संस्कृति के ढाँचे में परिवर्तन होता रहता है। परन्तु संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में एकाएक परिवर्तन शायद ही होता हो। वास्तव में सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों या इकाइयों में विभिन्न समय में परिवर्तन होता रहता है और इन परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरे अंग या इकाइयाँ भी अपना अनुकूलन परिवर्तित भागों या इकाइयों के अनुरूप करती रहें। और चूँकि अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य संस्कृति या इसकी विभिन्न इकाइयों को काम में लाता है इसलिए मनुष्य को भी इन निरन्तर परिवर्तनशील इकाइयों के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति के अपने-आपके ढाँचे में परिवर्तन कर सकने के गुण ने समस्त पशुओं में मनुष्य को सर्वाधिक अनुकूलनशील (adaptive) प्राणी बना दिया है।

(8) संस्कृति में संतुलन तथा संगठन होता है (Culture has the integrative quality)—संस्कृति एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। संस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड या इकाइयाँ होती हैं; परन्तु ये सब आकस्मिक और अव्यवस्थित (random and haphazard) नहीं होतीं। संस्कृति के इन खण्डों या इकाइयों में एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त:निर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का संतुलन तथा संगठन पाया जाता है। यह वास्तव में इसलिए होता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ बिल्कुल पृथक् होकर कार्य नहीं करतीं; प्रायः वे दूसरी इकाइयों के साथ मिलकर कार्य करती हैं इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य (vacuum) में नहीं होता, ये एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित

लोग करते आ रहे हैं। इसलिए उसी धारा-प्रवाह में आज भी लोग जाने या अनजाने बहते जाते हैं और उस बहाव से अपने को पूर्णतया विमुक्त नहीं कर पाते। जीवन के ये परम्परात्मक तरीके, बिना किसी व्यक्ति विशेष के अस्तित्व या कार्य से प्रभावित हुए ही, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं। इसीलिए संस्कृति अधि-वैयक्तिक है।

संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं, अधि-सावयवी (Super-organic) भी है। यह विचार श्री क्रोबर (Kroeber) का है। अधि-सावयवी की अवधारणा को सर्वप्रथम सन् 1886-87 में श्री लिप्पर्ट ने प्रस्तुत किया था, यद्यपि यह अवधारणा श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम के साथ अधिक प्रचलित व उनके लेखों में अधिक विकसित है। परन्तु मानवशास्त्र में इसका सुस्पष्ट विश्लेषण तथा निरूपण सन् 1917 में श्री क्रोबर के द्वारा ही हुआ है।[1] आपके अनुसार इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि यह असावयवी (non-organic) या सावयवी के प्रभाव से विमुक्त (free of organic influence) है, और न ही इसका यह तात्पर्य है कि संस्कृति सावयवी जीवन (organic life) से परे है जैसे कि कुछ अध्यात्मवेत्ता यह कहते हैं कि एक आत्मा (soul) होती है जो कि जीवित शरीर से बिलकुल परे है या हो सकती है। 'अधि-सावयवी' (Super-organic) का अर्थ केवल इतना ही है कि जब हम संस्कृति की विवेचना करते हैं तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह सावयवी तो है, पर सावयवी से कुछ अधिक भी है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति की घटनाओं (phenomena of nature) को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(1) ना-सावयवी (in-organic), (2) सावयवी (organic), और (3) अधि-सावयवी (Super-organic)। प्राकृतिक घटनाओं के उद्विकास (evolution) में सबसे निम्नतम स्तर ना-सावयवी (in-organic) है जिसके अन्तर्गत धरती-सम्बन्धी तथा ऐहिक (cosmic) चीजें आ जाती हैं। जीवन (life) के उद्भव से कुछ नवीन चीजों का योग हुआ। ना-सावयवी सावयवी हुई। सावयवी का उद्भव ना-सावयवी से ही हुआ परन्तु सावयवी ना-सावयवी नहीं है। सावयवी में प्राण या जीवन का होना ही उसे ना-सावयवी से प्रकार में (in Kind) पूर्णतया भिन्न या पृथक् कर देता है और उसके स्थान को भी ना-सावयवी से ऊपर उठा देता है। इसके बाद सावयवी उद्विकास के दौरान में मानसिक या मस्तिष्क का विकास उत्तरोत्तर होता गया और केवल मस्तिष्क का विकास ही नहीं, मानव की शरीर-रचना में भी कुछ विशिष्ट परिवर्तन हुए जैसे, सीधे खड़े हो सकने की क्षमता, स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथों की रचना, तीक्ष्ण तथा केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि, भाषा, बोल सकने की क्षमता, इत्यादि। संस्कृति-निर्माण की मानवीय क्षमता का रहस्य इस सावयवी उद्विकास में ही छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में, इन क्षमताओं के सम्मिलित प्रयोग से ही मानव ने अपनी जटिल संस्कृतियाँ विकसित की हैं। स्मरण रहे कि इन

1. See A. L. Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press, Chicago, 1952, Chapter 3 on 'The Super-organic', 1917.

पर उसके जीवन पर अपना प्रभाव-विस्तार करता रहता है और व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकता। व्यक्ति चाहे या न चाहे, पर संस्कृति का प्रभाव उसके जीवन पर, व्यक्तित्व पर, आदतों, विचारों और अनुभवों पर जन्म से मृत्यु तक निरन्तर पड़ता रहता है। संस्कृति के इन प्रभावों से व्यक्ति अपने को मुक्त नहीं रख सकता। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का अपना एक इतिहास होता है जो कि किसी एक व्यक्ति से सदैव परे होता है। संस्कृति सामाजिक आविष्कार का फल होती है, परन्तु ये आविष्कार किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं होते; इस प्रकार के सभी आविष्कारों का एक 'सांस्कृतिक आधार' होता है। श्री विली (Willey) ने स्पष्ट ही लिखा है कि यद्यपि एक आविष्कार एक व्यक्ति विशेष के द्वारा होता है, फिर भी इस दिशा में आविष्कार के लिए कोई भी कदम उठाना तब तक शायद ही सम्भव हो जब तक उसके लिए आवश्यक आधार उनसे पहले के लोगों के द्वारा प्रस्तुत न किया गया हो, चाहे वह आविष्कारक कितना ही क्षमतासम्पन्न क्यों न हो। चूंकि आविष्कारक उस हस्तान्तरित की गई संस्कृति का उपयोग करता है और उसके द्वारा सीमाबद्ध है, इस कारण यह कहा जा सकता है कि आविष्कार अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[1] यह कथन वैयक्तिक प्रतिभा को अस्वीकार नहीं करता, न ही उसके महत्त्व को नीचे गिराता है; यह तो केवल इतना ही कहता है कि इसके कारण ही संस्कृति का उद्भव, विकास और विस्तार होता है, यह सोचना गलत है। संस्कृति में निर्माण, विकास, परिमार्जन तथा विस्तार की प्रक्रिया ऐतिहासिक धारा-प्रवाह के साथ निरन्तर चलती रहती है। इस प्रवाह को रोकने या वश में करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति में नहीं हो सकती। इस अर्थ में भी संस्कृति अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[2]

संस्कृति की इस विशेषता को श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने इस प्रकार समझाया है कि आज हमारे समाज में लाखों व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, कुछ निश्चित ढंग से कुछ वर्णन-योग्य सीमाओं के अन्दर रहते हुए व्यवहार करते हैं। जैसे, साधारणतया स्त्रियाँ खेतों में जाकर हल नहीं चलायेंगी, परिवार में एक पति-पत्नी और बच्चे होंगे, न कि एक पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ; चर्च में हैट (hat) सिर पर न होगा, आत्मपरिजन के मर जाने पर उसे दफना या कब्र में दे दिया जायगा, इत्यादि। इन सब व्यवहारों के सम्बन्ध में हम पहले से ही बता सकते हैं क्योंकि इन निश्चित परिस्थितियों में इसी प्रकार का व्यवहार हमारे दादा-परदादा के समय से

1. "While each step in an invention is made by a specific individual, no step can be taken until necessary antecedents have been established, no matter what the abilities of the inventor Because the inventor utilizes the transmitted culture and is limited by it .....it may be said that invention is Super-individual" M. M. Willey, 'The Validity of the Culture Concept', *American Journal of Sociology*, Vol. 35, 1929, p. 210

2 See George P. Murdock, 'The Science of Culture', *American Anthropologist*, Vol. 34, 1932, pp. 200—215.

ढंग से गुथी हुई या सम्बद्ध होती हैं। इस ढांचे के अन्दर प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में संतुलन और संगठन होता है। और चूंकि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर आधारित होती हैं इस कारण संस्कृति के एक भाग में कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है। अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में, जैसा कि श्री समनर (Sumner) ने कहा है, "एकरूपता की ओर एक खिचाव" (a strain towards consistency) होता है जिसके फलस्वरूप ये विभिन्न भाग एकसाथ मिलते हैं और एक बहुत-कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता (more or less) completely integrated whole) का निर्माण करते हैं। यह सम्पूर्ण समग्रता ही संस्कृति है। संस्कृति की यह विशेपता सादे, छोटे तथा पृथक् समाजों में अधिक स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है क्योंकि ऐसे समाजों में तनाव उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ कम होती हैं और संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा तत्त्वों में अधिक शीघ्रता से परिवर्तन भी नहीं होते।

(9) **संस्कृति अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है** (Culture is both Super-individual and Super-organic)—संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेपता यह है कि यह अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी दोनों ही है। इन दोनों विशेपताओं की विवेचना हम पृथक्-पृथक् कर सकते हैं। पहले संस्कृति अधि-वैयक्तिक है, इस विशेषता को लीजिए। यह सच है कि व्यक्ति संस्कृति का वाहक (carrier) है और इन व्यक्तियों को निकालकर किसी भी संस्कृति के अस्तित्व की चिन्ता करना मूर्खता है। फिर भी संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना है, यह सोचना भी गलत है। "जो कुछ भी एक मानव प्राणी या व्यक्ति विशेष अपने अधिकार में रख सकता है या अपने काम में लगा सकता है, कोई भी संस्कृति उससे कहीं अधिक होती है" (Any culture is more than any individual human being can grasp or manipulate)। साथ ही, संस्कृति की स्थिरता या निरन्तरता किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, वह तो समूह-व्यवहारों की समग्रता (The whole of group habits) है। एक वैयक्तिक आदत या व्यवहार-विधि उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद समाप्त हो सकती है परन्तु सामूहिक आदतों या व्यवहार-विधियों की निरन्तरता इस प्रकार समाप्त नहीं होती है—यह तो असंख्य व्यक्तियों की अन्त:क्रिया (interaction) और विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। चूंकि संस्कृति की रचना और निरन्तरता दोनों ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं हैं, इसीलिए यह (संस्कृति) अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है। संस्कृति अधि-वैयक्तिक एक-दूसरे अर्थ में भी है और वह यह कि संस्कृति के सम्बन्ध में व्यक्ति एक स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है। व्यक्ति एक संस्कृति में ही जन्म लेता है और उसी में पलता है। उसका यह पलना या व्यक्तित्व का निर्माण पूर्णतया व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है। सांस्कृतिक पर्यावरण हर

पल उसके जीवन पर अपना प्रभाव-विस्तार करता रहता है और व्यक्ति इन सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकता। व्यक्ति चाहे या न चाहे, पर संस्कृति का प्रभाव उसके जीवन पर, व्यक्तित्व पर, आदतों, विचारों और अनुभवों पर जन्म से मृत्यु तक निरन्तर पड़ता रहता है। संस्कृति के इन प्रभावों से व्यक्ति अपने को मुक्त नहीं रख सकता। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का अपना एक इतिहास होता है जो कि किसी एक व्यक्ति से सदैव परे होता है। संस्कृति सामाजिक आविष्कार का फल होती है, परन्तु ये आविष्कार किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं होते; इस प्रकार के सभी आविष्कारों का एक 'सांस्कृतिक आधार' होता है। श्री विली (Willey) ने स्पष्ट ही लिखा है कि यद्यपि एक आविष्कार एक व्यक्ति विशेष के द्वारा होता है, फिर भी इस दिशा में आविष्कार के लिए कोई भी कदम उठाना तब तक शायद ही सम्भव हो जब तक उसके लिए आवश्यक आधार उससे पहले के लोगों के द्वारा प्रस्तुत न किया गया हो, चाहे वह आविष्कारक कितना ही क्षमतासम्पन्न क्यों न हो। चूंकि आविष्कारक उस हस्तान्तरित की गई संस्कृति का उपयोग करता है और उसके द्वारा सीमाबद्ध है, इस कारण यह कहा जा सकता है कि आविष्कार अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[1] यह कथन वैयक्तिक प्रतिभा को अस्वीकार नहीं करता, न ही उसके महत्व को नीचे गिराता है; यह तो केवल इतना ही कहता है कि इसके कारण ही संस्कृति का उद्भव, विकास और विस्तार होता है, यह सोचना गलत है। संस्कृति में निर्माण, विकास, परिमार्जन तथा विस्तार की प्रक्रिया ऐतिहासिक धारा-प्रवाह के साथ निरन्तर चलती रहती है। इस प्रवाह को रोकने या वश में करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति में नहीं हो सकती। इस अर्थ में भी संस्कृति अधि-वैयक्तिक (Super-individual) है।[2]

संस्कृति की इस विशेषता को श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने इस प्रकार समझाया है कि आज हमारे समाज में लाखों व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, कुछ निश्चित ढंग से कुछ वर्णन-योग्य सीमाओं के अन्दर रहते हुए व्यवहार करते हैं। जैसे, साधारणतया स्त्रियाँ खेतों में जाकर हल नहीं चलायेंगी, परिवार में एक पति-पत्नी और बच्चे होंगे, न कि एक पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ; चर्च में हैट (hat) सिर पर न होगा, आत्मपरिजन के मर जाने पर उसे दफना या कब्र में दे दिया जायगा, इत्यादि। इन सब व्यवहारों के सम्बन्ध में हम पहले से ही बता सकते हैं क्योंकि इन निश्चित परिस्थितियों में इसी प्रकार का व्यवहार हमारे दादा-परदादा के समय से

1. "While each step in an invention is made by a specific individual, no step can be taken until necessary antecedents have been established, no matter what the abilities of the inventor. Because the inventor utilizes the transmitted culture and is limited by it .....it may be said that invention is Super-individual." M. M. Willey, 'The Validity of the Culture Concept', *American Journal of Sociology*, Vol 35, 1929, p. 210.

2. See George P. Murdock, 'The Science of Culture', *American Anthropologist*, Vol. 34, 1932, pp 200—215.

लोग करते आ रहे हैं। इसलिए उसी धारा-प्रवाह में आज भी लोग जाने या अनजाने बहते जाते हैं और उस बहाव से अपने को पूर्णतया विमुक्त नहीं कर पाते। जीवन के ये परम्परात्मक तरीके, बिना किसी व्यक्ति विशेष के अस्तित्व या कार्य से प्रभावित हुए ही, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं। इसीलिए संस्कृति अधि-वैयक्तिक है।

संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं, अधि-सावयवी (Super-organic) भी है। यह विचार श्री क्रोबर (Kroeber) का है। अधि-सावयवी की अवधारणा को सर्वप्रथम सन् 1886-87 में श्री लिप्पर्ट ने प्रस्तुत किया था, यद्यपि यह अवधारणा श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम के साथ अधिक प्रचलित व उनके लेखों में अधिक विकसित है। परन्तु मानवशास्त्र में इसका सुस्पष्ट विश्लेषण तथा निरूपण सन् 1917 में श्री क्रोबर के द्वारा ही हुआ है।[1] आपके अनुसार इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि यह असावयवी (non-organic) या सावयवी के प्रभाव से विमुक्त (free of organic influence) है, और न ही इसका यह तात्पर्य है कि संस्कृति सावयवी जीवन (organic life) से परे है जैसे कि कुछ अध्यात्मवेत्ता यह कहते हैं कि एक आत्मा (soul) होती है जो कि जीवित शरीर से बिलकुल परे है या हो सकती है। 'अधि-सावयवी' (Super-organic) का अर्थ केवल इतना ही है कि जब हम संस्कृति की विवेचना करते हैं तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह सावयवी तो है, पर सावयवी से कुछ अधिक भी है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति की घटनाओं (phenomena of nature) को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(1) ना-सावयवी (in-organic), (2) सावयवी (organic), और (3) अधि-सावयवी (Super-organic)। प्राकृतिक घटनाओं के उद्विकास (evolution) में सबसे निम्नतम स्तर ना-सावयवी (in-organic) है जिसके अन्तर्गत धरती-सम्बन्धी तथा ऐहिक (cosmic) चीजें आ जाती हैं। जीवन (life) के उद्भव से कुछ नवीन चीजों का योग हुआ। ना-सावयवी सावयवी हुई। सावयवी का उद्भव ना-सावयवी से ही हुआ परन्तु सावयवी ना-सावयवी नहीं है। सावयवी में प्राण या जीवन का होना ही उसे ना-सावयवी से प्रकार में (in Kind) पूर्णतया भिन्न या पृथक् कर देता है और उसके स्थान को भी ना-सावयवी से ऊपर उठा देता है। इसके बाद सावयवी उद्विकास के दौरान में मानसिक या मस्तिष्क का विकास उत्तरोत्तर होता गया और केवल मस्तिष्क का विकास ही नहीं, मानव की शरीर-रचना में भी कुछ विशिष्ट परिवर्तन हुए जैसे, सीधे खड़े हो सकने की क्षमता, स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथों की रचना, तीक्ष्ण तथा केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि, भाषा, बोल सकने की क्षमता, इत्यादि। संस्कृति-निर्माण की मानवीय क्षमता का रहस्य इस सावयवी उद्विकास में ही छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में, इन क्षमताओं के सम्मिलित उपयोग से ही मानव ने अपनी जटिल संस्कृतियाँ विकसित की हैं। स्मरण रहे कि इन

1. See A. L. Kroeber, *The Nature of Culture*, The University of Chicago Press. Chicago, 1952, Chapter 3 on 'The Super-organic', 1917.

समस्त क्षमताओं का आधार सावयवी है, फिर भी इस सावयवी आधार पर आधारित जो संस्कृति विकसित हुई वह सावयवी से बढ़कर (the more than organic) है, अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर के मतानुसार इसी अर्थ में संस्कृति अधि-सावयवी (Super-organic) है।

अतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार सावयवी (organic) घटनाएँ (phenomena) ना-सावयवी (in-organic) घटनाओं से उच्च कोटि की हैं, उसी प्रकार अधि-सावयवी घटनाएँ सावयवी घटनाओं से उच्चतर कोटि की हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में 'अधि-सावयवी' शब्द का प्रयोग श्री क्रोबर ने, इस अर्थ में तथा इस बात पर बल देने के लिए किया था कि चूँकि प्राणीशास्त्रीय (सावयवी) क्षमताएँ और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न कोटि की घटनाएँ (phenomena) हैं, इसलिए संस्कृति का स्थान सावयवी से ऊँचा मान लेना ही उचित है और वह भी इस अर्थ में कि संस्कृति मानव-जीवन को परिभाषित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है। मानव इसके प्रभावों से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता, संस्कृति के धारा-प्रवाह में उसे बहना ही पड़ता है। संस्कृति अधि-सावयवी इसलिए भी है कि केवल सावयवी घटनाएँ संस्कृति को जन्म नहीं दे सकतीं। अगर यह सम्भव होता तो सभी पशु संस्कृति के अधिकारी होते। पशु भी समाज में रहते हैं, पर वे संस्कृति को नहीं रखते क्योंकि संस्कृति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शारीरिक विशेषताओं की भाँति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती। सावयवी घटनाएँ अथवा वंशानुसंक्रमण सांस्कृतिक लक्षणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने की क्षमता नहीं रखते। श्री क्रोबर ने इस सत्य को एक उदाहरण देकर समझाया है। चींटियों के बहुत से ताजे अण्डों में से केवल दो अण्डों को चुन लीजिए, और बाकी सबको नष्ट कर दीजिए। उन दो अण्डों की गर्मी, नमी आदि के विषय में, थोड़ा-सा ध्यान रखिए। उन अण्डों से जो चींटियाँ उत्पन्न होंगी उनमें चींटी 'समाज' की समस्त विशेषताएँ अन्य चींटियों की भाँति ही स्पष्ट होंगी; उनमें क्षमता, शक्ति, क्रियाशीलता आदि किसी भी विषय में कोई कमी नहीं होगी। परन्तु एक सर्वाधिक सभ्य राष्ट्र के सर्वोच्च वर्ग में से सर्वोत्तम वंशानुसंक्रमण वाले दो-चार सौ मानव-शिशुओं को चुनकर एक रेगिस्तानी प्रदेश या निर्जन स्थान में रख दीजिए और उन्हें खाने, पीने, रहने आदि की चीजों को देते रहिए, पर उनको एक-दूसरे से पृथक् रखिए। यह सच है कि वे शिशु आयु में बढ़ते रहेंगे परन्तु और कुछ भी न होगा। उन्हें उस संस्कृति का एक-तिहाई तो क्या एक कण भी प्राप्त न होगा जिससे कि उन्हें पृथक् रखा गया है; उनसे केवल कला, ज्ञान, विज्ञान धर्म आदि सबसे रहित गूंगों (mutees) के एक झुण्ड मात्र का ही निर्माण होगा। उनमें संस्कृति या सभ्य मानव की विशेषताओं का नाम मात्र न होगा। उन्हें देखकर यह कभी प्रतीत न होगा कि उनके बाप-दादा सभ्य थे। वंशानुसंक्रमण या सावयवी घटनाएँ उन मानव-शिशुओं को सभ्य या संस्कृति का अधिकारी बना सकती क्योंकि संस्कृति अधि-सावयवी है। श्री क्रोबर (Kroeber) के शब्दों में, चींटियों के लिए 'वंशानुसंक्रमण पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन सब गुणों को बनाये रखता है जो कुछ भी उनका होता है;

परन्तु, जैसा कि श्री क्लूखोन (Cluckhohn) का मत है, संस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी मानने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम यह मान लें कि संस्कृति का अस्तित्व उनमें अंग ग्रहण करने वाले सभी व्यक्तियों के मर जाने के बाद या सभी सावयवी घटनाओं के नष्ट हो जाने के बाद भी बना रहेगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि संस्कृति का निर्माण, अस्तित्व और निरन्तरता किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है और न ही संस्कृति हमें वंशानुसंक्रमण से प्राप्त होती है। इसी अर्थ में संस्कृति अधि-वैयक्तिक और अधि-सावयवी है।

संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ विरोधाभास
(Some Paradoxes about Culture)

संस्कृति की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) द्वारा उल्लिखित संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ विरोधाभासों की भी विवेचना यहाँ की जाय। ये विरोधाभास (paradoxes) निम्नवत् हैं[1]—

(1) मानव के अनुभव में संस्कृति विश्वव्यापी है फिर भी प्रत्येक समाज में इसका एक विशिष्ट या अनोखा रूप है (Culture is universal in man's experience, yet each local or regional manifestation of it is unique)—'मानव संस्कृति के निर्माता है', यह कथन इस सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि दुनिया में जहाँ-जहाँ भी मानव का निवास है वहाँ-वहाँ संस्कृति भी है। संस्कृति का अधिकारी होना मानव की एक विशिष्ट विशेषता है, चाहे वह मानव कहीं भी रहता हो या कैसे भी जीवनयापन करता हो। इतना ही नहीं, प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसी विशेषताएँ और पहलू (aspects) होते हैं जो कि सभी संस्कृतियों में सामान्य रूप से (in common) पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक संस्कृति में जीविका-पालन के कुछ न कुछ तरीके अवश्य ही होते हैं; सभी समाजों में परिवार नामक संस्था होती है और राजनैतिक नियन्त्रण के लिए किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था भी होती है। उसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति में किसी-न-किसी रूप में एक धार्मिक व्यवस्था का समावेश होता है। इतना सब-कुछ होते हुए भी अगर हम विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले संस्कृति के इन पहलुओं की विस्तारपूर्वक विवेचना करें तो स्पष्टतः पायेंगे कि विस्तृत रूप में कोई भी दो प्रथाएँ, धार्मिक व्यवस्थाएँ, राजनैतिक नियन्त्रण के साधन एक समान नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक समाज में संस्कृति के विभिन्न पक्ष विभिन्न रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ में कोई भी दो संस्कृतियाँ समान नहीं हैं। ये भिन्नताएँ अनेक स्थानीय (local) परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के कारण होती हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि एक संस्कृति को तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक उसकी स्थानीय प्रकृति तथा भूत (past) को भी ध्यान में न रखा जाय।

1. M. J. Herskovits, *op. cit.*, p. 18-21.

की विवेचना आवश्यक हो जाती है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को, जिनसे कि उसके ढांचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्त्व, संस्कृति-संकुल, संस्कृति-प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी संस्कृति के क्रमशः बढ़ने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि सांस्कृतिक तत्त्व (culture trait) संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है जो कि परस्पर मिलकर एक संस्कृति-संकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति-संकुल संस्कृति के ढांचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं जिससे कि एक संस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति-प्रतिमान का *अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियों का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता* है, जिसे कि सांस्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं। संस्कृति के इन उपादानों की विवेचना अब हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

सांस्कृतिक तत्त्व
(Culture Trait or Element)

संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियों (life ways) का समावेश होता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति में अनेक विधियों या तरीकों का एक संतुलित संगठन होता है। एक-एक विधि संस्कृति की एक-एक इकाई या तत्त्व है। संस्कृति की इन इकाइयों या तत्त्वों को सांस्कृतिक तत्त्व कहते हैं। ये सांस्कृतिक तत्त्व भौतिक और अभौतिक (material and non-material) दोनों प्रकार के ही हो सकते हैं। जैसे, एक बर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जन-रीति। इस प्रकार के असंख्य सांस्कृतिक तत्त्वों को मिलाकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे का निर्माण होता है। अतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्त्व कहते हैं। किसी भी संस्कृति के विश्लेषण और निरूपण में इन इकाइयों या सांस्कृतिक तत्त्वों को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योंकि इसके बिना संस्कृति के आधार-भूत तत्त्वों या उपादानों को समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सांस्कृतिक तत्त्व का आगे और विभाजन या टुकड़ा नहीं हो सकता है। *जिस प्रकार पदार्थ या सूक्ष्म भाग परमाणु होता है कि फिर जो भी विभाजित नहीं किया जा सकता है,* उसी प्रकार **सांस्कृतिक तत्त्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका कि मानव-जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "एक सांस्कृतिक तत्त्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे कि सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"[1] श्री हर्षकॉविट्स ने सांस्कृतिक

1. "A culture element is a pattern of behaviour (or the material product of such behaviour) that may be treated as the smallest unit of its order."—A. E. Hoebel, *op. cit.*, p. 167.

(2) **संस्कृति स्थिर है, पर संस्कृति गतिशील भी है और इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं** (Culture is stable, yet culture is also dynamic, and manifests continuous and constant change)--अगर हम समस्त संभावित प्रमाणों को इकट्ठा करें तो यह स्पष्ट होगा कि संस्कृति निःसन्देह ही गतिशील है; पूर्णतया जड़ या स्थिर संस्कृति तो विनाश प्राप्त संस्कृति (dead culture) ही हो सकती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति का रूप मानव की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता है और ये आवश्यकताएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं और इनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही संस्कृति में भी परिवर्तन होता है। परन्तु ये परिवर्तन इस प्रकार के नहीं होते हैं कि संस्कृति की व्यवस्था ही बिखर जाय। अनेक परिवर्तनों के बीच भी संस्कृति में संतुलन तथा संगठन होता है जो कि उसे एक प्रकार की स्थिरता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, लाखों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्व आज भी स्थिर हैं, यद्यपि इस दौरान में असंख्य परिवर्तन भी इस संस्कृति के विभिन्न भागों में हुए हैं। इसी कारण सांस्कृतिक परिवर्तन का अध्ययन सांस्कृतिक स्थिरता के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। परन्तु इस 'स्थिरता' का यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में कभी और किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन होता ही नहीं है; इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन तत्त्वों में परिवर्तनशीलता के साथ स्थिरता भी होती है।

(3) **संस्कृति हमारे जीवन की दिशा को अधिकतर निश्चित करती है, फिर भी हमारे सचेत विचार में शायद ही प्रवेश करती हो** (Culture fills and largely determines the course of our lives, yet rarely intrudes into conscious thought)—संस्कृति हमारे जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक घेरे रहती है और हमारी जीवन-विधियों को निर्धारित, नियंत्रित तथा निर्देशित करती है, परन्तु उनमें से अधिकतर विषयों के सम्बन्ध में हम प्रायः सचेत नहीं होते। वास्तव में, संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की समग्रता है और इस सीखने की प्रक्रिया में केवल सचेत प्रयत्न ही नहीं, अनेक अचेत क्रियाओं का भी समावेश होता है। जो कुछ भी एक व्यक्ति विशेष अपने काम में लाता है या अपने वश में कर सकता है, संस्कृति उससे कहीं अधिक है। इसीलिए संस्कृति के अनेक पक्षों और प्रभावों के विषय में हमें पूर्ण ज्ञान नहीं होता है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति में संतुलन और संगठन होता है। यह संगठन अनेक तत्त्वों, इकाइयों भागों और उपभागों को मिलाकर बनता है। ये तत्त्व या भाग छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े हो सकते हैं। इनमें जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्तःनिर्भरता पाई जाती है उसी के कारण संस्कृति के ढांचे में संतुलन और संगठन उत्पन्न होता है। मानवशास्त्री सम्पूर्ण संस्कृति को एकाएक या एकसाथ न समझ सकता है और न ही समझना सम्भव है। इसलिए संस्कृति की विभिन्न इकाइयों या उपादानों

की विवेचना आवश्यक हो जाती है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को, जिनसे कि उसके ढाँचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति-संकुल, संस्कृति-प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी संस्कृति के क्रमशः बढ़ने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि सांस्कृतिक तत्व (culture trait) संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है जो कि परस्पर मिलकर एक संस्कृति-संकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति-संकुल संस्कृति के ढाँचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं जिससे कि एक संस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियों का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता है, जिसे कि सांस्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं। संस्कृति के इन उपादानों की विवेचना अब हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

सांस्कृतिक तत्व
(Culture Trait or Element)

संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियों (life ways) का समावेश होता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति में अनेक विधियों या तरीकों का एक संतुलित संगठन होता है। एक-एक विधि संस्कृति की एक-एक इकाई या तत्व है। संस्कृति की इन इकाइयों या तत्वों को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। ये सांस्कृतिक तत्व भौतिक और अभौतिक (material and non-material) दोनों प्रकार के ही हो सकते हैं। जैसे, एक बर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जन-रीति। इस प्रकार के असंख्य सांस्कृतिक तत्वों को मिलाकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे का निर्माण होता है। अतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। किसी भी संस्कृति के विश्लेषण और निरूपण में इन इकाइयों या सांस्कृतिक तत्वों को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योंकि इसके बिना संस्कृति के आधार-भूत तत्वों या उपादानों को समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सांस्कृतिक तत्व का आगे और विभाजन या टुकड़ा नहीं हो सकता है। जिस प्रकार पदार्थ या सूक्ष्म भाग परमाणु होता है कि फिर जो भी विभाजित नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका कि मानव-जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "एक सांस्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे कि सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"[1] श्री हर्षकॉविट्स ने सांस्कृतिक

1. "A culture element is a pattern of behaviour (or the material product of such behaviour) that may be treated as the smallest unit of its order."—A. E. Hoebel, *op. cit.*, p. 167.

होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम घड़ी का आविष्कार किसने किया और कब किया, पहले की सूर्य घड़ी से आधुनिक स्वय-क्रियाशील या आप-से-आप चलने वाली (automatic) घड़ी का क्रम-विकास कैसे हुआ, इत्यादि के सम्बन्ध मे एक इतिहास है। उसी प्रकार एक विशेष प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे को टोटम (totem) के रूप में स्वीकार करने का एक इतिहास ढूँढा जा सकता है।

(2) सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति की भाँति, स्थिर नहीं होता; गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। सांस्कृतिक तत्व से सम्बन्धित व्यक्ति (अर्थात् जो लोग सांस्कृतिक तत्व के अधिकारी होते है या उन्हे काम में लाते हैं) जैसे-जैसे एक-स्थान से दूसरे स्थान को फैलते है या दूसरे लोगों के सम्पर्क में आते हैं, वैसे-वैसे सांस्कृतिक तत्व भी फैलते रहते है। एक संस्कृति-समूह दूसरे संस्कृति-समूह से मिलता है, तो सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग मे यातायात तथा संचार के साधनों में उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्वों की गतिशीलता और भी बढ गई है। अब तो अनेक जनजातियो (tribes) के सांस्कृतिक तत्व सभ्य समाजो मे भी तेजी से फैलते जा रहे हैं और बहुत-से फैल भी गये है। सांस्कृतिक तत्व की यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढाँचे मे परिवर्तन लाती भी है।

(3) सांस्कृतिक तत्वों मे पृथक्-पृथक् या छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की तरह एकसाथ घुल-मिलकर रहते हैं क्योंकि कोई भी तत्व अकेला स्थायी नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, घड़ी एक सांस्कृतिक तत्व है, परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति केवल घड़ी से ही नहीं हो सकती, इसके लिए अन्य अनेक सांस्कृतिक तत्वों की आवश्यकता होगी। इस कारण ये सभी सांस्कृतिक तत्व एकसाथ मिलकर संस्कृति की एक या विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। यदि केवल घड़ी को ही लिया जाय तो भी हम यही पायेंगे कि घडी के विभिन्न पुर्जों या इकाइयों में एक शृंखला या संगठन है; सभी पुर्जों को एक क्रम से लगाया जाना चाहिए, नहीं तो घड़ी नहीं चलेगी। कोई भी पुर्जा इधर-उधर हो जाने से घड़ी बेकार हो जायेगी इस अर्थ में भी सांस्कृतिक तत्वों से छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है।

सांस्कृतिक तत्वों का सर्वप्रमुख महत्व यह है कि इन तत्वों को समझे बिना किसी भी संस्कृति को पूर्णतया समझना सम्भव नहीं है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण मे ये सांस्कृतिक तत्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं जिस पर कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचा निर्भर रहता है। सर्वश्री गिफोर्ड तथा क्रोबर (Gifford and Kroeber) ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्व सम्बन्धी प्रश्नावली (a trait question list) की सहायता से किया था। उसी प्रकार सर्वश्री रे (Ray), विसलेक आदि ने भी सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। इन तत्वों के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाता है। श्री टायलर (Tylor) ने इसी आधार पर विभिन्न

तत्त्व को एक संस्कृति विशेष में सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई (the smallest identifiable unit in a given culture) कहा है;[1] और श्री क्रोबर ने इस "संस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य तत्व" (minimal definable element of culture) के रूप में स्वीकार किया है।[2] अतः संक्षेप में, किसी काम में आ सके, इस प्रकार की एक संस्कृति की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं।

परन्तु परिभाषा से सांस्कृतिक तत्व का जो अति सरल स्वरूप प्रकट होता है, वास्तव में वह उतना सरल या सीधा नहीं है। समग्र रूप में, या केवल एक खण्ड में ही संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ इतनी अधिक घुली-मिली रहती हैं या इनमें इतना अधिक पारस्परिक योग और अन्तःनिर्भरता होती है कि सबसे छोटी इकाई को पृथक् और परिभाषित करना एक प्रकार से असम्भव न सही फिर भी कठिन अवश्य ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक मकान को लीजिए जिसमें कि एक परिवार निवास करता है। इसका प्रत्येक कमरा इस मकान की एक-एक इकाई है। तो क्या इनमें से प्रत्येक कमरा एक सांस्कृतिक तत्त्व है? इस प्रश्न का उत्तर सूझने से पहले ही दूसरे और प्रश्न हमें परेशान कर सकते हैं। जैसे, इन कमरों में एक कमरा सोने का कमरा है जिसमें कि दो पलंग, दो-एक टेबुल, कुछ किताबें, एक घड़ी, एक-दो टेबुल लैम्प, चद्दर, तकिया गद्दा, दरी आदि कितनी ही इकाइयाँ मौजूद हैं। अगर हम उस सोने के कमरे को एक सांस्कृतिक तत्त्व मानते हैं तो उसके अन्दर ये सब टेबुल, तकिया, लैम्प, दरी, चद्दर, किताबें, घड़ी आदि भी तो एक-एक सांस्कृतिक तत्व हैं। केवल इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक इकाई में भी अनेक अन्य इकाइयों का समावेश हो सकता है जैसे, पलंग में लकड़ी के अनेक टुकड़े, कील, पेंच (screw), निवाड़ आदि। वास्तव में ये सब भी एक-एक इकाइयाँ या सांस्कृतिक तत्व हैं, जो कि मानव के किसी-न-किसी काम में आते हैं। परन्तु इनका आगे और विभाजन संभव नहीं। जैसे, कील या पेंच के दो टुकड़े कर देने पर फिर उससे कील या पेंच का काम नहीं लिया जा सकेगा, उसी प्रकार पलंग को दो-चार टुकड़ों में काट डालने से फिर वह पलंग का काम नहीं देगा। घड़ी में भी अनेक पुर्जे हैं, वे सभी घड़ी की एक-एक इकाई हैं, पर उनको अलग-अलग रखने से घड़ी की उपयोगिता हमें नहीं मिलेगी—वे सब एकसाथ मिलकर ही घड़ी का निर्माण करते है और उस प्रकार की निर्मित घड़ी को एक निश्चित काम में लाते हैं। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के किसी काम में आने की दृष्टि से आगे विभाजित न हो सकने वाली सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं।

सांस्कृतिक तत्व की **तीन** प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो कि निम्नवत् हैं—

(1) प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का, उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में, एक इतिहास

---

1. M. J. Herskovits, *op. cit*, p. 170.
2. A. L. Kroeber, 'Culture Element Distributions : III Area and Climax', *University of California Publications in American and Ethnology*, 1936, p. 101.

होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम घड़ी का आविष्कार किसने किया और कब किया, पहले की सूर्य घड़ी से आधुनिक स्वय-क्रिया-शील या आप-से-आप चलने वाली (automatic) घड़ी का क्रम-विकास कैसे हुआ, इत्यादि के सम्बन्ध मे एक इतिहास है। उसी प्रकार एक विशेष प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे को टोटम (totem) के रूप मे स्वीकार करने का एक इतिहास ढूंढा जा सकता है।

(2) सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति की भांति, स्थिर नही होता; गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। सांस्कृतिक तत्व से सम्बन्धित व्यक्ति (अर्थात् जो लोग सांस्कृतिक तत्व के अधिकारी होते हैं या उन्हें काम में लाते हैं) जैसे-जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलते हैं या दूसरे लोगों के सम्पर्क मे आते हैं, वैसे-वैसे सांस्कृतिक तत्व भी फैलते रहते है। एक संस्कृति-समूह दूसरे संस्कृति-समूह से मिलता है, तो सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग मे यातायात तथा संचार के साधनो में उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्वों की गतिशीलता और भी बढ गई है। अब तो अनेक जनजातियों (tribes) के सांस्कृतिक तत्व सभ्य समाजों में भी तेजी से फैलते जा रहे हैं और बहुत-से फैल भी गये है। सांस्कृतिक तत्व की यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढांचे में परिवर्तन लाती भी है।

(3) सांस्कृतिक तत्वों मे पृथक्-पृथक् या छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की तरह एकसाथ घुल-मिलकर रहते है क्योंकि कोई भी तत्व अकेला स्थायी नही रह सकता। उदाहरणार्थ, घड़ी एक सांस्कृतिक तत्व है, परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति केवल घड़ी से ही नही हो सकती, इसके लिए अन्य अनेक सांस्कृतिक तत्वों की आवश्यकता होगी। इस कारण ये सभी सांस्कृतिक तत्व एकसाथ मिलकर संस्कृति की एक या विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यदि केवल घड़ी को ही लिया जाय तो भी हम यही पायेंगे कि घड़ी के विभिन्न पुर्जों या इकाइयों में एक शृंखला या संगठन है; सभी पुर्जों को एक क्रम से लगाया जाना चाहिए, नही तो घड़ी नही चलेगी। कोई भी पुर्जा इधर-उधर हो जाने से घड़ी बेकार हो जायेगी इस अर्थ में भी सांस्कृतिक तत्वों से छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नही होती है।

सांस्कृतिक तत्त्वों का सर्वप्रमुख महत्व यह है कि इन तत्वों को समझे बिना किसी भी संस्कृति को पूर्णतया समझना सम्भव नही है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण मे ये सांस्कृतिक तत्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं जिस पर कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचा निर्भर रहता है। सर्वश्री गिफोर्ड तथा क्रोबर (Gifford and Kroeber) ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्व सम्बन्धी प्रश्नावली (a trait question list) की सहायता मे किया था। उसी प्रकार सर्वश्री रे (Ray), विलमेक आदि ने भी सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। इन तत्वों के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाता है। श्री टायलर (Tylor) ने इसी आधार पर विभिन्न

संस्कृतियों का अध्ययन किया था। उसी प्रकार श्री बोआस (Boas) ने यह अध्ययन करने के लिए कि पौराणिक कथाओं (Mythology) का क्या प्रभाव मानव-जीवन के तरीकों पर पड़ता है, विभिन्न संस्कृतियों के सांस्कृतिक तत्वों को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कुछ भी हो, अध्ययन-कार्य में इनको प्रयोग करने के सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि ये सांस्कृतिक तत्व आपस में इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि इनमें से किसी एक का पृथक् मूल्यांकन सम्भव नहीं होता।

संस्कृति-संकुल
(Culture Complex)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सांस्कृतिक तत्वों की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि वे फूलों के गुलदस्तों की भाँति घुले-मिले रहते हैं। मानव-संस्कृति या समाज में एक सांस्कृतिक तत्व का कोई अर्थ ही नहीं होता है। प्रायः अनेक सांस्कृतिक तत्व एक-साथ गुँथे हुए रहकर मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में घुल-मिलकर मानव-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं या मानव-उपभोग (use) में उनका महत्वपूर्ण स्थान होता है तो सांस्कृतिक तत्वों के उस गुच्छे या संकुल को संस्कृति-संकुल कहते हैं। और भी संक्षेप में, **संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।**

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "संस्कृति-संकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।"[1]

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दों में संस्कृति-संकुल "सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि अर्थपूर्ण अन्तःसम्बन्ध में परस्पर गुंथे होते हैं।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का ही एक मिलित रूप या गुच्छा (cluster) है जिनमें कि मिलित होने पर एक अर्थपूर्ण ढंग का पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है और जो सम्पूर्ण संस्कृति के अन्तर्गत उसके एक अंग के रूप में कार्य करता है जिसके फलस्वरूप मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होती है। भाषा एक संस्कृति-संकुल है क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दों वाक्यों, कहावतों, व्याकरण आदि का, जो कि एक-एक सांस्कृतिक तत्व है, समावेश होता ह। स्मरण रहे कि केवल शब्दों या वाक्यों के मनमाने संग्रह से ही भाषा नहीं बन जाती है; इन शब्दों और वाक्यों का अर्थपूर्ण ढंग से मिलन भी भाषा के निर्माण में आवश्यक है। उदाहरण के लिए, एक सामान्य वाक्य (sentences) के निर्माण को

1. "A complex is a network of closely related pattern."—Hoebel, *op. cit.*, . 167.

2. Culture Complex is "a whole set of culture traits that 'cluster' together n a meaningful interrelationship."—Sutherland and Wohdward *Introductory Sociology*, J. B. Lippin Cott Co., New York, 1948, p. 34.

हो लीजिए। 'हम', 'खाना', 'आज', 'साथ', 'तुम', 'साथ' खायेंगे—ये सभी अलग-अलग शब्द हैं इन्हें इसी रूप या क्रम से प्रस्तुत करने से इनमे कोई भी अर्थ नहीं निकलता है परन्तु अगर हम इन्हीं शब्दों को अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर सम्बन्धित कर दें तो उसका रूप इस प्रकार होगा—'अच्छा हम तुम साथ-साथ खाना खायेंगे।' और इस रूप मे इन शब्दों के द्वारा हम अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी सत्य है जो कि अनेक शब्दों, विचारों, व्याकरण, कहावत आदि का एक अर्थपूर्ण संग्रह है और जिसके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है। इसीलिए मैंने अपनी संस्कृति-संकुल की उपरोक्त परिभाषा में इसे (संस्कृति-संकुल) सांस्कृतिक तत्त्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप कहा है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यहाँ पर 'मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है' इस वाक्यांश से यह भ्रम न होना चाहिए कि संस्कृति-संकुल एक संस्था नहीं है क्योंकि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करने के स्वीकृत (accepted) या स्थापित (established) साधनों को ही संस्था कहा जाता है। पर संस्कृति-संकुल में यह जरूरी नहीं कि वह *मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति का स्वीकृत या स्थापित* साधन ही हो। वास्तव मे, जैसा कि श्री पिडिंगटन (Piddington) का कथन है, संस्कृति-संकुल मे सांस्कृतिक तत्त्वों का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) के कारण या महज आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण हों।[1] उदाहरणार्थ, भारत में खेती, यह एक सांस्कृतिक तत्व (culture trait) है परन्तु इस खेती से सम्बन्धित अन्य तत्त्व हैं जैसे, खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा करना, चिड़ियों से फसल की रक्षा के लिए खेत मे 'धोख' लगाना, फसल काटकर खलिहान में रखना व नौ प्रकार के नये अनाज से खाना पकाना आदि अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) ही है। इसके विपरीत हिन्दू स्त्रियों के सौन्दर्य-संकुल (beauty complex) के अन्तर्गत कौन-कौन से सांस्कृतिक तत्त्वों (culture traits) का समावेश होगा यह अनेक आकस्मिक कारणों पर निर्भर करेगा क्योंकि उपरोक्त खेती-संकुल की भाँति सौन्दर्य-संकुल के अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों का सम्मिलन किसी प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (functional point of view) से अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। इसीलिए हिन्दू स्त्रियों के सौन्दर्य-संकुल के अन्तर्गत चूड़ी, कंगन तथा अन्य आभूषण (ornaments), सिन्दूर, बिन्दी, सुर्मा, पाउडर, लिपिस्टिक, नाखूनों की लाली, आलता, तेल, सेण्ट आदि का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण कहा जा सकता है, क्योंकि फैशन आदि मे परिवर्तन के साथ-साथ इस संकुल मे सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रायः नये तौर पर घटना-बढ़ना सम्भव है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि संस्कृति-संकुल में एकाधिक सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश होता है, और ये सांस्कृतिक तत्त्व परस्पर अन्तःक्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान

---

1. "The aggregation of traits in a complex may be due to association or to what is called *adhesion*, that is, the apparently existence of culture traits."—Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 22.

(behaviour pattern) को निश्चित करते हैं। इसीलिए संस्कृति-संकुल को सांस्कृतिक तत्त्वों की अन्त:क्रिया का प्रतिमान (pattern of the interaction of culture traits) कहकर भी परिभाषित किया जाता है।

संस्कृति-संकुल के अनेक उदाहरण हमें अपने समाज तथा आदिम समाज दोनों में ही मिल सकते हैं। श्री विली (Willey) ने 'फुटवाल-संकुल' (football complex) का अति रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि खेल में प्रयोग की जाने वाली हर चीज एक-एक तत्त्व (trait) है जैसे स्वयं गेंद, गोल-पोस्ट (goal posts), मैदान (stadium), वर्दी (uniform), विशेष प्रकार के जूते, गोलकीपर के दस्ताने, रेफरी की सीटी (whistle) आदि। परन्तु ये सव चीजें सम्पूर्ण फुटबाल के खेल के केवल कुछ ही तत्त्व हैं; इनके अलावा भी अनेक तत्त्वों (traits) का समावेश इस खेल में है जैसे, खेल से सम्बन्धित अनेक नियम स्वयं ही अनेक तत्त्वों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त खेल के समय बजने वाले बैण्ड (band), दर्शकों का हर्ष-ध्वनि या ताली पीटना और खिलाड़ियों को प्रोत्साहित करना, मैदान के चारों कोनों में लगे हुए झण्डे, टिकट, सीट सुरक्षित (reserve) कराने की व्यवस्था, टिकट-घर, बेंच या कुर्सियाँ, पत्रकारों तथा विशेष अतिथियों (guests) के लिए बैठने का विशेष प्रवन्ध, सोडा वाटर की बोतलें, चनाचूर और चीना वादाम के पैकेट आदि सभी चीज़ें फुटबाल के खेल में ही आ जाती हैं और इनके बिना खेल पूरा भी नहीं हो सकता। परन्तु फुटवाल-संकुल का अन्त यहीं नहीं होता क्योंकि खेल समाप्त होने के बाद खेल का जो विस्तारित विवरण समाचार-पत्र में निकलता है, कालेज आदि में विशेष खेल के दिनों में जो छुट्टियाँ होती हैं, खेल के वाद जो कप और शील्ड विजयी दल को दिया जाता है और उस विजय की खुशी में उसी रात को जो पार्टियाँ दी जाती हैं, वे सभी मिलकर वास्तव में इस संकुल को पूरा करते हैं क्योंकि इन सवका आधार फुटवाल का खेल ही है। इन तमाम तत्त्वों (traits) के इस 'महा मिलन' या सम्पूर्ण योग को ही फुटवाल-संकुल कहते हैं।[1] उसी प्रकार हिन्दुओं में 'विवाह-संकुल' के अन्तर्गत केवल ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व जैसे मंगल कलस, मड़वा, हवन-सामग्री, आभूषण, वस्त्र, दान-सामग्री, दहेज, भोज की चीजें, सप्तपदी, मंत्र तथा ऐसी ही अनेक प्रथाएं, रीति-रस्म व संस्कार ही सम्मिलित नहीं हैं, बल्कि सोहागरात मनाने के लिए आवश्यक वस्तुएँ तथा रीतियाँ, 'गौना' (द्विरागमन) से सम्बन्धित चीज़ें तथा रीति-रिवाज, पत्नी के पहली वार 'माँ' वनने पर 'पचवासा' या 'सतवासा' के अवसर पर होने वाली रस्में या पत्नी के बाँझ होने पर पुत्र-प्राप्ति के लिए दूसरी शादी आदि कितने ही सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश हिन्दुओं के विवाह-संकुल में होता है।

ऐसे भी कुछ संस्कृति-संकुल होते हैं जिन्हें कि सह-संकुलों (component complexes) में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक समाज के यातायात-संकुल (transport complex) में विभिन्न सह-संकुलों का समावेश होता है, जैसे, वायु

---

1. M. M. Willey, in Davis, Barnes, *An Introduction to Sociology*, D.C. ·h and Co., p. 524.

यातायात-संकुल, रेल यातायात-संकुल, जल यातायात-संकुल आदि।

संस्कृति-प्रतिमान
(Culture Pattern)

जैसा कि अब तक की विवेचना से स्पष्ट है; अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों के सम्मिलन से एक संस्कृति-संकुल बनता है, परन्तु संस्कृति के ये संकुल शून्य में रहकर कार्य नहीं करते, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत प्रत्येक संकुल का एक निश्चित स्थान या स्थिति और कार्य होता है। ये सब मिलकर या मिलित रूप में एक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत संस्कृति-संकुलों की उस व्यवस्था (arrangement) को, जिससे कि सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताएँ व्यक्त हों, संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दों में, "सम्पूर्ण संस्कृति के एक प्रकार का सामान्यकृत चित्र के रूप में संकुलों का एक संग्रह संस्कृति-प्रतिमान है।[1] श्री हर्सकोविट्स ने संस्कृति-प्रतिमान की परिभाषा और भी विस्तृत रूप में प्रस्तुत की है। आपके मतानुसार, संस्कृति-प्रतिमान "एक संस्कृति के तत्त्वों का वह डिजाइन है जो कि, उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ, जीवन के तरीके को संबद्धता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से संस्कृति-प्रतिमान की प्रकृति का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। संस्कृति प्रतिमान की किसी भी विवेचना में यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि संस्कृति कोई गड़बड़-झाले की या अव्यवस्थित चीज नहीं है। प्रत्येक संस्कृति में, चाहे वह आदिम समाज की हो या सभ्य समाज की, एक संगठन होता है। यह संगठन इस कारण दिखायी पड़ता है कि संस्कृति के विभिन्न पक्ष और तत्त्व या संकुल एक विशिष्ट ढंग या फैशन से संस्कृति के ढाँचे के अन्दर सजे हुए होते हैं। संस्कृति इन तत्त्वों या संकुलों से इस प्रकार बनी होती है जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान। परन्तु केवल संस्कृति-संकुलों (culture complexes) का एकत्रीकरण उसी प्रकार संस्कृति नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार पत्थरों के ढेर को मकान नहीं कह सकते। मकान कहलाने के लिए इन पत्थरों में एक व्यवस्था (arrangement) क्रम (order), या ढंग होना चाहिए। एक विशिष्ट ढंग से पत्थरों को संयुक्त करने से एक कमरा बनता है और इन कमरों को एक क्रम से लगाने या सजाने पर मकान बनता है। ठीक उसी प्रकार संस्कृति-संकुलों के

---

1. "The culture pattern is a grouping of trait complexes into a sort of generalized picture of the culture as a whole."—Sutherland and Woodward, *op. cit.*, p. 36.

2. Culture pattern is "the designs taken by the elements of a culture which as consenses of the individual behaviour patterns manifest by the members of a society, give to this way of life coherence, continuity, and distinctive fo[illegible]
—M. J. Herskovits, *op cit.*, p. 202.

एक विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाने से संस्कृति-प्रतिमान बनता है और इन संस्कृति-प्रतिमानों की सम्पूर्ण व्यवस्था को संस्कृति कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि **सम्पूर्ण संस्कृति के ढांचे के अन्दर एक विशिष्ट ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति-संकुलों के मिलित रूप को संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।**

संस्कृति-प्रतिमान के सम्बन्ध में प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रस्तुत किया है। इसकी विवेचना हम इसी अध्याय में 'संरूपणात्मक दृष्टिकोण' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक करेंगे। यहां केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि एक संस्कृति के अन्तर्गत छोटे-छोटे अनेक खण्ड या इकाइयां होती हैं; ये इकाइयां अलग-अलग नहीं रहतीं बल्कि एकसाथ इस प्रकार संगठित हो जाती हैं कि संस्कृति को एक विशिष्ट रूप या डिज़ाइन प्राप्त हो जाता है। संस्कृति के विभिन्न खण्डों या उपखण्डों के इस सम्बद्ध रूप को ही संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन से एक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान सरलता से हो सकता है और संस्कृति-प्रतिमान की अवधारणा का यही सबसे उल्लेखनीय महत्त्व है। उदाहरणार्थ, भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पाये जाने वाले संस्कृति-प्रतिमान जैसे, जाति-प्रथा, पंचायत, संयुक्त-परिवार, धार्मिक भिन्नता, खेती, गांधीवाद, अध्यात्म जीवन-दर्शन आदि भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और आधारों को बताते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र में इसी कारण संस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन का महत्त्व किसी-न-किसी रूप में दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति या उसके तत्त्वों का फैलाव एक भौगोलिक क्षेत्र में विशेष रूप से होता है। संस्कृति को चूंकि सीखा जाता है इस कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को सीख सकता है। परन्तु अपने पास-पड़ोस वाली संस्कृति को सीखना जितना सरल है उतनी सरलता से दूर की संस्कृतियों को नहीं सीखा जा सकता। इस कारण सांस्कृतिक तत्त्वों में गतिशीलता का गुण होते हुए भी एक निश्चित भूभाग में ही वे विशेष रूप से पाये जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सांस्कृतिक तत्त्व विभिन्न क्षेत्रों में समान या एक-से हों, फिर भी सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था या संस्कृति-संकुल में उनका स्थान और विशेषता भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग होती है। सांस्कृतिक क्षेत्र की किसी भी विवेचना में इस सत्य को न भूलना चाहिए।

श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) का कथन है कि सांस्कृतिक तत्त्व और संकुल, विशेषकर अगर वे अभौतिक (non-material) हैं, दूसरे संस्कृति के तत्त्वों और संकुलों के साथ मिश्रित हुए बिना अधिक दूर तक फैल नहीं सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये सांस्कृतिक तत्त्व और संकुल अपने मूल रूप में केवल एक सीमित क्षेत्र में ही पाये जाते हैं। श्री विसलर के मतानुसार प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र का, जिसमें कि कुछ संस्कृति-संकुल पाये जाते हैं, एक केन्द्रीय भाग या 'केन्द्र स्थान' ढूंढा जा सकता है जहाँ से कि सांस्कृतिक तत्त्व अन्य क्षेत्रों में फैलते हैं और वहाँ के सांस्कृतिक तत्त्वों से मिश्रित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, श्री विसलर का यह विश्वास है कि एक सांस्कृतिक क्षेत्र में एक ऐसा भी स्थान होता है जहाँ कि कुछ सांस्कृतिक तत्त्व अपने विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं और वे सांस्कृतिक तत्त्व उस रूप में और कहीं नहीं मिलते। अगर मिलते भी हैं तो मिश्रित रूप में। श्री विसलर का यह भी कहना है कि अधिक दूरी, पर्वत, सागर व महासागर, घने जंगल या विस्तृत रेगिस्तान सांस्कृतिक तत्त्वों के फैलने में प्रमुख बाधा है।

वैसे तो श्री सापिर (Sapir) तथा अन्य विद्वानों ने सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा को सैद्धान्तिक रूप में प्रयोग किया था, पर श्री विसलर ही प्रथम विद्वान थे जिन्होंने इसकी क्रमबद्ध और वास्तविक विवेचना प्रस्तुत की। आपकी यह विवेचना अमेरिकन इण्डियन की संस्कृतियों के अध्ययन पर आधारित है। इसी विवेचना के दौरान में आपने सांस्कृतिक क्षेत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि नयी दुनिया (New World) के आदि-वासियों को सांस्कृतिक तत्त्वों के अनुसार बाँटा जाय तो हमें भोजन-क्षेत्र, वस्त्र-क्षेत्र, धर्म-क्षेत्र आदि प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि हम एकसाथ सभी तत्त्वों (traits) को ध्यान में रखें और अपने दृष्टिकोण को सामाजिक या जनजातीय इकाइयों की ओर घुमायें, तो हम बहुत-कुछ निश्चित समूहों का पता लगा सकते हैं। यही सांस्कृतिक क्षेत्र हैं अर्थात् सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर सामाजिक समूहों का वर्गीकरण।"[1] श्री विसलर ने सामाजिक समूहों

1. If "the natives of the New World could be grouped according to

संस्कृति का विकास
(Growth of Culture)

प्रारम्भ से ही मानवशास्त्रीय अध्ययन की एक प्रमुख समस्या यह रही कि विभिन्न संस्कृतियों का विकास कैसे और किन अवस्थाओं से गुजरता हुआ होता है। क्या सभी समाजों में सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया एक-सी होती है? क्या सांस्कृतिक विकास के कुछ निश्चित स्तर होते हैं? इसी सांस्कृतिक विकास में कौन-कौनसे कारक सहायक सिद्ध

1. "Culture is a geographical region in which residea considerable number of relatively independent tribes with similar cultures."—Clark Wissler *An Introduction to Social Anthropology*, Henry Holt and Co., New York, 1929, p. 345.

होते हैं ? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर विभिन्न समय के मानवशास्त्रियों ने देने का प्रयत्न किया है। अब हम इन विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक विकास के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

(1) उद्‌विकास
(Evolution)

श्री डार्विन (Darwin) के प्राणीशास्त्रीय उद्‌विकास के सिद्धान्त के आधार पर अनेक मानवशास्त्रियों ने, जिनमें कि नेता श्री हर्बर्ट स्पेन्सर थे, समाज तथा संस्कृति के विकास को भी समझाने का प्रयत्न किया। श्री डार्विन के उद्‌विकासीय सिद्धान्त में चार प्रमुख बातें थीं —(1) प्रारम्भ में प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अंग इस प्रकार एकसाथ घुले-मिले होते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता; पर धीरे-धीरे विभिन्न अंग स्पष्ट तथा पृथक् हो जाते हैं। जैसे, एक बीज प्रारम्भ में बहुत सरल होता है और उसके विभिन्न अंग (जैसे जड़, तना, पत्ते, फूल इत्यादि) अलग-अलग नहीं होते, पर धीरे-धीरे ये अंग स्पष्ट हो जाते हैं और उनमें भिन्नता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अभिन्न समग्रता (undifferentiated totality) का विभिन्न भागों में विकसित होना उद्‌विकास का प्रथम सिद्धान्त है; (2) विभिन्न अंगों के विकसित होने पर भी इनमें अन्तःसम्बन्ध तथा अन्तःनिर्भरता का बना रहना; (3) उद्‌विकास की प्रक्रिया का निरन्तर जारी रहना, तथा (4) उद्‌विकास का कुछ निश्चित स्तरों से गुजरकर होना जिस दौरान में सरल धीरे-धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है। वास्तव में एक सादा और सरल चीज का धीरे-धीरे एक जटिल अवस्था में बदल जाना ही उद्‌विकास है।

श्री डार्विन के उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ही श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने उद्‌विकास की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—"उद्‌विकास तत्त्व (matter) का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान में तत्त्व एक अनिश्चित, असम्बद्ध समानता से निश्चित, संबद्ध भिन्नता में बदलता है।"[1] श्री स्पेन्सर के मतानुसार यही नियम समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, अति आदिम युग में प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने बारे में ही जानता और करता था। सामाजिक संगठन या संस्कृति के सम्बन्ध में उन्हें कोई ज्ञान भी नहीं था। इस दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति बहुत-कुछ एक-से थे। साथ ही, इस स्तर पर कुछ भी निश्चित न था—न तो जीवन और न ही सामाजिक संगठन और संस्कृति। उन्हें एकसाथ मिलकर काम करना तक नहीं आता था। इस प्रकार उनकी यह अवस्था 'अनिश्चित, असंबद्ध समानता' की होती है। परन्तु धीरे-धीरे उनके अनुभव, विचार तथा ज्ञान में उन्नति होती है, उन्हें मिलकर काम करना आ जाता है, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग

---

[1] [illegible] ...oncomitant dissipation of ... incoherent homogeneity ... ncer, *First Principles*, D. Appleton & Co., New York, [illegible]

स्पष्ट और पृथक् हो जाते हैं, श्रम-विभाजन होता है, प्रत्येक व्यक्ति वही काम करता है जिसे वह सबसे अच्छी तरह कर सकता है और इस प्रकार सब मिलकर, संगठित रूप में एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। यह स्थिति 'निश्चित संबद्ध भिन्नता' की होती है।

उपरोक्त उद्‌विकासीय योजना को प्रत्येक सामाजिक घटना के विकास को समझाने में प्रयोग किया गया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सर्वश्री मॉर्गन (Morgan), टायलर (Tylor), हड्डन आदि की कृतियों में मिलता है। मानवशास्त्र का कोई भी क्षेत्र इससे अप्रभावित न रहा। आर्थिक क्षेत्र में उद्‌विकास के तीन प्रमुख स्तरों (stages) का उल्लेख किया जाता है। वे स्तर हैं—(क) शिकार करने और फल इकट्ठा करने की स्थिति, (ख) चारागाह की स्थिति, और (ग) कृषि की स्थिति। उसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के भी तीन स्तर बताये जाते हैं—(अ) पाषाण युग, (ब) ताम्र युग, और (स) लौह युग।

इस सम्बन्ध में श्री लूईस मॉर्गन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने मानव-समाज के उद्‌विकास में तीन प्रमुख स्तरों का उल्लेख किया। आपके मतानुसार विकासवाद का 'सरल का धीरे-धीरे जटिल रूप में बदल जाने का सिद्धान्त' मानव-समाज व संस्कृति के विकास में भी सत्य प्रतीत होता है। सर्वप्रथम मानव की संस्कृति जंगली-अवस्था (savage stage) में थी, उसके बाद असभ्य-अवस्था (barbarian stage) में और अन्त में सभ्य-अवस्था (civilized stage) में आयी है। इस प्रकार श्री मॉर्गन के मतानुसार मानव की संस्कृति जंगली अवस्था से असभ्य-अवस्था में से गुज़रती हुई सभ्य-स्तर तक एक क्रम से धीरे-धीरे विकसित हुई है। आपका यह भी कथन है कि इन तीनों स्तरों के तीन-तीन उप-स्तर (sub-stages) हैं—प्राचीन काल, मध्य-काल तथा उत्तर-काल। **जंगली-स्तर** के प्रथम उप-स्तर में मानव जंगल में मारा-मारा फिरता था और शायद ही किसी प्रकार की उल्लेखनीय संस्कृति का अधिकारी था। इस स्तर के मध्य-काल में लोगों को मछली पकड़ने तथा आग जलाने की कला आ गई और उत्तर-काल में तीर-धनुष को भी प्रयोग में लाना सीखा। इसके पश्चात् मानव ने जब बर्तनों का आविष्कार किया तो उसने **असभ्य-अवस्था** के प्रथम उपस्तर में कदम रखा। इस अवस्था का मध्यम काल तब आया जब कि मानव को पशु पालने तथा पौधे उगाने की कला आ गई थी। इसके बाद जब तक लोगों को लोहे को गलाकर उससे लोहे के बर्तन तथा औज़ार बनाना न आया तब तक वे असभ्य-अवस्था के उत्तर-काल में बने रहे। इसके पश्चात् मानव-संस्कृति का **सभ्य-अवस्था** में प्रवेश तब हुआ जबकि अक्षरों और लिखने की कला का श्रीगणेश हुआ।

श्री मॉर्गन (Morgan) ने विवाह तथा परिवार की उत्पत्ति व विकास को भी उद्‌विकासीय सिद्धान्त के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। आपके मतानुसार प्रारम्भ में मानव-समाज में विवाह नामक कोई भी संस्था न थी; जो भी जिससे चाहे यौन-सम्बन्ध (sex relation) स्थापित कर सकता था। इसके बाद विवाह सम्बन्धी कुछ अस्पष्ट नियमों का विकास हुआ और एक समूह के समस्त लड़कों के साथ दूसरे समूह की समस्त लड़कियों का विवाह अर्थात् समूह-विवाह (group marriage) की

स्थिति आयी। इस अवस्था के बाद समान-रुधिर-विवाह (consanguine marriage) प्रारम्भ हुआ। और इसी प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक युग में पाये जाने वाले एक-विवाह (monogamy) का उद्‌विकास हुआ।

जहाँ तक परिवार के उद्‌विकास का प्रश्न है, श्री मॉर्गन ने ऐसी पाँच अवस्थाएं बतलायी हैं जिनको पार कर परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुंचा है। वे पाँच स्तर क्रमशः निम्नलिखित हैं—(अ) प्रथम अवस्था समान रुधिर वाले परिवार (consanguine family) की थी जिसमें केवल रक्त-सम्बन्धी ही रहते थे और रक्त का कोई भी संकोच किये बिना भाइयों और बहनों तक मे परस्पर विवाह होते थे। (ब) दूसरी अवस्था समूह-परिवार (punaluant family) की थी। इसमें एक परिवार के भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था, परन्तु उनमे आपस में यौन-सम्बन्ध अनिश्चित था अर्थात् प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी होती थी और इसी के अनुसार उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। (स) तीसरी अवस्था सिंडेस्मियन परिवार (syndasmian family) की थी। इस प्रकार के परिवार मे यद्यपि एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह होता था, परन्तु उसी परिवार में व्याही हुई अन्य स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की प्रत्येक पुरुष को स्वतन्त्रता रहती थी। (द) चौथी अवस्था पितृ-सत्तात्मक परिवार (patriarchal family) की थी। इसमें पुरुष का एकाधिपत्य था। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था और उन सबके साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। (र) पाँचवीं अवस्था एक-विवाह परिवार (monogamous family) की है। इसमे एक समय मे एक पुरुष की एक पत्नी होती है। यही विवाह और परिवार का वर्तमान रूप है।

धर्म के उद्‌विकास के सम्बन्ध में किसी भी विद्वान ने निश्चित स्तरों का उल्लेख करने का उतना साहस नही किया जितना कि श्री स्पेन्सर ने किया था। आपके विचार श्री टायलर के विचारों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। श्री टायलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा मे विश्वास के कारण हुई है। श्री स्पेन्सर भी यही बात मानते थे। साथ ही, उनका विश्वास था कि समस्त धार्मिक संस्कार, कृत आदि का उद्‌भव पूर्वज पूजा से हुआ है और इन सबका आधार 'डर' (fear) था। इसी आधार पर श्री स्पेन्सर ने अपने प्रख्यात नियम को प्रतिपादित किया था। आपके मतानुसार, "सभी धर्मों की उत्पत्ति मरे हुए लोगों के डर के कारण और समस्त समाजों की उत्पत्ति जिन्दा लोगों के डर के कारण हुई है।"[1] इस सम्बन्ध मे श्री टायलर का मत यह है कि चूंकि धर्म की उत्पत्ति आत्मा मे विश्वास के आधार पर हुई और चूंकि आत्माएँ अनेक हैं इसलिए धर्म का सर्वप्रथम और सबसे सरल स्वरूप बहु-देववाद (polytheism) था जो कि धीरे-धीरे उद्‌विकासीय प्रक्रिया मे से गुजरता हुआ अद्वैतवाद (monotheism)

---

1. "All religion had come from the fear of the dead and all society the fear of living."

स्थिति में आ पहुँचा है। यही अद्वैतवाद या एक ईश्वर पर विश्वास धर्म की आधुनिक अवस्था है।

इस सम्बन्ध में स्मरण रहे कि धर्म के सम्बन्ध में श्री टायलर की उपरोक्त उद्विकासीय योजना श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte : 1798—1857) से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। श्री कॉम्ट के अनुसार इस दिशा में तीन स्तर रहे हैं और वे हैं—(1) जीवित सत्तावाद (fetichism), (2) बहु-देवत्ववाद (polytheism) और (3) अद्वैतवाद (Monotheism)। प्रथम अवस्था में मानव अलौकिक शक्ति के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में बिल्कुल ही अज्ञान था और वह प्रत्येक चीज में एक जीवित सत्ता का अनुभव करता था। इसी के आधार पर इस स्तर पर अनेक जादू-टोनों पर विश्वास किया जाता था। द्वितीय स्तर पर मनुष्य का मस्तिष्क अधिक सुसंगठित हुआ और इस कारण जादू-टोनों से मानव परेशान हो गया और उन्हें एक सम्मिलित रूप देने की भावना उसमें जागृत हुई जिसके फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित एक-एक देवी-देवता का जन्म होता है। यही बहू-देवत्ववाद का स्तर था। परन्तु इन अनेक देवी-देवताओं के कारण भी मानसिक उलझनें बनी रहीं। इस कारण मानव अपने समस्त श्रद्धा-विश्वास को अनेक देवी-देवताओं में न बाँटकर किसी एक ईश्वर पर अपनी समस्त श्रद्धा, विश्वास आदि को निछावर करने के लिए उन्मुख हुआ जिसके फलस्वरूप तृतीय स्तर या अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव होता है।

कला का क्षेत्र भी उद्विकासीय योजना से विमुक्त न हुआ। अपनी पुस्तक *Evolution in Art* में श्री हड्डन (Haddon) ने कला के क्षेत्र में होने वाली उद्विकासीय प्रक्रिया का सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार कला अपनी प्रारम्भिक अवस्था में 'यथार्थवादी' (realistic) थी। इस कारण इस अवस्था में वस्तुएँ या प्राकृतिक चीज़ें पशु, पक्षी और पेड़ जैसी दीखती थीं, उनका उसी रूप में चित्रण कर दिया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इस अवस्था में परिवर्तन हुआ और कला का स्वरूप सरल से जटिल होता गया। दूसरे शब्दों में, कला का यथार्थवादी स्वरूप धीरे-धीरे संकेतवादी (symbolic) में बदलता गया और रेखागणित के ढंग से (geometrically) कला का चित्रण होने लगा।

यह सच है कि उद्विकासीय सिद्धान्त के उपरोक्त प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्तों द्वारा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने तथा आगे और कुछ छानवीन करने में काफी सहायता की है, फिर भी उनका एकतरफा (one-sided) विश्लेषण ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इन विद्वानों ने सांस्कृतिक विकास को जिन निश्चित सीमाओं में बाँधा था, उससे आज के अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नहीं हैं। उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों की प्रमुख दुर्बलताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) इन विद्वानों ने यह मान लेने की भूल की कि प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक विकास का एक समान तथा निश्चित स्तर या अवस्था रही होगी। अगर ये विद्वान विभिन्न समाजों के ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक प्रमाणों का विश्लेषण करते तो उन्हें उनकी गलती स्वयं पता चल जाती। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक

तथा अन्य परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं और इसका प्रभाव सांस्कृतिक विकास-प्रक्रियाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि परिस्थितियाँ अलग-अलग होते हुए भी प्रत्येक समाज मे उद्‌विकासीय प्रक्रिया एकसमान ही रही होगी ? वास्तविकता यह है कि प्रत्येक समाज में भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार उद्‌विकासीय प्रक्रिया भी अलग-अलग ढंग से होती है।

(2) उद्‌विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह दावा (claim) भी गलत है कि प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर (stages) एक ही क्रम से आये हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना ठीक न होगा कि प्रत्येक समाज में आर्थिक जीवन का उद्‌विकास शिकार करने की स्थिति से पशुपालन की स्थिति और उससे कृषि स्थिति—इसी क्रम से हुआ है। मानवशास्त्रीय प्रमाणों से इस विचार की पुष्टि नहीं होती। जैसे, हम यह कह सकते हैं कि शिकार करने की स्थिति यद्यपि जंगली अवस्था की परिचायक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक प्राचीन है, फिर भी शिकार की स्थिति आर्थिक विकास के अन्य सभी स्तरों मे अब तक विद्यमान है। साथ ही, आर्थिक विकास में कोई ऐसा भी समय था जबकि लोग 'केवल' शिकार करते थे, इसका भी प्रमाण हमें नहीं मिलता। आदिम दुनिया के सर्वेक्षण (survey) से यह पता चलता है कि अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं (जैसे उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की जनजातियाँ) जो कि खेती तो करती हैं, पर वे पशुपालन की स्थिति से भी गुजरी हैं, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका मे, जैसा कि अफ्रीका में भी हुआ है, शिकार करने व फल इकट्ठा करने की स्थिति के बाद, बिना पशु-पालन या चरागाह की स्थिति से गुजरे ही, कृषि अवस्था आ गई। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्‌विकास के भी तीन स्तर—पाषाण युग, ताम्र युग तथा लौह युग—इसी निश्चित क्रम से प्रत्येक समाज में प्रकट हुए हैं, यह निष्कर्ष उचित नहीं है। यद्यपि यूरोप के देशों के अध्ययन से प्रौद्योगिकीय उद्‌विकास के उपरोक्त तीनों स्तर स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं, फिर भी अफ्रीका आदि देशों मे जो प्रमाण हमे प्राप्त होते हैं उससे यही मालूम होता है कि वहाँ पाषाण युग के बाद एकदम लौह युग का प्रादुर्भाव हुआ; ताम्र युग के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की निश्चित सीमा-रेखा के अन्दर मानव संस्कृति के क्रम-विकास की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं।

(3) उद्‌विकासवादी लेखकों की पद्धति भी दोषपूर्ण थी। वास्तव में ये सभी विद्वान, यहाँ तक कि श्री स्पेन्सर भी, अपने अध्ययन मे वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के विषय मे बहुत-कुछ उदासीन रहे और वह इस अर्थ मे कि इन विद्वानों ने अपने सिद्धान्त व कथनों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कसकर नहीं देखा, अर्थात् विभिन्न जनजातीय समुदायों का अध्ययन वास्तविक निरीक्षण (actual observation) के आधार पर करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। इन्हें तो जो कुछ विवरण पर्यटकों (travellers) तथा मिशनरियों (missionaries) से प्राप्त हो जाते थे उसी पर निर्भर रहकर वे निष्कर्ष निकालते थे। ये विवरण गलत हैं या सही, इसकी जाँच करने का इन

स्थिति में आ पहुँचा है। यही अद्वैतवाद या एक ईश्वर पर विश्वास धर्म की आधुनिक अवस्था है।

इस सम्बन्ध में स्मरण रहे कि धर्म के सम्बन्ध में श्री टायलर की उपरोक्त उद्विकासीय योजना श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte : 1798—1857) से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। श्री कॉम्ट के अनुसार इस दिशा में तीन स्तर रहे हैं और वे हैं—(1) जीवित सत्तावाद (fetichism), (2) बहु-देवत्ववाद (polytheism) और (3) अद्वैतवाद (Monotheism)। **प्रथम** अवस्था में मानव अलौकिक शक्ति के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में बिल्कुल ही अज्ञान था और वह प्रत्येक चीज़ में एक जीवित सत्ता का अनुभव करता था। इसी के आधार पर इस स्तर पर अनेक जादू-टोनों पर विश्वास किया जाता था। **द्वितीय** स्तर पर मनुष्य का मस्तिष्क अधिक सुसंगठित हुआ और इस कारण जादू-टोनों से मानव परेशान हो गया और उन्हें एक सम्मिलित रूप देने की भावना उसमें जागृत हुई जिसके फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित एक-एक देवी-देवता का जन्म होता है। यही बहू-देवत्ववाद का स्तर था। परन्तु इन अनेक देवी-देवताओं के कारण भी मानसिक उलझनें बनी रहीं। इस कारण मानव अपने समस्त श्रद्धा-विश्वास को अनेक देवी-देवताओं में न बाँटकर किसी एक ईश्वर पर अपनी समस्त श्रद्धा, विश्वास आदि को निछावर करने के लिए उन्मुख हुआ जिसके फल स्वरूप **तृतीय** स्तर या अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव होता है।

कला का क्षेत्र भी उद्विकासीय योजना से विमुक्त न हुआ। अपनी पुस्तव *Evolution in Art* में श्री हड्डन (Haddon) ने कला के क्षेत्र में होने वाली उद्विका· सीय प्रक्रिया का सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार कला अपनी प्रारम्भिक अवस्था में 'यथार्थवादी' (realistic) थी। इस कारण इस अवस्था में वस्तुएं या प्राकृतिक चीज़ें पशु, पक्षी और पेड़ जैसी दीखती थीं, उनका उसी रूप में चित्रण कर दिया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इस अवस्था में परिवर्तन हुआ और कला का स्वरूप सरल से जटिल होता गया। दूसरे शब्दों में, कला का यथार्थवादी स्वरूप धीरे-धीरे संकेतवादी (symbolic) में बदलता गया और रेखागणित के ढंग से (geometrically) कला का चित्रण होने लगा।

यह सच है कि उद्विकासीय सिद्धान्त के उपरोक्त प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्तों द्वारा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने तथा आगे और कुछ छानबीन करने में काफी सहायता की है, फिर भी उनका एकतरफा (onc-sided) विश्लेषण ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इन विद्वानों ने सांस्कृतिक विकास को जिन निश्चित सीमाओं में बाँधा था, उससे आज के अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नहीं हैं। उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों की प्रमुख दुर्बलताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) इन विद्वानों ने यह मान लेने की भूल की कि प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक विकास का एक समान तथा निश्चित स्तर या अवस्था रही होगी। अगर ये विद्वान विभिन्न समाजों के ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक प्रमाणों का विश्लेषण करते तो उन्हें उनकी गलती स्वयं पता चल जाती। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक

तथा अन्य परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं और इसका प्रभाव सांस्कृतिक विकास-प्रक्रियाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि परिस्थितियाँ अलग-अलग होने हुए भी प्रत्येक समाज में उद्विकासीय प्रक्रिया एकसमान ही रही होगी ? वास्तविकता यह है कि प्रत्येक समाज में भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार उद्विकासीय प्रक्रिया भी अलग-अलग ढंग से होती है।

(2) उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह दावा (claim) भी गलत है कि प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर (stages) एक ही क्रम से आये हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना ठीक न होगा कि प्रत्येक समाज में आर्थिक जीवन का उद्विकास शिकार करने की स्थिति से पशुपालन की स्थिति और उससे कृषि स्थिति—इसी क्रम से हुआ है। मानवशास्त्रीय प्रमाणों से इस विचार की पुष्टि नहीं होती। जैसे, हम यह कह सकते हैं कि शिकार करने की स्थिति यद्यपि जंगली अवस्था की परिचायक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक प्राचीन है, फिर भी शिकार की स्थिति आर्थिक विकास के अन्य सभी स्तरों में अब तक विद्यमान है। साथ ही, आर्थिक विकास में कोई ऐसा भी समय था जबकि लोग 'केवल' शिकार करते थे, इसका भी प्रमाण हमें नहीं मिलता। आदिम दुनिया के सर्वेक्षण (survey) से यह पता चलता है कि अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं (जैसे उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की जनजातियाँ) जो कि खेती तो करती हैं, पर वे पशुपालन की स्थिति से भी गुजरी हैं, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका में, जैसा कि अफ्रीका में भी हुआ है, शिकार करने व फल इकट्ठा करने की स्थिति के बाद, बिना पशु-पालन या चरागाह की स्थिति से गुजरे ही, कृषि अवस्था आ गई। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी (technology) के उद्विकास के भी तीन स्तर—पाषाण युग, ताम्र युग तथा लौह युग—इसी निश्चित क्रम से प्रत्येक समाज में प्रकट हुए हैं, यह निष्कर्ष उचित नहीं है। यद्यपि यूरोप के देशों के अध्ययन से प्रौद्योगिकीय उद्विकास के उपरोक्त तीनों स्तर स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं, फिर भी अफ्रीका आदि देशों में जो प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं उससे यही मालूम होता है कि वहाँ पाषाण युग के बाद एकदम लौह युग का प्रादुर्भाव हुआ; ताम्र युग के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि उद्विकासीय सिद्धान्त की निश्चित सीमा-रेखा के अन्दर मानव संस्कृति के क्रम-विकास की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं।

(3) उद्विकासवादी लेखकों की पद्धति भी दोषपूर्ण थी। वास्तव में ये सभी विद्वान, यहाँ तक कि श्री स्पेन्सर भी, अपने अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने के विषय में बहुत-कुछ उदासीन रहे और वह इस अर्थ में कि इन विद्वानों ने अपने सिद्धान्त व कथनों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कसकर नहीं देखा, अर्थात् विभिन्न जनजातीय समुदायों का अध्ययन वास्तविक निरीक्षण (actual observation) के आधार पर करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। इन्हें तो जो कुछ विवरण पर्यटकों (travell तथा मिशनरियों (missionaries) से प्राप्त हो जाते थे उसी पर निर्भर रहकर वे निष्कर्ष निकालते थे। ये विवरण गलत हैं या सही, इसकी जाँच करने का

कभी प्रयत्न नहीं किया।

(4) अपनी पूर्वधारणाओं (preconceptions) से उद्विकासवादी लेखक इतने अधिक प्रभावित रहे कि वे प्रसार (diffusion) के सिद्धान्त तक को भूल गये, अर्थात् वे यह भी भूल गये कि संस्कृति एक जगह से दूसरी जगह को फैलती है। वास्तव में, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, गतिशीलता संस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। एक संस्कृति को मानने वाले लोग जैसे-जैसे दूसरी संस्कृति के सम्पर्क में आते हैं वैसे-वैसे संस्कृति का लेन-देन या प्रसार बढ़ता जाता है। वास्तविक निरीक्षण से यही बात स्पष्ट होती है कि अनेक सांस्कृतिक परिवर्तन व विकास इसी प्रकार के सिद्धान्त के आधार पर होते हैं।

(5) श्री गोल्डनविज़र (Goldenweiser) ने उद्विकासीय सिद्धान्त की एक और दुर्बलता का उल्लेख किया है और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रवर्तक 'प्रसार' की भाँति आविष्कार के महत्त्व को भी भूल गये हैं। 'संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जीवित मानव का आविष्कार है।' ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति में उस अर्थ में उद्विकास नहीं होता जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उद्विकासवादी लेखक करते हैं। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है और इसके निर्माण में अनेक पीढ़ियों का योग रहता है। प्रत्येक पीढ़ी में नवीन ज्ञान, विचार, वस्तुएँ आदि निरंतर संस्कृति को विकसित, परिमार्जित तथा विस्तृत करते रहते हैं। परन्तु क्या इस प्रक्रिया को उद्विकास कहा जाय? यदि कहा भी जाय तो भी इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि उद्विकास तात्पर्य केवल आकार में ही परिवर्तन नहीं, वल्कि गुण में भी परिवर्तन है। गुणात्मक परिवर्तन रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से ही सम्भव होता है जिसकी अभिव्यक्ति (expression) सामाजिक आविष्कार के रूप में होती है। संस्कृति सामाजिक आविष्कारों की ही उपज है। श्री गोल्डनविज़र के अनुसार संस्कृति न तो पृथक्-पृथक् या असंबद्ध पक्षों का संकलन है और न ही शरीर की भाँति पूर्णतया संगठित (integrated) एक समग्रता है। वास्तव में संस्कृति तो एक जटिलता है जिसके विभिन्न पक्ष अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाये रखते हुए एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित रहते हैं। परन्तु इस स्वतन्त्र सत्ता या पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्येक समाज में अलग-अलग गति व रूप होता है और प्रत्येक समाज में इसकी पूर्णता भी विभिन्न मात्रा में पाई जाती है।[1]

उपरोक्त कमियों को ध्यान में रखते हुए कुछ विद्वानों ने उद्विकासीय सिद्धान्त को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस सिद्धान्त की प्रायः सभी कमजोरियाँ दूर हो सकती हैं, यदि हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि उद्विकास की एक सीधी दिशा नहीं होती है वल्कि उसमें एक 'एकेन्द्रीय घुमाव' (parabolic curve)

1. "Culture is neither an aggregate of disparate aspects nor is it a thoroughly integrated or organic whole. Rather it is a complex the different aspects of which, while preserving their autonomy, ever tend to enter into interrelations with each other, but at different rates and with varying degree of completeness."
—A. Goldenweiser

की प्रवृत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि कोई एक संस्था पहले एक विशेष रूप में शुरू होती है, फिर धीरे-धीरे उसका बिल्कुल विपरीत रूप विकसित हो जाता है और फिर वह रूप अपने मूल रूप की ओर घूमता या मुड़ता है, यद्यपि बाद का यह रूप मूल रूप से अधिक उच्च-स्तर का होता है। कुछ उदाहरणों की सहायता से इसे और सरलता से समझा जा सकता है। आदिम समाज में सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार (communal ownership) हुआ करता था। धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप निजी सम्पत्ति (private property) की संस्था विकसित हुई। परन्तु अब झुकाव इस ओर है कि जनता के संरक्षक के रूप में राज्य के माध्यम से एक उन्नत ढंग का सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना चाहिए। उसी प्रकार पहले आदिम लोग कपड़ों का प्रयोग नहीं करते थे; धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और लोग अपने सारे शरीर को वस्त्र से ढँकने लगे, पर अब हम फैशन का नाम देकर फिर से अपनी आदिम दशा में लौटते जा रहे हैं और शरीर का अधिकांश भाग खुला रखना भी आपत्तिजनक (objectionable) या अनुचित नहीं समझा जाता है। उसी प्रकार यौन-सम्बन्ध को भी लीजिए। पहले यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध ना के समान थे; धीरे-धीरे इसका एक विपरीत रूप विकसित हुआ और एक-विवाह (monogamy) को आदर्श के रूप में अपनाते हुए यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध कठोरतम किये गये। पर आज फिर से ये प्रतिबन्ध धीरे-धीरे ढीले पड़ते जा रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि उद्‌विकासीय सिद्धान्त की अपनी अनेक कमजोरियाँ हैं जिसके कारण आधुनिक मानवशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। फिर भी इस सिद्धान्त से सांस्कृतिक विकास के अध्ययन का एक अच्छा सिलसिला मिल जाता है।

(2) प्रसार
(Diffusion)

यह सिद्धान्त, एक अर्थ में, उद्‌विकासीय सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया। उद्‌विकासवादी लेखक इस बात पर बल देते थे कि शरीर के विकास की भाँति सांस्कृतिक विकास भी आप-से-आप तथा कुछ आन्तरिक कारकों (internal factors) के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, इन विद्वानों का मत था कि सांस्कृतिक विकास में बाहरी कारकों का कोई हाथ नहीं रहता है। अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं हो पाये क्योंकि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों (culture traits) का आदान-प्रदान विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में हुआ है। उपलब्ध तथ्यों (available facts) के आधार पर उद्‌विकासीय सिद्धान्त को इसीलिए अनेक विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि साधारण निरीक्षण से भी हम यह जान सकते हैं कि सांस्कृतिक तत्त्व और सांस्कृतिक संकुल भी यातायात तथा संचार के साधनों के माध्यम से तथा लोगों के एक देश से दूसरे देश को आने-जाने से एक समूह से दूसरे समूह को गतिशील रहते हैं। यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान, या सांस्कृतिक विस्तार विशेषकर उन सांस्कृतिक समूहों में अधिक होता है जो कि

के आस-पास होते हैं। चूँकि संस्कृति सीखी जाती है इस कारण यह सीखने की प्रक्रिया उनके लिए आसान हो जाती है जो कि एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं क्योंकि इस प्रकार के सम्पर्क से वे एक-दूसरे के वस्त्र, बर्तन, मकान, भाषा, आचार तथा प्रथाओं को देखकर और सुनकर सीखते रहते हैं। उसी प्रकार सांस्कृतिक तत्त्व या संकुल एक देश से दूसरे देश या एक सांस्कृतिक समुदाय से दूसरे सांस्कृतिक समुदाय में जाकर बसने वाले लोगों के साथ-साथ प्रसारित हो सकता है और होता है। उदाहरणार्थ, भारत के देश-विभाजन के बाद भारत में पाकिस्तान से आ बसने वाले शरणार्थियों के साथ-साथ उनका सांस्कृतिक तत्त्व भी यहाँ आ गया है और यहाँ के लोगों में फैल गया। पाश्चात्य संस्कृति का भारतवर्ष में प्रसार तब हुआ जब कि इंगलैंड के निवासियों ने यहाँ आकर शासन की बाग-डोर अपने हाथों में ले ली। इस प्रकार एक सांस्कृतिक समूह से दूसरे सांस्कृतिक समूह में सांस्कृतिक तत्त्वों या संकुलों के फैलाव या विस्तार को 'प्रसार' (diffusion) कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रसार होता क्यों है? इस प्रश्न के दो सम्भावित उत्तर हो सकते हैं— **प्रथम** तो यह कि संस्कृति को सीखा जा सकता है और सीखा जाता भी है। इस कारण देखकर, सुनकर, जान-बूझकर अनुकरण (imitation) करके दूसरों की संस्कृति को अपना लेने से संस्कृति का प्रसार होता है। और **दूसरा** स्वयं कोई चीज़ आविष्कार करने की अपेक्षा दूसरों से नई चीजें ग्रहण करना आसान मालूम होता है। इसीलिए देखा गया है कि अनेक सांस्कृतिक तत्त्व व संकुल सारी पृथ्वी पर फैल जाते हैं, यद्यपि इस प्रकार से फैलने में उन्हें काफी समय लग जाता है। श्री क्रोबर ने लिखा है कि तम्बाकू (tobacco) का प्रयोग सर्वप्रथम मध्य अमेरिका में प्रारम्भ हुआ और वहाँ बहुत तेजी से दूसरे स्थानों को फैलने लगा, परन्तु एस्किमो (Eskimo) प्रदेश तक फिर भी पहुँच न सका। फिर जैसे ही स्पेन के निवासियों ने इसे अपनाया वैसे ही यह प्रथा फिर नयी गति से पूर्व की ओर के देशों में प्रसारित होने लगी और दुनिया का चक्कर लगाती हुई अमेरिका में फिर से प्रवेश किया और अलास्का (Alaska) के उन प्रदेशों में फैल गई जहाँ इसके पहले धूम्रपान (smoking) नहीं किया जाता था। इस प्रकार धूम्रपान दुनिया का चक्कर लगाकर फिर कहीं एस्किमो प्रदेश में प्रसारित हुआ।[1]

सांस्कृतिक प्रसार के सम्बन्ध में एक यह बात स्मरणीय है कि प्रसार बिना किसी शर्त के प्राय: नहीं होता है। एक नयी चीज़ या एक सांस्कृतिक तत्त्व (trait) का एक दूसरे प्रदेश या सांस्कृतिक समूह में तभी प्रसार होगा जब उस तत्त्व को उस नये प्रदेश में एक सांस्कृतिक आधार प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में, एक सांस्कृतिक समूह दूसरे के सांस्कृतिक तत्त्व को तभी अपनायेगा जब कि उसकी अपनी संस्कृति के दृष्टिकोण से वह सांस्कृतिक तत्त्व अर्थपूर्ण तथा लाभकारी हो। यदि ऐसा नहीं है तो उस समूह में उस तत्त्व का प्रसार असम्भव न सही, कठिन अवश्य है। दूसरे समूहों से कोई भी चीज़ व्यर्थ

1. A.L. Kroeber, *Anthropology*, Harcourt Brace & Co., New York, 1933,
3.

में कोई अपनाता नहीं है। आधुनिक समाज में अत्यधिक प्रयोग में आने वाली अलार्मदार घड़ी (alarm clock) का प्रसार एक आदिम या जंगली समाज के लोगों में शायद ही हो, इसके सिवा कि वे उस घड़ी को एक अनोखी चीज़ या खिलौने के रूप में दो-चार बार उठाएँ और रखें क्योंकि उस घड़ी को और उसके जटिल यन्त्रों (complicated machinery) को अपनाने के लिए जिस आधार की आवश्यकता होती है उनमें उसका अभाव है। साथ ही, समय की पाबन्दी की भी वे आवश्यकता नहीं अनुभव करते और जब तक इस प्रकार की आवश्यकता न होगी तब तक वह घडी उन आदिवासियो की संस्कृति का एक अंग नहीं बन सकती क्योंकि संस्कृति का कोई अंग या इकाई बेकार की और अर्थहीन नहीं होती है।

इस सम्बन्ध में दूसरी स्मरणीय बात यह है कि प्रसार के दौरान में प्राय: सांस्कृतिक तत्त्व (culture trait) काफी परिवर्तित हो जाते हैं ताकि वे नवीन पर्यावरण में फिट (fit) बैठ सके। वास्तव में एक समाज दूसरे के सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करते समय अपने सांस्कृतिक प्रतिमान के अनुरूप उनमें आवश्यक परिवर्तन कर लेता है। उदाहरणार्थ, ईसाई मिशनरियों को प्राय यह देखकर दु:ख और आश्चर्य होता है कि उन हिन्दुओ को, जिन्हें कि उन्होंने ईसाई बनाया है, ईसाइयों के केवल एक ईश्वर को अपने परम्परागत असंख्य देवी-देवताओं के साथ अजीब ढंग से मिला दिया है। उसी प्रकार कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था का जो रूप रूस में है उसको उसी रूप में अमेरिका में पाने की आशा करना मूर्खता ही होगी।

इस सम्बन्ध मे तीसरी बात यह याद रखनी है कि यद्यपि प्रसार की दिशा साधारणतया 'उच्च' या अधिक जटिल संस्कृति से 'निम्न' या कम जटिल संस्कृति की ओर होती है, फिर भी इस रूप में एक-दूसरे के सम्पर्क में आयी हुई दोनों ही संस्कृतियों में कुछ-न-कुछ आदान-प्रदान सदैव होता है। जब 'उच्च' संस्कृति वाले समूह का शासन निम्न संस्कृति वाले समूह पर होता है और जब शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिए प्रथम समूह को दूसरे समूह के देश में जाकर बस जाना होता है, तब उपरोक्त आदान-प्रदान की प्रक्रिया और भी तेजी से क्रियाशील होती है।

इस सम्बन्ध मे चौथी स्मरणीय बात यह है कि सांस्कृतिक प्रसार सांस्कृतिक या सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण भी बन सकता है। प्राय. देखा जाता है कि जो नये सांस्कृतिक तत्त्व प्रसार के द्वारा एक समाज मे आते हैं उनसे दो परिणाम होते हैं। पहला तो यह कि इस प्रकार प्रसारित हुए कुछ सांस्कृतिक तत्त्व तो सरलता से नये समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान में घुल-मिल जाते हैं, और दूसरा यह कि कुछ सांस्कृतिक तत्त्व उस प्रतिमान में बिना उथल-पुथल मचाये नहीं रहते या उन सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करने से आगे चलकर ऐसे परिणाम भी होते हैं जिनकी कि प्रारम्भ में कोई आशा नहीं थी। कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उन्हें ग्रहण करने का अर्थ ही होता है सामाजिक परिवर्तन। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य देश के अनेक प्रकार के यंत्रों और मशीनों को भारतीय समाज ने अपनाया है जिसके फलस्वरूप इस देश में क्रान्तिकारी [illegible] हुए हैं। इस परिवर्तन का दबाव प्रत्येक समाज में समान नहीं होता, फिर भी [illegible]

जाता है कि कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रभाव ग्रहण करने वाले समाज पर भी प्रायः उतना ही पड़ता है जितना कि उस समाज पर पड़ा था जहाँ उस तत्त्व का आविष्कार हुआ था। उदाहरणार्थ, भाप से चलने वाली मशीन का प्रभाव यूरोप के देशों पर जितना पड़ा, प्रायः उतना ही प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा है। परन्तु एक सांस्कृतिक तत्त्व को सारे मानव-समाज में फैलने में काफी समय लगता है और इसके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रक्रिया में निरंतरता बनी रहे। अतः स्पष्ट है कि सांस्कृतिक प्रसार में निरंतरता के साथ फैलने का गुण होता है। कुछ भी हो, प्रसार से सांस्कृतिक तत्त्व को ग्रहण करने वाले समाज में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य ही हो जाते हैं।[1]

उपरोक्त आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोई भी सांस्कृतिक तत्त्व स्वतन्त्र रूप से स्थापित हो जाने के बाद आप-से-आप ही दूसरे समाजों की संस्कृति में फैलने लगता है। दुनिया के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से यही बात प्रमाणित होती है परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सांस्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा ही। हाँ, मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सांस्कृतिक तत्त्व का प्रसार होगा यदि इस प्रसार को रोकने के लिए कोई या कुछ कारक (factors) क्रियाशील न हों।[2]

सांस्कृतिक इतिहास या सांस्कृतिक गतिशीलता या दोनों के अध्ययन में तीन विभिन्न सम्प्रदायों (schools) ने प्रसार के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया है। ये सम्प्रदाय हैं - (अ) ब्रिटिश प्रसारवादी सम्प्रदाय या पॅन-इजिप्शियन (Pan-Egyptian) सम्प्रदाय; (ब) जर्मन-आस्ट्रियन संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय (German-Austrain Culture-historical School); तथा (स) अमेरिकन सम्प्रदाय (American

सकता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वभाव से ही आविष्कार के लिए उपयुक्त नही है; आविष्कार तो तभी सम्भव होता है जबकि उसे अत्यधिक अनुकूल (favourable) परिस्थितियों या पर्यावरण से प्रेरक-शक्ति प्राप्त हो। इस सम्प्रदाय के अनुसार इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ केवल प्राचीन मिस्र में ही पाई जाती थीं। इसलिए सूर्य-पुत्र (the Children of the Sun) मिस्रवासी ही समस्त उच्च संस्कृति के जनक हैं। मिस्र को ही संस्कृति और सभ्यता का आदि-स्रोत मानने के कारण ही इस सम्प्रदाय को पॉन-इजिप्शियन सम्प्रदाय (Pan-Egyptain School) कहा जाता है।

उपरोक्त सिद्धान्त को देखकर हम कह सकते हैं कि उसमे बातो को बिना किसी प्रमाण के अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। यह बात कोई भी वैज्ञानिक स्वीकार नही कर सकता कि एक मिस्र की ही संस्कृति आदि संस्कृति है और अन्य सभी संस्कृतियों का उद्भव उसी से हुआ है। यह हो सकता है कि विभिन्न देशों के सांस्कृतिक तत्त्व एक-समान हों; परन्तु इन समानताओं से यह कदापि सिद्ध नही होता कि सबका मूल-स्रोत भी एक ही होगा। ऐसा देखा गया है और इसके अनेक प्रमाण भी हैं कि बिल्कुल ही पृथक् कारणों से तथा भिन्न प्रदेशों मे एक ही प्रकार का सामाजिक आविष्कार हुआ है। उदाहरणार्थ बन्दूक का आविष्कार स्वतन्त्र रूप मे एशिया तथा फ्रांस दोनों ही देशों में हुआ था। अत. स्पष्ट है कि उपरोक्त सम्प्रदाय के विचारो से सहमत होना एक प्रकार से असम्भव ही है।

(ब) जर्मन-प्रसारवादी या संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय *(Kulturhistorische Schule)* के प्रमुख प्रवर्तक सर्वश्री ग्रेबनर (F. Graebner), फॉय (E. Foy) आदि थे। इनका सिद्धान्त प्रसारवादी होते हुए भी इसमें उद्‌विकासीय सिद्धान्त का स्पर्श है। इन विद्वानों के अनुसार विकासवादियों का यह निष्कर्ष ठीक है कि अलग-अलग स्थानों में स्वतन्त्र रूप से विविध सांस्कृतिक-संकुल उत्पन्न हुए, परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि उन सांस्कृतिक-संकुलों (culture complexes) का बाद में वहाँ से संसार के अन्य भागों मे प्रसार भी हुआ। अत· स्पष्ट है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी और जर्मन-प्रसारवादी विचारधारा मे एक प्रमुख अन्तर यह है कि ब्रिटिश-प्रसारवादी लेखकों के मतानुसार संस्कृति का विकास या प्रसार एक ही स्थान (मिस्र) से संसार-भर मे हुआ जबकि जर्मन-विकासवादी लेखको के अनुसार संस्कृति का विकास या विस्तार एक किसी स्थान-विशेष से नहीं, बल्कि विभिन्न स्थानों से हुआ। एक ही जगह प्रत्येक चीज का आविष्कार सम्भव नही; विभिन्न चीजो का आविष्कार तो विभिन्न स्थानों व विभिन्न समय मे होना है और हुआ भी है। फिर उन विभिन्न स्थानो से वे आविष्कार या संस्कृति-संकुल संसार के विभिन्न स्थानो या समाजो मे फैल गये। संस्कृति का विकास इसी प्रकार की 'प्रक्रिया' का परिणाम है। इसे 'प्रक्रिया' इस अर्थ मे कहा गया है कि विभिन्न स्थानो से संसार के अन्य भागों में सांस्कृतिक-संकुलो का प्रसार निरन्तर रूप में (continuously) चलता रहता है। जर्मन-प्रसारवादी लेखको का कथन है कि यदि हम एक संस्कृति का सतर्कता से विश्लेषण करें तो हम उसमे उन भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों (culture traits) की (layers) को स्पष्टतः देख सकते हैं जो कि दूसरे स्थानों से विभिन्न समय मे

प्रक्रिया के माध्यम से उस संस्कृति में आ मिली हैं। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न स्थानों से सांस्कृतिक तत्त्वों के चक्र अलग-अलग समय पर उठते रहते हैं और इनका प्रसार संसार के अन्य भागों में होता रहता है। परन्तु इस प्रसार की प्रक्रिया में यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व या संकुल संसार के हर भाग में फैल ही जाय; प्रत्येक तत्त्व या संकुल के प्रसार का एक घेरा (circle) या प्रदेश (District) हो सकता है। इसलिए इस सम्प्रदाय को संस्कृति-चक्रवादी या संस्कृति-प्रदेणवादी सम्प्रदाय (The *Kulturkreise* School) भी कहते हैं। परन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि न लगाना चाहिए कि सांस्कृतिक तत्त्वों या संकुलों का एक निश्चित घेरे या प्रदेश के अन्दर ही प्रसार होता है। इनके प्रसार की कोई सीमा नहीं है; फिर भी ऐतिहासिक प्रमाणों से यह जाना जा सकता है कि एक संस्कृति की अमुक इकाई का अमुक स्थान से प्रसार हुआ। 'प्रदेश', 'चक्र' या 'घेरा' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

इस सम्बन्ध में श्री ग्रैबनर (Graebner) की प्रमुख देन यह है कि सांस्कृतिक प्रसार के अध्ययन में उन्होंने दो स्पष्ट आधारों को निश्चित कर दिया है। वे आधार हैं स्वरूप (form) तथा परिणाम (quantity) का आधार। यदि हमें दो समूहों की संस्कृतियों में समानताएँ दिखलायी पड़ें, तो उन्हीं समानताओं के आधार पर ही प्रसार का निर्णय कर लेना उचित न होगा। समानताओं की विवेचना में दो बातों को ध्यान में रखना होगा। प्रथम तो स्वरूप की समानता और द्वितीय परिणाम की समानता। इन दोनों बातों में दो संस्कृतियों में जितनी अधिक समानता हो, प्रसार की सम्भावना भी उसी अनुपात में अधिक होगी।

उपरोक्त सिद्धान्त की सबसे प्रमुख कमजोरी यह है कि इस प्रकार के सिद्धान्त से हमें अधिक-से-अधिक सांस्कृतिक प्रसार 'क्या है' केवल इतने का ही उत्तर मिलता है। सांस्कृतिक प्रसार 'क्यों' होता है इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि सांस्कृतिक प्रसार के कारणों का विश्लेषण इसके क्षेत्र (scope) से बिल्कुल ही बाहर है। अतः सांस्कृतिक विकास या परिवर्तन को पूर्णतया समझाने में यह सिद्धान्त सफल न हो सका।

(स) अमेरिकन प्रसारवादियों (American diffusionists) ने, जिसके नेता श्री फ्रांज़ बोआस (Franz Boas) थे, संस्कृति-ऐतिहासिक सम्प्रदाय की उपरोक्त कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और सांस्कृतिक प्रसार 'क्यों' होता है इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया। साथ-ही-साथ, इस सांस्कृतिक प्रसार का क्या प्रभाव सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करने वाले समुदायों पर पड़ता है, इसकी विवेचना भी इस सम्प्रदाय के विद्वान करते हैं। इन विद्वानों ने समस्त संसार के सांस्कृतिक प्रसार की एकसाथ विवेचना करने के बजाय यह अधिक अच्छा समझा कि संसार को विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों (culture areas) में बाँट लिया जाय और तब तक एक-एक सांस्कृतिक क्षेत्र के उन सांस्कृतिक तत्त्वों का विश्लेषण किया जाय जो कि उस क्षेत्र में प्रसार के द्वारा आये हैं, और अन्त में इस प्रकार के कारणों को ढूंढ़ा जाय। इन कारणों को ढूंढ़ने में, श्री बोआस के अनुसार, हमें मानव के मनोवैज्ञानिक या मानसिक (psychic) आधारों की अवहेलना न करनी

चाहिए। श्री बोआस के अनुयायी श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) ने इस बात पर बल दिया कि प्रसार के दौरान मे सांस्कृतिक तत्वों या संकुलों के मूल रूप (original forms) में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। विशेषतः यदि सांकृतिक तत्व अभौतिक हैं तब तो ऐसे तत्त्व बिना परिवर्तित हुए अधिक दूर तक फैल नहीं सकते। सांस्कृतिक तत्वों के इस प्रसार मे, श्री विसलर के अनुसार, पहाड़, महासमुद्र, रेगिस्तान, घने जगल आदि प्रमुख बाधाएँ हैं।

(3) नवीनीकरण
(Innovation)

संस्कृति के विकास की एक और महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया नवीनीकरण है। सांस्कृतिक विकास मे नवीनीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत नवीन आविष्कारों व ज्ञान के आधार पर संस्कृति के तत्वों को नया या सशोधित रूप दिया जाता है। नवीनीकरण मे यह आवश्यक नहीं है कि आविष्कार या ज्ञान जिसके आधार पर हम अपनी सस्कृति को नवीन रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह हमारे ही समाज का हो। वह आविष्कार या ज्ञान किसी भी समाज का हो सकता है, और एक समाज दूसरे समाज या समाजो से ऐसे आधारो को प्राप्त कर सकता है जिनसे उस समाज के सास्कृतिक तत्वों का पुराना रूप बदल सके। यही कारण है कि श्री हर्सकोविट्स (Herskovits) के अनुसार नवीनीकरण के अन्तर्गत पुराने कामो को नये ढंग से करने के लिए नये तरीकों को स्वीकार करना (the acceptance of new ways of doing old things), या पुरानी रीतियों मे संशोधनों को स्वीकार करना (the acceptance of modifications of old ways), या दूसरों से ग्रहण करके नये परिवर्तनों को करना सम्मिलित है।[1] यातायात और सचार के साधनों मे उन्नति होने के साथ-साथ दूसरे समाजो से ग्रहण करने की प्रक्रिया बढती जाती है। संसार में पाश्चात्य संस्कृति और विशेषकर प्रौद्योगिकीय (technological) वस्तुओं के विस्तार से विभिन्न समाजों मे नवीनीकरण की रफ्तार बराबर बढ़ रही है। इस बात को आदिम समाजो के सम्बन्ध मे भी लागू किया जा सकता है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस विस्तार द्वारा प्रस्तुत तत्वों को जन-जातीय लोगों ने बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया है या उन तत्वो मे कोई सशोधन किये बिना ही उन्हें ले लिया है। इसके विपरीत, उन्होने वही किया जो कि सभी मानव-समूह किसी नई चीज के प्रस्तुत किये जाने पर करते हैं। उन्होने अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर ही नई वस्तुओ के प्रति प्रतिक्रिया की है—जो उन्हे लाभकर लगा उसे स्वीकार किया है और जो उन्हें अव्यावहारिक या अलाभकर प्रतीत हुआ, उसे उन लोगों ने त्याग दिया अर्थात् स्वीकार नही किया। जहाँ पर उन पर परिवर्तन जबरदस्ती लादा गया है वहाँ पर भी उन लोगों ने अपने अनुभवों के आधार पर ही प्रतिक्रिया की है—या तो उन परिवर्तनों को लोगों ने हृदय से ग्रहण नही किया और आन्तरिक रूप मे उनको

1. M. J. Herskovits, *op. cit.*, pp. 481-482.

त्याग दिया, या फिर खुले तौर पर विद्रोह किया अथवा अपनी अस्वीकृति को व्यक्त किया ।

इसी के आधार पर हम नवीनीकरण की **प्रथम विशेषता** का उल्लेख कर सकते हैं और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया, प्रसार की ही भाँति बिना किसी शर्त के प्रायः नहीं होती है । एक समाज अपने सांस्कृतिक तत्त्व या तत्त्वों को एक नवीन रूप देने या उन्हें संशोधित करने के लिए तभी राजी होता है जबकि उसके पिछले अनुभवों की कसौटी पर वह नवीन रूप या संशोधन खरा उतरता है; अर्थात् जब पूर्व अनुभव के आधार पर वह यह समझता है कि यह नवीनीकरण उस समाज के लिए हितकर या कम-से-कम व्यावहारिक है । यदि ऐसा नहीं है तो आन्तरिक या बाह्य रूप में वह समाज, उसकी परम्परा, प्रथा, रूढ़ि, धर्म आदि उस नवीनीकरण का विरोध करता है ।

इसी से नवीनीकरण की **दूसरी विशेषता** भी स्पष्ट है और वह यह कि नवीनीकरण की प्रक्रिया अचेत नहीं, अपितु सचेत प्रक्रिया है । इसे जान-बूझकर अपनाया जाता है । दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक तत्त्वों में नवीनता या संशोधन आप-से-आप नहीं हो जाता है, उसके लिए सामाजिक आविष्कार या ज्ञान के आधार पर कुछ-न-कुछ प्रयत्न अवश्य ही करना पड़ता है । उदाहरणार्थ, आज भारत में हम ग्रामीण सांस्कृतिक तत्त्वों में नवीनता लाने या उन्हें संशोधित करने के लिए औद्योगिकीय उपकरणों, वैज्ञानिक ज्ञान आदि का उपयोग सचेत रूप में कर रहे हैं । पंचायत और सामुदायिक विकास कार्यक्रम हमारे उस सचेत प्रयत्न का ही प्रमाण है ।

नवीनीकरण की **तीसरी विशेषता** यह है कि यह अपने में एक चक्र को उत्पन्न करता है । इसका तात्पर्य यह है कि अगर किसी एक समाज में नवीनीकरण की प्रक्रिया से सांस्कृतिक तत्त्वों को नया या संशोधित रूप प्राप्त हो गया है तो वह नया या संशोधित तत्त्व दूसरे समाजों का भी ध्यान आकृष्ट कर सकता है जिसके फलस्वरूप दूसरे समाज के कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों में नवीन या संशोधित रूप प्राप्त हो सकता है । उसी प्रकार दूसरे समाज का प्रभाव तीसरे पर पड़ सकता है । इसी प्रकार सांस्कृतिक तत्त्वों में परिवर्तन लाने या उन्हें संशोधित करने का एक चक्र चल पड़ता है ।

नवीनीकरण की **चौथी विशेषता** यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि नवीनीकरण में केवल उन्हीं सांस्कृतिक तत्त्वों को नवीन रूप मिलता है या केवल उन्हीं सांस्कृतिक तत्त्वों में संशोधन होता है जो कि उसी समाज के सांस्कृतिक तत्त्व हैं । नवीनीकरण के अन्तर्गत एक समाज दूसरे समाज या समाजों से एक या एकाधिक ऐसे सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण कर सकता है जो कि ग्रहण करने वाले समाज के लिए नवीन हों । दूसरे समाज से इस प्रकार नवीन सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करके भी नवीनीकरण किया जा सकता है ।

पर इससे हमें वह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होता है, चाहे ग्रहण करने वाला समाज आदिम समाज ही क्यों न हो । आदिम समाज जब सभ्य समाजों से कुछ ग्रहण करता है तो चूंकि उस ग्रहण कार्य से उस आदिम में कुछ स्पष्ट परिवर्तन या नवीनीकरण हो जाता है, इसलिए हम प्रायः यह निष्कर्ष

निष्कर्ष लेते हैं कि ग्रहण करने का कार्य एक-तरफा होता है। परन्तु यह निष्कर्ष गलत है। ग्रहण करने का कार्य दोनों ही पक्षों द्वारा होता है। हाँ, कोई समाज अधिक ग्रहण करता है और कोई समाज उससे कम। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद से पाश्चात्य संस्कृति के साथ भारतीयों का सम्पर्क बढ़ता ही गया और हम लोगों ने उनसे अनेक बातों या सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया है जिसके फलस्वरूप हमारी वेश-भूषा, खाने-पीने की आदतों, भाषा, संगीत, जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार, जीवन-दर्शन आदि जीवन के उल्लेखनीय पहलुओं में अति नवीनता व संशोधन आज पनप गया है। परन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि यूरोपीय-अमेरिकी समाजों ने भारतीय समाज से कुछ भी ग्रहण नहीं किया है या हमारे साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने के बाद उनके सांस्कृतिक तत्वों में कोई नवीन बात या संशोधन नहीं हुआ है। ऐसा सोचना गलत है। अतः स्पष्ट है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया एक-तरफा प्रक्रिया नहीं है। यह इस प्रक्रिया की पाँचवीं विशेषता है।

इस सम्बन्ध में छठी या अन्तिम बात यह है कि नवीनीकरण की प्रक्रिया किसी एक या कुछ समाज तक ही सीमित नहीं है। यह तो सार्वभौम (universal) प्रक्रिया है। किन्हीं भी दो संस्कृतियों का रूप या स्वरूप बिल्कुल एक-सा नहीं होता और कोई भी संस्कृति बिल्कुल स्थिर नहीं होती। संस्कृति परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन जितने कारणों से घटित होता है उनमें नये सांस्कृतिक तत्वों को स्वीकार करना या पुरानी रीतियों में संशोधन करना या दूसरे समाज से कुछ तत्वों को ग्रहण करके अपने समाज में नवीनता लाना भी सम्मिलित है। और यदि ऐसा है तो सांस्कृतिक परिवर्तन व विकास के साधन के रूप में नवीनीकरण की सार्वभौमता को भी हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा।

(4) संस्कृतिकरण
(Acculturation)

सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को कुछ विद्वानों ने संस्कृतीकरण के आधार पर भी समझाने का प्रयत्न किया है। जब सांस्कृतिक तत्व या संकुल एक समूह से दूसरे समूह को फैल जाते हैं तो उसे प्रसार (diffusion) कहते हैं, परन्तु जब दूसरी संस्कृति के प्रभाव में एक सांस्कृतिक समूह की सम्पूर्ण जीवन-विधि (life way) ही बदलने की प्रक्रिया में होती है तो उसे संस्कृतीकरण कहते हैं। इसीलिए श्री हर्सकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट ही लिखा है कि प्रसार 'प्राप्त सांस्कृतिक संप्रेषण' (achieved cultural transmission) है जबकि संस्कृतीकरण 'सांस्कृतिक संप्रेषण की प्रक्रिया' (cultural transmission in process) है।[1] अतः स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक संस्कृति के मूल प्रतिमान में, दूसरी संस्कृति के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण, उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है; यद्यपि इस प्रकार

---

1. M. J. Herskovits, *op. cit.*, p. 525.

परिवर्तित होने वाला सांस्कृतिक समूह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व या आधारभूत विशिष्टता को पूर्णतया नहीं खो देता है।

संस्कृतीकरण की परिभाषा सर्वप्रथम सन् 1936 में सर्वश्री रेडफील्ड (Redfield), लिण्टन (Linton) तथा हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत की थी। इन विद्वानों के अनुसार, "संस्कृतीकरण से उन घटनाओं (phenomena) को समझा जाता है जो कि तब होती हैं जबकि विभिन्न संस्कृति वाले व्यक्तियों के समूह एक-दूसरे के निकट व निरन्तर सम्पर्क में आते हैं जिसके फलस्वरूप उन समूहों में से किसी एक के या दोनों के मूल सांस्कृतिक प्रतिमान में परिवर्तन हो जाते हैं।"[1] यद्यपि इस परिभाषा की कटु आलोचना अन्य विद्वानों ने ही नहीं बल्कि उक्त लेखकों ने भी है, फिर भी इसी परिभाषा का प्रयोग सर्वाधिक होता है।

इस सम्बन्ध में श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि 'सांस्कृतिक परिवर्तन दो प्रकार के कारकों और शक्तियों का परिणाम हो सकता है—प्रथम तो वे कारक और शक्तियाँ, जो कि आप-से-आप समुदाय में उत्पन्न होती हैं जिनके फलस्वरूप आविष्कार होता है। दूसरे, सांस्कृतिक परिवर्तन विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक या प्रभाव के कारण भी हो सकता है। यह दूसरी प्रक्रिया वह है जिसे कि मानवशास्त्र में प्रायः प्रसार कहा जाता है।" श्री मैलिनोवस्की जिस प्रक्रिया को 'प्रसार' कहते हैं उसी को अमेरिका के अधिकतर मानवशास्त्री संस्कृतीकरण की प्रक्रिया मानते हैं।

कुछ भी हो, सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के निरन्तर सम्पर्क के फलस्वरूप संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को संस्कृतीकरण कहते हैं। संस्कृतीकरण, जैसा कि श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने उचित ही कहा है, "एक प्रक्रिया है, न कि एक पृथक् घटना। .....जीवन की नवीन अवस्थाओं से अनुकूलन करने की इस प्रक्रिया को हम संस्कृतीकरण कहते हैं।" अतः स्पष्ट है कि एक सांस्कृतिक समूह से दूसरे सांस्कृतिक समूह में तत्त्वों (traits) के चले या फैल जाने को ही संस्कृतीकरण नहीं कहते हैं; संस्कृतीकरण तो विभिन्न संस्कृति वाले समूहों में होने वाली अन्तःक्रियाओं (interactions) की एक निरन्तर प्रक्रिया है।

इस सम्बन्ध में संस्कृतीकरण (acculturation) और सात्मीकरण (assimilation) में जो अन्तर है उसे भी समझ लेना चाहिए। एक अर्थ में, जैसा कि अधिकतर मानवशास्त्री आज मानते हैं, इन दोनों में केवल मात्रा (degree) का अन्तर है। सात्मीकरण से तात्पर्य संस्कृतीकरण की उस मात्रा (degree) से है जबकि एक संस्कृति अपने मूल स्वरूप को पूर्णतया खो बैठती है और दूसरे की संस्कृति में इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसका पृथक् या विशिष्ट अस्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। इसके विपरीत संस्कृती-

---

1. "Acculturation comprehends those phenomena which result when groups of individuals having different cultures come into continuous first-hand contact, with subsequent changes in the original cultural patterns of either or groups."—Redfield, Linton and Herskovits, 'Memorandum on the Study ''uration', *American Anthropologist*, XXXVIII, 1936, p. 149.

करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक-दूसरे के सम्पर्क में आई हुई दो संस्कृतियों में से दोनों संस्कृतियाँ परस्पर के सांस्कृतिक तत्त्वों से मिश्रित (mixed) तो हो जाती हैं, पर अपने पृथक् अस्तित्व या मूल स्वरूप को नहीं खो बैठती। और भी स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि संस्कृतीकरण से एक संस्कृति के मूल स्वरूप या तत्त्वों में कुछ रूपान्तर (modification) तो अवश्य ही हो जाता है, फिर भी उसके विशिष्ट गुण वैसे ही बने रहते हैं और इस कारण उसे दूसरी संस्कृतियों से अलग पहचाना जा सकता है।

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण एक दो-तरफा प्रक्रिया (two-way process) है जिससे कि एक-दूसरे के सम्पर्क में आने वाली दोनों ही संस्कृतियाँ प्रभावित होती हैं। फिर भी ऐसी कुछ अवस्थाएँ (conditions) हैं जिनमें कि यह प्रक्रिया अधिक तेजी से क्रियाशील होती है। ये अनुकूल अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ निम्नवत् हैं— (1) दोनों सांस्कृतिक समूहों में घनिष्ठ तथा निरन्तर (close and continuous) सम्पर्क हो। कभी-कभी के सम्पर्क से संस्कृतीकरण शायद ही सम्भव हो। (2) दोनों समूहों के सांस्कृतिक प्रतिमानों में कुछ-न-कुछ समानता हो। यदि दोनों में अत्यधिक भिन्नता है तो उन दोनों के लिए परस्पर के घनिष्ठ सम्पर्क में आना सम्भव न होगा जिसके फलस्वरूप एक-दूसरे में सांस्कृतिक आदान-प्रदान रुक जायगा। (3) दोनों समूहों में उद्देश्यों की समानता भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर सकती है।

वास्तव में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का रहस्य मानव के ही विशिष्ट स्वभाव में निहित है। श्री हैलोवेल (Hallowell) ने उचित ही कहा है कि मानव-जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य पशुओं की भाँति मानव की भी अनुकूलन करने की कोई सुस्थिर सीमा वंशानुसंक्रमण (heredity) के द्वारा निश्चित नहीं होती। मनुष्य अपने आविष्कार करने, सीखने तथा प्रतीकों (symbols) के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान करने की क्षमता के कारण अनुकूलन की प्रक्रिया को किसी भी सीमा तक और किसी भी दिशा की ओर ले जा सकता है। मानव-अनुकूलन वास्तव में सांस्कृतिक अनुकूलन ही है। संस्कृतीकरण उसी अनुकूलन का एक पक्ष है।

संस्कृति का संगठन
(Integration of Culture)

पिछले पन्नों में 'संस्कृति की प्रकृति' की विवेचना करते हुए हमने लिखा है कि संस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड, इकाइयाँ या तत्त्व (element or trait) होते हैं। परन्तु इन इकाइयों या तत्त्वों को मनमाने ढंग से इकट्ठा कर देने या जोड़ देने या मिला देने से ही किसी समाज की संस्कृति बन नहीं जाती। यहाँ तक कि इन इकाइयों को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् करके अध्ययन करने पर संस्कृति के सम्बन्ध में कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ये सब इकाइयाँ, आकस्मिक या अव्यवस्थित नहीं होती हैं। संस्कृति के इन खंडों या इकाइयों में एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त.निर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन पाया जाता है। इस

कला आदि की सहायता लेता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति की इकाई का किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई कार्य (function) अवश्य ही होता है। अगर एक मोमबत्ती भी है तो उसका भी सांस्कृतिक ढांचे में या मानव की सम्पूर्ण जीवन-विधि में कोई-न-कोई कार्य होगा ही। यह मोमबत्ती रोशनी देने का काम करती है, यही मोमबत्ती धार्मिक जीवन का प्रतीक हो सकती है या किसी कम्पनी का व्यापार-चिह्न भी हो सकती है। किसी भी संस्कृति में इस मोमबत्ती के समस्त कार्यों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस मोमबत्ती का संस्कृति की सभी इकाइयों या पक्षों से जो प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) है उसे ढूंढ़ निकालें। इसी तरह जब हम संस्कृति की प्रत्येक इकाई का अन्य इकाइयों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध मालूम कर लेंगे, तब कहीं हमें निश्चित रूप से पता चलेगा कि उस समूह के सदस्यों की सम्पूर्ण जीवन विधि को बनाये रखने में वे सब इकाइयां किस प्रकार सब मिलकर कार्य करती हैं।

अतः स्पष्ट है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व न तो होता है और न ही होना सम्भव है। इनमें से प्रत्येक का प्रत्येक के साथ एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। परन्तु यह सम्बन्ध क्यों होता है? इसका सरल उत्तर यह है कि मानव की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग नहीं हैं, वे एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योंकि इन सबका उद्भव-स्थान एक ही है और वह उद्भव-स्थान है मानव स्वयं। क्योंकि मनुष्य स्वयं इन सब आवश्यकताओं का स्रोत है, इसलिए ये सब आवश्यकताएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और इसलिए इन आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन के रूप में काम में आने वाली संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ या पक्ष भी अन्तःसम्बन्ध से बंधे हुए हैं। इस अन्तःसम्बन्ध का आधार मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं। किसी भी संस्कृति के संगठन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव की उपरोक्त प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध करना है।

इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की का विश्वास है कि संस्कृति का कोई भी तत्त्व, अंग या इकाई ऐसी नहीं हो सकती जो कुछ भी काम नहीं देती, अर्थात् जो कार्यहीन (functionless) है। आपका कथन है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व (trait) किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अस्तित्व उसी समय तक बना रहता है जब तक वह सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था में कोई-न-कोई कार्य करता रहता है। किसी भी संस्कृति के संगठन का, जैसा कि हम अभी ऊपर बता चुके हैं, एक आधारभूत उद्देश्य मानव-जीवन की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करना है। यदि यह सच है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व का कार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) हो। चूंकि सम्पूर्ण जीवन-विधि या जीवन-व्यवस्था को बनाये रखने में प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व का कुछ-न-कुछ योगदान अर्थात् कोई-न-कोई कार्य (function) होता है; इसलिए संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व (trait) का हर दूसरे तत्त्वों के साथ एक आन्तरिक व प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप ये असंख्य सांस्कृतिक तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् नहीं, बल्कि एक-दूसरे से जकड़े हुए या [illegible] होते हैं और सब मिलकर [illegible] (wholeness) प्रदान करते हैं

उनमें एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने की एक प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही ये सांस्कृतिक तत्त्व एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढंग से एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। सांस्कृतिक इकाइयों या तत्त्वों की इसी व्यवस्थित सम्बद्धता को संस्कृति का संगठन (integration of culture) कहते हैं। यह संगठन कैसे सम्भव होता है और किस भाँति बना रहता है, इसकी चर्चा विभिन्न सम्प्रदायों या विद्वानों द्वारा अलग-अलग ढंग से की गई है। इनमें प्रकार्यात्मक (functional), संरूपणात्मक (configurational) तथा लयात्मक (themetic) दृष्टिकोण (approaches) उल्लेखनीय हैं। अब हम इन्हीं के बारे में विवेचना करेंगे।

प्रकार्यवाद या प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
(Functionalism or Functional Approach)

संस्कृति की अवधारणा (concept) को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए सर्वश्री मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ-ब्राउन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण (functional point of view) की भी विवेचना आवश्यक है। श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार संस्कृति वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने शारीरिक तथा मानसिक और अन्तिम रूप में बौद्धिक अस्तित्व को बनाए रखने में सफल होता है। मानव केवल एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी ही नहीं, अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है और इन दोनों ही रूपों में उसकी अनेक शारीरिक-मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किए बिना सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का अस्तित्व कदापि बना नहीं रह सकता। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव संस्कृति का निर्माता बनता है और उसके द्वारा अपने शारीरिक तथा मानसिक या बौद्धिक अस्तित्व को बनाये रखता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति के विभिन्न अंगों का विशिष्ट स्वरूप (form) ही नहीं होता बल्कि एक विशिष्ट कार्य (function) भी होता है। संस्कृति का कोई भी तत्त्व (trait) या इकाई बेकार की नहीं होती है, उससे मानव का कोई-न-कोई काम अवश्य ही निकलता है। किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वह मानव के किसी काम में आ रहा है या नहीं। संक्षेप में, यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवाद है।

मानव की आवश्यकताएँ अनेक हैं जैसे कि आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक आवश्यकताएँ तथा मानसिक आवश्यकताएँ। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव धर्म, भाषा, कला, प्रविधि, साहित्य तथा अन्य भौतिक एवं अभौतिक (material and non-material) वस्तुओं का, जिनके सम्पूर्ण योग या समग्रता को हम संस्कृति कहते हैं, सहारा लेता है। अगर हम ध्यानपूर्वक यह जानने का प्रयत्न करें कि इन सब चीज़ों का अर्थात् संस्कृति की विभिन्न इकाइयों का उद्भव क्योंकर हुआ तो हमें स्पष्टतः ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक इकाई की जड़ मानव की कोई न कोई आवश्यकता ही है। मानव अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धनुप-बाण से लेकर बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग करता है, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक संस्थाओं को काम में लगाता है, मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा, धर्म,

बत्ता आदि की सहायता लेता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति की इकाई का किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई कार्य (function) अवश्य ही होता है। अगर एक मोमबत्ती भी है तो उसका भी सांस्कृतिक ढांचे में या मानव की सम्पूर्ण जीवन-विधि में कोई-न-कोई कार्य होगा ही। यह मोमबत्ती रोशनी देने का काम करती है, यही मोमबत्ती धार्मिक जीवन का प्रतीक हो सकती है या किसी कम्पनी का व्यापार-चिह्न भी हो सकती है। किसी भी संस्कृति में इस मोमबत्ती के समस्त कार्यों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस मोमबत्ती का संस्कृति की सभी इकाइयों या पक्षों से जो प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) है उसे ढूढ निकालें। इसी तरह जब हम संस्कृति की प्रत्येक इकाई का अन्य इकाइयों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध मालूम कर लेंगे, तब कहीं हमें निश्चित रूप से पता चलेगा कि उस समूह के सदस्यों की सम्पूर्ण जीवन विधि को बनाये रखने में वे सब इकाइयां किस प्रकार सब मिलकर कार्य करती हैं।

अतः स्पष्ट है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व न तो होता है और न ही होना सम्भव है। इनमें से प्रत्येक का प्रत्येक के साथ एक प्रकार्यात्मक (functional) सम्बन्ध होता है। परन्तु यह सम्बन्ध क्यों होता है? इसका सरल उत्तर यह है कि मानव की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग नहीं हैं, वे एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योंकि इन सबका उद्भव-स्थान एक ही है और वह उद्भव-स्थान है मानव स्वयं। क्योंकि मनुष्य स्वयं इन सब आवश्यकताओं का स्रोत है, इसलिए ये सब आवश्यकताएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और इसलिए इन आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन के रूप में काम में आने वाली संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ या पक्ष भी अन्तःसम्बन्ध से बँधे हुए हैं। इस अन्तःसम्बन्ध का आधार मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं। किसी भी संस्कृति के संगठन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव की उपरोक्त प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध करना है।

इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की का विश्वास है कि संस्कृति का कोई भी तत्त्व, अंग या इकाई ऐसी नहीं हो सकती जो कुछ भी काम नहीं देती, अर्थात् जो कार्यहीन (functionless) है। आपका कथन है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व (trait) किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अस्तित्व उसी समय तक बना रहता है जब तक वह सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था में कोई-न-कोई कार्य करता रहता है। किसी भी संस्कृति के संगठन का, जैसा कि हम अभी ऊपर बता चुके हैं, एक आधारभूत उद्देश्य मानव-जीवन की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करना है। यदि यह सच है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी भी सांस्कृतिक तत्त्व का कार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) हो। चूंकि सम्पूर्ण जीवन-विधि या जीवन-व्यवस्था को बनाये रखने में प्रत्येक सांस्कृतिक तत्त्व का कुछ-न-कुछ योगदान अर्थात् कोई-न-कोई कार्य (function) होता है; इसलिए संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व (trait) का हर दूसरे तत्त्वों के साथ एक आन्तरिक व प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप ये सांस्कृतिक तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् नहीं, बल्कि एक-दूसरे से जकड़े हुए या [illegible] होते हैं और सब मिलकर [illegible] (wholeness) प्रदान

प्रकार, श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार, सांस्कृतिक संगठन (cultural integration) का आधारभूत कारण उस संस्कृति की प्रत्येक इकाई द्वारा किया जाने वाला कार्य (function) है। सांस्कृतिक संगठन के सम्बन्ध में यही श्री मैलिनोवस्की का प्रकार्यवादी सिद्धान्त (functional theory) या दृष्टिकोण है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार संस्कृति मानव की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं द्वारा जनित मानव का आविष्कार है। मानव का शारीरिक-मानसिक अस्तित्व (bio-psychic survival) जिन साधनों से बना रहता है, उन साधनों की समग्रता को ही संस्कृति कहते हैं। श्री मैलिनोवस्की ने मनुष्य की सात आधारभूत प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं (biological needs) का उल्लेख किया है। ये हैं—शरीर पोषक (metabolic), उत्पादक (reproductive), शारीरिक आराम (bodily comforts), सुरक्षा (safety), गति (movement), वृद्धि (growth), तथा स्वास्थ्य (health) सम्बन्धी आवश्यकताएँ। इनमें से प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति मानव-निर्मित विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों के द्वारा होती है। दूसरे शब्दों में, इन सात आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति विविध सांस्कृतिक तत्त्व एकसाथ मिलकर या संयुक्त रूप में कार्य करते हुए करते हैं। यह सच है कि ये सांस्कृतिक तत्त्व या उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन प्रत्येक समाज में एक-से नहीं होते; प्रत्येक समाज में इन सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रकार तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और इसीलिए प्रत्येक समाज की संस्कृति का गठन या ढांचा या रूप भी अलग-अलग होता है। रूप या स्वरूप कुछ भी हो, पर मानव की उपरोक्त सात महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की योजना प्रत्येक संस्कृति में पाई जाती है। योजना की सफलता इसकी विभिन्न इकाइयों के संगठन (integration) पर निर्भर है। अगर विभिन्न इकाइयां बिखरी हुई हैं, एक-दूसरे से असंबद्ध या पृथक् हैं तो कोई भी योजना कदापि सफल नहीं हो सकती। उसी प्रकार संस्कृति की विभिन्न इकाइयां भी एक-दूसरे से संबद्ध रहती हैं, उनमें एक प्रकार का संगठन होता है क्योंकि संगठित रूप में मानव की महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति करना ही इन तत्त्वों का प्रमुख कार्य और इनके अस्तित्व का आधार है। अपने-अपने कार्य में लगे हुए इन सब सांस्कृतिक तत्त्वों के समग्र रूप को ही, श्री मैलिनोवस्की के अनुसार, संस्कृति कहते हैं। इनके कार्यों से पृथक् करके इन सांस्कृतिक तत्त्वों के या समग्र संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना करना भी मूर्खता है। चूंकि श्री मैलिनोवस्की सांस्कृतिक तत्त्वों के कार्यों (functions) पर अत्यधिक बल देते हैं, इस कारण उनके दृष्टिकोण को प्रकार्यवाद (functionalism) कहते हैं।

श्री मैलिनोवस्की के दृष्टिकोण में सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि आपने मनुष्य को आवश्यकताओं और इच्छाओं का बंडल मात्र मान लिया है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना मानव की उच्चतर भावनाओं और आदर्शों की अवहेलना करना है।

प्रकार्यवाद के दूसरे प्रमुख प्रवर्तक श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) थे। आपने श्री मैलिनोवस्की की भांति सांस्कृतिक तत्त्वों के कार्यों पर अत्यधिक बल

दिया। परन्तु श्री मैलिनोवस्की की तरह श्री रेडक्लिफ-ब्राउन ने सांस्कृतिक तत्त्वों के इन कार्यों के द्वारा 'व्यक्ति' के अस्तित्व पर अधिक ज़ोर न देकर 'समाज' के अस्तित्व को अधिक प्रधानता दी। आपके मतानुसार सांस्कृतिक तत्त्व जो कार्य करते रहते हैं उनसे अन्तिम रूप में समाज का ही अस्तित्व बना रहता है या बना रहना सम्भव होता है। आपने अपने विचार को और भी स्पष्ट करने के लिए सांस्कृतिक संगठन की सावयवी संगठन (organic integration) से तुलना की है।[1] एक सावयव (organism) अनेक कोष्ठों (cells) की एक संगठित तथा जटिल व्यवस्था होती है और इन कोष्ठों से ही सावयव या शरीर के विभिन्न अंग बनते हैं। इन अंगों में से प्रत्येक अंग की सम्पूर्ण सावयवी व्यवस्था (organic system) में एक या कुछ विशेष कार्य होता है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनमें से कोई अंग किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करता। प्रत्येक अंग का कार्य बँटा हुआ है, फिर भी ये अंग एक-दूसरे से परे नहीं हैं, प्रत्येक अंग अपने कार्यों को उचित ढंग से करने के लिए दूसरे अंगों से सम्बन्धित तथा उनपर आश्रित होता है। इस प्रकार कार्यों के आधार पर शरीर के विभिन्न अंगों में अन्त:सम्बन्ध तथा अन्त:-निर्भरता हुआ करती है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर या सावयव में एक प्रकार का संगठन पाया जाता है। जब तक सावयव जीवित है तब तक यह संगठन भी अनिवार्य है। साथ ही, यह स्मरण रहे कि सम्पूर्ण सावयव या कोष्ठ इनके कार्यों के बिना वास्तव में अर्थहीन ही है। जो बात सावयव और इसके विभिन्न कोष्ठों के सम्बन्ध में सच है, वही बात संस्कृति, उसके तत्त्वों और उनमें पाये जाने वाले संगठन के सम्बन्ध में भी सच है।

प्रकार्यवादी लेखक संस्कृति के कार्यों पर अधिक बल देने की धुन में इतना मस्त रहे कि इनकी कृतियों में संस्कृति के अन्य पक्षों की अवहेलना हुई है। इस कारण इनके सिद्धान्त में पर्याप्त सत्यता होते हुए भी वह संस्कृति की प्रकृति व विशेषताओं का केवल आंशिक विश्लेषण तथा निरूपण है।

संरूपणात्मक दृष्टिकोण
(Configurational Approach)

कुछ विद्वानों ने संस्कृति को एक संरूपण (configuration) के रूप में देखा है। उदाहरणार्थ, श्री रेल्फ लिण्टन (Ralph Linton) के मतानुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों का एक संरूपण है और उन व्यवहारों का फल है जिसके तत्त्व एक विशेष समुदाय के सदस्यों में पाये जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। संस्कृति के ये तत्त्व आपस में इस प्रकार संगठित होते हैं कि ये सब तत्त्व एक-साथ मिलकर एक समाज की संस्कृति को एक विशिष्ट 'रूप' या स्वरूप प्रदान करते हैं। यह इसलिए होता है कि प्रत्येक समाज में सीखे हुए व्यवहारों की एक परम्परा होती है। यह परम्परा प्रत्येक-

---

1. A. R. Radcliffe-Brown, 'On the Concept of Function in Science', American [illegible]

समाज में अलग-अलग होती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति को अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ प्राप्त हो जाती हैं और उन्हीं विशेषताओं के आधार पर एक समाज की संस्कृति को हम दूसरे से अलग कर सकते हैं।

संरूपणात्मक दृष्टिकोण से संस्कृति की विवेचना प्रोफेसर रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अध्ययनों तथा कृतियों में भी देखने को मिलती है। वास्तव में संस्कृति के संरूपण की चर्चा प्रो० बेनेडिक्ट ने संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) की अवधारणा को विकसित करते हुए ही की है और इस अवधारणा की लोकप्रियता प्रो० बेनेडिक्ट की कृतियों के कारण ही हुई है। आपका कथन है कि एक संस्कृति में संगठन (integration) इसकी अन्तर्वस्तु (content) के विभिन्न खण्डों का एक स्थायी या अर्द्ध-स्थायी (semi-permanent) रूप या डिज़ाइन में व्यवस्थित हो जाने पर उत्पन्न होता है। प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार प्रत्येक संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण तथा बड़े खण्ड (segment) होते हैं। इन खण्डों में भी छोटे-छोटे उपखण्ड होते हैं। ये उपखण्ड एक विशिष्ट ढंग या 'स्टाइल' (style) से परस्पर संयुक्त होकर या मिलकर एक बड़े खण्ड को एक विशिष्ट रूप या डिज़ाइन प्रदान करते हैं और इन बड़े खण्डों के ये विशिष्ट रूप या डिज़ाइन परस्पर मिलकर सम्पूर्ण संस्कृति के डिज़ाइन को निर्धारित करते हैं। इसे ही संस्कृति की सम्बद्ध स्थिति या संरूपण (configuration) कहते हैं। अत: स्पष्ट है कि प्रो० बेनेडिक्ट के मतानुसार संस्कृति के इन महत्त्वपूर्ण और बड़े-बड़े खण्डों, जो कि अन्य अनेक उपखण्डों का सम्बद्ध रूप है, को ही संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रतिमानों के मिलने से एक विशाल प्रतिमान बन जाता है जो कि सम्पूर्ण संस्कृति होती है। इस प्रकार अनेक प्रतिमानों से सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में, प्रो० बेनेडिक्ट के अनुसार यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि संस्कृति-प्रतिमान या सम्पूर्ण संस्कृति अनेक भागों (parts) से मिलकर बनते हैं फिर भी इन भागों के केवल मात्र योग से ही न तो संस्कृति संकुल का निर्माण होता है और न ही संस्कृति का। सम्पूर्ण संस्कृति या संकुल तो इन भागों की एक विशिष्ट व्यवस्था (unique arrangement) तथा अन्त:सम्बन्ध का ही परिणाम होता है, जिसके फलस्वरूप एक नवीन चीज़ की सृष्टि होती है।[1] जिस प्रकार ईंटों के योग मात्र से ही मकान नहीं बनता है बल्कि इन ईंटों की एक विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त:सम्बन्ध से ही एक नई चीज़ का निर्माण होता है और निर्माण हो जाने के बाद उसे ईंट या ईंटों का ढेर या एकत्रीकरण नहीं कहते बल्कि 'मकान' के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों की विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त:सम्बन्ध से जिस नवीन चीज़ की सृष्टि होती है उसे तत्त्वों

---

1. "The whole, as modern science is insisting in many fields, is not merely the sum of all its parts, but the result of a unique arrangement and interrelation of the parts that has brought about a new entity."—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, p. 47.

का योग मात्र नहीं बल्कि संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं और इन संस्कृति-प्रतिमानों से बने हुए विशाल प्रतिमान को संस्कृति कहते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही प्रो॰ बेनेडिक्ट ने लिखा है कि, "व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है। प्रत्येक संस्कृति के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों का जन्म होता है जो कि अन्य प्रकार के समाज में न पाये जाते हों। इन उद्देश्यों का पालन करते हुए प्रत्येक समाज अपने अनुभव का उत्तरोत्तर एकीकरण करता जाता है जिसके फलस्वरूप व्यवहार के विभिन्न मदों (item) में अधिकाधिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है।[1]

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक तत्व समान होते हैं, फिर उन तत्वों से बनने वाले संस्कृति-प्रतिमान एक-से क्यों नहीं होते हैं। इस प्रश्न का अति सरल उत्तर यह है कि सांस्कृतिक तत्व एक-से होते हुए भी उनमें सम्बद्ध या संगठित (integrate) होने का तरीका या डिजाइन या रूप एक-सा नहीं होता है, जिसके कारण संस्कृति-प्रतिमान का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों (culture traits) को अपनी आवश्यकताओं, अनुभव या समझ के अनुसार प्रत्येक समाज के सदस्य विभिन्न रूप में सम्बद्ध या संगठित करते हैं जिसके फलस्वरूप संस्कृति-प्रतिमान का डिजाइन या रूप भी प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार का ईंट, सिमेंट आदि दो-तीन अलग-अलग राज (mason) को दे दीजिए; पर एक राज उस सामान से जिस डिजाइन का कमरा बनायेगा, यह जरूरी नहीं कि दूसरा या तीसरा राज भी उसी डिजाइन का कमरा बनायेगा; प्रत्येक के डिजाइन में कुछ पृथकता, भिन्नता या विशेषता होगी ही। उसी प्रकार प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक तत्वों से बनने वाले संस्कृति-प्रतिमान के डिजाइन में या उनके संगठन (integration) में भिन्नता अवश्य ही होती है; परन्तु हाँ, संगठन प्रत्येक संस्कृति में होता अवश्य है।

प्रो॰ बेनेडिक्ट का कथन है कि संस्कृति में यह संगठन (integration) प्रत्येक संस्कृति में अन्तर्निहित एक अन्दरूनी प्रवृत्ति (tendency) या झुकाव (trend) के कारण ही होता है। आपने इस प्रवृत्ति या झुकाव को संस्कृति की 'आत्मा' (genius) कहकर पुकारा है। संस्कृति की सम्बद्ध-स्थिति (configuration) संस्कृति की आत्मा से ही बनती है। श्रीमती बेनेडिक्ट का यह विश्वास था कि संस्कृति की आत्मा दो प्रकार की हो सकती है—या तो यह आत्मा 'अपोलोनियन' (Apollonian) हो सकती है या 'डायोनीसियन' (Dionysian) भी हो सकती है। 'अपोलोनियन' शब्द 'अपोलो'

---

1. "A culture like individual, is a more or less consistent pattern of thought and action. Within each culture there come into being characteristic purposes not necessarily shared by other types of society. In obedience these purposes, each people further and further consolidate its experience proportion to the urgency of these drives the heterogeneous items of ' ' take more and more congruous shape."—*Ibid*, p. 46.

(Apollo) से बना है। अपोलो ग्रीसवासियों के कृपालु तथा सुखदायक सूर्य-देवता का नाम है। अतः स्पष्ट है कि अपोलोनियन-संस्कृति से श्रीमती बेनेडिक्ट का अभिप्राय ऐसी संस्कृति से है जिसमें शान्त-गुण प्रधान हो जिसके कारण संस्कृति के विभिन्न भागों में एक प्रकार का संगठन बना रहता है। इसके विपरीत, 'डायनीशियन' शब्द डायोनीसियस (Dionysius) से बना है। डायोनीशियस ग्रीसवासियों के कष्टदायक, मदमस्त देवता का नाम है। इस प्रकार डायोनीशियन आत्मा वाले संस्कृति में संगठन भोग-विलास तथा अहिंसा के आधार पर होगा। प्रो० बेनेडिक्ट ने इन दो प्रकार की आत्माओं के आधार पर विभिन्न संस्कृति के विभिन्न अंगों या पक्षों में पाये जाने वाले संगठन (integration) को समझाया है।

उपर्युक्त दो प्रकार की 'आत्माओं' की प्रकृति को दो विरोधी संस्कृति-प्रतिमानों की विवेचना से अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ये दो संस्कृतियाँ हैं—प्युब्लो (Pueblo) संस्कृति तथा अलोरेस (Alorese) संस्कृति। अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी भाग में रहने वाली प्युब्लो प्रजाति की संस्कृति अपोलोनियन संस्कृति का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते है। इस संस्कृति में एक प्रकार का संयम तथा व्यवस्था देखने को मिलती है और इसके सदस्य अपने व्यवहार में किसी भी प्रकार से उद्वेगात्मक आधिक्य (emotional excess) को प्रकट नहीं करते हैं और शान्तिपूर्ण ढंग से सहयोगिता के सिद्धान्त को अपनाते हुए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। उनका विश्वास है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक निश्चित स्थिति तथा कार्य है और इस विषय में सचेत रहना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। जब तक समाज का प्रत्येक सदस्य परम्परा द्वारा निर्धारित कार्यों को उचित ढंग से करता रहता है, तब तक सबकी प्रगति निश्चय ही होती रहती है, क्योंकि समस्त का या सबका प्रत्येक से अन्तःसम्बन्ध अति घनिष्ठ तथा परस्पर आदान-प्रदान का है। प्रत्येक को सबसे और सबको प्रत्येक से बहुत-कुछ मिलता रहता है। प्युब्लो लोगों का विश्वास है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति सहयोग द्वारा अपने-अपने कार्यों को करते रहेंगे तब तक वर्षा के देवता वर्षा लायेंगे, पेड़-पौधों के देवता फसल को उगायेंगे और उसे पकायेंगे और आनन्द-दायक देवता उनके आमोद-प्रमोद के साधनों को जुटायेंगे। परन्तु अगर किसी ने अपने कार्यों को ठीक से नहीं किया तो यह सब-कुछ नहीं होगा और उनका जीवन विघटित हो जायगा। पूजा, प्रार्थना, उत्सव, खेती, मकान आदि सभी वस्तुओं में प्लुब्लो लोग अपने सहयोगपूर्ण या सहकारी उत्तरदायित्व को भूल नहीं जाते हैं।

इनके विपरीत इण्डोनेशिया (Indonesia) की अलोर जनजाति की संस्कृति में समस्त रजोगुणों का समावेश मिलता है। इनका प्रदेश जंगल का है और उनमें ये लोग बगीचा लगाते हैं। स्त्रियों का प्रमुख कार्य इन बगीचों में काम करना है जबकि पुरुष धन के लेन-देन तथा सूद इकट्ठा करने के काम में अपने को अत्यधिक व्यस्त रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि वह उधार देकर दूसरों को अपने पंजे में कर ले। अपनी सम्पत्ति का दूसरों के सामने दिखावा करने की प्रवृत्ति भी इनमें अत्यधिक होती है। इसी कारण विवाह, जन्म, मृत्यु आदि के अवसरों पर वे धन की खूब बर्बादी करते

हैं। आमोद-प्रमोद तथा उत्सवों मे भी समस्त वासनाओ को नंगा रूप दिया जाता है और अनेक प्रकार के हुरदंगे मचाये जाते हैं। इन लोगों में धन का संचय अपनी ही जाति के दूसरे लोगों पर धाक जमाने के उद्देश्य से किया जाता है। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन मे पति-पत्नी तक में कोई सहयोग की भावना नहीं होती है। इसके फलस्वरूप पारिवारिक तनाव इनके समाज में एक सामान्य घटना बन जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि बच्चों के व्यक्तित्व का विकास भी असंबद्ध रूप मे होता है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में असुरक्षा (insecurity) का भय सदा घेरे रहता है और यही भय लोगों को एक-दूसरे से संबद्ध करता है। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति के जीवन मे पाये जाने वाली असुरक्षा ही अलोरेस संस्कृति में पाये जाने वाले सगठन का आधार है।

लयात्मक दृष्टिकोण या सांस्कृतिक लय
(Themetic Approach or Culture Theme)

संस्कृति के सगठन को समझाने के लिए प्रकार्यात्मक तथा सरूपणात्मक दृष्टिकोणो (approaches) के अतिरिक्त एक और दृष्टिकोण लयात्मक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण संरूपणात्मक दृष्टिकोण को यथार्थ (exact) मानने से इन्कार करता है और सास्कृतिक लय की अवधारणा को विकसित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सास्कृतिक लय मे ही सास्कृतिक सगठन का वास्तविक रहस्य छिपा हुआ है। यह दृष्टिकोण प्रो० बेनेडिक्ट के विचारो की आलोचना से आरम्भ होता है। जैसा कि श्री मोरिस ओपलर (Morris Opler) का कथन है, "डाक्टर बेनेडिक्ट की व्याख्या मे अनेक कमियाँ हैं जिन्हें कि उचित ढग से कभी भी नही समझाया गया है।" आपके मतानुसार अगर हम प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्तों को अपनायें तो हम यही पायेंगे कि उस दृष्टिकोण से अधिकतर संस्कृति असंगठित ही है, क्योंकि प्रो० बेनेडिक्ट ने सास्कृतिक सगठन (cultural integration) के केवल दो सम्भावित आधारों या आत्माओं—अपोलोनियन और डायोनीशियन—को निश्चित कर दिया है। यह सांस्कृतिक सगठन की अति सकुचित व्याख्या है क्योंकि संस्कृति के विभिन्न पक्षों या भागों का सगठन केवल इन दो आधारों पर ही नही, अन्य अनेक आधारों पर हो सकता है और होता भी है। इस कारण सस्कृतियों के विश्लेषण, निरूपण तथा तुलना में यदि प्रो० बेनेडिक्ट की अवधारणा को हम उपयोगी तथा व्यावहारिक बनाना चाहते हैं तो उसे और भी विस्तृत रूप मे प्रयोग करना होगा।

प्रो० बेनेडिक्ट के सिद्धान्त की कमी को दूर करने के लिए श्री ओपलर ने अपने सांस्कृतिक लय (culture theme) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके मतानुसार सांस्कृतिक संगठन के प्रेरक-कारण केवल दो ही नही, अनेक हो सकते हैं जो कि विभिन्न संस्कृतियों मे अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक सस्कृति मे मनुष्य के व्यवहार में कुछ-न-कुछ विशेषता होती ही है और उसका कारण सस्कृति मे पाये जाने वाले लय (themes) होते हैं। लय वे सामान्य प्रेरणाएँ (general motivations) हैं जिनके कारण एक के सदस्यों मे विभिन्न प्रकार के विशिष्ट व्यवहार पाये जाते हैं। श्री ओपलर

में, "लय, कहा हुआ या माना हुआ एक वह स्वयंसिद्ध सिद्धान्त या स्थिति है जो कि प्राय: व्यवहार को नियन्त्रित करती या क्रिया को प्रेरणा प्रदान करती है और जो एक समाज में आप-से-आप मान्य हो या खुले-आम विकसित की गई हो।"[1] सांस्कृतिक लय कोई विशेष 'टाइप' नहीं है जैसा कि श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धान्त से पता चलता है। इसकी अभिव्यक्ति श्री ओपलर के अनुसार, प्रत्येक संस्कृति में अलग होती है क्योंकि लय व्यवहार करने के वे सामान्य तरीके हैं जो कि एक समाज में फैले होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक समाज में फैले हुए व्यवहार करने के तरीकों में अन्तर्निहित प्रेरक-कारण या बहाव या धारा को उस संस्कृति का लय कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक संगीत की एक विशिष्ट लय होती है जिसके आधार पर उस संगीत के विभिन्न अंगों में एक शृंखला या संगठन बना रहता है और सम्पूर्ण संगीत को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति में एक या कुछ लय होती है, जो कि उस संस्कृति के विभिन्न अंगों को संगठित करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री ओपलर का सिद्धांत श्रीमती बेनेडिक्ट के सिद्धांत से अधिक व्यापक है।

सांस्कृतिक लय का एक उत्तम उदाहरण श्री ओपलर ने छिरिकाहुआ अपाछी (Chiricahua Apache) संस्कृति का प्रस्तुत किया है।[2] इस संस्कृति का एक लय इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"पुरुष स्त्रियों की तुलना में शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयों में अधिक श्रेष्ठ होते हैं।' इस लय की उपस्थिति छिरिकाहुआ लोगों के अधिकांश व्यवहारों में देखी जा सकती है। माँ के गर्भ का बच्चा अगर अधिक सजीव है तो वहाँ के लोग यह भविष्यवाणी करते हैं कि गर्भ का वह बच्चा लड़का है। उसी प्रकार वहाँ स्त्रियों के लिए यह कहा जाता है कि वे जल्द ही उत्तेजित हो जाती हैं और उनके मन की कोई स्थिरता भी नहीं होती है, इस कारण वे ऐसी बातें कह सकती हैं या ऐसे काम कर सकती हैं जिससे पारिवारिक कलह उत्पन्न हो। उनकी इच्छा-शक्ति भी पुरुषों की अपेक्षा कम होती है और उनमें काम-वासनाएँ भी अधिक होती हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि उपरोक्त निर्णय या मत केवल पुरुषों का ही नहीं है बल्कि स्त्रियाँ भी उसे स्वीकार करती हैं और उसी प्रकार का व्यवहार भी करती हैं।

छिरिकाहुआ लोगों के सामाजिक व राजनैतिक जीवन में भी उपरोक्त सांस्कृतिक-लय की छाप सुस्पष्ट है। सभी जनजातीय नेता पुरुष हैं और सभी प्रमुख पदों (posts) पर पुरुष ही नियुक्त हैं। रास्ता चलते समय पुरुष स्त्रियों से आगे चलते हैं; भोज (feasts) के अवसरों पर पुरुषों के लिए विशेष स्थान की व्यवस्था की जाती है जबकि स्त्रियाँ जहाँ कहीं भी जगह मिलती है वहीं बैठकर भोजन कर लेती हैं। अगर घर पर अतिथि

1. A theme is defined as "a postulate or position, declared or implied, and usually controlling behaviour or stimulating activity, which is tacitly approved or openly promoted in a society."—Morris Opler, 'Some Recently Developed Concepts Relating to Culture', *Southwestern Journal of Anthropology*, 4, 107-122 (1948), p. 120.

2. Morris E. Opler, 'Themes as Dynamic Forces in Culture,' *American ^ Sociology*, No. 3 Nov. 1945, pp. 192–206.

(guests) आ जाते हैं तो पुरुष-अतिथि का प्रत्येक विषय में अधिक ध्यान रखा जाता है। धार्मिक कृत्यों से स्त्रियों को सावधानी से दूर रखा जाता है; रजस्वला (menstruating) स्त्रियों को विशेषकर अपवित्र और अयोग्य माना जाता है। इतना ही नहीं, मनोरंजन का क्षेत्र भी उपरोक्त सांस्कृतिक लय के प्रभावों से अप्रभावित नहीं है। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में नाच या गीत नहीं गा सकती है। उन्हें अन्य सामूहिक खेल (game) से भी यह डर दिखाकर दूर रखा जाता है कि उनमें सम्मिलित होने पर वे अंधी हो जायेंगी। अतः *स्पष्ट है कि छिरिकाहुआ लोगों में यह सांस्कृतिक लय 'कि शारीरिक, मानसिक और नैतिक* सभी विषयों में पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ है' उनकी संस्कृति के विभिन्न पक्षों में फैला हुआ है और इसी के कारण इन पक्षों में संगठन है।

श्री ओपलर ने यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ संस्कृतियों में केवल एक ही लय (theme) सम्पूर्ण संस्कृति को नियंत्रित करता है, फिर भी इसे अपवाद (exception) ही समझना चाहिए, न कि नियम। नियम तो यह है कि प्रत्येक या अधिकतर संस्कृतियों में एकाधिक या अनेक लय देखने को मिलते हैं। इन सांस्कृतिक लयों के सन्तुलन और अन्तःक्रिया से ही, श्री ओपलर के अनुसार, संस्कृति में संगठन (integration) उत्पन्न होता है।

संस्कृति और व्यक्तित्व
(Culture and Personality)

व्यक्तित्व की परिभाषा
(Definition of Personality)

श्री डीवर (Dever) ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक और सामान्य रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है, परन्तु सबसे अधिक व्यापक और सन्तोषजनक परिभाषा के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के उस शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का सुसंगठित और गतिशील संगठन है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ रोज के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान में एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित करते हैं।[1]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, "व्यक्तित्व एक व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, लक्षणों तथा विचारों का एक ऐसा संगठित योग (integrated body) है जो कि बाहरी तौर पर तो विशिष्ट एवं सामान्य कार्यों व स्थितियों (roles and statuses) के रूप में तथा आन्तरिक रूप से उसकी आत्म-चेतना (self-consciousness), 'अहं' (self) की धारणा, विचारों, मूल्यों तथा उद्देश्यों के चारों ओर संगठित

---

1. "Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being the integrated and dynamic organization of the physical, mental and social qualities of the individual as that manifests itself to other people, in the give and take of social life."—Dever, *Dictionary of Psychology*.

होता है।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के अन्तर्गत कुछ बाहरी और कुछ आन्तरिक तत्वों का समावेश होता है। इन बाहरी तथा आन्तरिक तत्वों या लक्षणों के संगठित रूप को ही हम व्यक्तित्व कहते हैं।

प्रिंस मार्टन (Prince Morton) समस्त आनुवंशिक गुणों तथा अर्जित प्रवृत्तियों के सम्पूर्ण योग को ही 'व्यक्तित्व' की संज्ञा देते हैं।

व्यक्तित्व और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रकृति
(Nature of Relationship between Culture and Personality)

संस्कृति और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री जॉन गिलिन (John Gillin) ने तीन मुख्य बातों का उल्लेख किया है—[2] (1) जन्म के बाद मानव-शिशु एक मानव-निर्मित पर्यावरण (man made environment) में प्रवेश करता और उससे घिर जाता है। इस पर्यावरण के अन्तर्गत औजार, मकान, फर्नीचर आदि मानव-निर्मित भौतिक वस्तुएं ही नहीं, अपितु प्रथा, धर्म, भाषा, विचार, ज्ञान आदि अभौतिक वस्तुएं भी आती हैं। इनकी संख्या, प्रयोग और प्रकृति उसी समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है, और इनका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता ही है, क्योंकि व्यक्ति उन्हीं से घिरा होता है। (2) संस्कृति व्यक्ति को एक निश्चित ढंग से, प्रतिक्रिया करने को प्रेरित करती है। यह सच है कि व्यक्ति कुछ व्यवहारों को प्रयत्न तथा भूल (trial and error) की विधि से सीखता है, पर अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार करने के समाज द्वारा मान्य या संस्थागत कुछ तरीके (institutionalized modes of behaviour) होते हैं; और इनका भी निर्धारण संस्कृति ही करती है। व्यक्ति को अपनी आधारभूत सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, संस्कृति द्वारा निर्धारित इन तरीकों को अपनाना ही पड़ता है; कालान्तर में उसके व्यक्तित्व के निश्चित लक्षण बन जाते हैं। इन्हीं संस्थागत तरीकों के आधार पर बच्चे के प्रति वयस्क लोग कुछ निश्चित प्रतिक्रिया करते हैं, जैसे छोटे बच्चे की उँगली उसके मुंह से निकाल ली जाती है; शौच के लिए बच्चे को ठीक स्थान पर बैठाया जाता है; सोचने के लिए बायें हाथ के इस्तेमाल की बात बताई जाती है, और खाने के लिए दाहिने हाथ को प्रयोग में लाना सिखाया जाता है; कांटे, छुरी, चम्मच जैसे खाने-पीने के बर्तनों को बच्चे के हाथ में पकड़ाकर उनका सही इस्तेमाल बताया जाता है; और भाषा का उचित प्रयोग समझाया जाता है, इत्यादि। संस्कृति इसी प्रकार कितने ही व्यवहार बच्चे को सिखा देती है, और उन व्यवहारों के सम्बन्ध में व्यक्ति को कुछ सोचना नहीं पड़ता, क्योंकि वे अनुभवसिद्ध

---

1. "We define personality as the more or less integrated body of habits, attitudes, traits and ideas of an individual as these are oganised externally into specific and general roles and statuses and internally around self-consciousness and the concept of the self, and around the ideas, values and purposes which are related to motives, roles and status." —Kimball Young.

2. John Gillin, *The Way of Man*, p. 248.

होते हैं। साथ ही, चूंकि इन सब व्यवहारों के बीच वह पैदा होता और पलता है और चूंकि इन सब व्यवहारों को समाज के अधिकांश लोग मानते हैं, इस कारण इनकी अवहेलना भी व्यक्ति नहीं कर पाता है। वास्तव में संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है, और वह इस अर्थ में कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती। उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है; अर्थात् सांस्कृतिक व्यवहार समाज के अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होता है, और इसीलिए संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति के अन्तर्गत जिन प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, रूढ़ियों, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, वे व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं, बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करती हैं। इसीलिए इनका एक बाध्यतामूलक प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, और उसे संस्कृति द्वारा निर्धारित व्यवहार के तरीकों को अपनाना पड़ता है। (3) अन्त में, संस्कृति पुरस्कार के द्वारा, समाज या संस्कृति द्वारा निर्धारित उचित व्यवहारों या क्रियाओं को सीखने की प्रक्रिया में, और दंड या भर्त्सना द्वारा, बुरी आदतों व अनुचित व्यवहारों को छोड़ने में तेजी लाती है।

प्रो॰ रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने भी व्यक्तित्व पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—"बच्चा जिन प्रथाओं के बीच पैदा होता है, वे आरम्भ से ही उसके अनुभवों तथा व्यवहारों को ढालती हैं। यानी, बच्चा बोलना सीखते ही अपनी संस्कृति का एक छोटा प्राणी बन जाता है। फिर, जब वह बड़ा होता है और संस्कृति के कार्यों में हिस्सा लेने लायक बनता है, तो संस्कृति की आदतें उसकी आदतें, संस्कृति के विश्वास उसके विश्वास और संस्कृति की असम्भावनाएँ उसकी अपनी असम्भावनाएँ (impossibilities) बन जाती हैं। व्यक्ति की संस्कृति उसे वह कच्चा माल प्रदान करती है, जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि यह कच्चा माल अपर्याप्त है तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता; और, यदि यह पर्याप्त है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।"[1] अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। संस्कृति ही व्यक्तित्व को एक निश्चित स्वरूप व दिशा प्रदान करती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

---

1. "From the moment of his birth the customs into which he is born shape his experience and behaviour. By the time he can *talk, he is a little* creature of his culture, and by the time he is grown and able to take part in its activities, its habits, its beliefs, its impossibilities. His culture provides the raw material of which the individual makes his life. If it is meagre, the individual suffers; if it is rich, the individual has the chance to rise to his opportunity."—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*, Mentor Book Co., New York, 1959, pp. 18 and 218.

व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुण तथा संस्कृति
(Some Particular Traits of Personality and Culture)

संस्कृति का प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर कितना अधिक पड़ता है, इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुणों के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों की विवेचना कर सकते हैं। ये प्रभाव इस प्रकार हैं—

(1) **कष्ट सहने की क्षमता** (Toleration of Sufferings)—संस्कृति ही वास्तव में व्यक्तित्व को विशिष्ट रूप और रंग, अर्थ और तत्त्व प्रदान करती है। इसे प्रमाणित करने के लिए अनेक अध्ययन किये गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद, अटलाण्टा-विश्वविद्यालय के तत्वावधान में, प्रो० वुडवर्थ (Woodworth) ने विभिन्न प्रजातियों के लोगों की कष्ट सहने की क्षमता का पता चलाने का प्रयत्न किया। इस परीक्षण से सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमेरिकी की तुलना में एक रेड-इण्डियन में कष्ट सहने की क्षमता कहीं अधिक होती है। इसके कारणों की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि इसका कोई प्राणीशास्त्रीय या प्रजातीय कारण नहीं है। वास्तव में रेड-इण्डियनों की संस्कृति में अपनी कुछ विशेषताएँ ही ऐसी हैं कि लोगों में कष्ट सहने की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक है। बचपन से मृत्यु तक रेड-इण्डियनों को कष्ट सहन करने की शिक्षा दी जाती है, और उसका अभ्यास कराया जाता है, यहाँ तक कि हर रेड-इण्डियन अपनी खोपड़ी को अपने समुदाय के आदर्शों के अनुरूप रूप देने के लिए कठोर कष्ट सहना सहर्ष स्वीकार करता है। वह बचपन से ही युवा संगठन में वीर-गाथाएँ सुन-सुनकर अपने को कठोर बनाता है। यौवनावस्था की रस्में उसे कष्ट-सहन का और भी अभ्यास करा देती हैं। ऐसे सांस्कृतिक पर्यावरण में पलने वाले रेड-इण्डियनों में कष्ट-सहन की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक ही है। अमेरिकी संस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। वहाँ बचपन से ही बच्चों को कष्टकर परिस्थितियों से दूर रक्खा जाता है। कष्ट सहन करने का अभ्यास करवाना तो दूर रहा, उन्हें दर्द दूर करने वाली दवाइयाँ दी जाती हैं। ऐसी अवस्था में अमेरिकी लोगों में कष्ट सहने की क्षमता कम होनी ही चाहिए।

(2) **सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना** (Sense of Social Responsibility)—बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का कम या अधिक होना भी संस्कृति पर ही निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, मैडागास्कर के टनाला लोगों में सबसे बड़े लड़के के जन्म के बाद से ही उसकी देखभाल इस प्रकार की जाती है, और थोड़ा बड़ा होने पर उसे इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि उसमें अगुआ बनने और जिम्मेदारी लेने की इच्छा विकसित हो और वह आगे चलकर सामाजिक उत्तरदायित्व को समझते हुए नेता बन सके। इसके विपरीत, परिवार के दूसरे छोटे बच्चों को नियमपूर्वक अनुशासन में रक्खा जाता है और उनकी नेता बनने की इच्छा दबाई जाती है। डॉ० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि जिन संस्कृतियों में संयुक्त परिवारों का आधिक्य होता है, उनके परिवारों में पलने वाले बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, छोटे परि- के सदस्यों के यहाँ पलने वाले बच्चों से अधिक होती है। प्रो० मीड ने समोआ-

संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ आरम्भ से ही बच्चों को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाता है कि वे समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा कर सकने में समर्थ हो सकते है। इसके लिए छोटी आयु में ही बालक के कन्धों पर उत्तरदायित्व का बोझ लाद दिया जाता है। इसके विपरीत गुमस्य समाजो में अकाल प्रौढत्व को एक दुर्गुण माना जाता है, और यदि कोई बच्चा अपनी आयु के हिसाब से अधिक बढकर बोलता या बड़ों की समानता करने का प्रयत्न करता है तो उसे रोका जाता है। माता-पिता उसके इस अकाल विकास को लज्जा और अपमान की बात समझते हैं।

(3) यौन-नैतिकता (Sex Morality)—श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि यौन-व्यवहार या यौन-नैतिकता संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है। न्यूगिनी के केराकी ऐसे व्यक्ति को असामान्य (abnormal) समझते हैं जिसने विवाह के पूर्व समलिंगी (homo-sexual) यौन-सम्बन्ध स्थापित नही किया है। भारतीय उदाहरण द्वारा भी इसे समझाया जा सकता है। मुड़िया गोंडो मे प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह (youth organization or dormitories) में बडी उम्र की लडकियाँ अपने से छोटे उम्र के नवयुवकों को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (practical training) देती हैं, और उनके इस व्यवहार को किसी भी रूप मे अनुचित नही माना जाता। मध्य भारत की जनजातियों मे पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध (pre-marital sex relations) स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है, बशर्ते कि लड़की गर्भवती न हो जाय, क्योंकि लड़की का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक समझा जाता है। इन पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्धों के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजो मे अतिरिक्त वैवाहिक (extra marital) यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोनयक नागा जनजाति मे विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषों से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वहाँ स्त्री अपने पति के घर तब तक नही जाती, जब तक उसके एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम हो जाय कि वह बच्चा उसका नही है, तो भी उसे कुछ अनुचित नहीं लगता, और इससे पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे कोई अन्तर नही पड़ता। नैनीताल के तराई क्षेत्र मे फैली हुई थारू जनजाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियों से इतना अधिक प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, तो भी वे उस ओर विशेष ध्यान नही देते, अर्थात् इसे कोई अपराध नही समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति मे यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। ससुराल मे वधू (जिसे वे 'रान्ती' कहते हैं) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमों का पालन करना पड़ता है, परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लड़की अर्थात् 'ध्यान्ती' के रूप मे उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूटें मिल जाती हैं, और वह एकाधिक पुरुषों से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। इसे किसी प्रकार बुरा नहीं माना जाता।

(4) असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour)—विभिन्न संस्कृतियों मे उचित व्यवहार के विभिन्न मापदण्ड हैं, इसीलिए एक के लिए जो साधारण व्यवहार है, दूसरे के लिए वही असामान्य। पुरातनवादी हिन्दुओं मे स्त्रियाँ अपने ससुर, जेठ आदि

के सामने मुंह ढंक लेती हैं। यूकाघिर (Yukaghir) जनजाति में नियम है कि वधू अपने ससुर या जेठ का चेहरा न देखे और न ही दामाद को अपनी सास का चेहरा कभी देखना चाहिए। ओस्ट्याक (Ostyak) जनजाति में वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नहीं आते हैं, जब तक कि उनके बच्चे पैदा न हो जायें। न्यूगिनी की बुकाऊ जनजाति में अगर कहीं संयोग से दामाद अपने ससुर को मुंह खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जंगल में भाग जाता है। हिन्दुओं में पति, ससुर, जेठ आदि का नाम बहू नहीं लेती। इसके लिए कुछ माध्यमिक सम्बोधन (tiknonymy) का प्रयोग किया जाता है। जैसे, यदि बेटे का नाम देवू है तो पत्नी अपने पति को 'देवू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है। उसी प्रकार अलग-अलग संस्कृतियों में अजीब-अजीब परिहास-सम्बन्ध (joking relationship) पाये जाते हैं। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करते हैं, एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, यहाँ तक कि यौन-सम्बन्धी व्यवहार तक करते हैं। पर, कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र यहीं तक सीमित न रहकर एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी तक विस्तृत होता है। मैलानेशिया में भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रक्खे और चाहे बर्बाद करे। और, इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के समस्त व्यवहारों को सहन करने का गुण अपने में पनपाये और उसके किसी व्यवहार को बुरा न माने। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति में प्रथा है कि दस वर्ष की आयु में पुत्र पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है। फिर वह वहीं रहकर व मामा के परिवार और समाज की बातें सीखता है, मामा की सेवा करता है और बड़े होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। पिता के परिवार के प्रति उसमें उत्तरदायित्व की भावना पनपती ही नहीं। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष वहन करता है। कुछ समाजों में सहप्रसविता या सहकष्टी (couvade) की प्रथा पाई जाती है। इसके अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी के बच्चा होने को हो तो पति भी उन सब कष्टों को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और प्रसव की भाँति ही समय गुजारे। कुछ जनजातियों में तो प्रसव के समय स्त्री जो पीड़ा अनुभव करती और जिस प्रकार रोती-चिल्लाती है, पति को भी उसी प्रकार उन कष्टों को अनुभव करना तथा चीखना-चिल्लाना पड़ता है। इतना ही नहीं, पति को भी एक कमरे में बन्द रक्खा जाता है और प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिए भारत की खासी जन-जाति में पति, अपनी पत्नी की भाँति ही बच्चा पैदा हो जाने तक नदी पार नहीं करता और कपड़े नहीं धोता। व्यक्तित्व के उपर्युक्त सभी असामान्य व्यवहार विभिन्न संस्कृतियों की ही देन हैं।

(5) **व्यक्तित्व के अन्य लक्षण (Other Traits of Personality)**—यदि हम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों या गुणों की पृथक्-पृथक् विवेचना करें तो हम यही पायेंगे कि उन पर भी संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, सांस्कृतिक प्रतिमान के

अनुसार व्यक्तिगत व्यवहारों को ही लीजिए। जापान में फूत्कार (hissing) सामाजिक क्षेत्र में सम्मानित व्यक्तियों के प्रति आदर दिखाने का एक नम्र ढंग है; बसूटों लोग फूत्कार द्वारा सराहना करते हैं, परन्तु इंगलैण्ड में यह अत्यन्त अभद्र व्यवहार माना जाता है और किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट करने का ढंग है। समार के अधिकतर भागों में किसी व्यक्ति पर थूकना घृणा का चिह्न है, परन्तु अफ्रीका की मसाई जनजाति में यह व्यवहार स्नेह और भलाई का चिन्ह है, और, अमेरिकन-इण्डियन चिकित्सक का रोगी पर थूकना इलाज का एक खास तरीका है। यूरोप, भारत आदि में अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति में खड़ा हुआ जाता है, जब कि फीजी और टोंगा लोग बैठ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न समाजों के व्यक्तियों के व्यक्तित्वों में पाये जाने वाले पक्षपात (prejudice) पर भी मस्कृति के प्रभाव को देखा जा सकता है। अमेरिकी बच्चा बचपन से ही देखता है कि उसके समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो को प्रत्येक विषय मे नीचा समझता है और उसी रूप में उससे व्यवहार करता है; इसका परिणाम यह होता है कि उसमें भी धीरे-धीरे नीग्रो के प्रति घृणा का भाव पनपता है। कट्टर ब्राह्मण का लड़का हरिजनो के स्पर्श से भी बचने का प्रयत्न करता है और उनसे कोई सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में नहीं होता। इसका कारण है - उस बच्चे की संस्कृति उससे उसी प्रकार के व्यवहार की आशा करती है। इसी प्रकार, शील (modesty) का व्यक्तित्व-गुण भी संस्कृति के द्वारा ही निर्धारित होता है। डुरूस जनजाति की लड़की के लिए शील यही है कि वह बाहर के लोगों को एक आँख दिखाये; दो आँखें दिखाना एक प्रकार का सामाजिक अपराध-सा है। टर्की लोगों में स्त्रियों को पिता या भाई कहलाने वाले सम्बन्धियों के सामने अपना वक्ष स्थल अनावृत्त करना निषिद्ध है, परन्तु रान मे यह बात लागू नहीं होती। बुर्का पहनना मुसलमान औरतों के लिए शील का परिचायक है, परन्तु अंग्रेज औरतों के लिए नहीं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विभिन्न *लक्षणों (traits)* या गुणों पर संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने अनेक आदिम समाजों (primitive societies) का अध्ययन करके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले विशिष्ट संस्कृति के प्रभावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध मे नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

संस्कृति और व्यक्तित्व के कुछ अध्ययन
(Some Studies in Culture and Personalities)

व्यक्तित्व का विकास प्राणीशास्त्रीय व सामाजिक प्रक्रिया ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभावों को दर्शाने के लिए मानवशास्त्रियों ने एकाधिक जनजातियों (tribes) के जो अध्ययन किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(1) होपी जनजाति (Hopi Tribe)—इस जनजाति के सदस्य उत्तरी-पश्चिमी न्यू-मैक्सिको और उत्तरी-पूर्वी अरीजोना मे रहते हैं। इस क्षेत्र मे वनस्पति कम होती है,

फिर भी कृषि ही इनका प्रमुख व्यवसाय है। इनमें मातृवंशीय (matrilineal) तथा मातृ-स्थानीय (matrilocal) परिवार पाये जाते हैं। सम्पूर्ण जनजाति अनेक गोत्रों में वँटी हुई है। भूमि की मालकिन स्त्रियाँ हैं, और वे ही परिवारों की केन्द्र भी हैं। परिवारों में माता-पिता, उनके अविवाहित पुत्र व पुत्रियाँ, विवाहित पुत्रियाँ और माता के अविवाहित भाई भी रहते हैं। सम्पत्ति माता से पुत्री को हस्तान्तरित होती है। भूमि पर पति कार्य करता है, परन्तु उपज पर पत्नी का अधिकार एवं नियंत्रण रहता है। धार्मिक संस्कारों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख होता है। आर्थिक व्यवस्था सहकारिता पर आधारित है, और व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा नहीं पाई जाती। वर्ग-व्यवस्था का अभाव है। राजनैतिक नियंत्रण की मौलिक इकाई गाँव है। गाँव का मुखिया गाँव की देखरेख करता है। होपी लोग धर्म-परायण हैं।

उपर्युक्त संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) का प्रभाव होपी लोगों के व्यक्तित्व में स्पष्टतः देखने को मिलता है। उन्हें जीवित रहने के साधनों को उत्पन्न करने के लिए आपस में निरन्तर सहयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व सहयोग के आधार पर विकसित होता है, वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं एवं मूल्यों पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता। वे लोग शान्तिप्रिय होते हैं; और लड़ाई-झगड़ों से दूर रहना पसन्द करते हैं। परिवार व समाज में माँ का प्रभाव अधिक होने के कारण दया, प्रेम, सेवा, त्याग जैसी नारी-सुलभ विशेषताएँ होपी लोगों के व्यक्तित्व में विकसित हो जाती हैं। घमण्ड और अन्य स्वार्थ-भरी इच्छाओं का उनके व्यक्तित्व में अभाव होता है। ये बुरे गुण समझे जाते हैं। व्यक्ति अपने लिए नहीं, पूरे समुदाय के लिए सोचता है और उसी के लिए अपने स्वार्थों की बलि देता है। वे समुदाय के साथ ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं कि उससे काट या अलग कर दिया जाना उनके लिए सबसे कठोर दण्ड होता है। उनके व्यक्तित्व की एक और उल्लेखनीय विशेषता दूसरों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति है। वे नाते-रिश्तेदारों के साथ ही देवी-देवताओं पर भी बहुत भरोसा करते हैं। उनकी संस्कृति में मातृसत्तात्मक परिवारों की प्रमुखता होने के कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का व्यक्तित्व अधिक रोबीला होता है, और उनमें परिवार, सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित विषयों की देखरेख करने की क्षमता व कुशलता भी पाई जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्त्रियों और पुरुषों के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले उपर्युक्त सभी गुण संस्कृति की ही देन हैं।

(2) क्वाकियूटल जनजाति (Kwakiutl Tribe)—इस जनजाति का सांस्कृतिक प्रतिमान होपी संस्कृति से बहुत-कुछ विपरीत है। इस क्षेत्र में खाने-पीने की चीज़ें खूब पाई जाती हैं। यहाँ के लोग मछलियों तथा अन्य समुद्री जानवरों का शिकार करते हैं। शिकार अधिकतर व्यक्तिगत आधार पर होता है। समाज में वर्ग-व्यवस्था के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है, यहां तक कि परिवार में पहले बच्चे की स्थिति बाकी बच्चों से ऊँची मानी जाती है। परिवारों में ऊँच-नीच का संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक वर्ग का एक मुखिया होता है, जिसे सीमित राजनैतिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त होते हैं। धन का महत्त्व केवल उसे एकत्रित करने में नहीं अपितु खर्च करने में

भी होता है। सामाजिक मूल्य यह है कि जो व्यक्ति अपने संचित धन को जितना अधिक बर्बाद कर सकेगा, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही ऊँची रहेगी। समाज में पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, और समस्त सम्पत्ति पिता से परिवार के सबसे बड़े लड़के को ही मिलती है। प्रायः सबसे छोटे लड़के को चतुर समझा जाता है। दावतों में वस्तुएँ तथा तश्तरियाँ गिनने का भार सबसे छोटे भाई को दिया जाता है। यदि ऊँचे कुलों की लड़कियों से विवाह हो जाता है, तो इस आधार पर भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। धर्म का महत्त्व कम माना जाता है।

इस सांस्कृतिक प्रतिमान का प्रभाव क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व पर स्पष्टतः पड़ता है। इन लोगों में अपने व्यक्तिगत सुख एवं लाभ के लिए धन का संचय करने की प्रवृत्ति आम होती है। चूंकि समाज में वर्ग-व्यवस्था अत्यधिक स्पष्ट रूप में है, इसलिए व्यक्ति में उच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा, यहाँ तक कि संघर्ष करने तक की प्रवृत्ति पाई जाती है। चूंकि बड़े भाई को समस्त सम्पत्ति मिल जाती है, इस कारण बड़े भाई के प्रति अन्य भाइयों के हृदय में तीव्र ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा की भावना होती है। हर भाई दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए दौड़ लगाता है। कुछ लोगों में सामाजिक प्रतिष्ठा का इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि वे उसके लिए अपना सभी कुछ त्याग सकते हैं। दूसरों को नीचा दिखाने के लिए वे एक अनोखा तरीका अपनाते हैं। इस तरीके को 'पोटलैच' (potlatch) कहते हैं और यह क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व में पाये जाने वाली घोर प्रतिद्वन्द्विता तथा तनाव की भावना को अभिव्यक्त करता है। वास्तव में इस जनजाति के लिए पोटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लड़ने' की एक विधि मात्र है, जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति को ही प्रमुखता देती है।[1] 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हें नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट भोज का आयोजन करेंगे। 'अ' को उनके साथियों के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे, और अतिथियों में से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी होती है। उदाहरण के लिए, अतिथियों के सम्मान में अत्यधिक मूल्यवान् शील मछली का तेल प्रचुर मात्रा में जला दिया जाता है और जाने कितने जानवरों को काटकर फेंक दिया जाता है, इत्यादि। इस प्रकार पोटलैच की इस विधि ने व्यक्ति के व्यक्तित्व में बरबादी, प्रतिस्पर्धा और प्रतिष्ठा के लिए सदा प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। इसी विधि ने विवाह के प्रति भी एक प्रतिस्पर्धामूलक मनोवृत्ति को बढ़ाने के विचार से, ऊँचे कुलों की लड़कियों से विवाह करने के लिए भावी ससुर को कम्बलों का मूल्यवान् उपहार दिया जाता है। इसके लिए जितने धन की आवश्यकता होती है, उसे इकट्ठा करने के लिए किसी भी क्वाकियूटल व्यक्ति को काफी पहले से प्रयत्नशील रहना

1. R. F. Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1937, pp. 173-222.

पड़ता है। इस प्रकार 'पोटलैच' व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रयत्नशीलता, परिश्रमप्रियता, उच्चाभिलाषा आदि गुण भर देता है। साथ ही, यह विधि लोगों को काफी भौतिकतावादी बनाती है। जिसके पास प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त धन होता है, वह आत्मगौरव व श्रेष्ठता की भावना का अनुभव करता है, पर जो धनहीन होता है उसमें आत्मग्लानि तथा हीनता की भावना पनपती है। चूँकि इन लोगों की संस्कृति भौतिकवादी है, इस कारण क्वाकियूटल लोगों में धार्मिक विश्वास आदि का अभाव होता है। वे धार्मिक संस्कारों से दूर रहने की कोशिश करते हैं और उन्हें बेकार समझते हैं। व्यक्तित्व के ये सभी गुण उनकी संस्कृति की विशिष्टताओं के प्रतिफल कहे जा सकते हैं।

(3) **आरापेश, मुण्डगुमार तथा टेनाम्बुली जनजातियाँ** (Arapesh, Mundagumar and Tenambuli Tribes)—श्रीमती मार्गेट मीड (Margaret Mead) ने व्यक्तित्व के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभाव के महत्त्व को इन तीन जनजातियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है : (अ) न्यू गायना (New Guinea) की **आरापेश** जनजाति के लोग ऐसी जगह पर रहते हैं जहाँ बाहरी आक्रमण का कोई भय नहीं रहता, और पड़ोस के लोग उनपर आक्रमण नहीं कर सकते। इस प्राकृतिक स्थिति के कारण उनके व्यक्तित्व में सुरक्षा की भावना पनपती है। इस क्षेत्र की धरती भी उपजाऊ है, इस कारण पैदावार भी खूब होती है। वैसे जनसंख्या भी कम है। फलतः आर्थिक क्षेत्र में उन्हें प्रतिस्पर्धा या संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए उनके व्यक्तित्व में प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि की भावनाएँ नहीं, अपितु सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, सद्भावना आदि गुण पाये जाते हैं। उन्हें लड़ने-झगड़ने की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिए वे शान्त, नम्र व शिष्ट होते हैं। आरापेश जनजाति के पुरुषों और स्त्रियों दोनों में ही नारी-गुण मिलता है। इस प्रजाति में कुछ ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व प्रमुख होते हैं, जिनके कारण शर्मीले और आक्रमण की इच्छाओं का दमन कर सकने वाले व्यक्ति की प्रशंसा की जाती है। इस जनजाति में बच्चों को बड़े स्नेह से पाला जाता है, और उनके स्वभाव में नम्रता (softness) लाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ब) उसी न्यू गायना की एक दूसरी जनजाति **मुण्डगुमार** है। परन्तु इसके सदस्य आरापेश जनजाति से एकदम भिन्न प्रकृति और व्यक्तित्व के होते हैं। वे स्वभाव से शंकालु, प्रतिद्वन्द्वी, झगड़ालू, अहंवादी और ईर्ष्यालु प्रकृति के होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही निर्दयी और आक्रामक होते हैं। उनमें शक्ति तथा पद प्राप्त करने के लिए आपस में सदा ही संघर्ष चलता रहता है। आरापेश तथा मुण्डगुमार, दोनों ही जनजातियों की भौगोलिक स्थिति, जलवायु आदि सभी कुछ समान होने पर भी, वे सभी अन्तर सांस्कृतिक भिन्नता के कारण होते हैं। इस जनजाति की स्त्रियाँ शिशु को जन्म देना, अर्थात् माँ बनना वच्चों का पालन-पोषण करना पसन्द नहीं करतीं। सच तो यह है कि वे शिशु को ही नहीं करतीं, और इसीलिए उसे दूध पिलाने के लिए बैठने तक की मेहनत नहीं ीं। यह काम वे खड़े-खड़े ही कर लेती हैं; और जैसे ही बच्चा छीन-झपटकर किसी ध पी लेता है, वैसे ही उसे ऐसे झटककर हटा देती हैं, जैसे कि दूध पिलाने का होकर ही किया गया हो। यही नहीं, बच्चे का दूध बहुत शीघ्र छुड़ा दिया

जाता है। बच्चा रोता-चिल्लाता है, तब भी माँ उसका ख्याल नहीं करती, ऊपर से मारती है। कभी-कभी माँ की उपेक्षा के कारण बच्चे जाते भी रहते हैं। इस प्रकार के दुर्व्यवहारों के कारण बच्चे मे असुरक्षा और निराशा की भावनाओं का ही नहीं अपितु निर्दयता और आक्रामक भावनाओं का भी विकास हो जाता है, और वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति छीना-झपटी द्वारा ही करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। दया, सहानुभूति, करुणा आदि कोमल गुणों का विकास उनमें हो ही नहीं पाता।

(स) तीसरी जनजाति टैनाम्बूली में स्थिति और भी विचित्र है। इस जनजाति मे स्त्रियाँ शासक और प्रबन्धक होती हैं, और पुरुष भावुक, स्त्रियों पर निर्भर रहने वाले व अनुत्तरदायी (irresponsible) होते हैं। पुरुषों का कर्तव्य बच्चों को खिलाना, भोजन बनाना और घर की देखभाल करना होता है। इसके विपरीत, स्त्रियो का कर्तव्य घूमना और सहेलियों के यहाँ गप्पे हाँकना होता है। स्त्री को पति के चुनाव का अधिकार होता है, परन्तु पुरुषों को पत्नी के चुनाव का अधिकार नहीं होता। इस जनजाति में स्त्रियों की मनोवृत्ति दूसरों पर रोब जमाने की होती है, जबकि पुरुष विनयी होते हैं। समस्त समुदाय का शासन-प्रबन्ध स्त्रियाँ सम्हालती हैं, जबकि पुरुष औरतों की भाँति घर-गृहस्थी का काम देखते हैं। इस कारण स्त्रियाँ सामाजिक जीवन से अनुकूलन करने में अधिक सफल होती हैं। पुरुषों मे दूसरों पर अविश्वास करने की मनोवृत्ति विशेष होती है। परिवार की प्रकृति सामाजिक प्रशिक्षण, प्रथा, परम्परा, धर्म आदि व्यक्तित्व के इन समस्त लक्षणों या गुणों के कारण कहे जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि संस्कृति का व्यक्तित्व पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृति एक ऐसा साँचा या ठप्पा है जो सारे व्यक्तियो को एक ही रूप या रंग में ढाल देता है। मानव-व्यक्तित्व सांस्कृतिक वातावरण का प्रतिबिम्ब या परछाईं मात्र नहीं होता। एक ही सांस्कृतिक वातावरण में रहने वाले मनुष्यों में भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व-गुण प्रधान होते हैं। वास्तव में, एक ही संस्कृति से पले हुए व्यक्ति में व्यक्तिगत भिन्नता उसकी अपनी आन्तरिक क्षमता, योग्यता, अनुभव धारणा, विचार आदि के आधार पर पाई जाती है और हमेशा पाई जायेगी। कोई भी संस्कृति अपने समस्त सदस्यों पर समान प्रभाव कदापि नहीं डाल सकती। साथ ही, व्यक्तित्व-विकास में संस्कृति ही एक मात्र निर्णायक कारक है, यह सोचना भी अवैज्ञानिक है। इस सम्बन्ध में अन्य कारकों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, और यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य संस्कृति का दास नहीं, निर्माता है। श्रीमती रूथ बैनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने सच ही कहा है, "दूसरी संस्कृतियों का ज्ञान रखने वाला कोई भी मानवशास्त्री यह नहीं मानता कि व्यक्ति अपनी सभ्यता का गुलाम है, और उसके समस्त आदर्शों का पालन यन्त्रवत् करता है। अभी तक कोई भी संस्कृति ऐसी नहीं देखी गई, जो अपने सदस्यों के स्वभाव की समस्त भिन्नताओं को दूर कर सकी हो। संस्कृति और व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही लेन-देन का रहा है, और आगे भी सदा ही लेन-

कि वास्तव में ही केवल गोरी प्रजाति संस्कृति को जन्म दे सकती है। इस आधार पर यह प्रमाणित किया गया कि नीग्रो प्रजाति की अपनी कोई संस्कृति नहीं है क्योंकि वे जंगली हैं और प्राकृतिक स्थिति (state of nature) में निवास करती है। मानवशास्त्रीय अध्ययनों व खोजों के परिणामस्वरूप ये सभी भ्रम धीरे-धीरे दूर हो गये हैं। मानवशास्त्र के अध्ययनों से यह पता चलता है कि संसार में मनुष्यों का कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो जानवरों की भाँति बिलकुल प्राकृतिक स्थिति में रहता हो। हर समाज में कपड़ा पहनना, शृंगार करना, शरीर में गोदना-गुदाना, भाषा, कुछ-न-कुछ सामाजिक नियम व परम्परा आदि पाये जाते हैं। ये लक्षण मनुष्य को प्राकृतिक स्थिति से ऊँचा उठाते हैं तथा पशु जगत् से उसे पृथक् कर देते हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक आदान-प्रदान व भाषा के सहारे मनुष्य अपने ज्ञान व अनुभव को या संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। बचपन से ही मनुष्य अपनी सामाजिक विरासत (social heritage) का धीरे-धीरे अधिकारी होने लगता है। प्रजातीय प्रक्रिया से मनुष्य को कतिपय शारीरिक लक्षण प्राप्त होते हैं परन्तु सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा उसे एक 'जीवन-विधि' (life way) मिलती है। ऐसा हर मानव-समाज में होता है।

अतः संस्कृति को जन्म देना और उसका अधिकारी बनना किसी विशेष प्रजाति का विशेषाधिकार है, यह धारणा अवैज्ञानिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि हर समाज की संस्कृति एकसमान नहीं होती है, इससे पर्याप्त विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चय है कि संस्कृति के दृष्टिकोण से या संस्कृति के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा बिलकुल गलत है। प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है और इसका कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध संस्कृति से नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हम अध्याय 5 में 'प्रजातिवाद' के अन्तर्गत कर चुके हैं।

SELECTED READINGS

1. Benedict, R. : *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1934

2. Beals and Hoijer : *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co , New York, 1959.

3. *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 4, 1937.

4. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

देन का रहेगा।"[1] वास्तव में संस्कृति का विकास व्यक्तित्व के लिए वरदान है, और व्यक्तित्व का विकास संस्कृति का सौभाग्य।

प्रजाति और संस्कृति
(Race and Culture)

प्रजाति, जैसा कि हम अध्याय 5 में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है। कुछ शारीरिक लक्षणों (traits) के आधार पर जब हम मानव के एक बड़े समूह को दूसरों से अलग करते हैं तो उस मानव-समूह को हम प्रजाति कहते हैं। प्रजाति का सम्बन्ध ठोस मानव-समूह और उसकी प्राणीशास्त्रीय या शारीरिक विशेषताओं से होता है। प्रजाति वास्तव में प्राणीशास्त्रीय विरासत (biological inheritance) का परिणाम होता है। इसके विपरीत "संस्कृति सम्बद्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग होता है जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो, इसीलिए, प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।" प्रजाति में हम एक समूह को कुछ शारीरिक विशेषताओं के आधार पर दूसरे से पृथक् करते हैं; परन्तु एक सांस्कृतिक समूह को हम उसके धर्म, प्रथा, भाषा, विवाह संस्था, प्रविधि आदि के आधार पर दूसरे समूहों से पृथक् करते हैं। प्रजातीय विशेषताएँ वंशानुसंक्रमण (heredity) की प्रक्रिया के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। इसके विपरीत संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मानव का आविष्कार है और इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजाति व संस्कृति एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं और इन दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके बीच किसी भी प्रकार की समानता या सम्बद्ध को स्थापित करने का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक है।

15वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप की शक्तियों ने अफ्रीका, एशिया और अमेरिका पर आक्रमण करके उन पर उपनिवेशों की स्थापना की और साथ ही अपनी संस्कृति को भी फैलाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक भ्रमपूर्ण विचार यह फैलाया गया कि प्रजाति और संस्कृति में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह इस रूप में कि कुछ प्रजातियों में संस्कृति को जन्म देने की विशेष शक्ति होती है और कुछ में बिलकुल नहीं। यूरोप की प्रजातियाँ इस मामले में सबसे आगे हैं क्योंकि केवल वहीं की प्रजातियाँ ही संस्कृति को जन्म दे सकती हैं। चूंकि इन लोगों की प्रौद्योगिक (technological) शक्ति अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक थी इसलिए लोगों में यह गलत विश्वास पनप गया

1. "No anthropologist with a background of experiences of other cultures has ever believed that individuals were automatons, mechanically carrying out the decrees of their civilizations. No culture yet observed has been able to eradicate the differences in the temperaments of the persons who compose it. It is always a give and take."—Ruth Benedict.

कि वास्तव में ही केवल गोरी प्रजाति संस्कृति को जन्म दे सकती है। इस आधार पर यह प्रमाणित किया गया कि नीग्रो प्रजाति की अपनी कोई संस्कृति नहीं है क्योंकि वे जंगली हैं और प्राकृतिक स्थिति (state of nature) में निवास करती है। मानवशास्त्रीय अध्ययनों व खोजों के परिणामस्वरूप ये सभी भ्रम धीरे-धीरे दूर हो गये हैं। मानवशास्त्र के अध्ययनों से यह पता चलता है कि संसार में मनुष्यों का कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो जानवरों की भांति बिलकुल प्राकृतिक स्थिति में रहता हो। हर समाज में कपड़ा पहनना, शृंगार करना, शरीर में गोदना-गुदाना, भाषा, कुछ-न-कुछ सामाजिक नियम व परम्परा आदि पाये जाते हैं। ये लक्षण मनुष्य को प्राकृतिक स्थिति से ऊँचा उठाते हैं तथा पशु जगत् से उसे पृथक् कर देते हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक आदान-प्रदान व भाषा के सहारे मनुष्य अपने ज्ञान व अनुभव को या संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। बचपन से ही मनुष्य अपनी सामाजिक विरासत (social heritage) का धीरे-धीरे अधिकारी होने लगता है। प्रजातीय प्रक्रिया से मनुष्य को कतिपय शारीरिक लक्षण प्राप्त होते हैं परन्तु सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा उसे एक 'जीवन-विधि' (life way) मिलती है। ऐसा हर मानव-समाज में होता है।

अतः संस्कृति को जन्म देना और उसका अधिकारी बनना किसी विशेष प्रजाति का विशेषाधिकार है, यह धारणा अवैज्ञानिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि हर समाज की संस्कृति एकसमान नहीं होती है, इसमें पर्याप्त विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चय है कि संस्कृति के दृष्टिकोण से या संस्कृति के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा बिलकुल गलत है। प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है और इसका कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध संस्कृति से नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हम अध्याय 5 में 'प्रजातिवाद' के अन्तर्गत कर चुके हैं।

SELECTED READINGS

1. Benedict, R. : *Patterns of Culture*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1934.

2. Beals and Hoijer : *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

3. *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 4, 1937.

4. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

8 आदिम सामाजिक संगठन (Primitive Social Organization)

आदिम सामाजिक संरचना व संगठन के आधार (Bases of Primitive Social Structure and Organization)

संसार के विभिन्न समाजों के सामाजिक संगठन के अध्ययन से यह पता चलता है कि सामाजिक संगठन के कुछ सामान्य कारक होते हैं; यद्यपि इस 'सामान्य' शब्द से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि ये कारक सभी समाजों में समान रूप से पाये जाते हैं। विभिन्न सामाजिक संगठनों के कारकों में विविधता होते हुए भी इनमें अधिक महत्व-पूर्ण तथा सामान्य कारक, श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, निम्नवत् हैं—यौन-भेद (sex), आयु, नातेदारी (kinship), स्थान (locality), सामाजिक स्थिति (social status), राजनैतिक शक्ति, व्यवसाय, धर्म व जादू, टोटमवाद तथा ऐच्छिक समितियां।[1] सामाजिक संगठन के ये दस कारक या आधार अधिकतर आदिम समाजों में पाये जाते हैं; यद्यपि ये सभी कारक आदिम समाजों में पाये जाते हैं, यह कहना भी ठीक न होगा क्योंकि आदिम सामाजिक ढांचों (social structures) में अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सामाजिक संगठन के अन्तर्गत पाई जाने वाली संस्थाओं को, श्री हर्सकोविट्स (Herskovits) के अनुसार मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है[2]—प्रथम, तो वे जो कि नातेदारी (kinship) के आधार पर पनपती हैं और दूसरे, वे जिनका कि कोई सम्बन्ध नातेदारी व्यवस्था से नहीं होता।

सामाजिक संरचना व संगठन की प्रथम इकाई परिवार है। आदिम समाजों में तो इनका महत्व और भी अधिक है। इन समाजों में सदस्यों की अधिकतर आवश्यकता की पूर्ति परिवार के द्वारा ही होती है। परिवार अनेक प्रकार के होते हैं जैसे कि प्रारम्भिक या मूल परिवार और संयुक्त परिवार, मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक परिवार आदि। परिवार के बाद सामाजिक संगठन का एक अन्य आधार गोत्र (clan) है जो कि कई वंशों का समूह होता है। गोत्र के सभी लोग अपना एक सामान्य पूर्वज (common ancestor) मानते हैं इस कारण उनमें एक 'हम' की भावना होती है जिसके कारण सामा-

जिस संगठन बना रहता है। परिवार की भाँति गोत्र भी यह संस्था है जो नातेदारी के आधार पर पनपती है। नातेदारी के आधार पर पनपने वाले अन्य संगठनों में विशेष उल्लेखनीय गोत्र-समूह (phratry), द्विदल संगठन (dual organization) आदि हैं। आदिम सामाजिक संगठन का एक और आधार टोटमवाद है। टोटमवाद वह विश्वास है जिसके आधार पर एक गोत्र-समूह के सदस्य अपना एक अलौकिक सम्बन्ध किसी प्राकृतिक वस्तु, पेड़-पौधा या पशु से मानते हैं। चूंकि एक सामान्य टोटम के प्रति सबके दिल में बहुत-कुछ समान भावनाएँ, श्रद्धा-भक्ति होती हैं इस कारण उस सामान्यता (commonness) के आधार पर 'हम' की भावना भी पनपती है और सामाजिक संगठन बना रहता है। सामाजिक संगठन के इन आधारों की विस्तृत विवेचना हम अगले अध्यायों में करेंगे। यहाँ हम केवल आदिम समाजों में पाई जाने वाली स्थिति और कार्य (status and role), वर्ग-प्रथा (class system), स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित समितियाँ आदि सामाजिक संगठन के अन्य आधारों की विवेचना करेंगे।

आदिम समाजों में स्थिति तथा कार्य
(Status and Role in Primitive Society)

प्रत्येक समाज, चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, अपने सदस्यों के लिए कुछ निश्चित स्थिति तथा कार्य को निर्धारित करता है। व्यक्ति की स्थिति से तात्पर्य उस पद (position) से है जो वह अपने यौन-भेद, आयु, जन्म, विवाह, शारीरिक गुण, कृतियों तथा कर्तव्यों के कारण प्राप्त करता है। और कार्य वह पार्ट है जो वह व्यक्ति प्रत्येक पद के कारण अदा करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की एक स्थिति या पद होता है क्योंकि वह अपने माता-पिता की सन्तान है, पुरुष अथवा स्त्री है, युवक अथवा वृद्ध है, विवाहित अथवा अविवाहित है, कृषक या पुजारी है, राजा या प्रजा है। इन स्थितियों से सम्बन्धित कुछ कार्य भी होते हैं जिन्हें कि व्यक्ति अपनी स्थिति के कारण करता रहता है। पुजारी और कृषक का कार्य एकसमान नहीं है, पुरुष और स्त्री का कार्य एकसमान नहीं है, पिता और पुत्र का कार्य भी एकसमान नहीं है क्योंकि इनकी स्थिति भी एकसमान नहीं है अर्थात् भिन्न है। व्यक्ति के कुछ पद प्रदत्त (ascribed) होते हैं जो कि उसे समाज से स्वयं बिना किसी प्रयास के प्राप्त हो जाते हैं। पिता का पद एक व्यक्ति को समाज से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत कुछ पद या स्थितियाँ अर्जित (achieved) होती हैं जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास से प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक निरक्षर बालक अपने प्रयास से विद्वान बनकर समाज में ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकता है, यह उसकी अर्जित स्थिति होगी। साथ ही, एक समय में किसी व्यक्ति की एक से अधिक स्थितियाँ हो सकती हैं और इस कारण उसका एक से अधिक कार्य होना भी स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों की स्थिति अलग-अलग है, के मुख्य कारण यौन-भेद, आयु-भेद सम्पत्ति-भेद तथा योग्यताओं और आधारित भेद हैं। यहाँ आदिम समाज के संदर्भ में इन कारकों की विवेचना

उचित होगा।

(1) यौन-भेद (Sex Dichotomy) संसार की विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी-न-किसी रूप में स्त्री और पुरुष की स्थिति व कार्यों में महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। प्राणीशास्त्रीय आधारों पर इस प्रकार के अन्तर को समझाया जा सकता है। साथ ही इस प्रकार के अन्तर का कारण सांस्कृतिक भी हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से प्राय: नीची समझी जाती है। अनेक समाजों में यह माना जाता है कि नारी अबला और शक्तिहीना होती है और उसे प्रत्येक अवस्था में, जन्म से लेकर मृत्यु तक, किसी-न-किसी पुरुष के संरक्षण (Protection) की आवश्यकता रहती है। अनेक संस्कृतियों में धर्म और जादू के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक गिरी हुई होती है। उदाहरणार्थ नीलगिरी की टोडा जनजाति, जो कि विशुद्ध रूप से पशुपालक है, स्त्रियों को मासिक धर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य मानती है; स्त्रियाँ इस जनजाति की भैंसशालाओं के पास तक नहीं जा सकतीं। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पड़ता है। इसके विपरीत ऐसी संस्कृतियाँ भी हैं जहाँ पर धर्म तथा जादू के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पर्याप्त ऊँची है। उदाहरणार्थ खासी (Khasi) जनजाति में इन दोनों ही क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना में कहीं अधिक ऊँची है। टोडा और खासी इन दोनों जनजातियों के बीच की स्थिति अण्डमान प्रायद्वीप की जनजाति की है; यहाँ पर स्त्री व पुरुषों दोनों की ही स्थिति प्राय: समान है और दोनों ही समान रूप से धर्म और जादू के मामलों में भाग लेते हैं। यह तो स्थिति की बात रही; कार्यों के सम्बन्ध में भी स्त्री-पुरुष में भेद प्राणीशास्त्रीय और सांस्कृतिक दोनों ही आधारों पर हो सकता है। प्राणीशास्त्रीय आधार को ही लीजिए। स्त्रियाँ अण्डकोष्ठ (eggcell) को उत्पन्न करती हैं और पुरुष शुक्रकोष्ठ (sperm-cell) को; स्त्रियों को मासिक धर्म होता है, पुरुषों को नहीं। बच्चों को गर्भ में रखने और जन्म देने का काम स्त्रियाँ ही करती हैं, पुरुष नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति के अनुसार स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग कार्यों को निश्चित करता है; यद्यपि प्रत्येक संस्कृति में यह विभाजन एकसमान नहीं होता। श्री ह्वाइटमैन (Whitemen) ने प्युब्लो (Pueblo) जनजाति का उदाहरण देते हुए लिखा है कि इस जनजाति के पुरुषों के अधिकतर कार्य सहकारिता के आधार पर होते हैं जबकि स्त्रियों के कार्य प्रतियोगिता पर आधारित होने के कारण पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। इस जनजाति में पुरुष खेती का काम करते हैं, शिकार करते हैं और पशुओं की खाल से पोशाक बनाते हैं, टोकरी बुनते हैं, घर बनाते हैं, जंगल से लकड़ी काटकर ले आते हैं, इत्यादि। संक्षेप में, प्युब्लो जनजाति में पुरुषों का कार्य घर से बाहर होता है, जबकि स्त्रियों के लिए वे काम हैं जो कि 'घर के अन्दर' के होते हैं जैसे घर की देख-रेख करना, अनाज को पीसना, खाना पकाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, मिट्टी के बर्तनों को बनाना, घर को सजाना, इत्यादि।

र मेकर (Powder Maker) ने भी एक अन्य जनजाति लेसू (Lesu) का प्रस्तुत किया है। इस जनजाति में स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-का कठोरता से पालन किया जाता है। स्त्रियों के लिए जो काम निश्चित कर

दिये गये है उन्हें पुरुष लोग कदापि नही करते; यद्यपि ऐसे कुछ कार्य भी हैं जो स्त्री और पुरुष दोनो ही मिलकर करते है। पुरुषो के कार्यों मे बगीचा लगाने के लिए जमीन को साफ करना, पौधे लगाना, मछली पकड़ना, शिकार करना, इनके लिए आवश्यक उपकरणों या औजारो को बनाना, घर बनाना या उसकी मरम्मत करना इत्यादि उल्लेखनीय है। स्त्रियो के हिस्से मे बगीचो की घास-पात को हटाना, अनाज को इकट्ठा करना और उन्हे घर तक ले आना, पशुओं का चारा देना, पानी भरना, झाडू देना, खाना पकाना, बोझा ढोना आदि कार्य आते हैं। समुद्री कीड़ो-मकोड़ो को पकड़ना, चटाई और टोकरी बनाना, बच्चो की देख-रेख करना, दवा-दारू तथा जादू-टोना आदि से सम्बन्धित काय करना, कुछ ऐसे काम हैं जिन्हे कि लेग स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर करते हैं।

यद्यपि स्त्री और पुरुष के विशिष्ट-विशिष्ट कार्यों का एक सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) होता है, पर ऐसे भी समाज है जहा कि वे काम पुरुष करते हे जिन्हे कि अधिकतर समाज मे स्त्रियाँ करती है, और स्त्रियाँ वे काम करती हे जो कि वास्तव मे पुरुषो का है। उदाहरणार्थ, आसाम की पहाड़ियों मे रहने वाली खासी जनजाति मे पुरुषो का कार्य बच्चो को खिलाना, भोजन बनाना, घर की देखभाल करना इत्यादि है और स्त्रियो का कार्य 'घर के बाहर' के कामो को करना, घूमना आदि है। अतः स्पष्ट है कि सास्कृतिक भिन्नता के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के कार्यों मे भेद होना भी स्वाभाविक ही है। नाभाहो (Navaho) जनजाति मे कम्बल बुनने का काम स्त्रियों का है, जबकि उसके पड़ोसी होपी (Hopy) जनजाति मे कातना और बुनना दोनो ही पुरुषो के कार्य हैं। मैरीकोपा इण्डियनो (Maricopa Indians) में मिट्टी के बर्तन बनाना केवल स्त्रियों का ही काम है जबकि बुनने का काम केवल पुरुष ही करते है। इन सब तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए मानवशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि स्त्रियाँ स्वभावतः ही गृहिणी होती है, या कुछ विशेष कार्यों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर लेती है—यह सोचना ठीक नही है। फिर भी उनका यह निष्कर्ष है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि अधिकतर समाजो मे स्त्रियाँ करती हैं और कुछ काम विशेष रूप से पुरुष। उदाहरणार्थ, श्री मुरडॉक (Murdock) ने विविध प्रकार के 224 समाजों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि प्रायः तीन-चौथाई समाजो मे खाना पकाने, आग के लिए लकड़ी चुनने, अनाज पीसने, बर्तन बनाने, कपड़ा या चटाई बुनने आदि के काम स्त्रियों के ही सुपुर्द हैं। शिकार करने का काम सभी समाजो मे पुरुषो का होता है; 86 प्रतिशत में मछली पकड़ना तथा 85 प्रतिशत में पशु चराने का काम भी पुरुष ही करते हैं।[1] अतः हमारा अन्तिम निष्कर्ष यह है कि प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से कुछ कार्यों के लिए पुरुष अधिक उपयुक्त होते हैं और कुछ कार्यों के लिए स्त्रियाँ; यद्यपि इस विभाजन के सास्कृतिक आधारो पर अनेक रूपान्तर हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, प्राणीशास्त्रीय सीमाओं (limits) के अन्दर संस्कृति स्त्री-पुरुष के कार्यों को बहुत-कुछ बदल या पलट सकती हैं।

---

1. G. P. Murdock, 'Comparative Data on the Division of Labour' Sex' *Social Forces*, Vol. 15, 1937, pp. 551—553.

'प्राणीशास्त्रीय सीमाओं' से हमारा तात्पर्य यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें कुछ 'प्राणीशास्त्रीय विशिष्टता के कारण केवल स्त्री या पुरुष ही कर सकते हैं और संस्कृति लाख प्रयत्न करने पर भी उसे बदल नहीं सकती। जैसे, बच्चे को गर्भ में रखने और जन्म देने का काम स्त्रियों को ही करना होगा, संस्कृति इस काम को पुरुषों पर लाद नहीं सकती।

(2) आयु-भेद (Age differences)—आयु के आधार पर स्थिति-भेद भी संसार के प्रत्येक समाज या संस्कृति में पाया जाता है। एक छोटे बच्चे की स्थिति वह कदापि नहीं हो सकती जोकि एक बूढ़े व्यक्ति की होती है। उसी प्रकार किशोर, युवा, प्रौढ़ आदि की भी स्थितियाँ प्राय: प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती हैं। यह हो सकता है कि किसी समाज में बच्चों का महत्त्व अत्यधिक हो, परन्तु उन्हें वह सम्मान शायद कोई भी समाज नहीं देता जो कि प्रौढ़ों या वृद्धों को मिलता है। श्री सिम्मन्स (L. Simmons) अपने अध्ययनों से इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्राय: सभी समाजों में प्रौढ़ जनों की स्थिति सम्मान, आदरभाव तथा विशेष सुविधाओं से घिरी हुई होती है और वह केवल इसीलिए कि उनकी आयु अधिक है। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल आयु में बड़े होने के नाते ही किसी को सम्मानित स्थिति प्राप्त हो जाती है—यह सोचना गलत होगा। आयु के बढ़ने के साथ-साथ अनुभव तथा सामाजिक विषयों में ज्ञान का संचय भी बढ़ता जाता है। केवल आयु नहीं बल्कि आयु से सम्बन्धित अनुभव तथा ज्ञान ही व्यक्ति की स्थिति को ऊंचा उठाने का कारण बनता है। इसी कारण गोंड (Gond) जनजाति में वयस्क लोगों का काफी आदर इस कारण होता है कि अनेक जनजातीय समस्याओं के सम्बन्ध में उनका परामर्श बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। अधिकतर आदिम समाजों में राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक संगठन के क्षेत्रों में बड़े-बूढ़ों को ही प्राय: एकाधिकार होता है क्योंकि उनके दृष्टिकोण से ये सभी विषय 'गम्भीर' (serious) होते हैं और इसलिए बालक, किशोर या युवाओं की समझ से बाहर हैं। विशेषकर जादू सम्बन्धी तथा धार्मिक मामलों में तो आदिम लोगों का यह विश्वास है कि अगर इन विषयों में कम आयु के लोगों को हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता दे दी जायगी तो उससे अनर्थ होने की सम्भावना अधिक होगी, क्योंकि वे लोग इन विषयों को हल्के तौर पर (lightly) लेंगे जिससे कि अलौकिक शक्ति (supernatural power) अप्रसन्न होकर उस समुदाय को घोर नुकसान पहुंचायेगी।

आयु के आधार पर स्थिति-भेद के सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है और वह यह कि आयु के आधार पर प्रौढ़ या बूढ़े पुरुषों को प्रौढ़ा या बूढ़ी स्त्रियों की अपेक्षा अधिक ऊंचा पद या स्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि 'घर से बाहर' के क्षेत्र में अर्थात् राजनीति, सरकार, धर्म, जादू और आर्थिक संगठन में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का अधिक सक्रिय भाग होता है और साथ ही इन क्षेत्रों में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के साधन भी उन्हें पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।

इस सम्बन्ध में तीसरी बात यह स्मरणीय है कि बूढ़ों की स्थिति उन आदिम ों में अधिक सुरक्षित होती है जहाँ कि जीवित रहने के साधनों को प्राप्त करने के संघर्ष अत्यधिक कटु नहीं है। जहाँ इस प्रकार की स्थिति है अर्थात् जीवन का संघर्ष

अत्यधिक कष्ट है वहाँ बूढ़ों को भार समझा जाता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो प्रदेश में बूढ़ों को उनकी संतान बर्फ के घर में बन्द करके या अन्य उपायों से मार डालती है क्योंकि वे फिर समुदाय के उत्पादक-कार्य में भाग लेने में असमर्थ होने के कारण परिवार या समुदाय के लिए बोझ बन जाते हैं। यह बात वहाँ के बूढ़े लोग जानते हैं और अपनी असमर्थता पर लज्जा अनुभव करते हैं, इसीलिए एक निश्चित आयु पार कर लेने के बाद बहुधा वे स्वयं ही अपनी संतान से यह अनुरोध करते हैं कि उन्हें मार डाला जाय। कुछ जनजातियों में इस प्रकार के बूढ़ों को इस प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच रखा जाता है कि वे शीघ्र ही मर जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बूढ़ों के प्रति उनके दिल में असम्मान की भावना हो। प्रायः सभी मानवशास्त्रीय अध्ययन से यही पता चलता है कि जनजातियों में बड़े-बूढ़ों का आदर ही होता है। हाँ, दक्षिणी अफ्रीका के बुशमैन (Bushman) तथा दक्षिणी अमेरिका के उइटोटो (Witotos) लोगों में बूढ़ों के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया जाता। भारत की जनजातियों में भी सामान्यतः बड़े-बूढ़ों की ही स्थिति सम्मान की होती है। शासन-प्रबन्ध में इनका विशेष योगदान होता है। जनजातीय शासन-प्रबन्ध बहुधा गोत्रों के आधार पर होता है और प्रत्येक गोत्र (clan) का एक मुखिया होता है। इस मुखिया (clan chief) को सलाह परामर्श देने के लिए बड़े-बूढ़ों की एक परिषद् (a council of the elders) होती है। आस्ट्रेलिया की जनजातियों में भी यह पक्ष तो इतना विकसित है कि वहाँ के शासन-प्रबन्ध को 'वयस्कों का शासन' (the rule of the 'elders' or *Gerontocracy*) कहते हैं।

(3) सम्पत्ति-भेद (Distinction of Wealth)—व्यक्ति की स्थिति को निश्चित करने में सम्पत्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है। परन्तु स्मरण रहे कि सम्पत्ति या धन की धारणा प्रत्येक युग और समाज में अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ लोहा, कोयला, पेट्रोल आदि औद्योगिक समाज के लिए बहुमूल्य हो सकते हैं, परन्तु वे ही एक जनजातीय समाज के लिए, जो कि उनको प्रयोग करना नहीं जानता, कौड़ी मूल्य के भी नहीं हैं। उसी प्रकार एक पशुपालक समाज के लिए पशु ही सम्पत्ति है, कृषि-प्रधान देश के लिए जमीन, हल और बैल श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं और औद्योगिक समाज के लिए मशीन, मिल और कारखाना। इतना ही नहीं, कोई युग था जब कि पशुओं को सम्पत्ति का आधार माना जाता था, उसके बाद गुलामों की संख्या अधिकार और सम्पत्ति की द्योतक हो गई, परन्तु आधुनिक युग में वे आधार नष्ट होकर अन्य अनेक आधार विकसित हो गए हैं। फिर भी स्थिति-निर्धारण के क्षेत्र में सम्पत्ति, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रायः देखा जाता है कि वे लोग, जिनके और कोई गुण नहीं होते, सम्पत्ति पर अधिकार होने के कारण समाज में ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ हैं जिनमें व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा या ऊँची स्थिति तब प्राप्त करता है जब वह अपनी सम्पत्ति का अधिकाधिक त्याग कर देता है। भारत में अनेक शिकार करने वाली जनजातियों में उसे नेता और आदरणीय समझा जाता है जो कि अपने धनुष बाण को, पशुओं की खाल को या पालतू पशुओं को अपने मित्रों, पड़ोसियों और ... को दे देने की क्षमता रखता हो। अमेरिका के इण्डियनों में भी ऐसे अनेक समुदाय

कि उन लोगों की सामाजिक स्थिति ऊँची होती है जो कि अपने घर को खूब सजाकर रखते हैं, भोजन-सामग्रियों से अपना भण्डार भरकर रखते हैं। उत्तम पोशाकों को पहनते हैं, इत्यादि। परन्तु जिनके पास ये सब होता है, उनकी सामाजिक स्थिति उतनी ऊँची नहीं होती है जितनी कि उन लोगों की जोकि इन सब चीजों के अधिकारी होते हुए उन चीजों को मुक्तहस्त होकर उदारता से दूसरों को दान भी करते हैं। उनके लिए सम्पत्ति का त्यागना ही सम्मान है, उसे इकट्ठा करना मूर्खता है। इसी प्रकार साइबेरिया के याकूत जनजाति के लोगों में भी आर्थिक मामलों में निःस्वार्थता या आत्मत्याग की भावना ऊँची स्थिति प्रदान करती है; उनमें भोजन-सामग्रियों को बाँटकर खाने का नियम प्रधान है। उत्तरी अमेरिका की उत्तर-पश्चिम तटवर्ती (North-West Coast) क्वाकियूटल (Kwakiutl) जनजाति में सदैव सम्पत्ति इकट्ठा करने की दौड़-धूप रहती है, परन्तु जो व्यक्ति सम्पत्ति को जितना अधिक बर्बाद करता है या बिना कारण व्यय करता है उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होती है। इस जनजाति में पोटलेच (Potlatch) नामक व्यय-साध्य (expensive) भोज देकर अपनी प्रतिष्ठा या स्थिति को ऊँचा उठाने की प्रथा है। सब एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर दावतें करते हैं। जिस व्यक्ति की दावत दूसरे की अपेक्षा अधिक शानदार होती है उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है।

उपरोक्त उदाहरणों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्हीं लोगों को समाज में ऊँची स्थिति प्राप्त होती है जो कि सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। फिर भी आदिम लोगों में सम्पत्ति को केवल इकट्ठा करने से ही ऊँची स्थिति प्राप्त नहीं होती जब तक उस सम्पत्ति का दिखावा, उसे मुक्तहस्त से व्यय करके न किया जाय। सम्पत्ति की सार्थकता उसे दूसरों को दे देने या दान कर देने या उपहार में दे देने में है, न कि उसे केवल एकत्रित करने में।

आदिम समाज में स्त्रियों की स्थिति
(The Status of Women in Primitive Society)

प्रत्येक समाज में स्त्रियों या पुरुषों की स्थिति उनसे सम्बन्धित आदर्शों और कार्यों के अनुसार निश्चित होती है। ये आदर्श, मूल्य और कार्य प्रत्येक समाज में समान नहीं हुआ करते। इसीलिए प्रत्येक आदिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति एकसमान नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियों की स्थिति तब तक पूर्णतया परिभाषित नहीं की जा सकती जब तक उस समाज के सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमान का हमें ज्ञान न हो, क्योंकि समाज में सदस्यों की स्थिति भी उन प्रतिमानों का एक आवश्यक अंग हुआ करती है। उस समाज का स्त्रियों के प्रति मनोभाव क्या है, स्त्रियों को किस प्रकार के कार्य करने होते हैं, सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों में उनका कितना और किस रूप में योगदान रहता है, उनके साथ पुरुषों का व्यवहार कैसा है इत्यादि सभी बातों को ध्यान में रखकर ही स्त्रियों की स्थिति की विवेचना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत के नीलगिरि निवासी टोडा जनजाति को ही लीजिए, ये लोग विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। उनके [illegible] और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भैंस पालना है। कुछ भैंसें इतनी पवित्र

समझी जाती है कि जहाँ इनका दूध निकाला और दही मथी जाती है वह स्थान इस जनजाति का मन्दिर होता है। यहाँ बड़ी ऊँची तथा शंकु के आकार वाली छतदार पवित्र झोंपड़ी में बड़े जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसों का दूध निकालते हैं। स्त्रियों को मासिक धर्म आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य समझा जाता है और भैंसों से सम्बन्धित सभी कार्यों में उनकी स्थिति सबसे निम्न है, यहाँ तक कि वे इन भैंसशालाओं के निकट तक भी नहीं जा सकतीं। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पड़ता है। स्त्रियाँ केवल भैंसशाला से सम्बन्धित कार्यों के लिए ही अयोग्य नहीं हैं बल्कि उनकी निर्योग्यताएँ दूध से बनने वाले सामानों को बनाने या ऐसे भोजन को जो कि दूध से बनाया होता है, पकाने के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामान्य जीवन में भी टोडा स्त्रियों के प्रति निर्दयता या अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। अन्य सभी विषयों में उनकी स्थिति और कहीं भी हो, दयनीय नहीं है। स्त्रियों के प्रति दया का व कोमल व्यवहार किया जाता है और उनके सुझावों पर ध्यान भी दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्त्रियों की स्थिति की विवेचना उस समाज विशेष की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना ही उचित होगा।

कुछ विद्वानों ने स्त्रियों की स्थिति का ऊँचा या नीचा होना परिवार के स्वरूप से सम्बन्धित माना है। इस विचारधारा के अनुसार जिन समाजों में मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal family) पाये जाते हैं वहाँ पर स्त्रियों की स्थिति उन समाजों से ऊँची या अच्छी होती है जहाँ कि पितृसत्तात्मक (patriarchal) परिवार पाये जाते हैं, यद्यपि इस मत में काफी सच्चाई है, फिर भी इस आधार पर कोई दृढ़ विभाजन-रेखा खींचना या अन्तिम निष्कर्ष निकालना उचित न होगा। यहाँ दो-एक उदाहरणों की सहायता से हम आदिम समाजों में स्त्रियों की स्थिति का वास्तविक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

आसाम की पहाड़ियों में पाई जाने वाली खासी जनजाति मातृसत्तात्मक है। इन लोगों में विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता है। इनसे उत्पन्न बच्चों का वंश-नाम माता की ओर का ही होता है। अतः स्पष्ट है कि निवास-स्थान तथा वंश-नाम दोनों के ही सम्बन्ध में माता या स्त्री की स्थिति पुरुषों से कहीं अधिक ऊँची है। शायद इसीलिए इस जनजाति में प्रचलित लोक-कथाओं में इनके आदि-प्रवर्तक के रूप में स्त्रियों का ही नाम आता है। इनके अधिकतर देवताओं के नाम भी स्त्री-लिंगी हैं। सम्पत्ति भी उत्तराधिकार के रूप में माता से पुत्री को ही मिलती है। पुरुष जो कुछ भी कमाता है उस पर उसके विवाह से पूर्व तक माता के परिवार का अधिकार होता है और विवाह के बाद पत्नी के परिवार का। धार्मिक कार्यों को स्त्रियाँ ही करती हैं। इनमें 'पूर्वज-पूजा' करने की प्रथा पाई जाती है, पर ये सब पूर्वज स्त्रियाँ ही होती हैं। इस प्रकार देवताओं को नहीं, देवियों को ही खासी लोग पूजते हैं और यह विश्वास करते हैं कि ये देवियाँ ही उनकी रक्षा करती हैं, उन्हें रोग-मुक्त करती हैं तथा मृत्यु का भी कारण बन सकती हैं। धार्मिक क्रियाओं और उत्सवों के समय प्रमुख [illegible] पुरो[illegible] का होता है; यद्यपि पुरोहित भी उपस्थित रहते हैं, पर उनका [illegible]

कार्य में सहायता करना होता है। धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राजनैतिक क्षेत्रों में भी शासन-प्रबन्ध स्त्रियों के हाथों में ही होता है। परन्तु उन सबका तात्पर्य यह नहीं है कि खासी समाज में पुरुषों की स्थिति दयनीय हो। वास्तव में समाज में और स्त्रियों के द्वारा भी पुरुषों का सम्मान होता है, घर के मामलों में भी उनकी (पुरुषों की) इच्छा को नहीं टाला जाता, विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है और दोनों ही अपने-अपने मामलों में स्वतन्त्र हैं।

आसाम की एक और जनजाति, जो कि 'गारो' नाम से परिचित है, मातृसत्तात्मक है। इस जनजाति में बच्चों का वंश-परिचय माता के वंश के अनुसार ही होता है। इनके पूर्वज भी स्त्रियाँ ही हैं और ये लोग देवियों की ही पूजा करते हैं। सम्पत्ति पर पुत्री का अधिकार होता है, फिर भी अपनी पत्नी की सम्पत्ति को पति अपनी इच्छानुसार काम में ला सकता है, परन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर न तो पति का और न पुत्र का बल्कि पुत्री का अधिकार होगा। 'गारो' जनजाति में बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन है; कन्या-मूल्य की प्रथा नहीं है, विधवाओं को बार-बार पुनर्विवाह करने की छूट नहीं है। पुरुष व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है, परन्तु स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रारम्भ में कुछ छूट है। स्त्री व्यभिचारिणी हो तो पहले-पहल उसके कान छेद दिये जाते हैं, कपड़े फाड़ दिये जाते हैं; पर यदि वह उसे बार-बार दोहराये, तो उसे भी प्राणदण्ड दिया जा सकता है।

इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारों में स्त्रियों की स्थिति, विशेषकर निवास-स्थान और सम्पत्ति पर अधिकार के मामलों में, उतनी ऊँची नहीं होती जितनी कि मातृसत्तात्मक परिवारों में। उन समाजों में, जहाँ कि पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, विवाह के पश्चात् स्त्री को अपने पति के घर पर रहना पड़ता है। चूँकि वह घर पति का होता है इस कारण वहाँ पति का स्थान भी प्रत्येक प्रकार से पत्नी से ऊँचा होता है। उसी प्रकार सम्पत्ति पर भी अधिकार पिता से पुत्र को ही प्राप्त होता है, पुत्री को नहीं। इतना ही नहीं, ऐसे समाजों में कुछ ऐसे विचार, विश्वास या प्रथाएँ भी पनप जाती हैं जो कि स्त्रियों की स्थिति को गिरा देती हैं। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति में स्त्रियों के मासिक धर्म, प्रसूत आदि से सम्बन्धित जो विचार, विश्वास या आदर्श पनप गये हैं उसके फलस्वरूप भैंस, दूध और दूध से बनने वाली सभी चीजों के सम्बन्ध में अनेक निर्योग्यताएँ भी स्त्रियों पर लग गई हैं। परन्तु इन सब उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की स्थिति अनिवार्यत: गिरी हुई होगी ही, ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, 'हो' जनजाति पितृसत्तात्मक है, फिर भी वहां अपनी पत्नियों पर प्रभुत्व करने वाले और उनसे दबकर रहने वाले दोनों प्रकार के ही पुरुष पाये जाते हैं। पितृसत्तात्मक गोंड जनजाति में भी पति को चुनने, तलाक देने या विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध स्थापित करने आदि विषयों में स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं। उसी प्रकार पितृसत्तात्मक थारू जनजाति में भी स्त्रियों की स्थिति अपने पतियों से श्रेष्ठ है। खासी जनजाति भी तृसत्तात्मक है, परन्तु इनमें स्त्रियों के सम्बन्ध में 'दोहरा नैतिक नियम' है। जब तक १५ां अपने पति के घर पर रहती हैं तब तक तो उनकी स्थिति दबी हुई होती है और

वे आज्ञाकारिणी पत्नी के रूप में रहती हैं, परन्तु वही स्त्रियाँ जितने दिन अपने पिता के घर में रहती हैं, उतने दिन उन्हें अपनी मनमानी करने की छूट होती है, यहाँ तक कि उन्हें यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तक की स्वतन्त्रता रहती है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि आदिम समाजों में स्त्रियों की स्थिति नीची या ऊँची है, इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निष्कर्ष सम्भव नहीं। बहुधा यह सोचा जाता है कि आदिम समाज के लोग 'जंगली' या अर्द्ध-सभ्य होते हैं इसलिए उनके समाज मे स्त्रियों का उचित सम्मान नही होगा, यह धारणा गलत है। उसी प्रकार यह विचार भी गलत है कि सभी आदिम समाजों मे स्त्रियों की स्थिति ऊँची है। वास्तव में स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न है। आसाम के नागाओं मे अनेक जनजातियाँ हैं और प्रत्येक जनजाति मे स्त्रियों की स्थिति अलग-अलग है। मध्य भारत की जनजातियों में स्त्री-पुरुष दोनों को ही समान अधिकार प्राप्त है और वे एक-दूसरे के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते हैं। इसी प्रकार की अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं और वह निर्भर है उस समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान, या सामाजिक मूल्य (value), आदर्श तथा भावनाओं पर।

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

आदिम समाजों तथा आधुनिक समाजों के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात का स्पष्टत. पता चलता है कि सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना बहुत-कुछ संस्कृति के स्तर (stage of culture) पर निर्भर करता है। संस्कृति का स्तर जितना ही ऊँचा होगा या संस्कृति जितनी ही जटिलता को प्राप्त होगी, सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी उतना ही निश्चित होगा। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक पिछड़े हुए तथा सरल समाजों में वर्ग-भेद शायद ही स्पष्ट रूप मे पाया जाता हो। एस्कीमो लोगों में, अण्डमान प्रायद्वीप के निवासियो मे, आस्ट्रेलिया की जनजातियों मे, सेमंग, वेड्डा, अफ्रीकन बुशमैन आदि में वर्ग-प्रथा पाई ही नहीं जाती। इसका कारण यह है कि इन समाजों मे स्थिति-समूहों का उतार-चढाव, ऊँच-नीच की भावना तथा वर्ग-चेतना इसलिए पनप ही नही पाती है कि इन समाजों मे धन या सम्पत्ति का संचय (accumulation) सम्भव नही, सभी को प्राकृतिक साधन समान रूप से प्राप्त हैं और किसी का भी उल्लेख राजनैतिक शक्ति मे नहीं होता है। हम स्वयं ही अन्दाजा लगा सकते हैं कि एक शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाज में जहाँ उदरपूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही पर्याप्त होता है, जहाँ जीवित रहने के साधन इतने सीमित हैं कि आधिक्य (surplus) का कोई प्रश्न ही नही उठता और जहाँ पेट भरने के लिए जंगलों में मारे-मारे फिरना पडता है, वहाँ वर्ग-व्यवस्था पनप ही कैसे सकती है। अतः स्पष्ट है कि शिकार तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजो मे वर्ग-व्यवस्था की सम्भावना बहुत कम है क्योंकि इस स्तर वाले समाजों में सम्पत्ति-भेद या योग्यताओं पर आधारित भेद का नितान्त अभाव होता है। इसके विपरीत कृषि-स्तर पर सम्पत्ति-भेद की

रहती है, इस कारण सामाजिक वर्ग का विद्यमान होना भी सरल हो जाता है।

यदि हम विभिन्न समाजों में पाई जाने वाली वर्ग-व्यवस्था का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक समाज में वर्ग-व्यवस्था का एक-सा स्वरूप नहीं होता। विभिन्न समाजों में वर्ग-भेद के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। श्री ग्रिन्नेल (Grinnell) ने लिखा है कि अमेरिका के प्लेन्स इण्डियनों (Plains Indians) में वर्ग-व्यवस्था का एक अति प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। चीईनी जनजातीय समाज में वर्ग-भेद केवल इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति कितना साहसी और सफल है। अमीर-गरीब के आधार पर वर्ग-भेद पश्चिमी अपाछी (Western Apache) लोगों में भी देखने को मिलता है। जिनके पास कुछ या कम धन है और जिनमें धन इकट्ठा करने की इच्छा या क्षमता का अभाव है, उन्हें गरीब समझा जाता है और इसके विपरीत अवस्था वाले लोगों को अमीर कहा जाता है। अमेरिका में प्लेन्स की तीसरी जनजाति किओवा इण्डियनों में चार स्पष्ट वर्ग देखने को मिलते हैं। इन चारों वर्गों के अलग-अलग नाम हैं। प्रथम वर्ग में विशेपकर योद्धा या युद्ध-कला में अत्यधिक निपुण लोग आते हैं। दूसरे वर्ग में कारीगर, शिकारी, दवा-दारू करने वाले लोग आते हैं। तीसरे वर्ग में साधारण लोग और चौथे वर्ग में अयोग्य तथा निकम्मे लोग सम्मिलित किये जाते हैं।

अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट की इण्डियन जनजातियों में दो स्पष्ट वर्ग पाये जाते हैं—स्वतन्त्र लोग तथा दास। दास वे लोग होते हैं जिन्हें कि एक जनजाति के लोग दूसरी जनजाति पर हमला करके पकड़ ले आते हैं। इनका काम है अपने स्वामी की सेवा करना, उसके लिए पशुओं का शिकार करना, फल-मूल इकट्ठा करना, इत्यादि। स्वामी स्वतन्त्र (free man) हैं इस कारण वे अपनी इच्छानुसार इन दासों को काम में लगाते हैं और उन्हें एक प्रकार की उत्पादक पूँजी (productive capital) समझते हैं। इसलिए इन दासों की संख्या के आधार पर उन स्वतन्त्र लोगों की स्थिति निर्धारित होती है। जो जितने अधिक दासों का मालिक होगा, उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही ऊँची होगी। संसार की किन्हीं-किन्हीं जनजातियों में तो दो से अधिक वर्ग भी स्पष्ट देखने को मिलते हैं जैसे कि मेक्सीको (Mexico) की कुछ जनजातियों में। भारत में चेंचू, कमार आदि जनजातियों में वर्ग-भेद स्पष्टत: देखने को नहीं मिलता, परन्तु गोंड, भील आदि जन-जातियों में वर्ग-भेद स्पष्ट ही है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि आदिम समाजों में वर्ग-भेद के अनेक रूप होने पर भी उनमें विभिन्न वर्गों के बीच न तो उतना स्पष्ट भेद है जितना कि आधुनिक सभ्य समाजों में, और न ही उन वर्गों में तनाव बहुत कटु रूप धारण कर पाता है। अन्य सामाजिक संस्थाओं और समितियों की भाँति वर्ग-व्यवस्था भी उनमें सरल रूप में पाई जाती है।

SELECTED READINGS

1. Ghurye, G. S. : *Caste and Class in India*, Popular Book ot, Bombay, 1957,

2. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

3. Herskovits, M J. : *Man and His Works*, New York, 1956.

4. Lowie, R. H.: *An Introduction to Cultural Anthropology*, Revised Edition, New York, 1940.

5. Lowie, R. H. . *Primitive Society*, New York, 1920.

6. Majumdar D. N. : *Races and Culture of India*, Asia Publishing House, Bombay 1958.

7. Piddington, R. : *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

8. Risley, H. : *The People of India*, London, 1915.

9 विवाह और नातेदारी व्यवस्था (Marriage And Kinship System)

परिवार बसाने के लिए दो या अधिक स्त्री-पुरुष में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज में पाया जाता है जिसे कि विवाह कहते हैं। विवाह प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिम समाज हो या सभ्य समाज, की संस्कृति का एक आवश्यक अंग होता है क्योंकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई 'परिवार' का निर्माण होता है। प्रत्येक स्वाभाविक जीवन के लिए इसी कारण विवाह एक सामान्य (general) तथा स्वाभाविक घटना है और शायद इसीलिए यह अति प्राचीन जनजातियों से लेकर अति आधुनिक समाजों, सभी में किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। विवाह अण्डमान प्रायद्वीप या आस्ट्रेलिया की जनजातियों में जितना लोकप्रिय है उतना ही न्यूयार्क के निवासियों में भी। हिन्दू-समाज में तो विवाह का महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि हिन्दू-विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेश-द्वार है। मनु ने स्वीकार किया कि जैसे सब पशु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं। व्यास-स्मृति में गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले को घर में ही कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, केदार-बद्रीनाथ आदि का तीर्थ मिल सकता है, जिनकी यात्रा कर वह सब पापों से मुक्त हो सकता है। महाभारत में तो यहाँ तक उल्लेख किया है कि अविवाहित कन्या को कभी भी, चाहे कितनी ही तपस्या का बल या पुण्य संचय क्यों न हो स्वर्ग नहीं मिलता।

कुछ भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करने, उसे एक निश्चित ढंग से नियंत्रित करने तथा स्थिर रखने और परिवार को स्थायी रूप देने के लिए विवाह की संस्था का जन्म हुआ है। विवाह वह आधार है जो घर बसाता है और बच्चों के पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नींव को बनाता है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति तथा शरीर का स्वस्थ निर्वाह और मानसिक शान्ति प्राप्त करना है। सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का महत्त्व बच्चों को जन्म देना और तद्द्वारा समाज की निरन्तरता को कायम रखना है। इसीलिए विवाह नामक संस्था किसी समाज में नहीं है, ऐसा कोई भी उदाहरण दुनिया के किसी भी कोने से अनेक छानबीन तथा अन्वेषण के बाद भी मिल न सका; यद्यपि विवाह का स्वरूप या विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के तरीके में पर्याप्त

भिन्नता विभिन्न समाजों में पाई जाती है। इसी कारण सामाजिक मानवशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह संस्था विशेष महत्त्व की है।

विवाह की परिभाषा
(Definition of Marriage)

श्री बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, "विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है।"[1] श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उससे पैदा हुए सम्भावित बच्चों के बीच में एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।"[2] संक्षेप में, विवाह समाज से मान्यता प्राप्त किसी प्रथा या नियम से अनुसार दो या दो से अधिक स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों को नियमित करने की वह संस्था है जिसका कि उद्देश्य घर बसाना तथा बच्चों के लालन-पालन के लिए एक स्थायी आधार प्रदान करना है।

विवाह के उद्देश्य
(Aims of Marriage)

विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियमित करना तथा सन्तानोत्पत्ति के सामाजिक कार्य में योग देना है। स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होना स्वाभाविक है परन्तु सन्तानोत्पत्ति के बाद एक नवीन समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन असहाय बच्चों का लालन-पालन कैसे हो। पशु-पक्षियों के बच्चों को अपने माता पिता की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि मनुष्य के बच्चों को। इस कारण यौन-सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति के बाद बच्चों के लालन-पालन के लिए एक घर, निवास या गृहस्थी की आवश्यकता होती है। विवाह की उत्पत्ति इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हुई है। केवल स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को स्थिर करने या उनकी यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए ही नहीं, अपितु परिवार बसाने तथा उस परिवार को एक स्थायी रूप देने के लिए भी विवाह-संस्था का जन्म हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार विवाह का एकमात्र उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को नियमित करना या उनकी काम-वासनाओं को चरितार्थ करना है। परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति मात्र को विवाह का उद्देश्य मानना गलत होगा

---

1. "Marriage is an institution for admitting men and women to family Life." —Bogardus.

2. "Marriage is a relation of one or more men and women which is recognised by custom or law, and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of childern born of it." —Westermarck, *The History of Human Marriage*, Vol. I, p. 26.

क्योंकि इनकी पूर्ति विवाह-सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हो सकती है। यह सच है कि यौन इच्छाओं की पूर्ति विवाह का एक आधारभूत कारण है, परन्तु इसी को एक मात्र और अन्तिम उद्देश्य मान लेना विवाह के परम उद्देश्य की अवहेलना करना होगा। शरीर के स्वस्थ निर्वाह के लिए और मानसिक शान्ति के लिए भी विवाह की आवश्यकता है। मनुष्य केवल यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही जीवित नहीं रहता; उसकी आर्थिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक अन्य अनेक आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ होती हैं जिनके लिए किसी-न-किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता उसे होती है। इस संगठन का एक प्राथमिक आधार परिवार होता है जो कि विवाह के द्वारा ही बसाया जाता है। इस प्रकार विवाह के अनेक या कुछ आर्थिक और सामाजिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं। सेमा नागा में एक लड़के को अपनी मां को छोड़कर अपने पिता की अन्य विधवाओं से विवाह इस उद्देश्य से करना पड़ता है कि पैतृक सम्पत्ति पर उसका अधिकार बना रहे क्योंकि उस समाज में पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार उसकी विधवाओं का ही होता है और उन विधवाओं से विवाह किए बिना सम्पत्ति को पाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यहाँ विवाह का यौन-सम्बन्धी उद्देश्य महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि आर्थिक उद्देश्य। जहाँ यौन-सम्बन्धी उद्देश्य महत्त्वपूर्ण भी है, वहाँ भी इसके अतिरिक्त अन्य आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य कम महत्त्व के नहीं हैं। विवाह और परिवार मानव-जाति की निरन्तरता को बनाये रखने का एक प्रधान साधन है। व्यक्ति भले ही मर जाय, पर परिवार और विवाह द्वारा मानव-जाति या समाज अमर हो गया है। मनुष्य अपने बच्चों में अपनी आशाओं को फलीभूत होते देखना चाहता है। मनुष्य की कई आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ सन्तान से पूर्ण होती हैं। सन्तान द्वारा उसकी वंश-रक्षा ही नहीं बल्कि वंश की परम्परा या सांस्कृतिक प्रतिमान भी हमेशा बने रहते हैं। सन्तान द्वारा प्रत्येक बात में अपना अनुकरण किये जाने पर मनुष्य के अहंभाव की संतुष्टि होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह का उद्देश्य यौन-सम्बन्धी तथा मानसिक इच्छाओं की संतुष्टि करना है और सामाजिक दृष्टिकोण से समाज तथा संस्कृति दोनों के अस्तित्व या निरन्तरता को बनाए रखना है।

विवाह का आर्थिक उद्देश्य भी कम महत्त्व का नहीं है। अनेक ऐसी जनजातियां हैं जिनमें जीवित रहने के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है। विवाह इस संघर्ष में सहायक सिद्ध होता है क्योंकि विवाह दो या अधिक व्यक्तियों को एक परिवार में संयुक्त करता है और इस प्रकार संयुक्त होने वाले सब सदस्य एक साथ मिलकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विवाह दो या अधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को स्थिर करने और परिवार को स्थायी रूप देने में जो योग देता है उससे आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरल हो जाती है। कादर जनजाति के लोगों की आर्थिक आवश्यकताएं परिवार के सब सदस्यों के सहयोग से ही सम्भव है। उसी प्रकार अण्डमान की जनजातियों में स्त्रियों को भी पुरुषों के साथ जीवित रहने के साधनों को [illegible]ने में सहयोग करना पड़ता है।

श्री मुरडॉक (Murdock) ने संसार के विभिन्न भागों में पाये जाने वाले 250

समाजों के, विवाह के उद्देश्य के संदर्भ में, तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव-समाजों में विवाह के सामान्यतः तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं—प्रथम, यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति, द्वितीय, आर्थिक सहयोग और तृतीय, बच्चों का पालन-पोषण। श्री मुरडॉक का मत है कि प्रथम उद्देश्य (अर्थात् यौन-सम्बन्धी आनन्द) विवाह का एक मात्र उद्देश्य है, ऐसा प्रमाण किसी भी समाज में नहीं मिलता है क्योंकि ऐसे भी समाज हैं जहाँ कि पति और पत्नी को एक-दूसरे के साथ ही नहीं, अन्य व्यक्तियों के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है। और कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ पति-पत्नी तक में आपस में कोई यौन-सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि विवाह किये बिना भी यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाय। उदाहरणार्थ, भारत के मध्य भाग में रहने वाली कुछ जनजातियों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की तब तक स्वतन्त्रता रहती है जब तक लड़की गर्भवती नहीं हो जाती। उसी प्रकार कई यौन-सम्बन्ध विवाह में परिणित नहीं होते, जैसे भारत की कूकी जनजाति में। अतः निष्कर्ष यह है कि किसी भी समाज में केवल यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ही विवाह नहीं होता। पर सभी समाजों में दूसरे दो उद्देश्य अर्थात् आर्थिक सहयोग तथा बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्धित उत्तरदायित्व विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष पर अवश्य ही लादा जाता है। अतः स्पष्ट है कि विवाह एक वैयक्तिक घटना नहीं है जिसका कि एक मात्र उद्देश्य विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष को सुख या तृप्ति प्रदान करना हो, बल्कि विवाह वह साधन भी है जिससे समाज का अस्तित्व भी सम्भव हो।

विवाह की उत्पत्ति
(Origin of Marriage)

पिछले अध्याय में 'परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्तों' की विवेचना करते हुए हम विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ बता चुके हैं। यहाँ पर हम केवल उन सिद्धान्तों का सारांश ही प्रस्तुत करेंगे।

श्री मॉर्गन (Morgan) आदि कुछ विद्वानों का मत है कि मानव-समाज व संस्कृति के प्रारम्भिक काल में विवाह नामक किसी भी संस्था का अस्तित्व न था, यह तो सामाजिक विकास के कुछ स्तरों के बाद उत्पन्न हुई है। श्री मॉर्गन ने यह सिद्धान्त प्रचलित किया कि प्रारम्भ में समाज में कामाचार (promiscuity) की दशा पाई जाती थी और इसीलिए यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। परन्तु जनजातीय संसार से एकत्रित आधुनिक प्रमाणों में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। त्यौहारों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता या धर्म-पालन के हेतु पत्नी की भेंट यौन-साम्यवाद या कामाचार का प्रमाण नहीं हो सकती। यहाँ तक कि ब्रेजील की काइगन, साइबेरिया की चकची तथा आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजातियों, जिनमें कि समूह-विवाह की प्रथा पाई जाती है, वहाँ भी इस बात का को [illegible] है कि उन समाजों में कभी कामाचार की दशा [illegible] चच, बिर-होर (सब भारतवर्ष के) [illegible]

का कोई प्रमाण नहीं मिल सका। श्री मॉर्गन के अनुसार कामाचार की अवस्था के पश्चात् समूह-विवाह का विकास हुआ था। इस प्रकार के विवाह में एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था जिसमें प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की स्त्री होती थी। **तीसरी अवस्था** में एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ विवाह तो होता था, पर उसी परिवार में ब्याही हुई स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी। **चौथी अवस्था** में, श्री मॉर्गन, के अनुसार, पुरुष का ही एकाधिपत्य होता था और इसलिए वह अपनी इच्छानुसार एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता और उन सब के साथ यौन-सम्बन्ध रखता था। एक विवाह की स्थिति इस अवस्था के बाद आई है।

श्री बैकोफन (Backofen) के अनुसार भी आदिकाल में विवाह नामक कोई संस्था स्पष्ट नहीं थी। फलतः यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम नहीं था। इसके बाद जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ दरिद्रता तथा कमी (scarcity) भी बढ़ने लगी और लड़कियों के वध की प्रथा शुरू हुई जिससे समाज में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक हो गई। फलतः बहुपति-विवाह का जन्म हुआ। इसके बाद खेती में उन्नति होने से परिवार में स्थायी श्रमिकों के रूप में स्त्रियों की आवश्यकता बढ़ी और पुरुष भी अपने ऐशोआराम के लिए अधिक पत्नियाँ रखने में समर्थ हुए जिससे बहुपत्नी-विवाह का जन्म हुआ। अन्त में नैतिक विचारों में विकास होने पर और स्त्रियों द्वारा समान अधिकार की मांग होने पर एक-विवाह की प्रथा चली। **श्री वेस्टरमार्क** (Westermarck) ने उपरोक्त सिद्धान्तों की कटु आलोचना करते हुए अपने एक-विवाह के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके अनुसार यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता, बहुपति या बहुपत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमों के क्षणिक उल्लंघन मात्र हैं, स्थायी रूप तो एक-विवाह ही है। ऊँचे और नीचे सभी प्रकार के समाजों में एक-विवाह ही मिलता है, यहाँ तक कि चिड़ियों, पशुओं, वनमानुषों आदि में भी एक-विवाह ही मिलता है। **श्री मैलिनोवस्की** (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क का समर्थन करते हुए लिखा है कि "एक-विवाह ही विवाह का एक मात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

सारांश यह है कि विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज में एक ही रहा है, इस तथ्य की पुष्टि में प्रमाण प्रस्तुत करना उतना ही कठिन है जितना की यह प्रमाणित करना कि आदि काल में कामाचार की अवस्था थी। परन्तु यौन-सम्बन्धों को नियमित व स्थिर करने, परिवार को स्थायी रूप देने, आर्थिक सहयोग का विकास करने तथा बच्चों के लालन-पालन की एक सुनिश्चित व्यवस्था करने के लिए विवाह की संस्था का जन्म हुआ है, इस तथ्य के पक्ष में प्रायः सभी समाजों से, चाहे वह अति आदिम समाज हो या अति आधुनिक, अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवाह, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, हमेशा ही था और रहेगा।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

सामान्य रूप से जनजातियों में बाल-विवाह का प्रचलन नहीं है, और उनमें विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है। जहाँ तक भारत की जनजातियों का प्रश्न है, उनमें भी बाल-विवाह नहीं पाया जाता। परन्तु जो जनजातियाँ हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क मे आयी हैं उनमे बाल-विवाह होने लगा है। हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण ही छोटा नागपुर की सथाल, मुण्डा और ओराँव जनजातियों मे तथा राजस्थान के भीलो में लड़कों के विवाह की आयु प्राय: 12-13 वर्ष और लड़कियों की प्राय: 9-10 वर्ष के लगभग हो गई है। परन्तु अधिकांश जनजातियो मे यह स्थिति नही है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओं और कूकियो मे लड़कियों का विवाह 15 से 20 वर्ष की आयु में तथा लड़कों का विवाह 18 से 25 वर्ष की आयु मे होता है। विवाह चाहे बाल्यावस्था मे हो या किशोरावस्था में हो, साधारणत: विवाह के समय लड़को की आयु हिन्दुओं की भाँति ही लड़कियों से अधिक होती है।

विवाह-सम्बन्धी निषेध
(Prohibitions regarding Marriage)

विवाह की संस्था को नियमित तथा स्थिर बनाने के लिए विवाह-सम्बन्धी निषेध और नियम प्रत्येक समाज मे ही पाये जाते हैं चाहे वह जनजातीय समाज हो या आधुनिक सभ्य समाज। जनजातीय समाज मे ये नियम और निषेध संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(1) पारिवारिक निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन
(Family Incest or Incest Taboo)

यद्यपि विवाह के माध्यम से अनेक निकट सम्बन्धियों या रिश्तेदारों का उद्‌भव होता है, फिर भी अनेक रिश्तेदारो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की मनाही भी होती है। दूसरे शब्दों मे, प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप मे अति निकट के सम्बन्धियों से विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध होता है। इस नियम को ही निकटाभिगमन या निषिद्ध निकटाभिगमन नियम (incest regulation) कहते हैं। वैसे तो इस नियम के कुछ अन्य व्यक्ति भी होते हैं, परन्तु सामान्यत: पिता और पुत्री मे, माता और पुत्र मे तथा सगे भाई और बहनों मे विवाह प्राय: सभी समाजों मे निषिद्ध है। परन्तु साथ ही यह स्मरण रहे कि कुछ समाज ऐसे भी हैं जहाँ निकट सम्बन्धियो से विवाह करने का ही नियम है। उदाहरणार्थ, पेरू के इन्का (Inca), प्राचीन मिस्र देशवासी तथा हवाई प्रायद्वीप के अनेक घरानों मे निकट सम्बन्धियो से ही विवाह करने का नियम पाया जाता है। ये लोग अपने को कुलीन (nobles) कहते हैं और इसलिए अपने में विशुद्ध कुलीन रक्त को बनाये रखने के लिए भाई-बहनों मे भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की केवल मान्यता ही नही देते बल्कि ऐसे विवाह-नियम को ही अनिवार्य रूप से लागू करते हैं।

इनमें यह विश्वास है कि इस प्रकार का विवाह साधारण विवाह नहीं है, इस कारण यह असाधारण अर्थात् अलौकिक कुलीन व्यक्तियों को ही शोभा देता है। इसलिए इन समूहों में भी सब लोगों को नहीं, बल्कि कुछ विशेषता असाधारण व्यक्तियों को ही इस प्रकार के विवाह करने की आज्ञा दी जाती है।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज ही निकटाभिगमन (incest) को परिभाषित तथा निषिद्ध करता है, परन्तु यह परिभाषा और निषेध प्रत्येक समाज में समान नहीं हुआ करता। इससे एक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध किन्हीं प्राणीशास्त्रीय विचारों (biological consideration) से प्रभावित नहीं होते। सच तो यह है कि निकटाभिगमन के प्राणीशास्त्रीय परिणाम क्या हो सकते हैं, इसका अनुमान लगाना ही जनजातीय लोगों के लिए असम्भव है। फिर भी इस प्रकार के निषेधों का अस्तित्व, संस्कृति के अन्य पक्षों की भाँति, इसलिए बना रहता है कि इससे कुछ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस कारण यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ नियम प्रत्येक समाज में ही पाये जाते हैं। साधारणतः यौन-सम्बन्ध की सीमा पति-पत्नी तक ही सीमित रहती है। अन्य किसी के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध धार्मिक तथा अन्य आधारों पर वर्जित होते हैं।

कहा जाता है कि इस प्रकार का निषेध इस कारण होता है कि एक ही परिवार के सभी सदस्य जब बहुत दिनों तक एकसाथ घनिष्ठ रूप से रहते हैं तो उनमें परस्पर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त हो जाता है और इसलिए वे यह पसन्द करते हैं कि विवाह इन अति निकट-सम्बन्धियों के दायरे से बाहर ही हो। परन्तु यह उपकल्पना (hypothesis) सत्य प्रतीत नहीं होती। अगर ऐसा ही होता तो निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधों की आवश्यकता ही नहीं होती। अगर यौन-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त ही हो जाता है तो क्या कारण है कि कुछ अपवादों को छोड़कर सर्वत्र भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-पुत्र के बीच विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के नियमों को इतनी कठोरता से लागू किया जाता है और इन्हें तोड़ने पर कठोरतम दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है। श्री ह्वाइट (White) का तो कहना है कि एकसाथ घनिष्ठ रूप से रहने से यौन-सम्बन्धी आकर्षण घटने के बजाय बढ़ भी सकता है। अन्त में यह भी विचारणीय है कि निकटाभिगमन सम्बन्धी निषेध प्रायः उन लोगों पर भी लागू होते हैं जो कि एक परिवार में एकसाथ नहीं रहते हैं। उदाहरणार्थ, चिरिकाहुआ अपाछी (Chiricahua Apachee) लोगों में दूर के चचेरे तथा ममेरे भाई-बहनों में विवाह-सम्बन्धी निषेध, उतने ही कठोर हैं जितने कि सगे भाई-बहनों में। नाभाहो (Navaho) जनजाति में यह निषेध पूरे गोत्र के सदस्यों के लिए लागू होता है जो कि बिलकुल एक-दूसरे से अलग विभिन्न परिवार में रहते हैं। श्री क्लूखोन (Kluckhohn) ने लिखा है कि इस जनजाति में एक गोत्र के दो युवक-युवती के लिए एक-दूसरे से लिपटकर नाचना तक भी निषिद्ध है।

अतः स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध न तो प्राणीशास्त्रीय और न ही मनोनिक कारकों के कारण हैं। जैसा कि श्री लिण्टन ने लिखा है प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण अति निकट-सम्बन्धियों में भी यौन-सम्बन्ध या सन्तानोत्पत्ति हानिकारक नहीं है। उसी

प्रकार इस तरह के निषेध के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हो तो सकते हैं, पर वे इतने शक्तिशाली नहीं हैं कि उनके आधार पर इस सार्वभौम घटना (universal phenomena) की यथार्थ व्याख्या सम्भव हो सके। उसी प्रकार इन निषेधों की व्याख्या किसी एक सामाजिक कारण के आधार पर भी सम्भव इसलिए नहीं है कि इन निषेधों के अनेक विविध रूप विभिन्न समाजों में देखने को मिलते हैं। इसलिए यह कहना ही उचित होगा कि निकटाभिगमन के निषेधों का उद्भव सम्भवत. उपरोक्त सभी कारणों के मिलने से हुआ है।[1]

यौन-सम्बन्धों को नियमित करना या एक सीमित सीमा के अन्दर रखना सामाजिक संगठन या व्यवस्था को कायम रखने के दृष्टिकोण से आवश्यक है क्योंकि केवल यौन-सम्बन्ध के अनियमित होने से समस्त समाज में विघटन उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। श्री मैलिनोवस्की ने स्पष्ट ही लिखा है कि यदि कामोत्तेजनाओं को परिवार के सीमाक्षेत्र पर अधिकार जमाने दिया जाय तो उसका परिणाम केवल परिवार में ईर्ष्याओं का फैलना, प्रतियोगिताओं का बढ़ना और अन्त में पारिवारिक विघटन होना ही न होगा बल्कि यह उन आधारभूत बन्धनों को भी तोड़-फोड़ डालेगा जो कि सामाजिक संगठन, एकता तथा प्रगति के लिए आवश्यक हैं। वह समाज, जो निकटाभिगमन की आज्ञा देता है, कदापि स्थिर तथा संगठित परिवारों को विकसित नहीं कर सकता और यदि समाज का परिवार-रूपी प्राथमिक आधार ही टूट गया तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना तो आश्चर्य नहीं। यह बात आदिम समाजों के लिए और भी सत्य है। क्योंकि इन समाजों में परिवार ही सम्पूर्ण समुदाय का सबसे निर्भरयोग्य आधार है।[2]

अतः स्पष्ट है कि निकटाभिगमन के निषेध पारिवारिक तथा सामाजिक संगठन को बनाये रखने के उद्देश्य से लागू किये जाते हैं। साथ ही इस प्रकार के निषेधों के होने से लोग अपने परिवार में नहीं बल्कि दूसरे परिवारों में से अपना विवाह-साथी ढूँढते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न परिवारों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ बंध जाते हैं। इससे एक ओर सामाजिक संघर्ष की सम्भावनाएं कम हो जाती हैं और दूसरी ओर आर्थिक सहकार की शृंखला भी जुड़ने लगती है।

इसलिए, सारांश में, हम कह सकते हैं कि निकटाभिगमन-सम्बन्धी निषेधों का जन्म या उद्भव दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ होगा—इसका प्रथम उद्देश्य सुस्थिर तथा सहयोगी परिवारों को विकसित करना है जिससे बच्चों का लालन-पालन उचित ढंग से हो सके और आर्थिक सहकार का विकास सम्भव हो। इसका द्वितीय उद्देश्य स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को इस ढंग से नियमित करना है कि विभिन्न परिवारों के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों का एक निश्चित रूप विकसित हो और सुस्थिर रहे। प्रथम

---

1. Ralph Linton, *The Study of Man*, Appleton Century [illegible] York, 1936, pp. 125-126

2. Bronislaw Malinowsk[illegible], *Encyclopaedia of the Social* [illegible] The Macmillan Co , New Yo[illegible] [illegible]V, p. 630.

उद्देश्य पारिवारिक या व्यक्तिगत जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है जबकि दूसरा उद्देश्य सामुदायिक जीवन की आधार-शिला है।

(2) बहिर्विवाह
(Exogamy)

उपरोक्त निकटाभिगमन के निषेधों के फलस्वरूप ही एक प्रकार के विवाह का प्रचलन होता है जिसे कि बहिर्विवाह कहते हैं। बहिर्विवाह के अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करने की आज्ञा दी जाती है। यह समूह उस व्यक्ति की जाति, जनजाति, गोत्र या टोटम-समूह हो सकता है जिसके बाहर विवाह करने को कहा जाता है। जनजातियों में प्रायः अपने गोत्र और टोटम-समूह के अन्दर विवाह नहीं होता है। कादर, बैगा और अण्डमान द्वीप की जनजातियों को छोड़कर अन्य सभी जनजातियों में गोत्र के आधार पर सामाजिक संगठन पाये जाते हैं। एक गोत्र के सदस्य अपने विवाह-साथी दूसरे गोत्र से प्राप्त करते हैं। लुशाई कूकी जनजाति में गोत्रों के आधार पर बहिर्विवाह-सम्बन्धी निषेध नहीं है। इसके विपरीत खासी जनजाति में इस नियम को तोड़ना सर्वनाश के समान है। टोटम-बहिर्विवाह का नियम भारतीय जनजातियों में प्रायः सार्वभौम है और इसका उल्लंघन अक्षम्य अपराध है।

छोटा नागपुर की मुण्डा तथा अन्य जनजातियाँ गाँव-बहिर्विवाह (village exogamy) के नियम को मानती हैं, अर्थात् अपने गाँव की लड़की से विवाह नहीं करतीं। आसाम की नागा, दक्षिण भारत की इरूला आदि अनेक जनजातियाँ बहिर्विवाह-वर्गों में बँटी हुई हैं, और वर्ग-बहिर्विवाह के नियमों का पालन करती हैं। राजस्थान की भील जनजाति कुछ 'पालों' (क्षेत्रीय इकाइयों) में बँटी हुई है और इसी आधार पर बहिर्विवाह के नियम को लागू करती है। हो सकता है कि एक पाल में एकाधिक गोत्र हों और उस पाल का एक व्यक्ति अपने से दूसरे गोत्र में (पर उसी पाल में) विवाह करना चाहता है, फिर भी उसे विवाह करने की आज्ञा नहीं मिलती। उसे तो विवाह करने की आज्ञा तभी दी जाती है जब वह अपना विवाह-साथी अपने पाल से बाहर दूसरे पाल से चुने। इस प्रकार भीलों में पाल-बहिर्विवाह के नियम पाये जाते हैं।

बहिर्विवाह के कारण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं, **श्री वेस्टरमार्क** (Westermarck) के अनुसार बहिर्विवाह का कारण नजदीकी रिश्तेदारों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने को अधिक-से-अधिक टालना है। श्री लोई (Lowie) भी श्री हॉबहाउस के इस विचार से सहमत हैं कि नजदीक के रिश्तेदारों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से बचने की भावना मूलप्रवृत्त्यात्मक (instinctive) है। भाई-बहन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री में विवाह पर निषेध प्रायः सार्वभौम है और उसी आधार पर एक समूह के बाहर विवाह का प्रचलन भी आश्चर्य की बात नहीं है। अतः अति निकट रिश्तेदारों को छोड़कर विवाह करने की भावना यदि मूलप्रवृत्त्यात्मक है, तो [illegible] भावना का विस्तार और समूह के बाहर विवाह करने का नियम परम्परागत या [illegible] (conventional) है। उदाहरणार्थ, मोंटाना के ब्लैकफूट (Blackfoot o

Montana) लोगों में केवल चचेरे, ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों में ही विवाह निषिद्ध नहीं हैं, बल्कि उन्होंने इस निषेध का विस्तार अपने स्थानीय समूह के सभी सदस्यों तक में इस डर से कर दिया है कि कहीं भूल से किसी निकट रक्त-सम्बन्धी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। पैवियट्सो (Paviotso) जनजाति में अपने मामा, फूफा, चाचा आदि के बच्चों को, चाहे वे कितने ही दूर के रिश्ते के क्यों न हों, भाई या बहन कहकर ही पुकारा जाता है।

श्री लोई ने लिखा है कि निकट-रिश्तेदारों के साथ कहीं यौन-सम्बन्ध स्थापित न हो जाय, इस डर के आधार पर बहिर्विवाह की प्रथा का जन्म कैसे हो सकता है; उसका एक प्रमाण यह भी है कि कुछ जनजातियों में एक ही नाम के दो समूहों में विवाह निषिद्ध है। इस नियम के अनुसार आस्ट्रेलिया की एक जनजाति का ईमू (Emu) समूह का एक पुरुष कभी भी ईमू नाम के किसी भी दूसरे समूह की स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा चाहे वह दूसरा समूह पहले समूह से एक सौ मील दूर पर भी निवास करता हो। इन नियंत्रणों को भी बहिर्विवाह के नियंत्रण के रूप में माना जाता है क्योंकि इसके अनुसार अपने समूह के नाम वाले समूह के बाहर ही विवाह करने की आज्ञा होती है।

श्री रिज़्ले (Risley) के अनुसार बहिर्विवाह का एक कारण यह भी है कि मनुष्य नवीनता चाहता है और इसी कारण अपने समूह की जानी-पहचानी स्त्रियों से विवाह करने की अपेक्षा बाहर के समूह की नवीन स्त्रियों को अधिक पसन्द किया जाता है।

श्री ऑडरे रिचार्ड्स (Audrey Richards) के मतानुसार एक समय था जबकि आखेट-जीवी तथा फल-मूल संग्रह करने वाली जनजातियों में भोजन की समस्या विकट होने के कारण विशेषकर लड़कियाँ बोझ समझी जाती थीं और उन्हें मार डाला जाता था। इस कमी को आवश्यकता होने पर दूसरे समूह पर आक्रमण करके वहाँ की स्त्रियों को पकड़ लाकर पूरा किया जाता था। इसी से आगे चलकर बहिर्विवाह प्रथा का जन्म हुआ।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य कारकों का योग होने पर भी जनजातियों में गोत्र तथा टोटम की धारणाएँ बहिर्विवाह का सबसे प्रमुख कारण हैं। इन धारणाओं और विश्वासों के अनुसार एक गोत्र और टोटम के सभी लोग एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, इस कारण उनमें आपस में विवाह कभी नहीं हो सकता या होना उचित नहीं है।

(3) अन्तर्विवाह
(Endogamy)

यह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के अन्दर ही विवाह करना होता है। यह समूह एक व्यक्ति की अपनी जाति, जनजाति या कभी-कभी गोत्र में भी हो सकता है। भारत की जनजातियों में जहाँ जनजातीय अन्तर्विवाह होता है, वहाँ गोत्र-अन्तर्विवाह के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। गोत्र

गोत्र तारथारोल और तिवालियल अन्तर्विवाही समूह हैं। उसी प्रकार भील जनजाति के 'उजले भील' और 'मैले भील' भी अन्तर्विवाह के नियम को मानते हैं।

अपरिचित लोगों का भय भारत की जनजातियों में पाये जाने वाले अन्तर्विवाह के नियमों का सर्वप्रमुख कारण है। इसी भय के कारण भारत की प्राय: सभी जनजातियां अपनी ही जनजाति में विवाह करती हैं। पड़ोसी जनजातियों के जादू-टोने आदि से हानि पहुँचने का डर भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। कोरवा जनजाति में अन्तर्विवाह इसी कारण होता है।

अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को बनाये रखने की इच्छा भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध होती है। दूसरी बात यह भी है कि इन विशेषताओं के कारण ही जनजातियों में भिन्नताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं जिनके कारण वे एक-दूसरे से मिल नहीं पातीं। भौगोलिक पृथकता और प्रजातीय भिन्नता भी विभिन्न जनजातियों के बीच एक बहुत बड़ी खाई की सृष्टि करती है, जो उन्हें मिलने नहीं देती। फलत: अन्तर्विवाह प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक हो जाता है। इसके अतिरिक्त अशिक्षा, कुसंस्कार, यातायात के साधनों का अभाव, प्रत्येक जनजाति की आत्मनिर्भर प्रकृति आदि अन्तर्विवाह के सहायक कारण हैं।

अधिमान्य विवाह
(Preferential Mating)

आदिम संसार से एकत्रित तथ्यों से विवाह के सम्बन्ध में एक सत्य प्रगट होता है कि जनजातियों में ही नहीं अनेक आधुनिक समाजों में भी विवाह केवल मात्र एक व्यक्तिगत मामला नहीं बल्कि एक ऐसा साधन या आधार है जिसके माध्यम से दो परिवारों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ एक दृढ़ बन्धन में बंध जाते हैं। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री या पुरुष यह पाता है कि विवाह के द्वारा उसे न केवल अपना एक जीवन-साथी ही मिला है बल्कि अन्य अनेक नये रिश्तेदार भी मिल गये हैं जिनके अधिकारों को टाला नहीं जा सकता। इसीलिए विवाह के बाद एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के पिता (ससुर) को पिता जैसा सम्मान देना पड़ता है। विवाह किसके साथ होगा या किसके साथ नहीं होगा इस सम्बन्ध में प्रत्येक समाज में लिखित या अलिखित कुछ-न-कुछ नियम होते हैं। जब किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति से विवाह करने का विशेष अधिकार होता है या उनमें विवाह होना अधिक पसन्द किया जाता है तो उसे अधिमान्य विवाह (Preferential Marriage) कहते हैं। इस प्रकार के विवाहों को अधिमान्य विवाह इस कारण कहा जाता है कि विवाह के मामले में या विवाह-साथी चुनने के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिमान्यता या प्रमुखता दी जाती है या अधिक पसन्द किया जाता है। इस प्रकार के विवाह के चार प्रमुख रूप निम्नवत् हैं—

(1) ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों का विवाह (Cross-Cousin Marriage)—इस प्रकार के विवाह में भाई और बहन के बच्चों के बीच विवाह पसन्द किया जाता है। चूंकि

विवाह करने वाले दो पक्ष आपस में ममेरे-फुफेरे भाई-बहन होते हैं; इस कारण इस प्रकार के विवाह को ममेरे-फुफेरे भाई-बहन का विवाह कहा जाता है। भारत में ऐसी कुछ जनजातियाँ हैं जिनमे इस प्रकार के विवाह को बहुत पसन्द किया जाता है। उदाहरणार्थ, मणिपुर के पुरम-कूकियों मे मामा की लड़की के साथ विवाह करना इतना उत्तम समझा जाता है कि सन् 1936 में प्रोफेसर तारकचन्द दास द्वारा किये गये अनुसन्धानों के अनुसार इसमे 75 प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे। गोंड जनजाति में तो ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों मे विवाह अनिवार्य है। श्री ग्रिगसन (Grigson) के अनुसार 54 प्रतिशत गोंडों का विवाह इसी प्रकार का होता है। खरिया, ओरॉव, खासी, कादर आदि जनजातियों में भी इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। आसाम की मिकीर जनजाति में भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है। भीलो में यह प्रथा बहुत अधिक जनप्रिय है। मध्यभारत की कुछ जनजातियों मे इस प्रकार के विवाह को इतना महत्त्व दिया जाता है कि यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह के लिए राजी नही होता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। गोंडों मे ऐसे विवाह को 'दूध लौटवा' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक गोंड 'अ' ने अपनी पत्नी के लिए जो कन्या मूल्य दिया था वह उसके परिवार में फिर उस समय लौट आता है जबकि 'अ' की लडकी की शादी उस लड़की के माता के भाई (मामा) के लड़के से होती है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि इस प्रकार के विवाह से एक परिवार जिस परिवार से अपने लड़के के लिए लड़की लेता है उसे फिर अपनी लड़की दे देता है, और इस प्रकार 'दूध' लौट जाता है।

(2) चचेरे-मौसेरे भाई-बहनों का विवाह (Parallel Cousin Marriage)—जब दो भाइयों की सन्तान या दो बहनों की सन्तानें आपस मे विवाह करें तो ऐसे विवाह को क्रमश: चचेरे भाई-बहनों का विवाह और मौसेरे भाई-बहनों का विवाह कहते हैं। पहली प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने चाचा के लड़के या लड़की से विवाह किया जाता है। दूसरी प्रकार के विवाह मे, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपने मौसा के लड़के या लड़की से विवाह किया जाता है। मुसलिम धर्म के आधार पर उपरोक्त दोनों प्रकार के विवाह सम्भव हैं। भारतीय जनजातियों में चचेरे-मौसेरे भाई-बहनों के विवाह का प्रचलन नहीं है। अरब की एक खानाबदोश जनजाति बेडोइन (Bedouin) में इस प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। इन लोगों की जीविका-पालन का एक मात्र साधन ऊँट होता है जिन्हें कि वे रेगिस्तानी प्रदेश में एक स्थान से दूसरे स्थान को लिए फिरते है। इन ऊँटों को पालने के लिए और शत्रुओं से इनकी रक्षा करने के लिए बेडोइन लोगो को प्रबल पुरुष-शक्ति की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही यह उत्तम समझा जाता है कि एक बेडोइन लड़का अपने पिता के भाई (चाचा) की लड़की से विवाह करे जिससे कि उस परिवार या समूह की एकता तथा संगठन अत्यधिक दृढ हो और उनका अस्तित्व बना रहे।

(3) पति-भ्राता विवाह और (4) पत्नी-भगिनी (साली) विवाह (Lev and Sororate)—अधिमान्य विवाह के दो अन्य रूप पति-भ्राता विवाह और विवाह हैं। कुछ जनजातियों में एक स्त्री को यह अधिकार होता है कि उसके

जाने के बाद वह अपने पति के भाई से विवाह कर सकती है। जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई से विवाह करती है तब उस विवाह को पति-भ्राता विवाह (Levirate) कहते हैं। इस विवाह के दो रूप हैं—एक तो देवर-विवाह (Junior levirate) और दूसरा ज्येष्ठ-विवाह (senior levirate)। पति की मृत्यु के बाद विधवा पत्नी का विवाह यदि उस मृत पति के छोटे भाई अर्थात् उस स्त्री के देवर से होता है तो उसे देवर-विवाह कहते हैं; परन्तु यही विवाह यदि पति के बड़े भाई या जेठ से हो तो उसे ज्येष्ठ-विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाहों की अनुमति भारत की प्रायः सभी जनजातियों में है। पति-भ्राता विवाह का एक सम्भावित स्वरूप यह भी हो सकता है कि बड़ा भाई जिस स्त्री को विवाह करके लाता है वह आप-से-आप ही अपने अन्य देवर या देवरों की पत्नी हो जाती है, जैसे टोडा जनजाति में होता है। देवर शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक होता है क्योंकि 'देवर' का अर्थ है—'देवरः कस्मात् द्वितीयः वरोभवतीति' अर्थात् देवर उसे कहते हैं जो दूसरा वर हो। अनेक जनजातियों में इस प्रकार के विवाह में विधवा पर कोई अनिवार्यता (compulsion) न लादकर उसकी इच्छा पर छोड़ दिया जाता है अर्थात् विधवा के लिए यह अनिवार्य नहीं होता कि वह अपने देवर से विवाह करे ही। ऐसी जनजातियों में थारू जनजाति का नाम उल्लेखनीय है। भीलों में भी पति-भ्राता विवाह का प्रचलन है।

पत्नी-भगिनी या साली विवाह उस विवाह-प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार पुरुष अपनी पत्नी की बहन या बहनों के साथ विवाह कर सकता है या अन्य स्त्रियों की तुलना में अपनी साली से ही विवाह करना अधिक पसन्द करता है। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सीमित साली-विवाह (restricted sororate) और दूसरे समकालीन साली-विवाह (simultaneous sororate)। सीमित साली-विवाह वह विवाह है जिसमें पत्नी की मृत्यु के बाद ही साली से विवाह किया जा सकता है। भील जनजाति में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। समकालीन-साली विवाह में पुरुष एक परिवार की सबसे बड़ी बहन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहनें आप-से-आप उस पुरुष की पत्नियाँ बन जाती हैं। डा० दुबे का मत है कि पत्नी-भगिनी विवाह का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है। यह शब्द प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता आया है—(1) एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियों से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार; (2) व्यक्ति का अपनी पत्नी से सन्तुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह करने का अधिकार और (3) प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार।

पति-भ्राता विवाह और पत्नी-भगिनी विवाह के निम्न कारण हैं—

(क) साली-विवाह मुख्य रूप से उन जनजातियों में पाया जाता है जिनमें वधू-मूल्य प्रथा है। ऐसे समाजों में स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उसके पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मृत पत्नी की छोटी बहन को दामाद के घर दूसरी पत्नी के रूप में भेज दे, या कन्या-मूल्य वापस कर दे। वधू-मूल्य वापस करने की अपेक्षा अपनी दूसरी लड़की को दामाद को सौंप देना अधिकतर माता-पिता को सरल प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप साली-विवाह का प्रचलन होता है। कुछ जनजातियों में वधू-मूल्य (bride price) पत्नी

के लिए नहीं, वरन् उससे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के लिए दिये जाते हैं। ऐसे समाजों में जब प्रथम स्त्री की कोई भी सन्तान होने की सम्भावना नहीं रहती, तब उस स्त्री के माता-पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे दामाद के उस नुकसान को अपनी एक लड़की और भेजकर पूरा करें। ऐसा करने का अर्थ ही साली-विवाह होता है।

(ख) श्री लोई (Lowie) का मत है कि अत्यधिक वधू-मूल्य और स्त्रियों की कमी पति-भ्राता विवाह-प्रथा का एक बहुत प्रमुख कारण है। आदिम समाजों में आर्थिक दशा अत्यधिक गिरी होने के कारण प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक् रूप से विवाह करना सम्भव नहीं होता और स्त्रियों की कमी इस असम्भवता को और भी असम्भव कर देती है।

(ग) इस सम्बन्ध में एक कारण यह भी बताया जाता है कि विशेष सामाजिक प्रथा के आधार पर ही ऐसे विवाहों का प्रचलन हो सकता है। जहाँ स्त्रियों को विवाह के लिए क्रय किया जाता है, जैसे 'काई' जनजाति में, वहाँ विधवा स्त्री आप-से-आप या स्वभावतः ही पति के भाइयों की सम्पत्ति हो जाती है।

(घ) श्री टायलर (Tylor) ने उक्त विवाहों के एक सामान्य कारण का उल्लेख किया है। आपके मतानुसार ऐसे विवाह दो परिवारों के आपसी कर्त्तव्य-बोध के कारण ही पनपते हैं क्योंकि अधिकतर जनजातियों में विवाह दो व्यक्तियों का व्यक्तिगत सम्बन्ध न होकर दो परिवारों का पारिवारिक सम्बन्ध है और इसी कारण साली देवर या ज्येष्ठ-विवाह द्वारा एक परिवार दूसरे परिवार के नुकसान को पूरा करने का प्रयत्न करता है। जैसे, यदि एक स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो उस परिवार का जिसकी कि वह वधू है, यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस स्त्री के जीवन में उसके पति की खाली जगह को एक दूसरे पति से भर दे। इस कर्त्तव्य-बोध के फलस्वरूप ही देवर या ज्येष्ठ-विवाह का प्रचलन हुआ। उसी प्रकार जब अपने कर्त्तव्य-बोध से प्रेरित होकर एक परिवार अपने दामाद की प्रथम पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसके नुकसान को पूरा करने के लिए उसको दूसरी पत्नी देने का प्रबन्ध करता है, तब परिणाम साली-विवाह का प्रचलन ही होता है।

श्री टायलर के उपरोक्त विचार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साली-विवाह और पति-भ्राता विवाह दोनों ही एकसाथ एक समाज में पाये जा सकते हैं। श्री फ्रेज़र (Frazer) ने भी इन दो प्रकार के विवाहों के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध के बारे में अनेक आँकड़े दुनिया के विभिन्न भागों से एकत्रित किये हैं। आपके अनुसार कुछ अपवाद होते हुए भी ये दोनों संस्थाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और इन दोनों का एक ही समाज में एकसाथ पाया जाना स्वाभाविक है।

अन्य विशेष प्रकार के विवाह
(Other Special Types of Marriage)

उपरोक्त चार प्रकार के अधिमान्य विवाहों के अतिरिक्त जनजातीय समाजों में कुछ दूसरे विशेष प्रकार के विवाहों का भी प्रचलन देखने को मिलता है। कुछ जनजातियों

में विधवा और विधुर आपस में विवाह तय कर लेते हैं। संथाल जनजाति में ऐसा होता है। गारो जनजाति में पत्नी के पिता की मृत्यु होने पर यह आवश्यक है कि पत्नी की माता का पुनर्विवाह दामाद के साथ ही किया जाय। दूसरे शब्दों में, इस जनजाति में दामाद को अपनी विधवा सास से विवाह करना पड़ता है, वरना सास किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती है और उस स्थिति में दामाद का सम्पत्ति से अधिकार छिन जाता है। गोंड जनजाति में बाबा और पौत्री में प्राय: विवाह हो जाता है। श्री पेरी के अनुसार लुशाई पर्वत पर रहने वाली लाखेर जनजाति में विधवा सौतेली माँ और लड़के में विवाह होता है। इसी जनजाति में पिता और लड़के की विधवा स्त्री में शादी हो जाती है। उसी प्रकार सेमा नागा लोगों में भी यह नियम है कि पिता की मृत्यु के बाद अपनी सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विधवाओं से लड़के को शादी करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी विधवा या विधवाएँ होती हैं और अगर लड़का उस सम्पत्ति को पाना चाहता है तो उसके लिए एक मात्र रास्ता यही है कि वह उन विधवाओं से (अपनी सगी माँ को छोड़कर) विवाह कर ले। इस प्रकार सेमा नागा में स्त्रियाँ एक प्रकार की सम्पत्ति होती हैं जो कि उत्तराधिकार के रूप में पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाती हैं। उत्तरी नाइजेरिया की पैलविक तथा बूरा जनजातियों में एक व्यक्ति को अपने दादा (grand father) की पत्नियाँ उत्तराधिकार के रूप में मिल जाती हैं।

विवाह के भेद
(Forms of Marriage)

विवाह के दो मुख्य भेद होते हैं—एक-विवाह (Monogamy), और बहु-विवाह (Polygamy)। बहु-विवाह के तीन उपभेद होते हैं—(क) बहुपत्नी-विवाह (Polygyny), (ख) बहुपति-विवाह (Polyandry), और (ग) समूह-विवाह (Group Marriage)।

एक-विवाह
(Monogamy)

एक-विवाह तब कहा जाता है जब एक पुरुष केवल एक स्त्री से ही विवाह करता है और स्त्री के जीवनकाल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता है। श्री वुकेनोविक (Vukenovic) ने यह मत व्यक्त किया है कि वास्तव में उसी विवाह को एक-विवाह कहना उचित होगा जिसमें न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हो, बल्कि इनमें से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) दूसरा विवाह न करे। परन्तु सामान्यत: एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे किसी से विवाह न करना ही एक-विवाह माना जाता है। जिन समाजों में सामान्य रूप से स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात बराबर है, वहाँ प्राय: एक-विवाह प्रथा पाई जाती है। परन्तु यह कोई निश्चित या अन्तिम नियम भी नहीं है। एक-विवाह सभ्यता की एक उत्तम पराकाष्ठा है

और इसीलिए आधुनिक समाज में इस प्रकार का विवाह सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। भारतीय जनजातियों में एक-विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आधुनिक सभ्य समाज के सम्पर्क में आना है। एक-विवाह आसाम की खासी, बिहार की संथाल और केरल की कादर जनजातियों में पाया जाता है। 'हो' जनजाति में अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिए एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना असम्भव है, इस कारण वे भी एक प्रकार से एक-विवाही हैं।

बहुपत्नी-विवाह
(Polygyny)

एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियों में नहीं किया जाता है। जनजातियों में धनी व्यक्ति अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोंड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियों में बहुपत्नी-प्रथा पाई जाती है।

समाज में पुरुषों की संख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया जाता है; परन्तु आज अधिकतर मानवशास्त्री इससे सहमत नहीं हैं। बहुपत्नी-विवाह का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाड़ी और पठारी भागों में जीविका-पालन के हेतु जनजातीय लोगों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है और अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योंकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नी के रूप में खूब काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते हैं। आसाम की जनजातियों के नेता बहुपत्नी-विवाह करते हैं क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है और वे एकाधिक स्त्रियों का पालन कर सकते हैं। स्त्री की अपनी इच्छा भी इस विषय में एक कारण हो सकती है। एक जनजातीय स्त्री स्वयं भी यह चाहती है कि वहाँ के कठिन आर्थिक जीवन में उसके कार्यों में मदद करने के लिए अधिक संख्या में सहायक स्त्रियाँ हों।

बहुपत्नी-विवाह से प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चों की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। कामी पुरुषों को परिवार में ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नहीं फैल पाता है। इस प्रकार के विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं क्योंकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

इसके विपरीत बहुपत्नी-विवाह से कुछ हानियाँ भी हैं। इस प्रकार के विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। साथ ही परिवार में अधिक स्त्रियों का अर्थ ही यह है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होगा। इसके अतिरिक्त बहुपत्नी-विवाह स्त्रियों की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।

युगेण्डा (पूर्वी अफ्रीका) में रहने वाली बगण्डा (Baganda) नामक जनजाति में बहुपत्नी-विवाह का बड़ा रोचक रूप देखने को मिलता है। यह जनजाति विशेष रूप से

पशुपालक है। इसकी राजनैतिक व्यवस्था में एक निरंकुश शासक, राजा होता है जो कि शासन-प्रबन्ध में सहायता करने के लिए काफी संख्या में प्रधानों (chiefs) तथा उप-प्रधानों (sub-chiefs) को स्वयं नियुक्त करता है। चूंकि वह राजा अपने राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी, निरंकुश शासक तथा सबसे अधिक धनी व्यक्ति है, इस कारण वह सैकड़ों स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार रखता है। प्रधान या उपप्रधान अपने-अपने धन तथा राजनैतिक स्थिति (status) के अनुसार दस या अधिक पत्नियाँ रख सकते हैं। कृषक, कारीगर, निम्न स्तर के कर्मचारी-वर्ग तथा अन्य साधारण जनता कठोर परिश्रम करते हुए यह प्रयत्न करते हैं कि उन्हें कम से कम दो पत्नियाँ मिल जायँ ताकि उनकी सामाजिक मान-मर्यादा बनी रहे। कठोर परिश्रम वे इसलिए करते हैं कि वे इस योग्य हो जायँ या इतना धन कमा लें कि एकाधिक स्त्रियों का भरण-पोषण कर सकें। जो इस प्रयत्न में अधिक सफल होते हैं वे तीन या चार पत्नियाँ भी पा लेते हैं। परन्तु बेचारे गरीब कृषकों को केवल एक पत्नी ही मिल पाती है, विशेषकर इसलिए कि दूसरी स्त्री से विवाह करने के लिए जो पर्याप्त मात्रा में वधू-मूल्य (bride price) चुकाना पड़ता है वह वे इकट्ठा नहीं कर पाते हैं। यद्यपि निश्चित आँकड़े प्राप्त नहीं हैं फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि बगण्डा जनजाति दुनिया की उन थोड़ी-सी जनजातियों में से एक है जिसमें कि बहुपत्नी-प्रथा बहुत ही व्यापक रूप में पाई जाती है। इस जनजाति के अधिकतर लोग एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते हैं और इन स्त्रियों की संख्या आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के ऊँचा होने के साथ-साथ बढ़ती चली जाती है। जिसके पास जितना अधिक धन होता है और जो जितने ऊँचे राजनैतिक पद पर आसीन होता है, वह उतनी ही अधिक संख्या में स्त्रियों से विवाह करता है।[1]

उपरोक्त बगण्डा समाज में पति को अपनी प्रत्येक पत्नी के लिए एक पृथक् घर की व्यवस्था करनी पड़ती है। पत्नियाँ बारी-बारी से पति के घर पर आकर रहती हैं और पति के लिए खाना पकाती तथा अन्य रूप से उसकी सेवा करती हैं। एक पत्नी अपने पति के घर तब जाती है जब पति उसे बुलाता है और यह पति की इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह कब, किस पत्नी को अपने साथ रहने के लिए बुलायेगा। सामान्यतः प्रथम पत्नी की स्थिति अन्य पत्नियों की तुलना में ऊँची होती है और प्रायः सभी विषयों में उसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, विशेषकर धार्मिक और जादू-टोना-सम्बन्धी सभी विषय उसके हाथ में होते हैं। दूसरी पत्नी के भी कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य होते हैं। अन्य पत्नियों की स्थिति (status) सामान्य होती है।[2]

बगण्डा समाज में बहुपत्नी-विवाह-प्रथा का प्रमुख कारण लड़कों की मृत्यु-दर अत्यधिक होना है। प्रधानों के परिवारों (chiefly families) में लड़कों को जन्म लेते ही मार डाला जाता है। राज-परिवार में जो राजकुमार राजसिंहासन का उत्तराधिकारी

---

1. Beals and Hoijer, An *Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959, p. 487.
2. *Ibid.*, pp. 487-488.

होता उसे छोड़कर अन्य राजकुमारों को मार डाला जाता है। राजा उन पुरुष-नौकरों आदि को मौत की सजा देता है जिनसे वह नाराज हो जाता है। साथ ही आस-पास की रन्तु जनजाति से बगण्डा लोगों का प्रत्येक वर्ष कोई-न-कोई युद्ध अवश्य ही होता रहता है जिसमें काफी संख्या में पुरुष-बगण्डा मर जाते हैं। इन सबके परिणाम-स्वरूप पुरुषों की संख्या स्त्रियों से बहुत कम हो जाती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होने का एक कारण यह भी है कि युद्ध में विजय पाने पर हारे हुए पक्ष से बगण्डा लोग नजराना या भेंट के तौर पर अनेक स्त्रियों को प्राप्त करके अपने यहाँ ले आते हैं। फलतः बगण्डा समाज में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से तीन गुना ज्यादा है। इसका स्वाभाविक परिणाम बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन ही है।[1]

बहुपति-विवाह
(Polyandry)

बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पत्नी के साथ दो या अधिक पुरुषों का विवाह होता है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, दुनिया की अन्य सभी जनजातियों में भी बहुपति-विवाह का प्रचलन बहुपत्नी-प्रथा से कहीं कम है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि उन समाजों को, जहाँ कि बहुपति-विवाह वास्तव में पाया जाता है, केवल एक हाथ की पाँच उंगलियों में गिना जा सकता है। इस प्रकार का विवाह कुछ एस्किमो समुदायों में तथा पूर्व अफ्रीका की वहिमा या वाहुमा (Wahuma) जनजाति में प्रचलित है। इन जनजातियों में बहुपति-विवाह के प्रचलन का मुख्य कारण आर्थिक है। उदाहरणार्थ, यदि कोई वाहुमा इतना गरीब है कि वह आवश्यक वधू-मूल्य चुकाकर अकेले एक स्त्री से विवाह नहीं कर सकता, तो उसे इस काम में उसके दूसरे सब भाई सहायता करते हैं और सब भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। उसी स्त्री पर इन सब भाइयों का वैवाहिक अधिकार तब तक रहता है जब तक वह स्त्री गर्भवती न हो जाय। उसके गर्भवती होने के बाद से उस पर केवल उसी भाई का एकाधिकार हो जाता है जिसकी सहायता अन्य भाइयों ने की थी।[2] इस प्रकार वाहुमा जनजाति में बहुपति-विवाह अपने एक अनोखे रूप में हमें देखने को मिलता है। एस्किमो लोगों में भी आर्थिक अवस्था अत्यधिक खराब होने के कारण बहुपति-विवाह का प्रचलन स्वाभाविक हो जाता है। एस्कीमो समाज में जीवित रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है और इस काम में लड़कियाँ सबसे ज्यादा अयोग्य होती हैं। इस कारण इस समाज में लड़कियाँ एक प्रकार का बोझ बन जाती हैं और उनको जन्म लेते ही मार डाला जाता है। इसके फलस्वरूप इस समाज में स्त्रियों की संख्या कम हो जाती है और बहुपति-विवाह का प्रचलन होता है।

---

1. *Ibid.*, p. 488.
2. Robert H. Lowie, *Primitive Society*, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1953, p. 43.

श्री मीक (Meak) ने उत्तरी नाइगेरिया (Nigeria) में रहने वाले ग्वारी (Gwari) लोगों में पाये जाने वाले वहुपति-विवाह के सम्वन्ध में लिखा है कि वहाँ एक स्त्री के कई पति और परिवार विभिन्न शहरों में होते हैं और वह स्त्री अपनी इच्छानुसार कभी एक पति के पास तो कभी दूसरे पति के पास जाकर रहती है। वच्चों पर अधिकार प्रथम पति का नहीं वल्कि वास्तविक पिता का होता है।[1]

इस सन्दर्भ में वहुपति-विवाह की कुछ प्रमुख **विशेषताओं** का उल्लेख किया जा सकता है। वहुपति-विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पतियों से विवाह-सम्वन्ध स्थापित करती है। ये एकाधिक पति आपस में भाई-भाई हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कभी-कभी भाइयों के अतिरिक्त एक समूह के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं। स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परन्तु वड़े भाई का अधिकार सवसे अधिक ही पाया जाता है। जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ हैं, वहाँ प्रत्येक भाई को अपने सव भाइयों की पत्नी के साथ यौन-सम्वन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है। मातृसत्तात्मक परिवारों में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास वारी-वारी से कुछ समय के लिए रहती है। परन्तु जव वह एक पति के साथ रह रही है जो उस दौरान में उसपर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं होता। सन्तानों और सम्पत्ति के सम्वन्ध में वड़े भाई का या प्रथम पति का दूसरे भाइयों या पतियों की तुलना में अधिक अधिकार होता है। विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को ही प्राप्त होता है।

वहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन के **कारणों** के सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद है। श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) ने वहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन का प्रधान कारण एक समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या में कम होना वताया है। जैसे, टोडा जनजाति में लड़कियों को मार डालने की कुप्रथा के कारण वहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या वहुत कम है। वहाँ पिछली तीन पीढ़ियों में 100 स्त्रियों के अनुपात में पुरुषों की संख्या क्रमश: 259, 202 और 171 थी। अत: एक स्त्री का एकाधिक पुरुषों से विवाह होने की प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। परन्तु श्री रावर्ट व्रिफॉल्ट (Robert Briffault) आदि विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्रियों की कमी इस प्रथा का एक मात्र कारण नहीं है। क्योंकि तिव्वत, सिक्किम, लद्दाख आदि प्रदेशों में जहाँ वहुपति-विवाह-प्रथा का प्रचलन है, वहाँ स्त्री-पुरुषों की सख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लद्दाख में तो स्त्रियों की संख्या ज़्यादा है। अधिकतर विद्वान इस प्रथा का कारण दरिद्रता मानते हैं, क्योंकि कुछ प्रदेशों में आर्थिक जीवन इतना कठोर तथा संघर्षपूर्ण होता है कि एक व्यक्ति के लिए पृथक् रूप से परिवार की स्थापना करना असम्भव है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं। संयुक्त परिवार और सम्मिलित श्रम के विना इन प्रदेशों में जीविका-निर्वाह करना प्राय: असम्भव है।

वहुपति-विवाह-प्रथा के इस विवेचन को समाप्त करने से पहले, इस प्रथा के

1. C.K. Meak, *The Northern Tribes of Nigeria*, Vol. I, p. 198.

दुष्परिणामों के विषय में भी कुछ जान लेना उचित होगा। सन्तानों की संख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है। यह एक प्राणीशास्त्रीय सत्य है कि पतियों की संख्या जितनी अधिक होगी, पत्नी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति उतनी ही कम हो जायगी। बहुपति-विवाह से केवल सन्तानों की ही संख्या कम नहीं होती, बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बहुपति-प्रथा का चक्र सदा के लिए चलता रहता है। इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियों में बांझपन का पनपना है, जिससे आगे चलकर जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है। स्त्रियों के शारीरिक या स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगों का बढ़ना है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या इन्हीं गुप्त-रोग आदि के कारण काफी बढ़ जाती है।

समूह-विवाह
(Group Marriage)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कुछ प्रारम्भिक सिद्धान्तों के अनुसार मानव-जीवन के प्रारम्भ में विवाह नामक कोई भी संस्था न थी और लोग कामाचार (promiscuity) की स्थिति में रहते थे। उसके बाद एक प्रकार के 'समूह' विवाह का प्रचलन हुआ जिसके अनुसार एक समूह के सभी पुरुषों का विवाह दूसरे समूह की सभी स्त्रियों से होता था और इनमें से प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऐसे विवाह को वास्तव में 'विवाह' नहीं कहना चाहिए; इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध को यौन-साम्यवाद (sex communism) कहना ही अधिक उचित होगा। श्री मॉर्गन ने अपने उद्विकासीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए यौन-साम्यवाद तथा समूह-विवाह में भेद माना है। आपके अनुसार यौन-साम्यवाद प्रारम्भिक स्तर है जबकि विवाह-संस्था नामक कोई चीज नहीं थी। समूह-विवाह इसके बाद का स्तर है। श्री वेस्टरमार्क ने यौन-साम्यवाद और समूह-विवाह दोनों के अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है।

विवाह का यह स्वरूप आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की एक निराली विशेषता है। वहाँ एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियां समझी जाती हैं और ये आस्ट्रेलिया-वासी उन समस्त पुरुषों के लिए, जोकि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं।

विवाह-साथी चुनने के तरीके
(Ways of acquiring Mates)

जनजातीय संसार में विवाह-साथी चुनने के एकाधिक तरीके पाये जाते हैं, जिनका कि उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह अनिवार्य नहीं है कि सभी समाजों में सभी तरीकों से विवाह-साथी चुने जाते हैं या चुने जा सकते हैं, किन्तु सामान्यतः इनमें से एक से

तरीके प्रत्येक समाज में प्रचलित होते हैं। यहाँ हम जिन तरीकों का उल्लेख करेंगे वे विशेष रूप से भारतीय जनजातीय समाजों में पाये जाते हैं। इन समाजों में निम्नलिखित आठ तरीकों से विवाह-साथी चुने जाते हैं—

(1) परिवीक्षा-विवाह
(Probationary Marriage)

इस प्रकार के विवाह में होने वाले पति-पत्नी को विवाह होने से पहले ही एक-दूसरे को भली-भाँति समझने तथा यौन-सम्बन्धी अनुभवों को प्राप्त करने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको (पति-पत्नी को) विवाह होने से पूर्व ही कुछ समय के लिए एकसाथ रहने की अनुमति दे दी जाती है जिससे कि वे निकट से एक-दूसरे के स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षाकाल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं तो पूर्ण वैवाहिक क्रियाओं द्वारा उनका विवाह कर दिया जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नहीं होता तो वे पृथक् हो जाते हैं। दारलुंग और कूकी जनजातीय समाजों में एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के यहाँ कुछ काल तक रह सकता है। वह उस समय सभी प्रकार के वैवाहिक सुख प्राप्त करने का अधिकारी है, किन्तु यदि वह इन सुविधाओं के उपरान्त विवाह नहीं करना चाहता है तो थोड़ा-सा हानि-मूल्य (हर्जाना) देकर सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का कारण यह है कि जनजातियों के लोग केवल कन्या-मूल्य ही नहीं चाहते, बल्कि सन्तान-प्राप्ति की इच्छा भी उनमें अत्यधिक प्रबल होती है। इस कारण इस प्रथा के द्वारा वे लड़की की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति की परीक्षा लेते हैं और यह देखा गया है कि इस परिवीक्षाकाल में अगर लड़की गर्भवती हो जाती है तो विवाह अवश्य ही हो जाता है।

(2) हरण-विवाह
(Marriage by Capture)

इस प्रकार के विवाह में वर कन्या को उसके माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती उठा ले जाकर विवाह कर लेता है। विवाह-साथी प्राप्त करने की यह प्रथा दुनिया के अनेक समाजों में प्राचीन काल से प्रचलित है। चूंकि यह एक असभ्य तथा रोमांचकारी तरीका है इस कारण कुछ विद्वानों के अनुसार हरण-विवाह ही सबसे प्राचीन विवाह का तरीका है। श्री मैकलेनन (Mclannen) ने प्रायः सौ वर्ष पूर्व यह लिखा था कि विवाह-संस्था के उद्विकास में पत्नी प्राप्त करने का सर्वप्रथम तरीका हरण-विवाह ही था। कुछ भी हो, आजकल अनेक जनजातीय समाजों में यह विवाह वास्तविक हरण न रहकर अभिनयात्मक-हरण (mock capture) मात्र रह गया है। श्री स्टो (G. W. Stow) ने बुर्जुआ समाज में होने वाले अभिनयात्मक-हरण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे पता चलता है कि जब एक बुशमैन युवक का विवाह होना होता है तो वर और वधू दोनों ही पक्षों के लोग विवाह के प्रीतिभोज (wedding feast) में इकट्ठे होते हैं।

भोज के दौरान में वर अपनी वधू का हाथ पकड़ लेता है। यह वधू-पक्ष के लिए एक खतरे की घण्टी' होती है और वधू के सब रिश्तेदार वर को घेरकर पीटने को दौड़ते हैं। दो पक्षों में एक छोटा-मोटा 'युद्ध' छिड़ जाता है, जबकि वर को पीटने की क्रिया जारी रहती है। यदि मार खाते हुए भी वर अपनी वधू पर अपना कब्जा जमाये रखने में सफल हो तो विवाह के लिए उसे उपयुक्त पात्र मान लिया जाता है और दोनों का विवाह यथा-रीति कर दिया जाता है। परन्तु वर के असफल होने पर उसे उस वधू से हाथ धोना पड़ता है।[1]

उसी प्रकार अफ्रीकन बहिमा (African Bahima) लोगों में वधू को आधार मानकर वर-वधू दोनों पक्षों के मध्य रस्साकशी (tug of war) होती है और इसमें सदैव वर पक्ष की ही विजय होती है। जैसे ही विजय की घोषणा होती है, वैसे ही वधू को वर के साथी गाय की खाल में लपेटकर जमीन से उठा लेते हैं और फिर उसे लेकर भाग निकलते हैं। वर पक्ष के अन्य मित्र तथा रिश्तेदार उनका पीछा करते हैं। फिर वहीं विवाह होता है।[2] कहीं-कहीं एक ही लड़की के प्रेमी-प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य मल्लयुद्ध होते हैं और जो भी जीत जाता है वही लड़की से विवाह करने का हकदार हो जाता है, चाहे वह विवाहित ही क्यों न हो।

भारत में हरण-विवाह की प्रथा नागा, हो, भील, गोंड तथा आसाम, बिहार व मध्य प्रदेश की अन्य जनजातियों में काफी प्रचलित थी, पर सरकारी शासन के प्रभाव के कारण अब यह प्रथा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। भारत के जनजातीय समाजों में इस विवाह के दो रूप देखने को मिलते हैं—(1) शारीरिक हरण (physical capture) जो कि अधिकतर वास्तविक न होकर अभिनयात्मक ही होता है, और (2) संस्कारात्मक या विधिवत् हरण (ceremonial capture)। शारीरिक हरण में लड़का अपने साथियों के साथ वास्तविक रूप में लड़की पर आक्रमण करके या लड़की के गाँव पर आक्रमण करके लड़की को हर ले जाता है। परन्तु अब सरकारी नियंत्रणों के कारण यह हरण केवल नाम मात्र का ही होता है। गोंड जनजाति में तो कभी-कभी माता-पिता स्वयं लड़की के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लड़की को हर ले जाने की प्रार्थना करते हैं और उस हालत में हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरीत, विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, संथाल, बिरहोर, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियों में पाई जाती है। इस प्रकार के हरण में एक युवक एक सार्वजनिक स्थान में अपनी प्रेमिका की माँग में सिंदूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। आसाम की जनजातियों में लड़कियों का हरण, एक गाँव जब दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है, तब होता है। मध्य भारत की जनजातियों में हरण का काम उत्सव के अवसरों पर होता है।

हरण-विवाह-प्रथा भारत की जनजातियों में विभिन्न कारणों से प्रचलित है, जैसे

1. G.W. Stow, *The Native Races of South Africa*, London, 1905, p. 96.
2. J. Roscoe, *The Northern Bantu*, Cambridge, 1915, Vol 2, p. 256.

नागाओं में इसका प्रचलन इस कारण है कि उनमें लड़कियों की अत्यधिक कमी है और इस कमी को दूसरे समूहों से लड़कियों का हरण करके पूरा किया जाता है। छोटा नागपुर की 'हो' जनजाति में वधू-मूल्य (bride price) इतना माँगा जाता है कि अनेक लोग उसे चुकाकर सामान्य ढंग से विवाह करने में समर्थ नहीं होते। इस कारण उन्हें हरण-विवाह-प्रथा को ही अपनाना पड़ता है। गोंड जनजाति में प्रायः अधिक आयु तक विवाह न होने के कारण हरण-विवाह पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, पुरुषों की स्त्रियों पर शासन करने की सहज-प्रवृत्ति, जो कि कन्या-मूल्य देने से नहीं, वल्कि हरण के द्वारा चरितार्थ की जा सकती है, इस प्रकार के विवाह का एक कारण वन जाती है।

(3) परीक्षा-विवाह
(Marriage by Trial)

इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है क्योंकि जनजातियों का जीवन अत्यन्त कठोर और संघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमें होली के अवसर पर 'गोल-गाधेड़ो' नामक एक लोक-नृत्य का उत्सव होता है। उस स्थान पर एक खम्भे या पेड़ पर गुड़ और नारियल वाँध दिया जाता है। उसके चारों ओर अन्दर के घेरे में कुमारी लड़कियाँ और वाहर के घेरे में अविवाहित लड़के नाचते रहते हैं। लड़कों का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है, जवकि लड़कियाँ लड़कों को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर उस खम्भे या पेड़ पर चढ़ने का प्रयत्न करने वाले युवक को खूब मारतीं, उनके कपड़े फाड़तीं, बाल खींचतीं, यहाँ तक कि उनके शरीर के मांस को भी नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी अगर कोई युवक लड़कियों के घेरे को तोड़कर खम्भे या पेड़ पर चढ़ जाता है और गुड़ खाने और नारियल प्राप्त करने में सफल होता है, तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई युवतियों में से जिसको भी चाहे अपने विवाह-साथी के रूप में चुन लेने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार कुछ समाजों में लोग उस युवक के साथ अपनी लड़की का विवाह करना पसन्द करते हैं जिसने शिकार करने के मामले में अपनी निपुणता को प्रमाणित किया है। कोमांचे समाज में यदि कोई युवक अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहे तो वह यह आशा कर सकता है कि वह स्त्री उस पर खुश होकर अपनी लड़की की शादी उससे शीघ्र ही कर देगी। यदि उसे पहली पत्नी की वहन को भी पत्नी वनाना हो तो उसका भी सवसे सरल उपाय यही है कि रोज या प्रायः शिकार भेजकर अपनी सास को प्रसन्न कर दिया जाय।

(4) क्रय-विवाह
(Marriage by Purchase)

इस प्रकार के विवाह में विवाह करने के इच्छुक लड़के को लड़की के माता-पिता को कुछ वधू-मूल्य (bride price or progeny price) चुकाना पड़ता है। इस प्रथा के अन्तर्गत वधू-मूल्य विवाह का एक आवश्यक अंग है और इसे चुकाये बिना विवाह नहीं हो सकता। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस मूल्य को कन्या या वधू का मूल्य समझा जा सकता है, परन्तु इसका अर्थ सदैव यह नहीं होता कि स्त्रियों की स्थिति गुलामों के समान है और उनको भी गुलामों की भांति बेचा या खरीदा जा सकता है। यह सच है कि जिस परिवार में अधिक लड़के हैं उन्हें वधू-मूल्य उस परिवार से अधिक प्राप्त होगा जिसमें कि लड़कियाँ अधिक हैं। फिर भी इस आधार पर पारिवारिक हानि-लाभ का हिसाब दुनिया के किसी भी समाज में नहीं लगाया जाता है।

वधू-मूल्य लेने और देने की प्रथा को कुछ विद्वान् एक अन्य प्रकार से भी समझाते हैं। उनका कहना है कि वधू-मूल्य इस बात का द्योतक नहीं है कि जिन समाजों में यह दिया या लिया जाता है, वहाँ स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई है। परन्तु वास्तव में वधू-मूल्य इस बात का द्योतक है कि इसके माध्यम से स्त्रियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाता है। सच तो यह है कि वधू-मूल्य का कोई विशेष सम्बन्ध स्त्रियों के सम्मान, विशेषाधिकार, शक्ति आदि से नहीं होता है। जिस प्रकार यह प्रमाणित करना कठिन है कि वधू-मूल्य सम्मान का द्योतक है, उसी प्रकार यह भी प्रमाणित नहीं होता है कि वधू कोई व्यापार की वस्तु है। अनेक समाजों में यह मूल्य दिखावे-भर का होता है और या तो तय किये हुए मूल्य से बहुत कम मूल्य वास्तव में लिया जाता है या वधू-मूल्य के बदले में इससे कहीं अधिक दहेज के रूप में पुनः लौटा दिया जाता है।

श्री रॉबर्ट लोई (Robert Lowie) ने इस बात पर बल दिया है कि वधू-मूल्य को कन्या को खरीदने या बेचने का साधन मात्र न समझना चाहिए, वरन् यह जनजातियों में स्त्रियों की उपयोगिता का प्रतीक है। उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान का हर्जाना वधू-मूल्य के रूप में प्राप्त करते हैं, तथा इसके द्वारा दोनों परिवारों के बीच आर्थिक सम्बन्ध को दृढ़ किया जाता है। श्री लिण्टन (Linton) का कथन है कि यह वास्तविक रूप से स्त्री से पैदा होने वाले बच्चों पर अधिकार का क्रय है।

यह सच है कि वधू मूल्य स्त्रियों के सम्मान का द्योतक नहीं है और न ही इसमें व्यापार की भावना होती है, फिर भी वधू-मूल्य के आर्थिक या सामाजिक पक्ष पर बिल्कुल ही किसी समाज में बल नहीं दिया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। कुछ समाजों में विवाहिता स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष रूप से उसके लिए दिए गये वधू-मूल्य द्वारा प्रभावित होती है। पूर्वी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में अगर स्त्रियों की स्थिति-सम्बन्धी कोई चर्चा चलती है तो वधू-मूल्य की बात सबसे पहले आती है। कैलिफोर्निया के यूरोक लोगों में तो इसका इतना अधिक महत्त्व है कि व्यक्ति का सामाजिक पद और प्रतिष्ठा पूर्णतया इसी बात पर निर्भर है कि उसकी माँ के विवाह में कितना वधू-मूल्य

नागाओं में इसका प्रचलन इस कारण है कि उनमें लड़कियों की अत्यधिक कमी है और इस कमी को दूसरे समूहों से लड़कियों का हरण करके पूरा किया जाता है। छोटा नागपुर की 'हो' जनजाति में वधू-मूल्य (bride price) इतना माँगा जाता है कि अनेक लोग उसे चुकाकर सामान्य ढंग से विवाह करने में समर्थ नहीं होते। इस कारण उन्हें हरण-विवाह-प्रथा को ही अपनाना पड़ता है। गोंड जनजाति में प्राय: अधिक आयु तक विवाह न होने के कारण हरण-विवाह पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, पुरुषों की स्त्रियों पर शासन करने की सहज-प्रवृत्ति, जो कि कन्या-मूल्य देने से नहीं, वल्कि हरण के द्वारा चरितार्थ की जा सकती है, इस प्रकार के विवाह का एक कारण वन जाती है।

(3) परीक्षा-विवाह
(Marriage by Trial)

इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है क्योंकि जनजातियों का जीवन अत्यन्त कठोर और संघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमें होली के अवसर पर 'गोल-गाधेड़ो' नामक एक लोक-नृत्य का उत्सव होता है। उस स्थान पर एक खम्बे या पेड़ पर गुड़ और नारियल वाँध दिया जाता है। उसके चारों ओर अन्दर के घेरे में कुमारी लड़कियाँ और वाहर के घेरे में अविवाहित लड़के नाचते रहते हैं। लड़कों का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है, जबकि लड़कियाँ लड़कों को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर उस खम्भे या पेड़ पर चढ़ने का प्रयत्न करने वाले युवक को खूव मारतीं, उनके कपड़े फाड़तीं, वाल खींचतीं, यहाँ तक कि उनके शरीर के मांस को भी नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी अगर कोई युवक लड़कियों के घेरे को तोड़कर खम्भे या पेड़ पर चढ़ जाता है और गुड़ खाने और नारियल प्राप्त करने में सफल होता है, तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई युवतियों में से जिसको भी चाहे अपने विवाह-साथी के रूप में चुन लेने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार कुछ समाजों में लोग उस युवक के साथ अपनी लड़की का विवाह करना पसन्द करते हैं जिसने शिकार करने के मामले में अपनी निपुणता को प्रमाणित किया है। कोमांचे समाज में यदि कोई युवक अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहे तो वह यह आशा कर सकता है कि वह स्त्री उस पर खुश होकर अपनी लड़की की शादी उससे शीघ्र ही कर देगी। यदि उसे पहली पत्नी की वहन को भी पत्नी वनाना … तो उसका भी सवसे सरल उपाय यही है कि रोज या प्राय: शिकार भेजकर … को प्रसन्न कर दिया जाय।

(4) क्रय-विवाह

(Marriage by Purchase)

इस प्रकार के विवाह में विवाह करने के इच्छुक लड़के को लड़की के माता-पिता को कुछ वधू-मूल्य (bride price or progeny price) चुकाना पड़ता है। इस प्रथा के अन्तर्गत वधू-मूल्य विवाह का एक आवश्यक अंग है और इसे चुकाये बिना विवाह नहीं हो सकता। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस मूल्य को कन्या या वधू का मूल्य समझा जा सकता है, परन्तु इसका अर्थ सदैव यह नहीं होता कि स्त्रियों की स्थिति गुलामों के समान है और उनको भी गुलामों की भांति बेचा या खरीदा जा सकता है। यह सच है कि जिस परिवार में अधिक लड़के है उन्हें वधू-मूल्य उस परिवार से अधिक प्राप्त होगा जिसमें कि लड़कियाँ अधिक हैं। फिर भी इस आधार पर पारिवारिक हानि-लाभ का हिसाब दुनिया के किसी भी समाज में नहीं लगाया जाता है।

वधू-मूल्य लेने और देने की प्रथा को कुछ विद्वान् एक अन्य प्रकार से भी समझाते हैं। उनका कहना है कि वधू-मूल्य इस बात का द्योतक नहीं है कि जिन समाजों में यह दिया या लिया जाता है, वहाँ स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई है। परन्तु वास्तव में वधू-मूल्य इस बात का द्योतक है कि इसके माध्यम से स्त्रियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाता है। सच तो यह है कि वधू-मूल्य का कोई विशेष सम्बन्ध स्त्रियों के सम्मान, विशेषाधिकार, शक्ति आदि से नहीं होता है। जिस प्रकार यह प्रमाणित करना कठिन है कि वधू-मूल्य सम्मान का द्योतक है, उसी प्रकार यह भी प्रमाणित नहीं होता है कि वधू कोई व्यापार की वस्तु है। अनेक समाजों में यह मूल्य दिखावे-भर का होता है और या तो तय किये हुए मूल्य से बहुत कम मूल्य वास्तव में लिया जाता है या वधू-मूल्य के बदले में इससे कहीं अधिक दहेज के रूप में पुन. लौटा दिया जाता है।

श्री रॉबर्ट लॉई (Robert Lowie) ने इस बात पर बल दिया है कि वधू-मूल्य को कन्या को खरीदने या बेचने का साधन मात्र न समझना चाहिए, वरन् यह जनजातियों में स्त्रियों की उपयोगिता का प्रतीक है। उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान का हर्जाना वधू-मूल्य के रूप में प्राप्त करते हैं, तथा इसके द्वारा दोनों परिवारों के बीच आर्थिक सम्बन्ध को दृढ़ किया जाता है। श्री लिण्टन (Linton) का कथन है कि यह वास्तविक रूप से स्त्री से पैदा होने वाले बच्चों पर अधिकार का क्रय है।

यह सच है कि वधू मूल्य स्त्रियों के सम्मान का द्योतक नहीं है और न ही इसमें व्यापार की भावना होती है, फिर भी वधू-मूल्य के आर्थिक या सामाजिक पक्ष पर बिल्कुल ही किसी समाज में बल नहीं दिया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। कुछ समाजों में विवाहिता स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष रूप से उसके लिए दिए गये वधू-मूल्य द्वारा प्रभावित होती है। पूर्वी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में अगर स्त्रियों की स्थिति-सम्बन्धी कोई चर्चा चलती है तो वधू-मूल्य की बात सबसे पहले आती है। कैलिफोर्निया के यूरोक लोगों में तो इसका इतना अधिक महत्त्व है कि व्यक्ति का सामाजिक पद और प्रतिष्ठा पूर्णतया इसी बात पर निर्भर है कि उसकी माँ के विवाह में

चुकाया या दिया गया था।

वधू-मूल्य का किसी-किसी जनजातीय समाज में कितना अधिक महत्त्व है, यह दो-एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। दक्षिण-पश्चिमी साइवेरिया की किरगीज जनजाति में वधू-मूल्य को वढ़ाते जाना ही कुलीनता है। फलतः इस समाज में वधू-मूल्य इतना अधिक होता है कि कोई भी पुरुष एक से अधिक विवाह करने की वात सोचने का साहस तक नहीं करता है। न्यू गिनी की 'काई' नामक जनजाति में एक पति को अपनी पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का तव तक कोई अधिकार नहीं होता जब तक वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा चुका न दे। इतना ही नहीं, वधू-मूल्य न दे देने तक पत्नी पति के घर नहीं जाती और अपने परिवार की ही सदस्य वनी रहती है।

किन्हीं-किन्हीं समाजों में वधू-मूल्य प्रथा का गम्भीर अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आदिम समाजों में विवाह केवल दो स्त्री-पुरुषों का ही पारस्परिक सम्वन्ध न होकर दो परिवारों को एकसाथ संयुक्त करने का एक साधन होता है और वधू-मूल्य उसी मिलन का प्रतीक या दो परिवारों के सम्बन्धों को दृढ़ करने वाला होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बाँटू जनजातियों में वधू-मूल्य के रूप में ढोर जिसे कि 'लावोला' (*Labola*) कहा जाता है, देने की प्रथा है। इस लावोला को एक करने में केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नहीं, वल्कि उसके निकट नाते-रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। यही लावोला पत्नी के भाई के विवाह के लिए या पत्नी के निकट नाते-रिश्तेदारों के विवाह में सहायतास्वरूप दे दिया जाता है। इस प्रकार विवाह द्वारा संयुक्त दो परिवारों में एक प्रकार का आर्थिक सहयोग पनपता है। अतः स्पष्ट है कि 'लाबोला' या वधू-मूल्य वह कड़ी है जो कि दो परिवारों को जोड़ती या मिलाती है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर वधू-मूल्य प्रथा के प्रचलन के कुछ सम्भावित **कारणों** का हम उल्लेख कर सकते हैं—(क) अपने परिवार के सदस्य के नाते एक लड़की की भी कुछ उपयोगिता होती है। विवाह करने वाला पक्ष उस लड़की को अपने घर ले जाकर उस उपयोगिता से लड़की के परिवार को वंचित करता है। इसलिए यह आशा या मांग की जाती है कि वर पक्ष उस नुकसान का हर्जाना कन्या पक्ष को देगा। (ख) वहुत से समाजों में लड़कियों की संख्या कम होने के कारण उनकी माँग अधिक होती है। लड़की के माता-पिता इस बात को जानते हैं और इसलिए इस अवस्था से लाभ उठाते हैं। (ग) विवाह के द्वारा वर पक्ष को न केवल पत्नी ही मिलती हैं, वल्कि उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान भी। इन दोनों से कन्या पक्ष को हाथ धोना पड़ता है। इसलिए कन्या पक्ष इनका कुछ मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी है। कुछ समाजों में वधू-मूल्य पत्नी से उत्पन्न होने वाली सन्तानों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही दिया जाता है। वाँटू (दक्षिणी अफ्रीका) समाज में तो यह कहावत ही प्रचलित है कि 'ढोर दो तो सन्तान हो।' इसलिए वाँटू लोगों में स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तानों पर पति का कोई भी अधिकार तब तक

नहीं होता जब तक लाबोला न चुका दिया जाय।[1] कुछ जनजातियों में यह भी नियम है कि अगर काफी समय बीत जाने पर भी प्रथम पत्नी, जिसके लिए वधू-मूल्य चुका दिया गया है, माँ बनने में अर्थात् सन्तान को जन्म देने में असमर्थ प्रमाणित हो तो पत्नी के पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है या वह या तो वधू-मूल्य लौटा दे या पत्नी की छोटी बहन अथवा उसके अभाव में पुत्र-वधू को दामाद के हाथ (अर्थात् उस परिवार को जिसने वधू-मूल्य चुकाया था) सौंप दे। इन सब उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि वधू-मूल्य देने का एक मुख्य उद्देश्य पत्नी से पैदा होने वाले बच्चों पर अपना अधिकार प्राप्त करना होता है। (घ) वधू-मूल्य इस बात का भी प्रतीक होता है कि इसके चुका देने से दो परिवारों के बीच न केवल सामाजिक या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है, बल्कि आर्थिक सहयोग की भावना भी पनपती है। इस प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध जनजातीय जीवन के लिए लाभदायक ही सिद्ध होता है और कहीं-कहीं तो यह अत्यन्त आवश्यक होता है। (ङ) कुछ जनजातियों में यह विश्वास है कि वधू-मूल्य चुका देने से वधू के अपने स्वयं के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण उस पर से हट जाता है और उसके साथ ही उसे अपने पति के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। जनजातीय दृष्टिकोण से वधू के लिए इस संरक्षण को प्राप्त करना अति आवश्यक है और इसीलिए वधू-मूल्य चुका देना अनिवार्य या एक प्रकार का कर्त्तव्य-सा हो जाता है।

इन सब कारणों से ही क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह करने की प्रथा दुनिया की अनेक जनजातियों में पाई जाती है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग के एक विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि 434 जनजातियों में से 303 जनजातियों में क्रय-विवाह का प्रचलन है।[2] परन्तु प्रोफेसर मुरडॉक का कथन है कि प्रायः 50 प्रतिशत जनजातीय समाजों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन पाया जाता है।[3] अफ्रीका की प्रायः सभी जनजातियों में यह विवाह-प्रथा पाई जाती है। इण्डोनेशिया की पितृसत्तात्मक जनजातियों में भी इस प्रकार का विवाह काफी लोकप्रिय है। भारत की भी सभी जनजातियों में इस प्रकार का विवाह पाया जाता है, विशेषकर संथाल, हो, ओरॉव, खड़िया, गोंड, नागा, कूकी, भील आदि जनजातियों में। कुछ भारतीय जनजातियों में वधू-मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विशेष बल नहीं दिया जाता, जैसे रेंगमा नागा लोग तय किए हुए वधू-मूल्य से प्रायः दस रुपये कम लेते हैं। इसके विपरीत, 'हो' जनजाति में इसका इतना अधिक प्रचलन है कि इसे देने की सामर्थ्य बहुत कम व्यक्तियों में होती है। इस कारण या तो ऐसे व्यक्ति अविवाहित रहते हैं अथवा हरण-विवाह या सेवा-विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करते हैं।

---

1. Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p. 312.
2. See Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *The Material Culture and Social Institution of the Simple Peoples*, London, 1930.
3. G. P. Murdock, *Social Structure*, New York, 1958, p. 20.

चुकाया या दिया गया था।

वधू-मूल्य का किसी-किसी जनजातीय समाज में कितना अधिक महत्त्व है, यह दो-एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। दक्षिण-पश्चिमी साइवेरिया की किरगीज जनजाति में वधू-मूल्य को बढ़ाते जाना ही कुलीनता है। फलतः इस समाज में वधू-मूल्य इतना अधिक होता है कि कोई भी पुरुप एक से अधिक विवाह करने की बात सोचने का साहस तक नहीं करता है। न्यू गिनी की 'काई' नामक जनजाति में एक पति को अपनी पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का तब तक कोई अधिकार नहीं होता जब तक वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा चुका न दे। इतना ही नहीं, वधू-मूल्य न दे देने तक पत्नी पति के घर नहीं जाती और अपने परिवार की ही सदस्य बनी रहती है।

किन्हीं-किन्हीं समाजों में वधू-मूल्य प्रथा का गम्भीर अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आदिम समाजों में विवाह केवल दो स्त्री-पुरुपों का ही पारस्परिक सम्बन्ध न होकर दो परिवारों को एकसाथ संयुक्त करने का एक साधन होता है और वधू-मूल्य उसी मिलन का प्रतीक या दो परिवारों के सम्बन्धों को दृढ़ करने वाला होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बाँटू जनजातियों में वधू-मूल्य के रूप में ढोर, जिसे कि 'लाबोला' (*Labola*) कहा जाता है, देने की प्रथा है। इस लावोला को एकत्र करने में केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नहीं, बल्कि उसके निकट के नाते-रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। यही लावोला पत्नी के भाई के विवाह के लिए या पत्नी के निकट नाते-रिश्तेदारों के विवाह में सहायतास्वरूप दे दिया जाता है। इस प्रकार विवाह द्वारा संयुक्त दो परिवारों में एक प्रकार का आर्थिक सहयोग पनपता है। अतः स्पष्ट है कि 'लाबोला' या वधू-मूल्य वह कड़ी है जो कि दो परिवारों को जोड़ती या मिलाती है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर वधू-मूल्य प्रथा के प्रचलन के कुछ सम्भावित **कारणों** का हम उल्लेख कर सकते हैं—(क) अपने परिवार के सदस्य के नाते एक लड़की की भी कुछ उपयोगिता होती है। विवाह करने वाला पक्ष उस लड़की को अपने घर ले जाकर उस उपयोगिता से लड़की के परिवार को वंचित करता है। इसलिए यह आशा या मांग की जाती है कि वर पक्ष उस नुकसान का हर्जाना कन्या पक्ष को देगा। (ख) बहुत से समाजों में लड़कियों की संख्या कम होने के कारण उनकी माँग अधिक होती है। लड़की के माता-पिता इस बात को जानते हैं और इसलिए इस अवस्था से लाभ उठाते हैं। (ग) विवाह के द्वारा वर पक्ष को न केवल पत्नी ही मिलती है, बल्कि उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान भी। इन दोनों से कन्या पक्ष को हाथ धोना पड़ता है। इसलिए कन्या पक्ष इनका कुछ मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी है। कुछ समाजों में वधू-मूल्य पत्नी से उत्पन्न होने वाली सन्तानों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही दिया जाता है। बाँटू (दक्षिणी अफ्रीका) समाज में तो यह कहावत ही प्रचलित है कि 'ढोर दो तो सन्तान हो।' इसलिए बाँटू लोगों में स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तानों पर पति का कोई भी अधिकार तब तक

नहीं होता जब तक लाबोला न चुका दिया जाय।[1] कुछ जनजातियों में यह भी नियम है कि अगर काफी समय बीत जाने पर भी प्रथम पत्नी, जिसके लिए वधू-मूल्य चुका दिया गया है, माँ बनने में अर्थात् सन्तान को जन्म देने में असमर्थ प्रमाणित हो तो पत्नी के पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है या यह या तो वधू-मूल्य लौटा दे या पत्नी की छोटी बहन अथवा उसके अभाव में पुत्र-वधू को दामाद के हाथ (अर्थात् उस परिवार को जिसने वधू-मूल्य चुकाया था) सौंप दे। इन सब उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि वधू-मूल्य देने का एक मुख्य उद्देश्य पत्नी से पैदा होने वाले बच्चों पर अपना अधिकार प्राप्त करना होता है। (घ) वधू-मूल्य इस बात का भी प्रतीक होता है कि इसके चुका देने से दो परिवारों के बीच न केवल सामाजिक या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है, बल्कि आर्थिक सहयोग की भावना भी पनपती है। इस प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध जनजातीय जीवन के लिए लाभदायक ही सिद्ध होता है और कहीं-कहीं तो यह अत्यन्त आवश्यक होता है। (ङ) कुछ जनजातियों में यह विश्वास है कि वधू-मूल्य चुका देने से वधू के अपने स्वयं के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण उस पर से हट जाता है और उसके साथ ही उसे अपने पति के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। जनजातीय दृष्टिकोण से वधू के लिए इस संरक्षण को प्राप्त करना अति आवश्यक है और इसीलिए वधू-मूल्य चुका देना अनिवार्य या एक प्रकार का कर्त्तव्य-सा हो जाता है।

इन सब कारणों से ही क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह करने की प्रथा दुनिया की अनेक जनजातियों में पाई जाती है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग के एक विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि 434 जनजातियों में से 303 जनजातियों में क्रय-विवाह का प्रचलन है।[2] परन्तु प्रोफेसर मुरडॉक का कथन है कि प्रायः 50 प्रतिशत जनजातीय समाजों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन पाया जाता है।[3] अफ्रीका की प्रायः सभी जनजातियों में यह विवाह-प्रथा पाई जाती है। इण्डोनेशिया की पितृसत्तात्मक जनजातियों में भी इस प्रकार का विवाह काफी लोकप्रिय है। भारत की भी सभी जनजातियों में इस प्रकार का विवाह पाया जाता है, विशेषकर संथाल, हो, ओरॉव, खरिया, गोंड, आगा, कूकी, भील आदि जनजातियों में। कुछ भारतीय जनजातियों में वधू-मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विशेष बल नहीं दिया जाता, जैसे रेंगमा नागा लोग तय किए हुए वधू-मूल्य से प्रायः दस रुपये कम लेते हैं। इसके विपरीत, 'हो' जनजाति में इसका इतना अधिक प्रचलन है कि इसे देने की सामर्थ्य बहुत कम व्यक्तियों में होती है। इस कारण या तो ऐसे व्यक्ति अविवाहित रहते हैं अथवा हरण-विवाह या सेवा-विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करते हैं।

---

1. Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p 342.
2. See Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *The Material Culture and Social Institution of the Simple Peoples*, London, 1930
3. G. P. Murdock, *Social Structure*, New York, 1958, p. 20.

(5) सेवा-विवाह
(Marriage by Service)

अत्यधिक वधू-मूल्य-प्रथा के कारण कुछ जनजातियों के अनेक सदस्यों के लिए विवाह-साथी प्राप्त करना एक तरह से असम्भव-सा हो जाता है। इस समस्या का हल सेवा-विवाह और विनिमय-विवाह-प्रथाओं को प्रचलित करके किया गया है। साइबेरिया की चुकची, कोरयक और युकाघिर जनजातियों में अब सेवा-विवाह अत्यधिक लोकप्रिय है। इन जनजातीय समाजों में पहले क्रय-विवाह अर्थात् वधू-मूल्य चुकाकर विवाह का प्रचलन था, पर धीरे-धीरे उसका रूप इतना भयंकर हो गया कि अधिकतर लोगों के लिए उतना अधिक वधू-मूल्य चुकाकर पत्नी प्राप्त करना असम्भव-सा हो गया। इसलिए बाध्य होकर उन्हें सेवा-विवाह की शरण लेनी पड़ी। प्रोफेसर इवान्स-प्रिटचार्ड (Evans-Pritchard) ने अपने एक अध्ययन में 241 जनजातियों में से 30 जनजातियों में सेवा-विवाह का प्रचलन पाया। कुछ जनजातियों में विवाह करने से पूर्व ही युवक को अपनी भावी ससुराल में रहकर सेवा प्रदान करनी पड़ती है और कुछ जनजातियों में विवाह करने के बाद वर तब तक पत्नी को अपने घर नहीं ले जा सकता जब तक वह आवश्यक वधू-मूल्य के बदले में कुछ दिनों तक सास-ससुर को अपनी सेवा प्रदान नहीं कर देता है। इसका एक अन्य रूप कोमांचे इण्डियनों (Comanche Indians) में देखने को मिलता है। यहाँ भावी दामाद से प्रत्यक्ष रूप से कोई सेवा की माँग नहीं की जाती है, परन्तु दामाद से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहेगा और ऐसा करने से विवाह की सम्भावनाएँ आप-से-आप बढ़ जाती हैं। यहाँ तक कि जो दामाद इस प्रकार नियमित रूप से शिकार भेजता रहता है उससे खुश होकर सास अपनी दूसरी लड़की को भी उस दामाद की दूसरी पत्नी होने के लिए इनाम में दे सकती है। पर अगर शिकार न भेजा गया तो दूसरी लड़की मिलने की कोई भी आशा नहीं रहती।[1] इस प्रकार दामाद की अच्छाई या बुराई शिकार देने और न देने पर निर्भर है।

भारत में गोंड, बैगा तथा बिरहोर जनजातियों में सेवा-विवाह पाया जाता है। गोंड और बैगा जनजातियों में जो पुरुष वधू-मूल्य देने में असमर्थ होते हैं, वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप में कुछ समय तक काम करते हैं और उसके द्वारा किये गये श्रम या सेवा को ही वधू-मूल्य मानकर एक निश्चित समय के पश्चात् माता-पिता अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देते हैं। गोंड ऐसे व्यक्ति को 'लामानई' (*Lamanai*) और बैगा 'लामसेना' (*Lamsena*) कहते हैं। अपने भावी ससुर के घर में लामानई को कठोर परिश्रम करना पड़ता है और तब कहीं उसे स्त्री प्राप्त होती है, नहीं तो ससुर उसे भगाकर नया लामानई रख लेता है। बिरहोर जनजाति में भावी ससुर अपने भावी दामाद को वधू-मूल्य चुकाने के लिए रुपये उधार देता है और दामाद को सेवा द्वारा उस

---

1. E.A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, New York, 1958, pp. J/-308.

न्म को चुराना पड़ता है। हिमाचल प्रदेश के गूजरों और उत्तर प्रदेश की खस जन-जातियों में भी ऐसी प्रथा है।

(6) विनिमय-विवाह

(Marriage by Exchange)

वधू-मूल्य से बचने का एक दूसरा तरीका विनिमय-विवाह है। इस प्रकार की विवाह-प्रथा में एक परिवार के एक भाई और एक बहन का विवाह क्रमशः दूसरे परिवार की एक लड़की और उसके भाई के साथ हो जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की पत्नी का भाई उसकी बहन का पति भी होता है, अर्थात् एक ही व्यक्ति से साले और बहनोई दोनों का ही रिश्ता स्थापित हो जाता है। शोशोने इण्डियनों (Shoshone Indians) में इस प्रकार का विवाह सबसे अच्छा समझा जाता है।[1] फिर भी *विनिमय-विवाह में* प्रायः कठिनाई यह होती है कि दो ऐसे परिवार नहीं मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक में एक भाई और एक बहन विवाह के लिए उपयुक्त हों। अर्थात् जोड़ा ढूँढ़ने में काफी परेशानी *का सामना करना पड़ता है। इसलिए इस विवाह-प्रथा का प्रचलन कम ही है।* कुछ भी हो, ऐसे विवाह में, जैसा कि श्री बोआस (Boas) ने लिखा है, दोनों परिवार किसी को भी कुछ न देकर एक-दूसरे को वधू-मूल्य दे देते हैं। श्री लोई (Lowie) के शब्दों में, "यह ऐसा विवाह है जिसमें किसी को भी नुकसान नहीं होता।" श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार यह बिना खर्च के पत्नी प्राप्त करने का एक साधन है। इसी कारण यह विवाह-प्रथा प्रायः सभी भारतीय जनजातियों में पाई जाती है। परन्तु आसाम की खासी जन-जाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।

(7) सहमति और सहपलायन-विवाह

(Marriage by Mutual Consent and Elopement)

विवाह-साथी प्राप्त करने का सातवां उपाय पारस्परिक सहमति और सहपलायन है। विवाह-सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धों के बीच भी प्रेम या प्रणय-सम्बन्ध प्रत्येक समाज में हो पनप जाते हैं और उस अवस्था में युवक-युवती सामाजिक प्रतिबन्धों तथा बड़ों की आज्ञा और इच्छा की अवहेलना करके पारस्परिक सहमति से विवाह कर लेते हैं। चीईनी *(Cheyenne) समाज में भाई को यह अधिकार होता है कि* वह अपनी बहन का विवाह अपनी इच्छानुसार किसी भी व्यक्ति से कर दे। परन्तु यदि भाई ने किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी बहन देने का वादा नहीं किया है और बहन अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो उसे विवाह की स्वीकृति मिल जाती है और दोनों पक्षों में उपहार के आदान-प्रदान के द्वारा उस विवाह को विधिवत् कर लिया जाता है। परन्तु यदि भाई ने किसी व्यक्ति से यह वादा कर दिया है कि वह अपनी बहन की शादी उससे करेगा तो उस अवस्था में बहन के दूसरे किसी युवक के साथ भाग जाने पर समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जाती है और भाई

1. E.A. Hoebel, *Ibid.*, p. 308.

की सामाजिक प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचता है। ऐसी अवस्था में अनेक चीईनी भाई आत्महत्या तक कर लेते है।[1] आस्ट्रेलिया की एकाधिक जनजातियों में सहपलायन-विवाह विवाह-साथी प्राप्त करने का एक सामान्य या साधारण तरीका है। कुरनई (kurnai) जनजाति में अधिकतर युवक-युवती सहपलायन-विवाह ही करते हैं। सहपलायन करते हुए अगर वे पकड़े जाते हैं तो उन्हें बहुत मारा-पीटा जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी जान से भी मार डाला जाता है। पर अगर वे भागकर गांव से बाहर किसी एक आश्रम (asylum) में पहुँच जाते हैं तो फिर उनके लिए कोई खतरा नहीं रहता। वहाँ पर वे तब तक रहते हैं जब तक एक बच्चा पैदा न हो जाय। इसके बाद वे अपने घर लौट सकते हैं क्योंकि बच्चे के साथ लौटने पर उन्हें केवल थोड़ा-सा पीटा जाता है और उसके उपरान्त उन्हें विधिवत् विवाहित दम्पति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।[2]

भारतीय जनजातीय समाजों में भी इस प्रकार के विवाह का काफी प्रचलन है। बिहार की 'हो' जनजाति इसे 'राजी-खुशी' (*Razi-Khusi*) अर्थात् वर-वधू की सम्मति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह कहती है। इसमें एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर गांव से एक-साथ इकट्ठे भाग जाते हैं और उस समय तक वापिस नहीं लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह को स्वीकार न कर लें। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का सामाजिक संस्कार नहीं किया जाता और न ही वधू-मूल्य दिया जाता है। राजस्थान की भील जनजाति में यदि एक लड़का अपने गोत्र या पाल की लड़की से ही प्रेम करने लगता है, तो वह अपनी प्रेमिका को किसी दूर स्थान पर भगा ले जाता है क्योंकि अपने ही गोत्र या पाल की किसी लड़की से विवाह सामाजिक नियमों के अनुसार निषिद्ध होता है।

(९) हठ-विवाह

है। लड़की इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा है और युवक भी सहपलायन में असमर्थ है। ऐसी अवस्था के उस लड़की के लिए हठ-विवाह ही एक मात्र उपाय होता है।

निष्कर्ष के रूप में जनजातियों के विवाह के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उनमें विवाह न तो एक धार्मिक संस्कार है और न ही आजीवन का नाता। इस कारण उनमे विवाह-साथी चुनने की अनेक रीतियाँ पाई जाती हैं। इनमें से अनेक प्रकार के विवाहों का प्रचलन उनमें पर्यावरण या आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। विनिमय-विवाह-प्रथा जीवन-साथी चुनने के सीमित क्षेत्र की परिचायक है, जो कि विभिन्न जनजातियों के एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण प्रचलित होती है। हरण-विवाह वधू-मूल्य के आधिक्य के कारण है। इसी प्रकार सेवा-विवाह और क्रय-विवाह के आधार भी आर्थिक हैं। परिवीक्षा-विवाह इस बात का प्रमाण है कि यौन-सम्बन्धी अनुज्ञाएँ जनजातियों में काफी ढीली हैं। फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमे भी विवाह के मामलों मे थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता ही जा रहा है।

पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध
(Pre-marital and Extra-marital Sex Relations)

दुनिया की अनेक जनजातियों में विवाह के पूर्व या विवाह-सम्बन्ध के बाहर अपनी यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति करने की काफी स्वतन्त्रता और अवसर रहता है। प्रायः इस प्रकार की स्वतन्त्रता बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के नहीं हुआ करती। पर साथ ही, यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रत्येक समाज मे एक-सा नहीं होता। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के यौन-सम्बन्धो को इसलिए स्वीकार करती हैं कि उनके दृष्टिकोण से इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहने पर युवक-युवतियों की यौन सम्बन्धी आवश्यक तैयारी सम्भव होती है। कुछ जनजातियाँ इस प्रकार की स्वतन्त्रता को इसलिए आवश्यक मानती हैं कि इसके बिना युवक-युवतियों मे पारस्परिक सहयोग उतना दृढ़ नहीं हो सकता जितना कि जनजातीय जीवन मे आवश्यक है। साथ ही, काफी जनजातियो में यौन-सम्बन्ध के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र की उत्तमता या अधमता निर्धारित नहीं की जाती है, और न ही विवाह के पूर्व लड़कियों के कौमार्य (virginity) की रक्षा आवश्यक ही होती है। कुछ जनजातियाँ इस सम्बन्ध मे काफी उदासीन रहती हैं। इतना ही नहीं, कुछ जनजातियों मे ऐसे कुछ सामूहिक त्यौहार और उत्सव होते है जबकि यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध आप-से-आप ढीले पड़ जाते है। इन सब कारणों से ही जनजातीय समाजों में पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं। कुछ विशिष्ट भारतीय उदाहरण हम नीचे देंगे।

मुड़िया गोडों मे प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह, जहाँ गाँव के अविवाहित लड़के और लड़कियाँ सध्या समय एकत्र होते है तथा रात-भर वहीं रहते हैं, इसलिए प्रचलन में है कि इसका एक उद्देश्य इन युवक-युवतियों को यौन-सम्बन्धी शिक्षा ...

विवाह-साथी चुनने में सरलता हो। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपना साथी चुन लेता है और ये साथी बदलते भी रहते हैं। कहा जाता है कि इन युवागृहों में जो बड़ी उम्र की लड़कियाँ होती हैं वे अपने से छोटे नवयुवकों को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (training) देती हैं और उनके इस व्यवहार को किसी रूप में अनुचित नहीं माना जाता है। इसी प्रकार छोटा नागपुर की ओरांव जनजाति में भी प्रत्येक कुंवारे लड़के की एक प्रेमिका होती थी, जिसे 'पिल्लो' कहा जाता था। आजकल इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। मध्य भारत की जनजातियों में पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है बशर्ते लड़की गर्भवती न हो जाय क्योंकि लड़की का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक है, यहाँ तक कि यदि वह लड़की सेवा-विवाह-प्रथा के अनुसार उस परिवार में सेवा करने वाले भावी दामाद के द्वारा ही क्यों न गर्भवती हुई हो। जब लड़की गर्भवती हो जाती है, तो उसे गर्भाधान कराने वाले पुरुष का नाम बतलाना पड़ता है। नाम बता देने पर गाँव या परिवार के लोग उस पुरुष को उस लड़की से विवाह करने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार के विवाह में वधू-मूल्य या तो दिया ही नहीं जाता है और यदि दिया भी जाता है तो नाम मात्र को।

उपरोक्त पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजों में अतिरिक्त-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोनयाक नागा जनजाति में विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषों से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। वह अपने पति के घर तब तक नहीं जाती हैं जब तक उसका एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम भी हो जाय कि वह बच्चा उसका नहीं है, तो भी उसके लिए कुछ हर्ज की बात नहीं होती और इसके कारण पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध में भी कोई फर्क नहीं पड़ता। 'हो' जनजाति में माघी पर्व पर और ओरांव जनजाति में 'खद्दी' पर्व पर स्त्रियों और पुरुषों को यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है। थारू जनजाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियों से इतना ज्यादा प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तो भी वे (पति लोग) उसे विशेष महत्त्व अर्थात् अपराध नहीं समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति में यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। अपनी ससुराल में एक वधू (रान्ती) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमों का पालन करना पड़ता है परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लड़की (ध्यान्ती) के रूप में उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूटें मिल जाती हैं और वह एकाधिक पुरुषों से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जनजातीय समाजों में यौन-सम्बन्धों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। वास्तव में उनके संघर्षपूर्ण जीवन में इन सब विषयों पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर ही बहुत कम मिलता है। इसी कारण विवाह का मुख्य आधार यौन-सम्बन्ध न होकर श्रम-विभाजन और आर्थिक सहयोग होता है।

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

यह सच है कि वैवाहिक सम्बन्ध को स्थायी बनाने का प्रयत्न प्राय: सभी समाजों में किसी-न-किसी नियम के द्वारा किया जाता है। परन्तु शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ कि असफल विवाह-सम्बन्ध को समाप्त करने का कोई-न-कोई उपाय, चाहे वह सरल हो अथवा कठिन, न पाया जाता हो। साथ ही, यह भी सच है कि कोई भी समाज विवाह-विच्छेद को न तो सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करता है और न ही उसे प्रोत्साहित करता है, फिर भी यह मान लिया जाता है कि एक निरन्तर असफल विवाह-सम्बन्ध को जबरदस्ती बनाये रखने से यह ज्यादा अच्छा होगा कि उसे समाप्त ही कर दिया जाय।

प्राय: सभी आदिम समाजों मे विवाह-विच्छेद पाया जाता है। यद्यपि आधुनिक सभ्य समाजों की भाँति रोमांस तथा व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर विवाह-विच्छेद इन समाजों में बहुत कम होता है, फिर भी अन्य अनेक आधार हैं जिन पर विवाह-विच्छेद मान्य है। सर्वश्री हॉबहाउस, ह्वीलर तथा जिन्सबर्ग ने जिन 271 जनजातियों का अध्ययन किया है उनमें से केवल चार प्रतिशत जनजातियों में विवाह-विच्छेद निषिद्ध है, 24 प्रतिशत जनजातियो मे इसकी आज्ञा कुछ निश्चित अवस्थाओं में है, और 72 प्रतिशत जनजातियों मे पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति (mutual consent) से विवाह-विच्छेद होता है।[1] यद्यपि इस अध्ययन को अन्तिम मान लेना उचित न होगा, फिर भी इससे मोटे तौर पर जनजातीय विवाह-विच्छेद के स्वरूप का आभास होता है।

जहाँ तक विवाह-विच्छेद करने के अधिकार का प्रश्न है, सामान्यत: जनजातीय समाज स्त्री और पुरुष दोनों को ही समान अधिकार प्रदान करता है। प्रोफेसर मुरडॉक (Prof. Murdock) ने अति सावधानी से चुनकर जिन 40 जनजातियों का अध्ययन किया, उनमे से 30 जनजातियो मे यह पता लगाना असम्भव था कि विवाह-विच्छेद करने के अधिकार के विषय में स्त्री और पुरुष में कोई भेद है भी या नहीं, अर्थात् 30 जनजातियों में स्त्री-पुरुष दोनों को ही विवाह-विच्छेद करने के समान अधिकार प्राप्त थे। इस विषय मे पुरुषों के विशेष अधिकार केवल 6 समाजो में पाये गये और 4 समाजों मे स्त्रियों को, पुरुषो की तुलना मे, विवाह-विच्छेद करने के अधिक अधिकार प्राप्त थे।[2]

प्राय: यह कहा जाता है कि विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी अधिकार इस बात पर निर्भर हैं कि एक समाज विशेष मे स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति (status) कितनी है। जिन समाजों मे स्त्रियों की स्थिति पुरुषो से ऊँची है, उन समाजों में विवाह-विच्छेद के विषय मे भी स्त्रियों को विशेषाधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत जिन समाजो में

1. Hobhouse, Wheeler and Ginsberg, *op. cit*, Chapter 3
2. G. P. Murdock, 'Family Stability in Non-European Cultures', *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol. 272, pp. 195—201.

पुरुषों की सामाजिक स्थिति स्त्रियों की अपेक्षा ऊँची है, उन समाजों में पुरुषों को ही विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में विशेषाधिकार प्राप्त है। आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति में पुरुषों को यह अधिकार है कि वे छोटे-से-छोटे कारण के आधार पर अपनी पत्नियों से अपना विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न कर सकते हैं, जबकि स्त्रियों को विवाह-विच्छेद करने का कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं है। अगर पत्नी के साथ बहुत ही निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया जा रहा है तो इस परिस्थिति से बचने का उसके पास एक ही रास्ता है कि वह अपने पति के घर से भाग जाय। पर यह भी हो सकता है कि उसे फिर पकड़कर लौटा लाया जाय। पूर्वी अफ्रीका की बगण्डा जनजातियों में भी पुरुषों को प्रायः इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वहाँ पुरुष कोई भी कारण दिखाकर अपनी पत्नी को उसके पिता के घर लौटा सकता है और उस अवस्था में पत्नी के पिता से वधू-मूल्य लौटा देने की माँग करता है। उसकी यह मांग उस अवस्था में बहुत ही उचित मानी जाती है, जबकि पत्नी बांझ हो। इन दोनों समाजों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों की तुलना में काफी नीची है।

चिरिकाहुआ अपाची जनजाति में स्त्री और पुरुष दोनों को ही विवाह-विच्छेद के सम्वन्ध में समान अधिकार प्राप्त हैं। दुश्चरित्रता, बांझपन, नपुंसकता, निर्दयता, आलसीपन आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर स्त्री और पुरुष दोनों को ही विवाह-सम्वन्ध विच्छिन्न करने का समानाधिकार है।

इरोकूई जनजाति में मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है। विवाह के पश्चात् पति को अपनी पत्नी के घर पर आकर रहना पड़ता है। इस परिवार पर पति का नहीं, वल्कि पत्नी का या पत्नी के परिवार की ही किसी दूसरी वयस्क स्त्री सदस्य का नियंत्रण होता है। अतः विवाह-विच्छेद करने का विशेषाधिकार भी पत्नी को ही प्राप्त होता है। फलतः पत्नी अपने पति को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय निकाल कर वाहर कर सकती है। पत्नी को विवाह-सम्वन्ध तोड़ने के लिए कोई खास परेशानी नहीं होती, इसके सिवा कि वह अपने पति का सामान घर से वाहर रखवा दे या खुद रख दे। यही पत्नी के विवाह-विच्छेद करने की इच्छा को व्यक्त करने के लिए काफी है। जनजातीय समाजों में विवाह-विच्छेद के कुछ प्रमुख आधार दुश्चरित्रता, बाँझपन, नपुंसकता, निर्दयता, स्थायी यौन-सम्बन्धी निर्योग्यता, अत्यधिक वीमारी, पत्नी का जादूगरनी होने का सन्देह आदि हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जनजातीय समाजों में सभ्य समाजों की तुलना में अधिक विवाह-विच्छेद होता है और उसके लिए किसी विशेष नियम-कानून का पालन या शर्तों को पूरा करने की आवश्यकता नहीं होती है। हम लोग अपने दृष्टिकोण से यह सोचते हैं कि अधिक विवाह-विच्छेद होना पारिवारिक विघटन का ही परिचायक है, परन्तु जनजातीय लोग न तो इस प्रकार सोचते हैं और न ही उनमें 'पारिवारिक विघटन' जैसी किसी समस्या का उदय हुआ है। साथ ही, अभी तक किसी ऐसे जनजातीय समाज का पता नहीं चला है जहाँ कि विवाह-विच्छेद को प्रोत्साहित किया जाता हो, या जहाँ पारिवारिक जीवन को स्थायी वनाने के वजाय परिवार को तोड़ने का

प्रयत्न किया जाता हो।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship System)

नातेदारी-व्यवस्था का अर्थ
(Meaning of Kinship System)

सामाजिक मानव समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो कि विवाह-बन्धन और रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित हैं। इनमें भी निकट तथा दूर के, घनिष्ठ तथा अघनिष्ठ, मधुर तथा कठोर हर प्रकार के सम्बन्धियों का समावेश रहता है; परन्तु स्मरण रहे कि ये सभी सम्बन्ध सामाजिक अन्त:क्रिया का ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार सामाजिक अन्त:क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित सम्बन्ध-शृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है उसे नातेदारी-व्यवस्था कहते हैं। मानवशास्त्रीय शब्दकोष (Dictionary of Anthropology) में नातेदारी-व्यवस्था को निम्न शब्दों में परिभाषित किया गया है—"नातेदारी-व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि अनुमानित और रक्त-सम्बन्धों पर आधारित हों।"[1] 'समाज द्वारा मान्यताप्राप्त इन सम्बन्धों' का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है, इसलिए सम्बन्ध की निकटता, घनिष्ठता, आत्मीयता आदि के आधार पर इन नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

नातेदारी के भेद
(Types of Kinship)

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship) तथा (2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)।

(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा संबद्ध पति-पत्नी ही आते हैं बल्कि इन दोनों के परिवारों के अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हैं। जब एक व्यक्ति विवाह करता है तो उसे स्वभावतः यह पता चलता है कि विवाह नामक संस्था ने न केवल दो स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित किया है, बल्कि इन दोनों से

1. "Kinship system may include socially recognized relationship based on supposed as well as actual genealogical ties."—Charles Winick, *Dictionary of Anthropology*, p. 302.

सम्बन्धित अन्य अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गये हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढू आदि भी बन जाता है। इसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी, आदि भी बन जाती है या बन सकती है। इनमें से प्रत्येक सम्बन्ध के आधार दो व्यक्ति हैं, जैसे साला-बहनोई, सास-दामाद, साली-जीजा, देवर-भाभी, पति-पत्नी, सास-वधू आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारों को विवाह-सम्बन्धी (Affinal Kinship) कहते हैं।

(2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कि समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हों। उदाहरण के लिए माता-पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाइयों के बीच या दो भाई-बहन के बीच का सम्बन्ध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि रक्त-सम्बन्धी नातेदारों में रक्त-सम्बन्ध वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों में रक्त-सम्बन्ध केवल प्राणीशास्त्रीय (biological) आधार पर ही नहीं, अपितु समाजशास्त्रीय (sociological) आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिन समाजों में बहुपति-विवाह प्रथा का प्रचलन है वहाँ प्राणीशास्त्रीय आधारों पर यह निश्चित करना असम्भव है कि कौनसा बच्चा किस पति का है। इसलिए वहाँ पर प्राणीशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को गौण मानकर समाज शास्त्रीय पितृत्व (sociological fatherhood) को अधिक मान्यता दी जाती है। नीलगिरी की बहुपति-विवाही टोडा जनजाति में सामाजिक पितृत्व का एक विशेष संस्कार 'पुरसुतपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पांचवें महीने में धनुप-वाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सभी सन्तानों का पिता तब तक कहलाता रहता है जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का संस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारम्भ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार एक बच्चा उस समय तक उस परिवार का सदस्य नहीं बन सकता है, जब तक कि पिता कुछ सामाजिक संस्कारों के द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं करता। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरुषों के लिए, जो कि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार प्रायः सभी समाजों में बच्चों को गोद लेने की प्रथा है। गोद लिए हुए बच्चों के साथ ही माता-पुत्र या पुत्री, पिता-पुत्र या पुत्री आदि का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नहीं बल्कि अनुमानित रक्त-सम्बन्ध पर आधारित होता है।

नातेदारी की श्रेणियाँ
(Categories of Kinship)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्पर्क और निकटता, घनिष्ठता और [illegible]यता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में बांटा जा

सकता है। कुछ लोगों के साथ वैवाहिक तथा रक्त-सम्बन्धी आधारों पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको प्राथमिक सम्बन्धी (Primary Kins) कहा जाता है। डा० दुबे के अनुसार प्राथमिक सम्बन्धियों के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बड़े भाई, छोटी-बड़ी बहन और भ्राता-बहन, ये आठ प्रकार की सम्बन्ध-शृंखला में गुँथे हुए लोग आते हैं।

इसके विपरीत, द्वितीयक सम्बन्धी (Secondary Kins) वे सम्बन्धीगण होते हैं जो उपरोक्त 'प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी' हैं। अर्थात् प्राथमिक सम्बन्धियों द्वारा सम्बन्धित हैं। इस द्वितीय श्रेणी के सम्बन्धियों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है, परन्तु हमारे प्रत्यक्ष या प्राथमिक श्रेणी के सम्बन्धियों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए बहन के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अर्थात् बहन प्राथमिक सम्बन्धी के अन्तर्गत है। इस बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष या प्राथमिक सम्बन्ध है, पर बहन के उस पति के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं; उसके साथ मेरा बहनोई का सम्बन्ध बहन के द्वारा है। इस प्रकार बहन का पति मेरे प्राथमिक सम्बन्धी का प्राथमिक सम्बन्धी है। उसी प्रकार पत्नी का भाई भी द्वितीयक सम्बन्धी है।

इसी प्रकार तृतीयक सम्बन्धी (Teritiary Kins) भी हो सकते है। तृतीयक सम्बन्धी वे सम्बन्धीगण हैं जो कि हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की सलहज तृतीयक सम्बन्धी हुई क्योंकि इस व्यक्ति के पत्नी का भाई (या साला) उस व्यक्ति का द्वितीयक सम्बन्धी हुआ और इस द्वितीयक सम्बन्धी (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक सम्बन्धी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होने के नाते तृतीयक सम्बन्धी कहा जायगा।

इस प्रकार चातुर्थिक, पाचमिक आदि सम्बन्ध सूत्रों की विस्तृत विवेचना सम्भव है। श्री मुरडॉक (Murdock) ने इस विषय पर गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक व्यक्ति के लगभग 33 द्वितीयक और 151 तृतीयक सम्बन्ध-प्रकार हो सकते हैं।[1]

सम्बन्ध-संज्ञाएँ
(Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के सम्बन्धों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज में प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध के लिए अलग-अलग शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। इस सम्बन्ध में श्री मॉर्गन सर्वप्रथम सम्बन्ध-संज्ञाओं का विस्तृत अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर आये कि सम्बन्ध-

1. See G. P. Murdock, *Social Structure*, New York, 1949, Chapters 6 and 7.

संज्ञाओं को हम मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं—(1) वर्गीकृत सम्बन्ध-संज्ञाएं (Classificatory Kinship Terms) और (2) विशिष्ट सम्बन्ध संज्ञाएँ (Particularizing or Descriptive Kinship Terms)।

(1) वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था के अनुसार अनेक नाते-रिश्तेदारों को एक ही वर्ग या श्रेणी के अन्तर्गत मान लिया जाता है और उन सबको एक ही संज्ञा या शब्द से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कराडजेरी (Karadjeri) समाज में एक व्यक्ति 'ताबुलू' (Tabulu) शब्द का प्रयोग न केवल अपने पिता के लिए करता है, बल्कि पिता के भाई (चाचा और ताऊ) के लिए भी करता है।[1] उसी प्रकार सेमा नागा में एक ही 'अजा' शब्द का प्रयोग मां, चाची, ताई तथा मौसी सभी के लिए किया जाता है। उसी प्रकार कूकी लोगों में 'हुपू' संज्ञा का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, मामा के पुत्र, पत्नी के भाई, साले के लड़के आदि के लिए प्रयोग किया जाता है। आदिम समाजों में ही नहीं बल्कि आधुनिक समाजों में भी वर्गीकृत संज्ञा व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में 'अंकल' (uncle) शब्द का प्रयोग चाचा, मामा, ताऊ, फूफा, मौसा आदि सम्बन्धियों के लिए होता है। उसी प्रकार 'कज़िन' (cousin) शब्द से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहनों का बोध होता है।

(2) इसके विपरीत, विशिष्ट सम्बन्ध-संज्ञाओं से एक शब्द या संज्ञा द्वारा एक ही सम्बन्धी को सूचित किया जाता है। जैसे यदि हम 'मां' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे केवल एक विशिष्ट सम्बन्धी का ही बोध होता है उसी प्रकार, चाचा, मामा आदि विशिष्ट सम्बन्ध-संज्ञाएँ हैं।

नातेदारी की रीतियाँ
(Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, बस बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी हैं, इस सम्बन्ध के आधार पर उनके व्यवहारों का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान (pattern) होगा। यह नहीं हो सकता कि इन दोनों के व्यवहारों का प्रतिमान बिल्कुल उसी तरह का हो जैसा कि माता-पुत्र के व्यवहार का होता है। कुछ रिश्तों का आधार श्रद्धा और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति। माता-पिता के साथ जो सम्बन्ध होता है उसका आधार श्रद्धा और सम्मान है, पत्नी के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति है। साले-बहनोई या जीजा-साली का सम्बन्ध केवल सम्बन्ध ही नहीं, 'मधुर सम्बन्ध' है। अतः स्पष्ट है कि नातेदारी-व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस

1. Ralph Piddington, *op. cit.*, p. 122.

प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं; इसी को नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) कहते हैं। इन रीतियों में जो बहुत ही प्रमुख या विलक्षण हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

परिहार
(Avoidance)

नातेदारी-व्यवस्था में परिहार का नियम या रीति बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो कि दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहें और पारस्परिक अन्त:क्रिया में यथासम्भव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न लें। इस प्रकार के सम्बन्ध में पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का सम्बन्ध बहुत ही सामान्य है। उसी प्रकार दामाद तथा सास का पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ समाजों में परिहार के अन्तर्गत ही आता है। कुछ उदाहरणों से इस प्रकार के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण सरलता से हो सकेगा।[1]

युकाघिर (Yukaghir) जनजाति में यह नियम है कि एक वधू कभी भी अपने ससुर या जेठ (husband's elder brother) के चेहरे को न देखे और न ही दामाद को अपनी सास या ससुर के चेहरे को देखना चाहिए। इन सम्बन्धियों को परस्पर यदि कुछ कहना होता है तो पर्दा करते हुए कहते हैं या किसी दूसरे से कहलवा देते हैं। ओस्ट्याक (Ostyak) जनजाति में वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नहीं आते हैं जब तक उनके बच्चे पैदा न हो जायें। अगर कभी अचानक वे एक-दूसरे के सामने पड़ जाते हैं तो फौरन घूंघट से अपना चेहरा छिपा लेती हैं। वधू को जीवन-भर ससुर के सामने घूंघट निकालना पड़ता है।

इस प्रकार के नियम हिन्दू समाज में भी पाये जाते हैं। ससुर तथा अन्य वयोवृद्ध सम्बन्धियों के सामने घूंघट निकालना बहू के लिए एक सामान्य नियम है। उसी प्रकार पति, ससुर, जेठ आदि के नाम का उच्चारण बहू नहीं करती है।

उसी प्रकार सास-ससुर तथा दामाद के बीच के सम्बन्ध को भी कुछ समाजों में नियन्त्रित किया जाता है। न्यू गिनी की युकाक्र जनजाति में सास-ससुर और दामाद न तो एक-दूसरे को देखते हैं, न एक-दूसरे को छूते हैं और न ही एक-दूसरे का नाम लेते हैं। अगर दामाद के सामने बैठकर ससुर को भोजन करना है तो ससुर को अपना चेहरा ढँककर बैठना पड़ता है और अगर कहीं इत्तफाक से दामाद अपने ससुर को मुँह (mouth) खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जंगल को भाग जाता है। आस्ट्रेलिया की जनजातियों में तो इस प्रकार के निषेध और कठोर हैं। वहाँ कुछ जनजातियों में दामाद को देखना या उससे बात करना तो दूर रहा, सास को उसके

1. See Robert Lowie, *Primitive Society*, Routledge & Kegan Paul London, 1953, pp. 80-92.

लिए हानिकारक सिद्ध होगी। इसलिए इन सम्बन्धीगण को दूर-दूर ही रखा जाता है। सास, ससुर, दामाद, वधू इसी प्रकार के सम्बन्धीगण हैं। इसीलिए श्री टर्नी हाई (Turney High) का कथन है कि सास को दामाद से और वधू को ससुर से दूर रखना पारिवारिक शांति को बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा गया।

परिहास-सम्बन्ध
(Joking Relationship)

नातेदारी की रीतियों में परिहास-सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो सम्बन्धियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को 'मधुर-सम्पर्क' या सम्बन्ध-सूत्र में बाँधता है और दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करने का अधिकार देता है। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार, "परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियों का वह सम्बन्ध है जिसमें प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माँग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तंग करे, छेड़े या उससे हँसी-मजाक करे, पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा न माने।"[1]

जबकि परिहार में यौन-सम्बन्धी विषयों से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, पर परिहास-सम्बन्ध में यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक की उतनी ही छूट रहती है। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि का सम्बन्ध केवल आदिम समाजों में ही नहीं, हमारे अपने समाज में भी परिहास-सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण है। ये एक-दूसरे को छेड़ते हैं, एक-दूसरे की सामान्य त्रुटि पर खिल्ली उड़ाते है, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और यौन-सम्बन्धी हँसी-मजाक में सम्मिलित होते हैं। इन सम्बन्धियों में हँसी-मजाक की मात्रा तथा क्षेत्र त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। होली का त्यौहार इस मामले में सबसे उल्लेखनीय है।

कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र गाली देने, यौन-सम्बन्धी भद्दे मजाक करने और खिल्ली उड़ाने तक ही सीमित न रहकर, एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी करने तक विस्तृत होता है। मैलेनेशिया में भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रखे या बर्बाद करे और इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के किसी भी व्यवहार का बुरा न माने।

कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी होते हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ मामी-भानजे के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते हैं। अरापाहो समाज में जीजा-साली में से कोई भी अगर देर तक सोता है, तो उस पर जो जागता

---

1. "Joking relationship is a relation between two persons in which one by custom permitted, and in some instances required, to tease or make fun the other, who in turn is required to take no offence." —Radcliffe-

रहता है या जल्दी उठ जाता है, ठण्डा पानी डाल देता है। ये लोग आपस में चुम्बन भी ले सकते हैं।

भारतीय जनजातियों में भी परिहास-सम्बन्धों का अत्यधिक विस्तार है। देवर या साली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथाएँ तो बहुत ही सामान्य हैं। ओरांव तथा बैगा जनजातियों में दादी-पोते या दादा-पोती के बीच परिहास-सम्बन्ध पाये जाते हैं।

श्री रिवर्स (Rivers) का विचार है कि परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरों-ममेरों में विवाह-सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग में सामान्य था, के कारण हुई है। श्री वेस्टरमार्क इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार किसी भी संस्था से किसी अन्य एक संस्था की उत्पत्ति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। परिहास-सम्बन्ध केवल मात्र पारस्परिक समानता की ओर निर्देश करता है और उन दो सम्बन्धित व्यक्तियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ करता है जिनसे कि पहले विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना रहती थी। देवर-भाभी और जीजा-साली के बीच पाये जाने वाले परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति इसी सम्भावना के आधार पर हुई होगी। श्री रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार परिहास-सम्बन्धों का एक प्रतीकात्मक अर्थ (symbolic meaning) होता है और वह यह कि इस सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति हँसी-मजाक और यहाँ तक कि मारपीट के माध्यम से एक-दूसरे के प्रति मित्रता या प्रीति का प्रदर्शन करते हैं और पारिवारिक जीवन को सजीव बनाये रखने में इनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए यदि इस प्रकार के सम्बन्धों का दुरुपयोग न किया जाय।

माध्यमिक सम्बोधन

(Teknonymy)

नातेदारी-व्यवस्था की एक और रीति माध्यमिक सम्बोधन है। इस रीति को माध्यमिक सम्बोधन इसलिए कहा जाता है कि इस रीति के अनुसार एक सम्बन्धी को सम्बोधन करने के लिए किसी एक दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष के प्रायः सभी ग्रामीण समुदायों में पति का नाम लेना पत्नी के लिए वर्जित होता है। इस कारण पत्नी पति को सम्बोधन करने के लिए अपने किसी लड़के या लड़की को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध से पति को पुकारती है। जैसे, यदि लड़के का नाम राजू है तो वह स्त्री अपने पति को 'राजू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है।

'माध्यमिक सम्बोधन' का अंग्रेजी शब्द 'टेक्नॉनिमी' (teknonymy) ग्रीक भाषा से बना है और इसे मानवशास्त्रीय साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय श्री टायलर को है। सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) के आधार पर श्री टायलर का निष्कर्ष यह है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इस प्रकार के परिवारों में स्त्रियों की प्रधानता होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती

थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियों (primary kins) में सम्मिलित न करके केवल द्वितीयक सम्बन्धी (secondary kins) के रूप में स्वीकार किया जाता था और इस उद्देश्य से उस पति को उन बच्चों के, जिनको कि पैदा करने में उसने सहायता की है, माध्यम से सम्बोधित किया या पुकारा जाता था। इसी रीति का जब विस्तार हुआ तो माता को भी माध्यमिक सम्बोधन से पुकारा जाने लगा।

श्री टायलर (Tylor) का कथन था कि उनके अध्ययन में प्रायः 30 जनजातियाँ ऐसी थी जिनमें कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति प्रचलित थी; जिसमें कि दक्षिणी अफ्रीका की बेचुयाना, पश्चिमी कनाडा की क्री तथा भारत (आसाम) की खासी जनजातियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों से पता चलता है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति का विस्तार इससे कहीं अधिक है। श्री फ्रेजर (Frazer) ने इस रीति का प्रचलन आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलाया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, अफ्रीका की विभिन्न बांटू (Bantu) जनजातियों, उत्तरी ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में पाया है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि श्री फ्रेजर द्वारा प्रस्तुत यह सूची भी पूरी नहीं है। उपरोक्त जनजातियों या स्थानों के अलावा भी अनेक अन्य स्थानों में माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन है। उदाहरणार्थ, अण्डमान, लंका, फिजी, मैलेनेशिया तथा अमेरिका के विभिन्न भागों में भी इस रीति का प्रचलन है। होपी समाज में एक स्त्री अपनी सास को 'अमुक की दादी' और ससुर को 'अमुक का दादा' कहकर पुकारती है। इसी ढंग से पुरुष भी अपने सास-ससुर को सम्बोधित करते हैं। पति और पत्नी भी एक-दूसरे को बच्चों के माध्यम से सम्बोधित करते हैं।

माध्यमिक सम्बोधन की रीति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री टायलर के सिद्धान्त को भी श्री लोई ने स्वीकार नहीं किया है। आपका कथन है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी क्यों प्रयोग में लायी जाती है, इसकी व्याख्या श्री टायलर के मातृसत्तात्मक परिवार के सिद्धान्त के आधार पर सम्भव नहीं। आस्ट्रेलिया, मैलेनेशिया आदि की जनजातियाँ पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय होते हुए भी उनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है। वास्तव में इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुआ है। कुछ समाजों में इसके प्रचलन का कारण स्त्रियों की गिरी हुई स्थिति है (जैसे गोल्ड जनजाति में); कुछ समाजों में पुरुषों की स्थिति नीची होने के कारण और कुछ समाजों में प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धी के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों या संज्ञाओं की कमी के कारण (जैसे होपी जनजाति में) इस रीति का प्रचलन हुआ।[1]

मातुलेय
(Avunculate)

'एवकुलेट' (avunculate) या मातुलेय शब्द उस प्रथा की ओर निर्देश करता

1. Robert H. Lowie, *op. cit.*,

है जो कि मामा भानजे या भानजी के पारस्परिक सम्बन्धों को एक विशिष्ट ढंग से नियमित करता है। इसका प्रचलन उन मातृसत्तात्मक परिवारों में होता है जहाँ कि माता के भाई (मामा या मातुल) का पारिवारिक मामले में अत्यधिक महत्त्व और नियन्त्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले में मामा का अधिकार और नियन्त्रण प्रमुख है, यदि लोगों से यह मांग की जाती है कि वे अपने पिता से भी अधिक सम्मान मामा का करें, यदि मामा का भी अपने भानजे-भानजियों के प्रति उनके पिता से कहीं अधिक उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है, यदि मामा अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भानजे को ही बनाये और यदि भानजा भी पिता की अपेक्षा मामा की सेवा अधिक करे—अर्थात् अन्य सभी पुरुष सदस्यों में मामा का स्थान या स्थिति सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था या प्रथा को मातुलेय कहते हैं।

उत्तरी पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति में यह प्रथा है कि दस वर्ष की आयु में पुत्र पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है, वहीं पर रहकर वह मामा के परिवार और समाज की बातों को सीखता है, मामा की सेवा करता है और बड़ा होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है। मामा के गोत्र, जादू, धर्म तथा सम्पत्ति पर भानजे का ही अधिकार होता है। ट्रोब्रियंड (Trobriand) जनजातियों में भी ठीक इसी प्रकार से होता है। होपी तथा जूनी जनजातियों में पुत्र तब तक अपने पिता के घर में रहता है जब तक उसकी विवाह की आयु न आ जाय। इस आयु में वह अपने मामा के घर चला जाता है और मामा उसका विवाह-संस्कार करवा के अपने परिवार के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लेता है।

मातुलेय प्रथा प्रत्येक समाज में शान्तिपूर्वक ढंग से स्वीकार नहीं की जाती है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियंड प्रायद्वीप के निवासियों में पिता के स्नेह तथा मातुलेय कर्त्तव्य के बीच प्रायः संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है कि पिता को अपने लड़के से इतना प्यार हो जाय कि वह अपनी सम्पत्ति को भानजे को देने के बजाय अपने ही लड़के को देना अधिक पसन्द करे। उस अवस्था में भानजे तथा मामा के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यह सच है कि मातुलेय प्रथा मातृसत्तात्मक समाजों की एक विशेषता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पितृसत्तात्मक समाज में इसका बिलकुल ही प्रचलन नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका के थोंगा (Thonga) जनजाति पितृवंशीय है। यहाँ पत्नी को विवाह के पश्चात् अपने पति के गाँव या घर में जाकर रहना पड़ता है और बच्चों पर भी पिता के परिवार का अधिकार होता है। फिर भी मामा का घर बच्चों के लिए 'द्वितीयक शरण स्थान' (secondary haven) होता है। कोमांचे जनजाति में भी, जो कि पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

पितृश्वस्रेय
(Amitate)

'मातुलेय' प्रथा के अन्तर्गत जिस प्रकार माता के भाई का विशेष अधिकार तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार पितृश्वस्रेय प्रथा में पिता की बहन बुआ या पितृश्वसा का अधिक महत्त्व होता है। डा० रिवर्स (Rivers) ने इस प्रकार की अनेक जनजातियों का उल्लेख किया है जिनमें कि इस प्रकार की प्रथा पाई जाती है। बैंक्स प्रायद्वीप में एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कहीं अधिक सम्मान करता है और उस व्यक्ति के विवाह-साथी का चुनाव बुआ के द्वारा ही होता है। बुआ की सम्पत्ति पर एक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है। वह व्यक्ति उस सम्पत्ति को अपने मनमाने ढंग से खर्च कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में भी यह प्रथा पाई जाती है। वे लोग भी अपनी बुआ का काफी आदर करते हैं। टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण करने का अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। कुछ जनजातियों में तो दाह-संस्कार का भी अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। सर्वश्री चैपल तथा कून (Chapple and Coon) का मत है कि पितृश्वस्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन सम्बन्धियों में पारस्परिक सामाजिक अन्तःक्रिया को बनाये रखना है, जिनमें कि विवाह के पश्चात् उस अन्त क्रिया के समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

सह-प्रसविता या सहकष्टी
(Cauvade)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत एक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव-काल से है। इस प्रथा के अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी को बच्चा होने वाला हो तो पति भी उन सब कष्टों को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे जैसा कि प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति में पति को भी उसी प्रकार का भोजन करना पड़ता है जैसा कि प्रसवा करती है, उसे भी उसी कमरे में बन्द रखा जाता है जिसमें कि प्रसवा बच्चा प्रसव होने के बाद कुछ दिनों के लिए रहती है। फलतः जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई छूता नहीं है। कुछ जनजातियों में तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है और जिसके कारण वह रोती-चिल्लाती है उसी प्रकार पति को भी उन कष्टों को अनुभव करना तथा चिल्लाना-चीखना पड़ता है। इतना ही नहीं, प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिए खासी जनजाति में पति, अपनी पत्नी की भांति, बच्चा पैदा न होने तक कोई नदी पार नहीं करता या कपड़े नहीं धोता है।

इस प्रथा के प्रचलन के सम्बन्ध में मानवशास्त्री एकमत नहीं हैं। [illegible] का कथन है कि जनजातियों में जादू के द्वारा नुकसान पहुँचने का डर अत्यधिक [illegible]

इसलिए माता और पिता दोनों पर ही अनेक प्रतिबन्ध लगाकर उन दोनों की जादू-टोने से तब तक रक्षा करते हैं जब तक बच्चा सकुशल पैदा न हो जाय। कुछ मानवशास्त्रियों के अनुसार इस प्रथा द्वारा पति भी सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व प्रदर्शित करता है। यह भी हो सकता है कि पत्नी के प्रति समवेदना प्रदर्शित करने के लिए पति ऐसा करता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि इस प्रथा के पालन द्वारा पति अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना को व्यक्त करता है जिसके फलस्वरूप उनका पारस्परिक सम्बन्ध और दृढ़ होता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "इस प्रथा के मूल में सामाजिक कारण यह दीख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है और इसलिए वह पुरुष उस सन्तति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय (biological) पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-वाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।" जिस प्रकार टोडा जनजाति धनुष-वाण भेंट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त करती है, उसी प्रकार दूसरे समाजों में सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

SELECTED READINGS

1 Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. *Encyclopaedia of Social Sciences*, The Macmillan Co., New York, 1930, *Vol. IV*.

3. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Hobhouse, Wheeler and Ginsberg : *The Material Culture and Social Institutions of the Simple People*, London, 1930.

5. Kapadia, K. M. : *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1955.

6. Linton, R. : *The Study of Man*, Appleton Century Crofts, New York, 1936.

7. Lowie, R. H. : *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1953.

8. Majumdar, D. N. : *The Fortunes of Primitive Tribes*, 1944.

9. Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

10. Murdock, G. P. : *Social Structure*, New York, 1949.

11. Piddington, R. : *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

12 Prabhu, P. H. : *Hindu Social Organization*, Popular Book Depot, Bombay, 1958.

13. Stow, G. W. : *The Native Races of South Africa*, London, 1905.

14. Westermarck, E. A. : *The History of Human Marriage*, The Macmillan Co., London, 1926.

15. Winick, Charles : *Dictionary of Anthropology*.

10 परिवार और गोत्र
(The Family and Clan)

मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से परिवार उसके साथ है। किसी-न-किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। परिवार ही समाज की प्रारम्भिक इकाई है। मनुष्य का जन्म, विकास और संस्कृतिकरण परिवार से ही प्रारम्भ होता है, और उसी परिवार के प्रसार से ही समस्त राष्ट्र का निर्माण होता है। इस अर्थ में हम सब लोग उस प्रथम परिवार के ही सदस्य हैं, जो कि सबसे पहले इस पृथ्वी पर बसा होगा। इसीलिए सम्पूर्ण मानवजाति को एक ही परिवार का क्रमिक विकसित रूप समझा जा सकता है।

प्रत्येक समाज में, चाहे आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना अत्यावश्यक है क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। मनुष्य मरता रहता है, परन्तु परिवार की सहायता से मानव-जाति अमर हो गई है क्योंकि समाज में जो लोग मरते जाते हैं उनके स्थानों को परिवार ही नयी सन्तानों से भर देता है। इस प्रकार परिवार द्वारा मृत्यु और अमरत्व, दो विरोधी अवस्थाओं का सुन्दर समन्वय सम्भव हुआ है।

किसी विद्वान ने सच ही लिखा है कि "प्रत्येक मनुष्य में सदैव जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक इसे जिजीविषा या संरक्षण की सहज वृद्धि कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु पर विजय पाने के लिए, अतीत काल में अनेक उपाय ढूंढे, अमृत की खोज की, नाना रसायन बनाये, आज भी वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण कर रहे हैं; किन्तु अब तक विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम कोई उपाय नहीं खोजा जा सका। ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गई है कि 'मैं प्रजा द्वारा अमृत्व का उपभोग करूँ।' विवाह द्वारा परिवार बनाकर मनुष्य सन्तानों के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है...पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है; क्योंकि पिता के अंग-अंग और हृदय से प्राप्त अंशों को लेकर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है। मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुख है, तो उसे इस बात का भी अवश्य सन्तोष है कि परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूंढ़ लिया है, जिससे वह अपने वंशजों के रूप में अन्तःकाल तक जीवित रहेगा तथा सदा बढ़ता और फलता-फूलता रहेगा। सन्तति द्वारा अपने वंश को सुरक्षित रखना प्राणिजगत् का सार्वभौम नियम है।" परिवार उस नियम का आधार और आगार है। इस अध्याय में उसी परिवार की हम विवेचना और विश्लेषण करेंगे।

परिवार क्या है ?
(What is a Family ?)

सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) के अनुसार "बच्चों या बिना बच्चों वाले एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही अपने बच्चे सहित एक थोड़े-बहुत स्थायी संघ को परिवार कहते हैं ।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि उक्त विद्वान परिवार को एक समिति (association) या संघ (union) के रूप में परिभाषित करते हैं और इस बात पर बल देते है कि इस संघ या समिति का निर्माण एक पति-पत्नी और उनके बच्चों के सम्मिलन से या केवल पति-पत्नी के योग से या विधवा स्त्री और उसके बच्चों के सम्मिलित रूप में रहने से या पुरुष और उसके बच्चों के ही साथ-साथ रहने से हो सकता है या होता है। संक्षेप में, उक्त विद्वानों की परिभाषा से परिवार का संघात्मक पहलू स्पष्ट होता है ।

इसके विपरीत सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver & Page) ने विशेषकर परिवार के संस्थात्मक पहलू पर अधिक बल देते हुए परिवार की परिभाषा निम्न शब्दो मे की है—"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चो के जनन और लालन-पालन की व्यवस्था करता है ।"[2] इन विद्वानों की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि परिवार नामक समूह पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित होता है जिसे कि हम विवाह कहते हैं। दूसरे शब्दों मे, एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है और यह वह साधन है जिसके द्वारा बच्चो का जन्म और लालन-पालन सम्भव होता है। इस प्रकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त ढग से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने तथा बच्चों के जन्म और पालन-पोषण की व्यवस्था करने के उद्देश्य से स्थापित समूह को परिवार कहते हैं। इस अर्थ में सर्वश्री मैकाइवर और पेज की परिभाषा सर्वश्री ऑगबर्न तथा निमकॉफ की परिभाषा से अधिक विस्तृत है।

परिवार की अन्य विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से सर्वश्री बर्गेस और लॉक (Burgess & Locke) ने परिवार को निम्न ढंग से परिभाषित किया है—"एक परिवार विवाह, रक्त-सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनों से सम्बद्ध व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कि एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जो एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया और अन्तःसंदेश करते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, लड़के-लड़की और भाई-बहन के रूप मे अपने-अपने सामाजिक कार्यों को करते रहते हैं और एक सामान्य संस्कृति को बनाते व उसकी रक्षा करते हैं ।"[3] इस परिभाषा से परिवार के एकाधिक पहलुओं पर

---

1. "Family is more or less a durable [illegible]

कर परिवार का निर्माण होता है। यह विवाह-सम्बन्ध आजीवन बना रहता है यदि बीच में विवाह-विच्छेद या मृत्यु के कारण न टूट जाय।

(2) विवाह का एक स्वरूप (A form of marriage)—दो या अधिक स्त्री-पुरुष में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित होता है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज में पाया जाता है जिसे विवाह कहते हैं। यह व्यवस्था एक-विवाह, बहुपति-विवाह, बहुपत्नी-विवाह या समूह-विवाह का रूप धारण कर सकती है। एक-विवाह सभी सभ्य समाजों में और अनेक जनजातीय समाजों में, जैसे खासी, संथाल और कादर जनजातीय समाजों में पाये जाते हैं। बहुपति-विवाह खस, टोडा, कोटा आदि भारतीय जनजातियों में पाये जाते हैं। हिन्दू समाज के धार्मिक इतिहास में पाँच पाण्डवों का द्रौपदी से विवाह आदि दो-एक उदाहरण बहुपति-विवाह के अवश्य मिलते हैं, पर ये सब अपवाद मात्र हैं। भारत की नागा जनजातियों, गोंड, बैगा, टोडा आदि अनेक जनजातीय समाजों में बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन है। हिन्दू-विवाह अधिनियम सन् 1955 के पास होने से पहले हिन्दू समाज में भी बहुपत्नी-विवाह के असंख्य उदाहरण मिल सकते थे। समूह-विवाह का स्वरूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों की एक निराली विशेषता है।

(3) *वंश-नाम की एक व्यवस्था (A system of nomenclature)*—प्रत्येक परिवार में कोई-न-कोई वंश-नाम निश्चित करने का एक नियम हुआ करता है, जिसके अनुसार एक परिवार विशेष के बच्चों का उपनाम (surname) या वंशनाम निर्धारित होता है और उसके वंशजों को पहचानने में मदद मिलती है। यह वंश-नाम मातृवंशीय (matrilineal) या पितृवंशीय (patrilineal) होता है जो कि वास्तविक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसको जन्म देने वाले माता-पिता का सम्बन्ध) या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध (जैसे, बच्चे के साथ उसे गोद लेने वालों का सम्बन्ध) पर आधारित होता है। अधिकतर सभ्य समाजों तथा अनेक जनजातीय समाजों में वंश पिता के नाम पर चलता है जबकि भारत के खासी, गारो, नायर आदि समाजों में बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से।

(4) कुछ आर्थिक व्यवस्था (Some economic provision)—प्रत्येक परिवार में कुछ-न-कुछ आर्थिक व्यवस्था अर्थात् जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन होता है जिसके द्वारा परिवार के सदस्यों का और बच्चों का पालन-पोषण हो सके।

(5) एक सामान्य निवास या घर (A common habitation)—प्रत्येक परिवार के सदस्यों के रहने के लिए, एक सामान्य घर या निवास होता है। ऐसे घर मातृस्थानीय निवास (matrilocal residence), जैसे खासी, गारो, नायर आदि लोगों में या पितृस्थानीय निवास (patrilocal rasidence), जैसे हमारे अपने समाज में, हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति न पत्नी के यहाँ और न पत्नी, पति [illegible] रहती है, परन्तु वे दोनों ही एक नया निवास बनाकर रहने लगते हैं। इस प्रकार [illegible] वार को डा० दुबे ने 'न[illegible] परिवार' कहा है।

परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Family)

यह सच है, परिवार सामाजिक संगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है; पर यह भी सच है कि किसी अन्य सामाजिक संस्था ने इतनी अधिक समस्याओं को जन्म नहीं दिया है जितना कि परिवार ने। उन समस्याओं में एक समस्या परिवार की उत्पत्ति से संबंधित है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है, जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा—

(1) शास्त्रीय सिद्धान्त
(Classical Theory)

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वश्री प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) ने सामान्य सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उनके विचार में परिवार सर्वप्रथम पितृसत्तात्मक (Patriarchal) था। प्राचीन ग्रीक, रोमन और यहूदी समाजों के इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का प्रमाण भी प्राप्त होता है। सन् 1861 में सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया। आपने दुनिया की सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परिवारों का आदि रूप पितृसत्तात्मक परिवार ही था। ये परिवार पितृस्थानीय और पितृवंशीय भी थे। इसका सबसे उत्तम उदाहरण भारतवर्ष ही है। सर मेन के अनुसार मातृसत्तात्मक परिवारों का जन्म बाद की बात है जोकि आर्थिक दशा तथा स्त्रियों की स्थिति परिवर्तन के फलस्वरूप सम्भव हुआ था।

आधुनिक अनुसन्धान से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। दुनिया के विभिन्न आदिम समाजों के अध्ययन से यह स्पष्टतः पता चलता है कि पितृसत्तात्मक परिवार सब जगह नहीं पाये जाते। वास्तव में इन विद्वानों को दुनिया के विभिन्न भागों में बसे हुए समाजों के विषय में कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न था और उनका सिद्धान्त बहुत-कुछ कल्पना पर आश्रित होने के कारण तथ्ययुक्त और निर्भरयोग्य न हो सका।

(2) यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त
(The Theory of Sex-Communism)

प्रारम्भ में मानवशास्त्रियों, जैसे कि मॉर्गन (Morgan), फ्रेजर (Frazer) और बाद में ब्रिफॉल्ट (Briffault) ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मानव-समाज के प्रारम्भिक स्तर पर 'परिवार' या 'विवाह' नाम की कोई भी चीज नहीं थी। उस समय तो केवल एक प्रकार का पशुओं जैसा अनियमित यौन-साम्यवाद (sex-communism) था। ये विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं कि परिवार [illegible] रूप में [illegible] तक विकास के सभी स्तरों में पाया जाता है। इनके मतानु[illegible] प्रारम्भिक काल में परिवार नहीं था, यह तो सामाजि[illegible]

उत्पन्न हुआ है।

श्री मॉर्गन ने अपने सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए आदिम समाजों में पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी छूट या स्वतन्त्रताओं के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कुछ आदिवासियों के त्योहारों पर किसी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है, कुछ जनजातियों में पत्नी की अदला-बदली होती है, और कहीं-कहीं पर अतिथि-सत्कार के हेतु पत्नियाँ तक भेंट की जाती हैं। भारतीय जनजातियों के अध्ययन से भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उनमें यौन-सम्बन्धी नियन्त्रण अति न्यून मात्रा में है। उदाहरणार्थ, बस्तर के मुड़िया गोंडों में गाँव के अविवाहित लड़के और लड़कियाँ बिना किसी रोक-थाम के गाँव के बाहर रात में एक मकान में रहते हैं, जहाँ कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की काफी स्वतन्त्रता रहती है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार अपना साथी चुनता है और ये साथी इच्छानुसार बदले भी जाते हैं। भारत की मध्य भारत की जनजातियों में भी यौन-सम्बन्ध की तब तक स्वतन्त्रता रहती है, जब तक लड़की गर्भवती नहीं हो जाती है। इस प्रकार के कामाचर (promiscuity) के कुछ प्रमाण हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों में, विशेषत. महाभारत में मिलते हैं। इनमें कहा गया है कि "पूर्वकाल में स्त्रियाँ खुली (अनावृत्ता:), अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली (कामाचार-विहारिण्य:) और स्वतन्त्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई) थीं। वे कुमारी दशा में ही अनेक पुरुषों के पास जाया करती थी। ऐसा करना अधर्म नहीं था, क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी।" उसी प्रकार कर्णपर्व में कर्ण द्वारा मद्रदेश (स्यालकोट) की स्त्रियों का वर्णन है, "वहाँ सब नारियाँ अपनी इच्छा से पुरुषों से मिलती हैं; मद्रदेश की स्त्रियाँ शराब से मस्त होकर कपड़े फेंककर नाचती हैं, मैथुन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं रखती, जिसके पास चाहती हैं चली जाती हैं।"

परन्तु उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत, मानवशास्त्रीय प्रमाणयुक्त तथा ऐतिहासिक सत्य नहीं प्रतीत होता है। उक्त सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करने के लिए मानवशास्त्रियों ने अनेक प्रमाण एकत्रित किये हैं। उनका कथन है कि मनुष्य-समाज की बात तो दूर की बात है, उन्नत पशु-समाज में भी यौन-साम्यवाद नहीं मिलता। त्योहारों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता, या धर्म-पालन हेतु पत्नियों की भेंट यौन-साम्यवाद को प्रमाणित नहीं कर सकती। इन अवस्थाओं में यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता एक 'विशेष' स्वतन्त्रता है, न कि 'सामान्य' स्वतन्त्रता। इन विशेष स्वतन्त्रताओं के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि यौन-साम्यवाद कभी सामान्य या स्थायी रीति का रहा है। यहाँ तक कि ब्रेज़ील के काइगन, साइबेरिया के चकची और आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजातियाँ जिनमें कि समूह-विवाह (group marriage) की प्रथा पाई जाती है, वहाँ भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि यहाँ कभी यौन-साम्यवाद रहा है। उसी प्रकार निचले हिमालय की जन-जातियों में एक प्रकार के समूह-विवाह की प्रथा विद्यमान है जिसके अनुसार कई भाई मिलकर अनेक स्त्रियों से विवाह करते है और किसी भाई का किसी पत्नी विशेष पर कोई

(1) उद्‌विकासवादी सिद्धान्त
(Evolutionary Theory)

इस सिद्धान्त को श्री बैकोफन (Bachofen) ने प्रस्तुत किया और श्री लुइस मोर्गन (Lewis Morgan) ने एक सुनिश्चित रूप दिया। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकों में सर्वश्री मैकलेनन (McLennan), स्पेन्सर (Spencer), लूबक (Lubbock) तथा टायलर (Tylor) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री बैकोफन ने जो उद्‌विकासीय क्रम प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

(अ) आदिकाल में पारिवारिक जीवन बहुत ही ढीला-ढाला था और यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का कोई निश्चित नियम न था। पारिवारिक सम्बन्धों में माता-सन्तान का सम्बन्ध ही एकमात्र स्थायी और निश्चित सम्बन्ध था। इस स्तर (stage) में बच्चे अपनी माँ से ही विशेष रूप से सम्बन्धित थे, अपने वास्तविक पिता के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता था और वे समूह के सभी पुरुष-सदस्यों से सामान्य रक्षा तथा भोजन प्राप्त करते थे। यही परिवार की सबसे प्रारम्भिक अवस्था थी।

(ब) इसके [illegible] परिवार का स्वरूप कुछ और स्पष्ट हुआ। उस समय लोगों को जीवित रहने [illegible] से बहुत ज्यादा संघर्ष [illegible] पड़ता था और जीवित रहने के साधन भी [illegible]। इस संघर्षपूर्ण [illegible] मोर्चा लेने में लड़कियाँ

बिल्कुल अयोग्य थीं, इस कारण वे समाज के लिए एक प्रकार का बोझा थीं। इसलिए कन्याओं को मार डालने (female infanticide) की प्रथा शुरू हुई जिसके फलस्वरूप समाज में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक हो गई। फलतः बहुपति-विवाह (polyandry) प्रथा का जन्म हुआ।

(स) जीवित रहने के साधनों की पूर्ति (supply) बढ़ने के साथ-साथ उक्त प्रथा का धीरे-धीरे अन्त हुआ। जब मानव-समाज कृषि-स्तर पर आया तब तो एक उल्टी धारा ही बहने लगी। कृषि-कार्य के लिए प्रत्येक परिवार को अधिकाधिक श्रम-शक्ति की आवश्यकता हुई। इसके लिए स्त्रियों को ही सबसे उत्तम समझा गया। केवल खाने-पहनने और रहने को देकर चौबीसों घण्टे के लिए स्थायी श्रमिक स्त्रियों के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। इसलिए प्रत्येक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करके अपने परिवार की श्रम-शक्ति को बढ़ाने लगा। यही स्त्रियाँ बाद को पुरुष के ऐशोआराम के साधन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक हो गईं। कृषि के माध्यम से खाद्यसामग्री की पूर्ति बढ़ने के कारण पुरुषों के लिए एकाधिक पत्नियाँ रखना सरल भी हो गया। इस प्रकार बहुपत्नी-विवाह (polygyny) प्रथा का जन्म हुआ। अत इस तीसरी अवस्था में बहुपत्नी-विवाह परिवार का विकास हुआ।

(द) परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ नैतिक विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। साथ ही, समानता का विचार पनपा और स्त्रियों ने अपने समान अधिकारों और सामाजिक न्याय की माँग की। इन सबके फलस्वरूप अन्त में एक-विवाह (monogamy) की प्रथा चली। यही परिवार का आधुनिक स्वरूप है।

श्री ल्युइस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने परिवार के उद्‌विकास में निम्नलिखित पाँच स्तरों (stages) का उल्लेख किया है। इन अवस्थाओं से गुजरता हुआ परिवार अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचा है। वे स्तर क्रमश. निम्नवत् हैं।

(क) **रक्त-सम्बन्धी परिवार (Consanguine family)**—मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल में पाये जाते थे जिनमें कि यौन-सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में कोई भी प्रतिबन्ध न था और बिना किसी संकोच के भाइयों और बहनों तक में विवाह होते थे।

(ख) **समूह-परिवार (Punalaun family)**—परिवार के उद्‌विकास में दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ हुआ करता था जिसमें प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति होता था और प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी होती थी। इस अवस्था में ऐसा भी होता था कि बहुत से पुरुषों का संयुक्त विवाह बहुत-सी स्त्रियों के साथ हो, पर यह आवश्यक नहीं था कि ये पुरुष आपस में भाई-भाई या रिश्तेदार हों या ये स्त्रियाँ आपस में बहनें या रिश्तेदार हों। परन्तु अधिकतर या व्यावहारिक रूप में ये सब भाई-भाई और बहन-बहन ही होते थे। कुछ भी हो, इस अवस्था में भी यौन-[illegible] और अनियंत्रित था।

(ग) [illegible] ndaysmain famil

से-आप ही बढ़ते है और अपना भोजन स्वयं ढूंढ लेते हैं। परन्तु चिड़ियो की अनेक जातियो तथा मनुष्य के पूर्वज बन्दरो मे ऐसी अवस्था नही है। उदाहरणार्थ, चिड़ियों मे अण्डे को सेने के लिए मादा की उपस्थिति निरन्तर आवश्यक है और उस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। यह यौन-साम्यवाद की स्थिति मे कभी सम्भव न था कि एक विशिष्ट नर एक विशिष्ट मादा और उसके बच्चो का इतना ख्याल रखता। माँ के स्तन से दूध पीने वाले बच्चों को माता-पिता की, इन चिड़ियों के बच्चो से कहीं अधिक, आवश्यकता होती है, क्योंकि उनके पूर्ण विकास में काफी समय लग जाता है। औरंग-उतान आठ से बारह वर्ष की आयु मे युवा होता है, यदि उस समय तक उसे अपने माता-पिता से भोजन और रक्षा आदि न मिले तो वह अधिक दिन जीवित नही रह सकता। यह सब काम एक-विवाह से ही सम्भव हो सकता है। गोरिल्ला और चिम्पाजी भी परिवार बनाकर रहते हैं और वे भी एक-विवाही हैं। श्री वेस्टरमार्क ने लिखा है कि गोरिल्ला चिम्पाजी आदि मे "सन्तान की सख्या कम होने, गर्भकाल लम्बा होने तथा उस समय मादा के सरक्षण की आवश्यकता, उत्पन्न सन्तान के मातृ-दुग्ध पर आश्रित रहने, शैशवकाल लम्बा होने तथा उस काल मे असहाय होने के कारण आत्मसंरक्षण की सहज बुद्धि इन्हे बच्चो के साथ परिवार बनाकर रहने की प्रेरणा देती है। मादा के गार्भिन होने पर घर बनाना, रात-भर बच्चों की चीतों से चौकसी करना, मादा के लिए नर का भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चो का पालन-पोषण बन्दरो से मनुष्य-समाज की जंगली जनजातियों तक सर्वत्र देखा जाता है। माता-पिता और बच्चे का परिवार मानव-समाज मे सार्वभौम है, इसे मानव ने विरासत मे अपने पुरखों (जिनमे बन्दर भी सम्मिलित हैं) से पाया है।" ऐसी अवस्था मे कामाचार की कल्पना या परिवार का न होने का सिद्धान्त न केवल अवास्तविक ही है बल्कि अव्यावहारिक भी। अगर पक्षी और पशु तक एक-विवाही हैं तो क्या मानव के कामाचार या बहु-विवाही होने की कल्पना वास्तविक हो सकती है? वास्तव मे एक-विवाही परिवार सबसे पुराना है और सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर में पाया जाता है।

उपरोक्त प्रमाणों के अतिरिक्त श्री वेस्टरमार्क ने अपने सिद्धान्त के पक्ष मे दो तर्क और प्रस्तुत किए हैं। प्रथम तो यह कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार ही नहीं वरन् एकाधिकार भी चाहता है। दूसरी, यह कि पुरुष में स्वभावत: ईर्ष्या की भावना होने के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सम्बन्ध रखने देना नहीं चाहता और उसको दूसरों से अलग रखता है। इसका स्वाभाविक परिणाम एक-विवाही परिवार है। यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता, बहुपति-विवाह या बहु-पत्नी-विवाह केवल सामाजिक नियमो के क्षणिक उल्लंघन थे और स्थायी रूप से कभी नहीं पाये गये। श्री वेस्टरमार्क के अनुसार एक-विवाह के अतिरिक्त और सब-कुछ अपवाद (exception) है, नियम नहीं।

एक अर्थ मे श्री मलिनोवस्की (Malinowski) ने श्री वेस्टरमार्क ... स्वीकार किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक '*Sex and Repression*' ... मे स्पष्ट ही लिखा है कि परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य,

अपने साथ लाया है। और वह परिवार एक विवाही परिवार ही है। श्री मैलिनोवस्की के शब्दों में, "एक-विवाह ही विवाह का एक-मात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।"

(5) मातृसत्ता का सिद्धान्त
(Theory of Matriarchy)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री ब्रिफॉल्ट (Briffault) हैं। आपने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि '*The mother*' नामक पुस्तक के तीन खण्डों (volumes) में की है। इनका प्रमुख उद्देश्य श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त को गलत प्रमाणित करना था, इसी कारण आपने श्री वेस्टरमार्क के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-परिवार का ही नहीं, पशु-परिवार का भी आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। श्री ब्रिफॉल्ट ने अनेक मातृवंशीय और मातृसत्तात्मक जनजातियों का उल्लेख करते हुए इस बात पर बल दिया है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध बहुत निश्चित न होने के कारण बच्चा प्रायः यह नहीं जानता था कि उसका पिता कौन है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण (चाहे यह वास्तविक हो या किसी सामाजिक नियम के पालन करने के फलस्वरूप हो) पिता की परिवार में कोई विशेष स्थिति (status) नहीं कही जा सकती थी। ऐसी अवस्था में पिता-सन्तान का सम्बन्ध नहीं, बल्कि माता-सन्तान का सम्बन्ध ही पारिवारिक जीवन में एकमात्र महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध था। परिवार में माता की स्थिति थी, उसी की सत्ता थी। इस प्रकार मानव-परिवार का आदि रूप मातृसत्तात्मक परिवार होना ही स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, जैसा कि श्री ब्रिफॉल्ट ने स्पष्ट ही लिखा है "पशु-परिवार, जिससे कि यह आशा की जाती है कि मानव के सामाजिक समूह का जन्म हुआ है, मातृसत्तात्मक है।" श्री ब्रिफॉल्ट ने यह भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आदिवासियों में ईर्ष्या जैसी कोई वस्तु नहीं थी।

श्री ब्रिफाल्ट ने इस बात पर बल दिया है कि परिवार की उत्पत्ति माँ की निरन्तर आवश्यकता विशेषकर बच्चों की रक्षा और पालन-पोषण की आवश्यकता के कारण ही हुई है। पुरुष तो केवल यौन-सम्बन्धी आकर्षणों के कारण ही परिवार में रहना चाहता है, परन्तु माता में मातृ मूलप्रवृत्ति (maternal instinct) अधिक शक्तिशाली होती है जिसके कारण माँ अपनी और अपनी सन्तानों की आर्थिक व सामाजिक रक्षा की आवश्यकता को निरन्तर अनुभव करती रहती है। इसी कारण माँ को पुरुष के यौन-सम्बन्धी स्वार्थ पर विजय पाना ही होता है और यह स्त्रियाँ या माताएँ ही हैं जिन्होंने स्वार्थी पुरुष को हाथ पकड़ कर परिवार में बसाया। माँ जानती है कि जब तक परिवार न होगा तब तक उनकी और उनके परिवार की रक्षा तथा पालन-पोषण सम्भव न होगा। इसीलिए माँ की मातृ मूल प्रवृत्ति उसे परिवार बसाने को प्रेरित करती है। इसी कारण माता ने ही सर्वप्रथम परिवार की आवश्यकता को अनुभव किया था। इस प्रकार परिवार को बनाने वाली माँ की प्रधानता परिवार में होगी, यही स्वाभाविक था। अतः परिवार का वास्तविक आदि या मूल रूप मातृसत्तात्मक परिवार ही था। स्त्री का विकास ही

पर और पुरुषो के हाथ मे आर्थिक क्षमता के चले जाने पर ही पितृसत्तात्मक परिवारो का जन्म हुआ। इसीलिए श्री ब्रिफॉल्ट के अनुसार, एक-विवाही परिवार को मूलभूत और परिवार का आदिरूप नहीं कहा जा सकता।

श्री बैकोफन (Bachofen) का भी मत है कि मातृसत्तात्मक परिवार का उदय पितृसत्तात्मक परिवार से पहले हुआ है। इसका कारण यह था कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल में पिता या पुरुष शिकार की खोज मे घर से बाहर जगल मे चले जाया करते थे और प्राय: बहुत दिनो तक उन्हें जंगल मे ही बिताने होते थे। ऐसी अवस्था मे बच्चों का पालन-पोषण और रक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व माता पर ही होता था। अपनी और अपने बच्चों की रक्षा और जीवन-धारणा के लिए माताएँ फलों को बीनकर लाती थी, बीज को जमीन मे बोती थीं तथा घर की देखरेख करती थी। अत: स्पष्ट है कि उस समय पर परिवार मे माँ का महत्त्व अत्यधिक था। श्री टायलर (Tylor) ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। आपके अनुसार परिवार पहले मातृसत्तात्मक था, फिर मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक का मिश्रण हुआ और फिर अन्त मे पितृसत्तात्मक परिवार का उदय हुआ।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे काफी मतभेद है। वास्तव मे परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वाद-विवाद पूर्णतया निरर्थक है क्योंकि, जैसा कि सर्वश्री मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार की इस अर्थ मे कोई उत्पत्ति हुई ही नही है, कि मानव-जीवन मे कभी ऐसी अवस्था थी जबकि परिवार नही था या ऐसी कोई अवस्था थी जिसमे परिवार का जन्म हुआ हो।[1] उपरोक्त सिद्धान्तों मे एक बहुत बड़ी कमी यह है कि उनके समर्थको ने परिवार नामक संस्था के केवल एक पक्ष को बहुत बढ़ाकर प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार असभ्य जनजातियो मे एक-विवाही प्रथा का पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि एक-विवाह सब जगह पाया जाता है, उसी प्रकार उन समाजो मे पाये जाने वाली यौन-सम्बन्धी स्वाधीनता या छूट इस बात की पुष्टि नही करती कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे कामाचार या यौन-साम्यवाद की स्थिति थी। फिर भी जैसा कि डा० मजूमदार ने लिखा है, "आज सर्वश्री वेस्टरमार्क तथा मॉर्गन के सिद्धान्त जीवित हैं, इसलिए नही कि वे सच है, वरन् इसलिए कि वे परिवार की गतिशील धारणा पर आधारित हैं।"[2] दुनिया के समस्त देशों से अब तक जितने आंकड़े और तथ्य एकत्रित किये गये हैं, सभी से एक ही सत्य का पता चलता है। और वह है परिवार का अस्तित्व। प्रागैतिहासिक प्रमाणो से भी यह पता नही चलता कि कभी परिवार नही था। आस्ट्रेलिया तथा अण्डमान प्रायद्वीप के आदिवासी सबसे

1. "The family has no origin in the sense that there ever existed a stage of human life from which the family was absent or another stage in which it emerged." —MacIver & Page, *op. cit.*, p. 245.

2. "But both Westermarck's and Morgan's theories survive today, not because they are true, but because the theories are based on a dynamical concept of family."—Dr. D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, 1958, p. 163.

प्राचीन समझे जाते हैं, उनमें भी परिवार एक आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में विद्यमान है। भारत में सबसे पिछड़ी जनजातियाँ कादर, पनियन, चेंचू आदि हैं, उनमें भी पारिवारिक संगठन है। हाँ, यह सच है कि परिवार की उत्पत्ति प्रत्येक समाज में एक ही तरह से और एक ही कारण से नहीं हुई है। यौन तथा भूख की तृप्ति के लिए, सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए और आर्थिक सुरक्षा के लिए परिवार नामक एक संगठन की आवश्यकता प्रत्येक समाज के सदस्यों ने ही अनुभव की होगी जिसका कि स्वाभाविक परिणाम परिवार की उत्पत्ति है। परन्तु इन आवश्यकताओं का स्वरूप और उनकी सन्तुष्टि के उपलब्ध साधन प्रत्येक समाज में एक नहीं हो सकते और यही कारण है कि परिवार के अनेक स्वरूप हमें दुनिया के विभिन्न समाजों में देखने को मिलते हैं। साथ ही, किसी भी समाज में परिवार का कोई भी स्वरूप चिरस्थायी है, यह सोचना भी गलत है। अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ-साथ परिवार के स्वरूपों में भी परिवर्तन हो सकता है और हुआ भी है। इसलिए, डा० मजूमदार के शब्दों में, "परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नहीं था जैसा आज है।"[1]

परिवार के भेद
(Kinds of Family)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक समाज में परिवारों का स्वरूप एक-समान नहीं होता है। इनके अनेक भेद हमें संसार के विभिन्न समाजों में देखने को मिलते हैं और उन्हें अनेक आधारों पर एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। परिवार का सबसे प्राथमिक रूप पति-पत्नी और उनके बच्चों को लेकर शुरू होता है। ऐसा भी हो सकता है कि उसी परिवार में दूसरे-नाते-रिश्तेदार भी आकर रहने लगें और उस परिवार का आकार बढ़ जाय। यहाँ पर भेद परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर है। उसी प्रकार अन्य आधारों पर भी परिवार के अनेक भेद किए जा सकते हैं। इनमें तीन प्रमुख आधारों का उल्लेख किया जा सकता है—(1) परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर, (2) विवाह के स्वरूप के आधार पर, और (3) पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर। इन सब आधारों पर बनने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

मूल या केन्द्रीय परिवार
(Primary or Nuclear Family)

इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक, मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण कहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है और प्रायः इसमें एक विवाहित पति-पत्नी और

---

1. "That is why family is still what it was and at the same time it was not what it is."—*Ibid.*, p. 163,

उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का परिवार दूसरे नाते-रिश्तेदारों से मुक्त रहता है। 'हो' जनजाति में इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है, यद्यपि अब हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमें भी संयुक्त परिवार देखने को मिलता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी एकसाथ एक परिवार में रहते हैं, पर उनका अपना कोई बच्चा नहीं होता। ऐसी अवस्था में वे दूसरे के बच्चे को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार के परिवार को भी, जिसमें पति-पत्नी तथा उनके गोद लिए बच्चे-साथ-साथ रहते हैं, मूल या केन्द्रीय परिवार कहते हैं। मूल या केन्द्रीय परिवार आधुनिक समाजों में बहुत पाये जाते हैं।

विवाह-सम्बन्धी परिवार
(Conjugal Family)

मूल परिवार के आधार पर ही एक दूसरे प्रकार के परिवार होते हैं जिन्हें 'विवाह-सम्बन्धी परिवार' कहते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ऐसे परिवारों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। ऐसे परिवार केवल उन लोगों में ही पाये जाते हैं जो विवाह-सम्बन्ध को अत्यधिक मान्यता देते हैं और विवाह को दो व्यक्तियों के मिलन का आधार न मानकर दो परिवारों को मिलाने वाला भी समझते हैं। भारत में खरिया जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

संयुक्त और विस्तृत परिवार
(Joint and Extended Family)

डा० दुबे के अनुसार, "यदि कई मूल परिवार एकसाथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।" कुछ विद्वान उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें कि अनेक नाते-रिश्तेदार एकसाथ रहते हैं। इसके विपरीत डाक्टर आई० पी० देसाई (I. P. Desai) ने केवल परिवार के आकार या सदस्यों की संख्या के आधार पर किसी परिवार को संयुक्त या केन्द्रीय परिवार मान लेने पर विशेष आपत्ति की है। आपके अनुसार नातेदारी (Kinship) पीढ़ियों की संख्या (generation depth), सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही परिवार को संयुक्त या मूल परिवार मानना उचित होगा। आपने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है—"हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें मूल परिवार से अधिक पीढ़ियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य) सम्मिलित हों तथा उनके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों एवं

कर्त्तव्यों के द्वारा सम्बन्धित हों।"[1] सामान्यतः, संयुक्त परिवार संयुक्त संगठन के आधार पर निकट के नाते-रिश्तेदारों की एक सहयोगी व्यवस्था है जिसमें सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित वास, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।[2]

यूँ तो संयुक्त परिवार भारतीय जनजातियों में भी अत्यन्त व्यापक है, फिर भी इसका वास्तविक रूप तो भारतीय गाँवों में देखने को मिलता है। संयुक्त परिवार की संरचना में सर्वप्रमुख स्थान परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य का होता है जिसे कि 'कर्त्ता' कहते हैं। इसे कर्त्ता इस कारण कहा जाता है क्योंकि वह परिवार की ओर से और परिवार के लिए सब कार्यों को करने वाला होता है। वह परिवार का संचालन और सम्पत्ति की देख-रेख करता है, पारिवारिक झगड़ों का निपटारा करता है और सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक तथा सामुदायिक विषयों में परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। कर्त्ता की स्त्री का स्थान कर्त्ता के बाद होता है। परिवार की दूसरी स्त्रियों की तुलना में कर्त्ता की स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा होता है और परिवार के आन्तरिक मामलों में इस स्त्री का प्रमुख हाथ होता है। संयुक्त परिवार की संरचना में कर्त्ता की स्त्री के पश्चात् आयु के हिसाब से अन्य पुरुषों का स्थान होता है। पारिवारिक व्यवस्था या प्रवन्ध में अविवाहित लड़कों का कोई स्थान नहीं होता। परन्तु लड़कियों की तुलना में लड़कों का महत्त्व और मर्यादा अधिक होती है। संयुक्त परिवार में बड़े लड़के का अधिक महत्त्व होता है और वह इस कारण कि पितरों के तर्पण और पिण्डदान आदि में उसकी आवश्यकता होती है। संयुक्त परिवार में माता-पिता का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उनका कर्त्तव्य बच्चों की रक्षा, पालन-पोषण, देख-रेख और नियन्त्रण है। पति और पत्नी का सम्बन्ध आन्तरिक कर्त्तव्य-बोध पर आधारित होता है। नव-विवाहित वधू को ससुराल आने के पश्चात् नई परिस्थितियों में अनुकूलन करना होता है और अपने पति के परिवार के आचार-व्यवहार, कायदे-कानून को सीखना होता है और जो वह अपनी सास या परिवार की अन्य वयस्का महिला से सीखती है। हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचना में कन्याओं का स्थान सबसे अधम होता है।

संयुक्त परिवार की उत्पत्ति भारतवर्ष में ऐसे युग में हुई थी जब ग्रामीण समुदाय में ही यहाँ के लोग पलते थे। उस समय सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता का नितांत अभाव था। सब लोग ज़मीन से जकड़े थे, और इस कारण एक स्थान पर एक परिवार में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे। परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं और उनके साथ ही संयुक्त परिवार की नींव डगमगा गई है। औद्योगीकरण (industrialization)

---

1. "We call that household a joint family which has greater generation depth (i.e. three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and the mutual rights and obligations,"—I.P. Desai, 'The Joint Family in India', *Sociological Bulletin*, [illegible] No. 2, Sept. 1956, p. 148,.

2. R. N. Mukherjee, *Bhartiya Janta tatha Sansthayen*, Saraswati Sadan, [illegible]ie, 1961, p. 258.

के फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया है और लोग घर छोड़कर नौकरी की खोज में विभिन्न स्थानों में जाकर बसने लगे हैं। यातायात के उन्नत साधनों ने इस प्रक्रिया की गति को और भी तेज किया है। साथ ही, जनसंख्या का बढ़ना, नगरीकरण और नगरों में मकानों की समस्या, निर्धनता, पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, व्यक्तिवाद, महिला आन्दोलन आदि अनेक कारकों के आधुनिक समय में क्रियाशील होने के कारण भी संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन विघटित होता जा रहा है।

अब तक हम विशेष रूप से परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर विभिन्न प्रकार के परिवारों की विवेचना कर रहे थे। अब हम विवाह-सम्बन्ध के आधार पर भी परिवार के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

एक-विवाही परिवार
(Monogamous Family)

जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'एक-विवाही परिवार' कहते हैं। भारत की जनजातियों में ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है। कुछ जनजातियों में एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं और इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो जनजातियों का वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आना और दूसरे किन्हीं-किन्हीं जनजातियों में, जैसा कि 'हो' जनजाति में, अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride price) का होना। आधुनिक समाज में तो इस प्रकार का परिवार 'सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है'। इस सम्बन्ध में अनोखी बात यह है कि कुछ अतिप्राचीन जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार पाया जाता है। उदाहरणार्थ, अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियों में और मैले (Malay) जंगलों में सेमग (Samangs) लोगों में एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करने की प्रथा प्रचलित है; यद्यपि सेमंग लोग एक स्त्री के मर जाने पर दूसरी स्त्री, और दूसरी के मर जाने पर तीसरी स्त्री से विवाह कर सकते हैं और करते हैं।[1] होपी, जूनी तथा इरोकूइस जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार देखने को मिलते हैं। भारत में खासी, सन्थाल और कादर जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।

बहु-विवाही परिवार
(Polygamous Family)

जब एक स्त्री अथवा पुरुष एक से अधिक स्त्रियों या पुरुषों से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'बहु-विवाही परिवार' कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद हो सकते हैं—(अ) बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous family) वह परिवार है जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करके घर बसाती है।

---

1. E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958, p. 324.

उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) वह परिवार है जिसमें कि एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों में पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा आदि जनजातियों में।

परिवार के भेद केवल विवाह-सम्बन्ध के आधार पर ही नहीं, **पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर** भी किये जा सकते हैं। जैसे—

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार
(Matriarchal or Matrilineal Family)

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर में जाकर रहने लगता है। इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योंकि इसमें पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है। ऐसे परिवारों में बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार को मातृवंशीय परिवार (Matrilineal family) भी कहते हैं। साथ ही, चूंकि ऐसे परिवारों में निवास-स्थान माता या स्त्री का होता है जहाँ स्त्री के साथ उसके पति और बच्चे निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारों को मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family) कहते हैं।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार की निम्नलिखित **विशेषताओं** का उल्लेख किया है[1]—

(1) ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय या वंशनाम माता के परिवार के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिए बच्चे पिता के कुल या वंश के नहीं, अपितु माता के वंश के समझे जाते हैं। संक्षेप में, ऐसे परिवारों में माता के वंश का ही महत्त्व होता है, पिता गौण मात्र होता है।

(2) ऐसे समाज में विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर नहीं जाती; वह अपने घर में रहती है और उसका पति उसके घर जाकर अपनी पत्नी के परिवार का ही एक सदस्य बन जाता है और वहीं रहने लगता है।

(3) मातृसत्तात्मक परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नहीं मिलती है। सभी साम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि साम्पत्तिक अधिकार केवल स्त्रियों को ही प्राप्त हैं; लड़कों को कुछ भी नहीं मिलता। ऐसे परिवारों में माता का भाई या बहन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है और होता है।

(4) सामाजिक सम्मान के विभिन्न पद और उपाधियाँ पुत्र के स्थान पर भानजे को मिलती हैं। ट्रावन्कोर-कोचीन राज्यों का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं बल्कि

1. MacIver & Page, *op. cit.*, pp, 247-248.

उसकी बहन का लड़का होता है।

(5) मातृसत्ता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुष को कुछ भी अधिकार नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि पुरुष भी सामाजिक, राजनैतिक विषयों में सम्मानित पद को प्राप्त होते हैं और पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषों का ही होता है।

पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार

(Patriarchal or Patrilineal Family)

चूँकि ऐसे परिवारों में सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ में रहता है, इस कारण इन्हें पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family) कहते हैं। पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार में साधारणतया विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर में आकर रहती है। ऐसे परिवारों में वंशनाम पिता के वंश के आधार पर होता है, अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार पितृवंशीय परिवार (Patrilineal family) कहलाते हैं। साथ ही, चूँकि ऐसे परिवार में निवास-स्थान पिता या पति का होता है जहाँ पत्नी और बच्चे अपने पति और पिता के साथ निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारों को पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal residence) कहते हैं। उपर्युक्त वर्णन से पितृसत्तात्मक परिवार की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

(1) ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के समझे जाते हैं, माता के वंश या कुल के नहीं।

(2) ऐसे परिवार में विवाह के बाद पत्नी को पति के घर में आकर रहना होता है। बच्चे भी वहीं पर रहते हैं।

(3) पितृवंशीय परिवार में बच्चों का अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता।

(4) सामाजिक और पारिवारिक पद और उपाधियाँ पुत्र को ही प्राप्त होती हैं। हिन्दू परिवार में तो लड़कों का विशेष महत्त्व होता है और वह इस कारण कि उनकी आवश्यकता पितरों के तर्पण और पिण्डदान आदि के लिए होती है। परिवार के सबसे बड़े पुत्र को यह अधिकार सबसे पहले प्राप्त होता है, इस कारण बड़े लड़के का स्थान पिता के बाद ही होता है और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे ही परिवार के कर्ता का पद प्राप्त हो जाता है।

(5) पारिवारिक मामलों तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है। उसे ही इन विषयों में निर्णय लेने का अधिकार है, वह ही परिवार को नियंत्रित तथा संगठित करता है और सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त कार्यों में वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) वह परिवार है जिसमें कि एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों में पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा आदि जन-जातियों में।

परिवार के भेद केवल विवाह-सम्बन्ध के आधार पर ही नहीं, पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर भी किये जा सकते हैं। जैसे—

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार
(Matriarchal or Matrilineal Family)

मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर में जाकर रहने लगता है। इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार इस कारण कहते हैं क्योंकि इसमें पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है। ऐसे परिवारों में बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार को मातृवंशीय परिवार (Matrilineal family) भी कहते हैं। साथ ही, चूंकि ऐसे परिवारों में निवास-स्थान माता या स्त्री का होता है जहां स्त्री के साथ उसके पति और बच्चे निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारों को मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family) कहते हैं।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है[1]

(1) ऐसे परिवार में बच्चों का वंश-परिचय या वंश-नाम माता के परिवार के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिए बच्चे पिता के कुल या वंश के नहीं, अपितु माता के वंश के समझे जाते हैं। संक्षेप में, ऐसे परिवारों में माता के वंश का ही महत्त्व होता है

उसकी बहन का लड़का होता है।

(5) मातृसत्ता का यह अर्थ कदापि नही है कि माता को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं और पुरुष को कुछ भी अधिकार नही होता। वास्तविकता तो यह है कि पुरुष भी सामाजिक, राजनैतिक विषयों मे सम्मानित पद को प्राप्त होते हैं और पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषों का ही होता है।

पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार
(Patriarchal or Patrilineal Family)

चूँकि ऐसे परिवारों मे सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ मे रहता है, इस कारण इन्हें पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family) कहते हैं। पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार मे साधारणतया विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर मे आकर रहती है। ऐसे परिवारों मे वंशनाम पिता के वंश के आधार पर होता है, अर्थात् बच्चे अपने पिता के कुल या वश के नाम को ग्रहण करते हैं। इस कारण ऐसे परिवार पितृ-वंशीय परिवार (Patrilineal family) कहलाते हैं। साथ ही, चूँकि ऐसे परिवार में निवास-स्थान पिता या पति का होता है जहाँ पत्नी और बच्चे अपने पति और पिता के साथ निवास करते हैं, इस कारण ऐसे परिवारों को पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal residence) कहते हैं। उपर्युक्त वर्णन से पितृसत्तात्मक परिवार की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

(1) ऐसे परिवार मे बच्चों का वंश-परिचय पिता के परिवार पर निर्भर होता है। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के समझे जाते हैं, माता के वंश या कुल के नही।

(2) ऐसे परिवार में विवाह के बाद पत्नी को पति के घर में आकर रहना होता है। बच्चे भी वहीं पर रहते हैं।

(3) पितृवंशीय परिवार मे बच्चो का अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नही होता।

(4) सामाजिक और पारिवारिक पद और उपाधियां पुत्र को ही प्राप्त होती हैं। हिन्दू परिवार में तो लड़कों का विशेष महत्त्व होता है और वह इस कारण कि उनकी आवश्यकता पितरों के तर्पण और पिण्डदान आदि के लिए होती है। परिवार के सबसे बड़े पुत्र को यह अधिकार सबसे पहले प्राप्त होता है, इस कारण बड़े लड़के का स्थान पिता के बाद ही होता है और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे ही परिवार के कर्त्ता का पद प्राप्त हो जाता है।

(5) पारिवारिक मामलों तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है। उसे ही इन विषयों मे निर्णय लेने का अधिकार है, वह ही परिवार को नियंत्रित तथा संगठित करता है और सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त कार्यों में वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

वंश-समूह
(Lineage)

जनजातीय सामाजिक जीवन और संगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार वंश-समूह होता है। श्री हॉवल के अनुसार, "वंश-समूह साधारणत: पाँच या छ: पीढ़ियों से अधिक पहले का एक परिचित संस्थापक या सामान्य पूर्वज के उत्तराधिकारियों का एक विस्तृत और एकपक्षीय रक्त-सम्बन्धित समूह है। वह (पूर्वज) एक काल्पनिक या पौराणिक व्यक्ति नहीं बल्कि एक वास्तविक पुरुष होता है।"[1] संक्षेप में, **वंश-समूह एक सामान्य ऐतिहासिक और वास्तविक पूर्वज से सम्बन्धित समस्त रक्त-सम्बन्धी वंशजों का एक समूह होता है।**[2]

वंश-समूह दो प्रकार का हो सकता है—(अ) मातृवंशीय वंश-समूह (Matri-lineal lineage), और (ब) पितृवंशीय वंश-समूह (Patrilineal lineage)। मातृ-वंशीय वंश-समूह के अन्तर्गत स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे आते हैं, भाई या उसके बच्चे वंश के बाहर चले जाते हैं। इसके विपरीत, पितृवंशीय वंश-समूह के अन्तर्गत पुरुष, उसके भाई और उनकी सन्तानें ही आती हैं; इसमें बहन या उनके बच्चे वंश के बाहर चले जाते हैं।

भारतीय जनजातियों में उपरोक्त दोनों प्रकार के वंश-समूह पाये जाते हैं और पारिवारिक संगठन में इसका काफी महत्त्व है। खासी, गारो आदि जनजातियों में मातृ-वंशीय वंश-समूह पाये जाते हैं, जबकि खरिया, भील आदि जनजातियों में पितृवंशीय वंश-समूह। प्रोफेसर रैडक्लिफ-ब्राउन ने अपने अध्ययनों में वंश-समूह के महत्त्व को अति उत्तम रूप में प्रस्तुत किया है। अफ्रीका की कुछ जनजातियों में तो वंश-समूह की व्यवस्था इतनी जटिल है कि उन्हें सरलता से समझा ही नहीं जा सकता।

वैसे तो मातृवंशीय और पितृवंशीय वंश में सामान्य पूर्वज कोई वास्तविक या ऐतिहासिक स्त्री या पुरुष ही होता है, फिर भी कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि अपने समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए पूर्णतया काल्पनिक पूर्वजों के आधार पर भी लोग वंश को विकसित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में काल्पनिक पूर्वज भी धीरे-धीरे वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं और दो-चार पीढ़ियों के बाद उस पूर्वज की यथार्थता या वास्तविकता के सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है। "कतिपय अरब-समूहों में कुछ ऐसे विशेषज्ञ हैं जो उचित पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति का सम्बन्ध

---

1. "A lineage is an extended unilateral kinship group descended from a known ancestor, or founder, who ordinarily lived not more than five or six generations back. He, in the case of the patrilineage or she, in the case of the matrilineage, is a real person and not a mythological or legendary figure" —Hoebel, *Man the Primitive World*, New York, 1958, p. 343.

2. In short, "the lineage is a group of all the blood-related descendants of a common historical and real ancestor,"—R. N. Mukherjee, *op. cit.*, p. 60.

महत्त्वपूर्ण वास्तविक पूर्वजों के साथ सहज ही स्थापित कर देते हैं। श्री वर्गुसोन ने इंगलैंड के एक ऐसे मनोरंजक विज्ञापन का उदाहरण दिया है जिसमें विज्ञापक ने समुचित पारि-श्रमिक की प्राप्ति पर अमेरिकन व्यक्तियों का सम्बन्ध इंगलैंड के बड़े नामों वाले वंशजों से निश्चित कर देने का आश्वासन दिया था।"

गोत्र
(Clan)

जनजातीय सामाजिक संगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र (clan or sib) है। गोत्र को हम कई वंशों का समूह कह सकते हैं जो माता या पिता किसी एक पक्ष के समस्त रक्त-सम्बन्धियों (चाहे यह सम्बन्ध काल्पनिक ही क्यों न हो) से मिलकर बनता है। दूसरे शब्दों में, गोत्र वंश का ही एक विस्तृत रूप होता है। माता या पिता किसी के पक्ष के सभी रक्त-सम्बन्धियों को अगर जोड़ा जाय और अगर इस प्रकार के वंश-समूह में एक ही पूर्वज (वास्तविक या काल्पनिक) की सभी सन्तानें सम्मिलित कर दी जाएँ तो उसे गोत्र कहते हैं। दूसरे शब्दों में कई वंश मिलकर एक गोत्र बनता है।

गोत्र का प्रारम्भ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज (वास्तविक, कल्पित या पौरा-णिक) से होता है। पूर्वज प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उसे उस परिवार का प्रवर्तक या संस्थापक मान लिया जाता है। इसी कारण उसी के नाम से परिवार के सब वंशजों का परिचय दिया जाता है और सब मिलकर एक गोत्र कहलाते हैं। ये वंशज या तो मातृवंशीय वंश-समूहों के होते हैं या पितृवंशीय वंश-समूहों के होते हैं। माता और पिता दोनों पक्ष के वंश-समूहों को मिलाकर गोत्र का निर्माण कभी नहीं होता। दूसरे शब्दों में, गोत्र सदैव एकपक्षीय (unilateral) होता है।

गोत्र की परिभाषा
(Definition of Clan)

एक कमेटी (Committee) ने गोत्र को इस प्रकार परिभाषित किया है—"गोत्र एक जनजाति का एक बहिर्विवाही विभाजन है जिसके सदस्य अपने को कुछ सामान्य बन्धनों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित समझते हैं। इस सम्बन्ध का आधार एक सामान्य पूर्वज के वंशज होने का विश्वास, एक सामान्य टोटम या एक सामान्य भू-भाग में निवास हो सकता है।"[1] सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के शब्दों में, "एक गोत्र अधिकांश रूप से कुछ वंशों का योग होता है और ये अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं जो कि मानव, मानव के समान, पशु, पेड़, पौधा या निर्जीव

---

1. "Clan is an exagamous division of a tribe, the members of which are held to be related to one another by some common ties, it may be belief in descent from a common ancestor, possession of a common totem or habi of a common territory." —(A Commi

वस्तु तक हो सकता है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि **गोत्र एकपक्षीय परिवारों का वह संकलन है जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज के वंशज मानते हैं।**[2]

गोत्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Clan)

उपरोक्त परिभाषाओं से गोत्र की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—(1) गोत्र एक वहिर्विवाही (exogamous) समूह है। चूँकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं, इस कारण वे सब एक-दूसरे के भाई अथवा बहन हुए। इसलिए वे अपने गोत्र के किसी व्यक्ति से विवाह नहीं करते हैं। विवाह अपने से बाहर के गोत्र में होता है। (2) गोत्र का संगठन एक सामान्य पूर्वज की कल्पना पर आधारित होता है। यह पूर्वज वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक या पौराणिक भी। (3) गोत्र की प्रकृति एकपक्षीय होती है—अर्थात् एक गोत्र में या तो माता की ओर के सब परिवारों का संकलन होता है या पिता की ओर के सब परिवार सम्मिलित होते हैं।

गोत्र के प्रकार
(Kinds of Clan)

ऊपर बताये हुए गोत्र की तीसरी विशेषता के अनुसार गोत्र दो प्रकार के हो सकते हैं—

(अ) **मातृवंशीय गोत्र** (Matrilineal Clan)—इनमें एक स्त्री-पूर्वज की जितनी भी सन्तानें होती हैं वे सब इस गोत्र की सदस्य मानी जाती हैं। परिवार की एक स्त्री, उसकी बहनें और उनके बच्चे भी इस गोत्र के सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक स्त्री, उसके बच्चे, उस स्त्री की बहनें और उनके बच्चे और उन बच्चों की लड़कियों के बच्चे सब मातृवंशीय गोत्र में शामिल होते हैं, लेकिन भाइयों के बच्चे इसके अन्तर्गत नहीं आते।

(ब) **पितृवंशीय गोत्र** (Patrilineal Clan)—ऐसे गोत्र में एक पुरुष, उसके भाई, उस पुरुष की सन्तानें और उसके भाइयों की सन्तानें सम्मिलित होती हैं, परन्तु बहनों की सन्तानें ऐसे गोत्र में नहीं आतीं।

---

1. "A sib or clan is often the combination of few lineage and descent may be ultimately traced to a mythical ancestor, who may be human, human like, animal, plant, or even inanimate."—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1957, pp. 113-114.

2. "Clan is that collection of unilateral families, the members of which claim their descent from a common ancestor, real or mythical."—R. N. Mukherjee, *op. cit.*, p. 70.

गोत्र के नाम

(Names of Clan)

गोत्रों के नाम ऋषियों के नाम पर जैसे शांडिल्य, भारद्वाज, काश्यप आदि; टोटम के नाम पर जैसे कुंजम, नागसोरी आदि; उपनाम के आधार पर जैसे कमार, जगत आदि या एक विशिष्ट भू-भाग के आधार पर जैसे महानदिया, जौनपुरिया, सरगुजिया आदि होते हैं।

गोत्र की उत्पत्ति

(Origin of Clan)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गोत्र की उत्पत्ति एक पूर्वज से मानी जाती है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह पूर्वज एक मनुष्य ही हो। अनेक जनजातियाँ किसी पशु, पेड़, पौधा अथवा अन्य वस्तु को भी अपना गोत्र-पूर्वज मान लेती हैं। बहुधा गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक जनजाति या गोत्र-समूह में कोई-न-कोई उपकथा या किवदंतियां प्रचलित रहती हैं। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की डोहोमी (Dohomy) जनजाति में एक गोत्र की उत्पत्ति घोड़े और स्त्री के संसर्ग या शरीर-सम्बन्ध के फलस्वरूप हुई है, और दूसरे एक गोत्र की उत्पत्ति सूअर और स्त्री के संसर्ग से हुई है, ऐसी किवदंतियाँ प्रचलित हैं। उसी प्रकार कमार जनजाति के लोग यह कहते हैं कि उनके कुंजम गोत्र का उद्भव तब सम्भव हुआ जब एक स्त्री ने बकरे के संसर्ग से सन्तान उत्पन्न की। क्रो इण्डियनों (Crow Indians) में तो जनजातीय जीवन की किसी अनोखी घटना को स्मरणीय बनाने के लिए उस घटना के कर्ता या नेता के नाम के आधार पर भी गोत्र का उद्भव हुआ है, ऐसे उदाहरण भी मिलते है। कुछ गोत्रों के नाम उनके सदस्यों की कुछ विशेषताओं पर आधारित होते हैं। कभी-कभी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए एक समूह के लोग अपना नाता किसी विशिष्ट व्यक्ति, ऋषि-मुनि से जोड़ लेते हैं और इस प्रकार के गोत्र का उद्भव होता है।

अतः स्पष्ट है कि गोत्र की उत्पत्ति का कोई एक सामान्य कारण नहीं है। प्रत्येक समाज या समूह या जनजाति में इसकी उत्पत्ति का एक विशिष्ट कारण हो सकता है क्योंकि प्रत्येक समाज की सामाजिक अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। कुछ अति प्राचीन जनजातियों में गोत्र-व्यवस्था नहीं पाई जाती है और ऐसी जनजातियों में अण्डमान प्रायद्वीप की जनजातियाँ तथा दक्षिण भारत की कादर जनजाति के नाम उल्लेखनीय हैं।

गोत्र के विस्तृत स्वरूप

(Extended Forms of Clan)

डाक्टर दुबे के शब्दों में, "संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र बृहत् समूह बना लेते हैं। इसे ही हम भ्रातृदल या गोत्र-समूह (phratry)

दुर्घटनाओं तथा असमर्थता के समय भी गोत्र के लोग गोत्र-सदस्य को सुरक्षा प्रदान करते हैं। फलतः एक गोत्र एक सशक्त संगठित समूह बन जाता है और उसी के रूप में कार्य करता रहता है।

(2) गोत्र अपने सदस्यों के लिए नियम बनाता है और उनके द्वारा उनके व्यवहारों पर नियंत्रण करता है। यह काम भी गोत्र अति सरलता से कर सकता है क्योंकि गोत्र के प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे को घनिष्ठ और वैयक्तिक (personal) रूप से पहचानते हैं और गोत्र का संगठन तथा कार्य-भार गोत्र-परिवारों के बड़े-बूढ़ों के ऊपर होता है। अपने गोत्र के सदस्यों को समूह के नियमों का पालन करना सिखाना और उन्हें ठीक रास्ते पर चलाना इन बड़े-बूढ़े मुखियाओं का एक प्रमुख काम होता है। बार-बार गोत्र के नियमों को तोड़ने पर एक गोत्र-सदस्य को गोत्र से निकाल देने का अधिकार भी इन मुखियाओं को प्राप्त होता है। इस डर से भी लोग गोत्र-नियमों का उल्लंघन नहीं करते हैं।

(3) गोत्र का एक प्रमुख कार्य अपने सदस्यों से बहिर्विवाह-सम्बन्धी नियमों का पालन करवाना होता है। चूँकि एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं, इस कारण वे सब एक-दूसरे को भाई-बहन समझते हैं और परस्पर शादी-विवाह करना बहुत बुरा मानते हैं। इस विचार के आधार पर ही गोत्र के लिए यह सम्भव होता है कि वह विवाह को नियमित करे और गोत्र-सदस्यों को अपने विवाह-साथी दूसरे किसी गोत्र से प्राप्त करने का निर्देश दें।

(4) इसके अतिरिक्त गोत्र शासन-व्यवस्था को बनाये रखने, धर्म से सम्बन्धित कृत्यों को करने तथा गोत्र-सम्पत्ति की देख-रेख करने का भी काम करता है।

इस प्रकार गोत्र जनजातीय सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण आधार है जो कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य अनेक प्रकार की सेवाएँ अपने सदस्यों को प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप जनजातियों की अनेक समस्याओं का एक संगठित हल सम्भव होता है।

SELECTED READINGS

1. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

2. Kapadia, K. M. : *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, 1958.

3. Linton, R. : *The study of Man*, Appleton, New York, 1936.

4 Lowie, R. : *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd , London, 1921.

5. MacIver & Page : *Society*, Macmillan and Co., London, 1959.

6. Prabhu, P. N. : *Hindu Social Organization*, Popular Depot, Bombay, 1954.

11 आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था (Primitive Economic Organization)

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से आदिम लोगों की जीविका-पालन या जीवन-धारण से सम्बन्धित है। जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करना, उनका वितरण तथा उपभोग करना ही उनकी आर्थिक क्रियाओं का आधार और लक्ष्य होता है ; और ये क्रियाएँ एक आदिम समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण, विशेषकर भौगोलिक पर्यावरण के द्वारा बहुत प्रभावित होती हैं। इसीलिए जीवन-धारण या जीवित रहने के साधनों को जुटाने के लिए आदिम लोगों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। आर्थिक जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठिन होने के कारण आर्थिक क्षेत्र में, अन्य क्षेत्रों की भाँति, प्रगति की गति बहुत ही धीमी है। संक्षेप में, आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था एक ओर प्रकृति की शक्तियों और प्राकृतिक साधनों, फल-मूल, पशु-पक्षी, पहाड़ और घाटी, नदियों और जंगलों आदि पर निर्भर है और दूसरी ओर परिवार से घनिष्ठ रूप से संयुक्त है। आदिकालीन मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से अपने उपकरणों का निर्माण करता है और उनकी सहायता से परिवार के सब लोग उदर-पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं। इस परिश्रम का जो कुछ फल उन्हें प्राप्त होता है उससे आर्थिक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक शक्तियों और साधनों के बीच केवल एक संतुलन स्थापित हो पाता है; धन को इकट्ठा करने या उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार प्राप्त करने और उसके बल पर दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने की बात शायद ही कोई सोचता हो। परिवार का आर्थिक स्वार्थ प्रायः सामूहिक स्वार्थ के साथ इतना अधिक घुल-मिल जाता है कि दोनों को पृथक् करना कठिन होता है। परिवार के सदस्यों को भूख से बचाने और उनकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्रायः समुदाय को ही लेना होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन के इन दो पहलुओं या आधारों—परिवार तथा समुदाय—को एक-दूसरे से अधिकाधिक सहयोग करना पड़ता है। इसी दशा में आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था पनपती है, स्थिर रहती है और जीवित रहने के साधनों को जुटाकर मानव के अस्तित्व को सम्भव करती है।

अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा
(Definition of Economic Organization)

सामाजिक मानव अपने अस्तित्व के लिए कुछ-न-कुछ आर्थिक आवश्यकताओं का अनुभव करता है। इन आवश्यकताओं में सबसे आधारभूत आवश्यकता भोजन, वस्त्र

इकट्ठा करना पड़ता है। अगर भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, तो उन्हें भोजन सरलता से मिल जाता है, पर यदि प्रतिकूल है तो आदिम मानव के सामने कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है, इसके सिवा कि प्रकृति जितना भी देती है या जिस रूप मे देती है उतना और उसी रूप मे जीवन-यापन के साधनों को प्राप्त करें। चूँकि ऐसे समाजों में जीवित रहने के ये साधन (शिकार, फल-मूल, शाक-पात आदि) अत्यधिक सीमित मात्रा मे उपलब्ध तथा कठिनता से प्राप्त होते हैं इस कारण यहाँ जीवित रहने के लिए संघर्ष भी उग्र और भयंकर होता है। इन समाजो मे दुर्बलो तथा अक्षमो के लिए जीवित रहना प्राय असम्भव-सा होता है। इन सब कारणो से जनसंख्या भी अत्यधिक सीमित होती है। ऐसे समाजो मे आर्थिक जीवन की एक-एक इकाई का आकार बहुत छोटा होता है और उनकी सदस्य-संख्या 40 से लेकर 70 के बीच तक होती है। ये सदस्य प्राय: आपस मे रक्त-सम्बन्धी होते हैं, यद्यपि रहते अलग-अलग परिवार में ही हैं। आर्थिक जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए, अर्थात् जीवित रहने के लिए, प्रकृति से मोर्चा लेने के लिए इनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे सब आर्थिक क्रियाओ के विषय मे सहयोग करें। इस सहयोगी व्यवस्था मे परिवार के ही नही, समुदाय के पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि हाथ बंटाते है। स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर आर्थिक श्रम-विभाजन होता है। तरुणो तथा व्यस्क पुरुषों के दल घर से बाहर जगलों मे शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, जबकि स्त्रियो के दल जगलो के कन्द-मूल, फल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करते, भोजन पकाते तथा बच्चों की देख-रेख करते है। भोजन इकट्ठा करने का यह तरीका व स्थान ऋतु-परिवर्तन [illegible] साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है क्योंकि प्रत्येक ऋतु में एक ही स्थान मे फल-मूल [illegible]दि प्राप्त नही होता है। इस कारण इन लोगों को प्राय· प्रत्येक ऋतु में ही स्थान बद-[illegible] पड़ता है। सामुदायिक आधार पर जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है उसे [illegible]रिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट दिया जाता है। परन्तु इसका यह [illegible] नहीं है कि व्यक्तिगत या पारिवारिक आधार पर कोई आर्थिक क्रिया होती [illegible] दैनिक जीवन की अधिकतर आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति व्यक्तिगत [illegible] ही होती है। परन्तु जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है, उसमे से [illegible]िक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद विनिमय के लिए शेष नही रहता। [illegible]म्पत्ति की धारणा बिल्कुल ही नही मिलती है। फल-मूल, शाक-पात, [illegible]ने, शिकार करने तथा मछली मारने के क्षेत्र व्यक्ति अथवा परि-[illegible] सामूहिक सम्पत्ति समझे जाते हैं और उस पर सभी परिवारो [illegible] आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होने के कारण [illegible]) और न ही श्रम-विभाजन की आवश्यकता होती [illegible]rivate property) की धारणा न होने के कारण धन [illegible] वर्ग-व्यवस्था का अस्तित्व नही मिलता है। इस [illegible] और चेंचू, लंका के वेद्दा, आस्ट्रेलिया के अधिकांश [illegible] प्रायद्वीपों के पिग्मी समूह, अण्डमान द्वीप के आदि [illegible] के आदिम समाजों में पाये जाते हैं।

11 आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था
(Primitive Economic Organization)

आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से आदिम लोगों की जीविका-पालन या जीवन-धारण से सम्बन्धित है। जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करना, उनका वितरण तथा उपभोग करना ही उनकी आर्थिक क्रियाओं का आधार और लक्ष्य होता है ; और ये क्रियाएँ एक आदिम समाज के सम्पूर्ण पर्यावरण, विशेषकर भौगोलिक पर्यावरण के द्वारा बहुत प्रभावित होती हैं। इसीलिए जीवन-धारण या जीवित रहने के साधनों को जुटाने के लिए आदिम लोगों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। आर्थिक जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठिन होने के कारण आर्थिक क्षेत्र में, अन्य क्षेत्रों की भाँति, प्रगति की गति बहुत ही धीमी है। संक्षेप में, आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था एक ओर प्रकृति की शक्तियों और प्राकृतिक साधनों, फल-मूल, पशु-पक्षी, पहाड़ और घाटी, नदियों और जंगलों आदि पर निर्भर है और दूसरी ओर परिवार से घनिष्ठ रूप से संयुक्त है। आदिकालीन मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से अपने उपकरणों का निर्माण करता है और उनकी सहायता से परिवार के सब लोग उदर-पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं। इस परिश्रम का जो कुछ फल उन्हें प्राप्त होता है उससे आर्थिक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक शक्तियों और साधनों के बीच केवल एक संतुलन स्थापित हो पाता है; धन को इकट्ठा करने या उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार प्राप्त करने और उसके बल पर दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने की बात शायद ही कोई सोचता हो। परिवार का आर्थिक स्वार्थ प्राय: सामूहिक स्वार्थ के साथ इतना अधिक घुल-मिल जाता है कि दोनों को पृथक् करना कठिन होता है। परिवार के सदस्यों को भूख से बचाने और उनकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्राय: समुदाय को ही लेना होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन के इन दो पहलुओं या आधारों—परिवार तथा समुदाय—को एक-दूसरे से अधिकाधिक सहयोग करना पड़ता है। इसी दशा में आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था पनपती है, स्थिर रहती है और जीवित रहने के साधनों को जुटाकर मानव के अस्तित्व को सम्भव

की परिभाषा
f Economic Organization)

...न मानव अपने अस्तित्व के लिए कुछ-न-कुछ आर्थिक आवश्यकताओं को ... है। इन आवश्यकताओं में सबसे आधारभूत आवश्यकता भोजन, वस्त्र

तथा निवास है। इनमे भी सर्वप्रमुख भोजन है जिसके बिना मनुष्य का अस्तित्व सम्भव नहीं, और मनुष्य के अस्तित्व के बिना समाज के अस्तित्व का सपना देखना भी मूर्खता है। अतः स्पष्ट है कि मानव को अपने तथा समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के हेतु अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जबकि लोग कुछ-न-कुछ संगठित रूप मे इस दिशा मे क्रियाशील हों। आर्थिक क्रियाओं के इस सगठन को ही अर्थ-व्यवस्था कहते है। सर्वश्री मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने लिखा है कि "जीवन की दिन-प्रतिदिन की अधिकाधिक आवश्यकताओं को कम-से-कम परिश्रम से पूरा करने के हेतु मानव-सम्बन्धी तथा मानव-प्रयत्नों को नियमित व संगठित करना ही अर्थ-व्यवस्था है। यह एक व्यवस्थित तरीके से सीमित साधनों द्वारा असीमित साध्यों (आवश्यकताओं) की अधिकतम सन्तुष्टि का प्रयत्न है।"[1] श्री रुथ बुनजेल (Ruth Bunzel) ने अर्थ-व्यवस्था को अति संक्षेप मे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "शारीरिक अस्तित्व की समस्याओं से सम्बन्धित व्यवहार के सम्पूर्ण संगठन को अर्थ-व्यवस्था कहते हैं।"[2] श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार, आर्थिक व्यवस्था, जिसका कि उद्देश्य लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है, उत्पादन को सगठित करने, वितरण को नियन्त्रित करने तथा समुदाय मे स्वामित्व व अधिकारों और मांगों को निर्धारित करने के लिए होती है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "अर्थ-व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज या एक समूह के एक विशिष्ट प्राकृतिक पर्यावरण, प्रौद्योगिकीय स्तर और सास्कृतिक परिस्थितियों की सीमाओं के अन्दर भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए किये गए समस्त कार्यों का समावेश होता है।"[4] यह परिभाषा सामान्य रूप से प्रत्येक प्रकार के समाज, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, की अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या करती है, क्योंकि प्रत्येक समाज को ही अपनी अर्थ-व्यवस्था को कुछ सीमाओं के अन्दर ही सगठित करना होता है और इन्हीं सीमाओं

---

1. "Economic organization consists of the ordering and organization of human relations and human efforts in order to procure as many of the necessities of day-to-day life as possible with the expenditure of minimum effort. It is the attempt to secure the maximum satisfaction possible through adapting limited means to unlimited ends (needs) in an organized manner."—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Bombay, 1956, p. 188.

2. "Economics,...is the total organization of behaviour with reference to the problems of physical survival."—Ruth Bunzel, *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York, 1938, p. 327.

3. "Economic system, designed to satisfy the material wants of the people [illegible] the rights [illegible] *An Intro-*

[illegible] s whole of the activities for the satisfaction of material needs within the specific limits of natural environment, technological level and cultural situation of a society or of a group."—R.N. Mukherjee, *op. cit.*, p. 55.

के कारण ही प्रत्येक समाज की अर्थ-व्यवस्था में कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य दिखायी देती है। यह सच है कि सभ्यता या विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आधुनिक समाजों में अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त सीमाएँ, विशेषकर भौगोलिक सीमाएँ, आज बहुत-कुछ दुर्बल हो गई हैं, फिर भी उनसे पूर्णतया छुटकारा आज भी आधुनिक समाजों तक की अर्थ-व्यवस्था को नहीं मिल पाया है। कुछ वैज्ञानिकों का दावा है कि आज सहारा रेगिस्तान में भी एक औद्योगिक शहर की स्थापना सम्भव है, परन्तु केवल अत्यधिक खर्चे के डर से ऐसा करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया जाता। कारण कुछ भी हो, पर इस विषय में भी भौगोलिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित सीमा स्पष्ट ही है। उसी प्रकार वह समाज जो कि औद्योगिकीय (technological) विषय में पिछड़ा हुआ है, अपनी अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत स्तर पर नहीं ला सकता है। जहाँ तक आदिम समाजों का प्रश्न है, तो उनके विषय में एक सत्य यह है कि आदिम मनुष्यों के आर्थिक जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है। उनके घर, पोशाक, औजार, व्यवस्था तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं के स्वरूप और प्रकृति उस क्षेत्र में उपलब्ध सीमित साधनों के अनुसार ही निश्चित और नियंत्रित होती है। प्रौद्योगिकीय पिछड़ा या वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में उनके लिए प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावों से छुटकारा पाना असम्भव ही है।

आर्थिक विकास के प्रमुख स्तर
(Main Stages of Economic Development)

भोजन प्राप्त करने तथा अपनी अन्य आर्थिक आवश्यकता की संतुष्टि के लिए की जाने वाली क्रियाओं के आधार पर आर्थिक संगठन के चार प्रमुख स्तर आदिम समाजों में मिलते हैं—

(1) **शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने का स्तर** (Hunting and food gathering stage)—यह मानव-जीवन के आर्थिक पहलू का प्राथमिक व प्रारम्भिक स्तर है। इस स्तर में आर्थिक संगठन न केवल अव्यवस्थित है, बल्कि अस्पष्ट और अनिश्चित भी। इसका सर्वप्रथम कारण यह है कि इस स्तर में 'मानव भोजन का उत्पादन नहीं, संकलन करता है।' इस स्तर में मानव-जीवन सम्पूर्णतया प्रकृति की गोद में पलने वाला होता है। मानव जंगलों में अपना जीवन बिताता है और उदर-पूर्ति करके किसी प्रकार जीवित रहना ही उसके लिए पर्याप्त होता है। उदर-पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने का कोई भी ज्ञान मानव को नहीं होता, इसलिए उदर-पूर्ति शिकार करके और फल, कन्द-मूल और शहद इकट्ठा करके की जाती है। परन्तु जीवित रहने के ये साधन अत्यधिक कठिनता से प्राप्त होते हैं। पशुओं का शिकार करने, मछली पकड़ने या कन्द-मूल, फल, शाक-पात आदि के संकलन के लिए लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकना पड़ता है क्योंकि शिकार और फल-मूल का एक स्थान से सदैव प्राप्त होना असम्भव है। फलतः सामाजिक और आर्थिक [illegible] अनिश्चित, अस्थिर व घुमन्तू होता है। पूर्णतया भौगोलिक तथा प्राकृ[illegible] निर्भर रहते हुए इन लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-घूम[illegible] के लिए भोजन को

इकट्ठा करना पड़ता है। अगर भौगोलिक परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, तो उन्हें भोजन सरलता से मिल जाता है, पर यदि प्रतिकूल हैं तो आदिम मानव के सामने कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है, इसके सिवा कि प्रकृति जितना भी देती है या जिस रूप में देती है उतना और उसी रूप में जीवन-यापन के साधनों को प्राप्त करें। चूँकि ऐसे समाजों में जीवित रहने के ये साधन (शिकार, फल-मूल, शाक-पात आदि) अत्यधिक सीमित मात्रा में उपलब्ध तथा कठिनता से प्राप्त होते हैं इस कारण यहाँ जीवित रहने के लिए संघर्ष भी उग्र और भयंकर होता है। इन समाजों में दुर्बलों तथा अक्षमों के लिए जीवित रहना प्रायः असम्भव-सा होता है। इन सब कारणों से जनसंख्या भी अत्यधिक सीमित होती है। ऐसे समाजों में आर्थिक जीवन की एक-एक इकाई का आकार बहुत छोटा होता है और उनकी सदस्य-संख्या 40 से लेकर 70 के बीच तक होती है। ये सदस्य प्रायः आपस में रक्त-सम्बन्धी होते हैं, यद्यपि रहते अलग-अलग परिवार में ही हैं। आर्थिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए, अर्थात् जीवित रहने के लिए, प्रकृति से मोर्चा लेने के लिए इनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे सब आर्थिक क्रियाओं के विषय में सहयोग करें। इस सहयोगी व्यवस्था में परिवार के ही नहीं, समुदाय के पुरुष, स्त्री, बच्चे आदि हाथ बटाते हैं। स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर आर्थिक श्रम-विभाजन होता है। तरुणों तथा वयस्क पुरुषों के दल घर से बाहर जंगलों में शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, जबकि स्त्रियों के दल जंगलों के कन्द-मूल, फल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करते, भोजन पकाते तथा बच्चों की देख-रेख करते हैं। भोजन इकट्ठा करने का यह तरीका व स्थान ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है क्योंकि प्रत्येक ऋतु में एक ही स्थान में फल-मूल आदि प्राप्त नहीं होता है। इस कारण इन लोगों को प्रायः प्रत्येक ऋतु में ही स्थान बदलना पड़ता है। सामुदायिक आधार पर जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है उसे प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट दिया जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्तिगत या पारिवारिक आधार पर कोई आर्थिक क्रिया होती ही नहीं है। दैनिक जीवन की अधिकतर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा ही होती है। परन्तु जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी होती है, उसमें से कुछ भी भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। साथ ही, व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा बिल्कुल ही नहीं मिलती है। फल-मूल, शाक-पात, शहद आदि इकट्ठा करने, शिकार करने तथा मछली मारने के क्षेत्र व्यक्ति अथवा परिवार की सम्पत्ति नहीं बल्कि सामूहिक सम्पत्ति समझे जाते हैं और उस पर सभी परिवारों का समान अधिकार होता है। आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होने के कारण न तो विशेषीकरण (specialization) और न ही श्रम-विभाजन की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति (private property) की धारणा न होने के कारण धन और सम्पत्ति के आधार पर वर्ग-भेद या वर्ग-व्यवस्था का अस्तित्व नहीं मिलता है। इस स्तर के आर्थिक संगठन भारत के कादर और चेंचू, लंका के वेड्डा, आस्ट्रेलिया के अधिकांश आदिवासी, फिलीपाइन और मलाया प्रायद्वीपों के पिग्मी समूह, अण्डमान द्वीप के आदिवासी तथा अफ्रीका के बुशमेन आदि के आदिम समाजों में पाये जाते हैं।

शिकार करने तथा भोजन इकट्ठा करने से स्तर पर कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनमें सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित भोजन का कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रहता है। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिम केलिफोर्निया के तटीय भाग में रहने वाली इण्डियन जनजातियों से अलास्का तक की कुछ जनजातियों में इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। ये लोग जो कुछ भी खाद्य सामग्री इकट्ठी करते हैं उसमें से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में रख लेने के पश्चात् जो कुछ बच जाता है उसे आस-पास के जनजातीय समूहों को दे देते हैं और उसके बदले में कुछ दूसरी चीज प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का विनिमय-कार्य समुदाय के नेता के द्वारा होता है जो अपनी देख-रेख में आस-पास के गांव में खाद्य सामग्री ले जाकर व्यापार करता है। इस कार्य के लिए समुदाय उसे संकलित खाद्य का कुछ विशेष भाग देता है। इस दृष्टिकोण से इन समाजों में आर्थिक क्षेत्र में कुछ विशेषीकरण और श्रम-विभाजन देखने में आता है।

शिकार करने और फल-मूल इकट्ठा करने के इस स्तर में भी लोगों को कुछ-न-कुछ यन्त्रों तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन यन्त्रों तथा उपकरणों को लोग स्वयं ही बना लेते हैं अर्थात् इनके निर्माण के लिए कोई विशेष व्यक्ति या समिति नहीं होती है। इन यन्त्रों और उपकरणों में सबसे अधिक प्रयोग में आने वाली चार चीजें हैं—धनुष-बाण, भाला, जाल और फंदा। इनका प्रयोग विशेष रूप से पशुओं का शिकार करने और मछली पकड़ने में होता है। परन्तु इन चारों चीजों की बनावट में अत्यधिक भिन्नता संसार के विविध जनजातीय समाजों में देखने को मिलती है।

आज कोई भी आदिम समाज ऐसा नहीं है जो कि केवल मात्र कन्द-मूल, फल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करके ही जीविका-पालन करता हो। सभी जनजातियों के पास मछली मारने तथा पशुओं का शिकार करने के लिए पर्याप्त अस्त्र तथा उपकरण होते हैं। शिकार करने तथा फल-मूल इकट्ठा करने वाले समाजों का आर्थिक संगठन अत्यधिक अस्थिर तथा अनिश्चित होता है। ऐसे समाजों की अन्य विशेपताएँ, सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के अनुसार निम्नलिखित हैं[1]—

(क) भोजन इकट्ठा करने वाले समाजों में जनसंख्या का घनत्व साधारणतया बहुत कम होता है। इस नियम का व्यतिक्रम (exception) केवल कुछ ऐसे समाजों में होता है जो कि अत्यधिक अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण में रहते हैं जैसे कि उत्तरी पैसि-फिक तट या अमेरिका के बड़े मैदान में रहने वाले जनजातीय समाज।

(ख) इस प्रकार के समाज प्रायः अन्य समाजों से पृथक् रहकर जीवन व्यतीत करते हैं और अक्सर स्थान परिवर्तन करते रहते हैं। इनका आर्थिक संगठन खानाबदोशी (nomadic) होता है।

(ग) इस प्रकार का समाज आत्म-निर्भर (self-sufficient) परिवारों का

Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co. ...rk, 1959, p. 331.

संगमन होता है। ये परिवार आपस में रक्त-सम्बन्धी होते हैं।

(घ) ऐसे समाज आज सुदूर प्रदेशों में या गहन जंगलों के भीतर पाये जाते हैं। इसलिए इनके सांस्कृतिक प्रतिमान पर दूसरे समाजों का प्रभाव न के बराबर है जिसके फलस्वरूप इनकी संस्कृतियों की मूल विशेषताएँ आज भी उसी रूप में या बहुत कम परिवर्तित अवस्था में पाई जाती हैं।

(2) पशुपालन या चरागाह का स्तर (Pastoral stage)—उपरोक्त स्थिति से पशुपालन के स्तर में आदिम समाजों ने तब कदम रखा जब मानव ने यह अनुभव किया कि पशुओं को मारने के बजाय अगर उन्हें पाला जाय तो उनसे जीवित रहने के अधिक साधन प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि उन पशुओं से उनके बच्चे भी प्राप्त होंगे और साथ ही दूध भी। इससे मानव का आर्थिक जीवन प्रथम स्तर की तुलना में अधिक निश्चित और स्थिर हुआ, क्योंकि पशुओं को लेकर रोज स्थान परिवर्तन करना कष्टकर होता है। इसलिए एक स्थान पर जब तक उन पालतू पशुओं के खाने-पीने की चीजें अर्थात् चरागाह मिल जाते हैं, तब तक स्थान परिवर्तन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। परन्तु घास आदि समाप्त हो जाने पर दूसरी चरागाह की खोज में वे दूसरी जगह चले जाते हैं।

संसार में शायद ही कोई ऐसा समाज है जहाँ कि पशुपालन का काम नहीं होता है। प्रत्येक समाज किसी-न-किसी रूप में पशुओं को पालता है। प्रारम्भिक स्तर में इन पशुओं को मारकर उनके मांस को खाने के काम में, खाल को पहनने के काम में और हड्डियों को नाना प्रकार के आभूषण तथा अस्त्र बनाने के काम में लाया जाता है। टुण्ड्रा प्रदेश बारहों महीने बर्फ से ढँका रहता है, फिर भी प्रकृति ने वहाँ के लोगों को समूर वाले जानवर, जैसे सफेद भालू, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, मस्कबैल, रेनडियर आदि प्रदान किये हैं। वहाँ के लोग इन पशुओं की खाल के वस्त्र पहनते हैं। वे समूर के दस्ताने और लम्बे जूते, जिनमें भीतर समूर लगी होती है, पहनते हैं। उसी प्रकार संसार में ऐसे अनेक आदिम समाज हैं जिनमें कि पशुओं को पालने का एक प्रमुख उद्देश्य उनके दूध को या दूध से बनी अन्य चीजों को भोजन के एक उत्तम साधन के रूप में प्राप्त करना होता है। साथ ही, ऐसे भी जनजातीय समाज हैं जिनमें लोग कृषि के काम में पशुओं को व्यवहार में लाने के लिए उन्हें पालते हैं। श्री फोर्ड (C. D. Forde) ने पशुओं को छः उपयोगिताओं का उल्लेख किया है—(1) पशुओं के मांस को भोजन के रूप में व्यवहार करना, (2) खालों का प्रयोग, (3) उनके बाल या ऊन का प्रयोग, (4) दूध और दूध से बनने वाली वस्तुओं का प्रयोग, (5) बोझा ढोने और गाड़ी खींचने का काम, और (6) सवारी का काम।[1] परन्तु कौनसा समाज किन पशुओं को पालेगा, यह बहुत-कुछ उस समाज की स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न समाजों में पालतू पशुओं में काफी भिन्नता पाई जाती है। कुत्ता मनुष्य का बहुत पुराना साथी है।[2] इनसे

1. C. D Forde, *Habitat, Economy and Society*, New York, 1937, p. 401.
2. M. F. Ashley-Montagu, 'On the Origin of the Domestication of the Dog., *Science*, Vol. 96, 1942, p. 111-112.

अधिकांश समाज पहरेदारी का काम लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जिनमें कुत्तों के मांस को खाया भी जाता है। संसार में कुछ आदिम समाज ऐसे भी हैं जो कि अपनी जीविका-पालन के हेतु सम्पूर्ण रूप से पशुपालन पर ही निर्भर करते हैं। परन्तु ऐसे समाजों की संख्या वहुत अधिक नहीं है।

चूंकि पशुओं को पालने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस वात की है कि उनके खाने के लिए घास-पात उपलब्ध हो, इस कारण पशुओं को पालने वाले समूह उन्हीं प्रदेशों में अधिक पाये जाते हैं जहाँ कि चरागाह या घास-पात पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। इसीलिए ऐसे समूह एक स्थान पर कितने दिन रहेंगे, यह सम्पूर्णतया इस वात पर निर्भर करता है कि उस स्थान पर उनके पशुओं के खाने के लिए घास-पात कव तक मिलता रहता है। रेगिस्तानी प्रदेशों में भी कुछ ऐसे समूह पाये जाते हैं जो कि अपनी जीविका के लिए सम्पूर्णतः पशुओं पर निर्भर रहते हैं। उत्तरी अरव की वेडोउइन (Bedouin) जनजाति इसी प्रकार की है। इसकी जीविका-उपार्जन का सवसे महत्त्वपूर्ण साधन ऊँट है। इस जनजाति के लोग अपने ऊँटों को लेकर चरागाह की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूम-फिरकर जीवन विताते हैं। वर्फीले प्रदेशों की जनजातियाँ भी पशु पालती हैं। एस्कीमो जनजाति रेनडियर आदि पशुओं का पालन करती है। उसी प्रकार अन्य जनजातीय समूहों में कुत्ता, गाय, वैल, भैंस, वकरी, भेड़, घोड़ा आदि जानवरों को पालते हैं।

इस स्तर में आर्थिक क्रियाओं के सम्वन्ध में प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भरता प्रायः प्रथम स्तर जैसी ही वनी रही। इसीलिए ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ लोगों को चरागाहों की खोज में एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ता है। फिर भी आर्थिक जीवन उतना अस्थिर और अनिश्चित नहीं होता है जितना कि प्रथम स्तर में। पशुओं में कोई रोग महामारी के रूप में फैल जाने पर तथा एकाएक अधिक संख्या में पशुओं के मर जाने पर वहुधा पशुपालक समूहों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है और भूखों मरने की नौवत आ जाती है। परन्तु पशुओं के रोगों की चिकित्सा करने का कुछ-न-कुछ ज्ञान उन लोगों को अवश्य ही होता है। वे पशुओं का इलाज जड़ी-वूटी और झाड़-फूंक की सहायता से करते हैं। इस विषय में सम्पूर्ण समुदाय प्रत्येक परिवार की मदद करने के लिए सदैव तैयार रहता है। कुछ समाजों में तो इन पशुओं पर पूरे समूह का अधिकार होता है।

(3) **कृषि-स्तर (Agricultural stage)**—इस स्तर का प्रारम्भ तव होता है जव मानव को वीज वोने और पौधे उगाने की कला आ गई। फलों का वाग लगाने या खेती करने की इस क्षमता ने आर्थिक जीवन को पहले से अधिक स्थिर वनाया। यद्यपि जनजातियों के लिए वगीचा लगाकर फल उत्पन्न करना अथवा खेती द्वारा अनाज प्राप्त ।। भी प्राकृतिक दशाओं पर अत्यधिक निर्भर और इस कारण अनिश्चित है, फिर भी । अनिश्चित नहीं जितना कि शिकार पाना। संक्षेप में, इस स्तर में शिकार करने व [illegible] इकट्ठा करने तथा पशुपालन की स्थिति से भोजन अधिक नियमित रूप से प्राप्त [illegible] फलों का वाग लगाना या खेती करना एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जो

कि स्वभावतः ही मनुष्य को जमीन से बाँध देती है। इसका आशय यह है कि इस स्तर में मनुष्यों को एक स्थान पर घर बसाकर स्थायी रूप से आर्थिक क्रियाओं को करने का अवसर प्राप्त हुआ। भोजन की पूर्ति (supply) बढ़ी और उसके साथ-साथ जनसंख्या भी। इनसे आर्थिक अन्तःक्रियाओं का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ और विभिन्न समाजों के बीच आर्थिक सम्बन्ध पनपा।

डा० दुबे के अनुसार भोजन देने वाले वृक्षों का आरोपण मानव ने सम्भवतः सबसे पहले इथियोपिया से उत्तर भारत तक की पर्वतीय घाटियों में, दक्षिण-पूर्व एशिया में और मेक्सिको से चिली तक की उच्च भूमि में किया। पौधों को लगाने के काम में जिन औजारों या उपकरणों को काम में लाया जाता है उनमें कुदाल (digging stick) सबसे प्रमुख और प्राचीन है क्योंकि कालान्तर में आविष्कृत हो (hoe) या फावड़ा (spade) इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित नहीं हुए। साथ ही, प्रत्येक प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रत्येक प्रकार के फल के पेड़-पौधों को उगाने के लिए अनुकूल न होने के कारण प्रत्येक प्रदेश में अलग-अलग तरह के फल के बाग लगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन स्थानों में जहाँ कि भूमि अत्यधिक उर्वर है, फल के बाग अधिक लगाये जाते हैं क्योंकि खाद या अन्य उर्वरक को व्यवहार में लाने के सम्बन्ध में आदिम समाजों के लोगों को कोई भी ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए जैसे ही एक भूमि-खण्ड की उर्वरता दो-चार साल की फसल के बाद समाप्त हो जाती है वैसे ही उन्हें बाग के स्थान को भी बदलना पड़ता है। केला, नारियल, ब्रेड फ्रूट और नाना प्रकार के कन्द मूल आदि का बगीचा सबसे पहले मनुष्य ने लगाया था; पर धीरे-धीरे अन्य प्रकार के फल और भोजन देने वाले वृक्षों को लगाया जाने लगा।

अनाजों को उत्पन्न करने के लिए कृषि का काम सर्वप्रथम कब और कहाँ प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है; फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कृषि का प्रारम्भ तब हुआ होगा जबकि मनुष्य को बीज बोने और पौधा उगाने की कला का ज्ञान हुआ था। यह ज्ञान सर्वप्रथम स्त्रियों को ही हुआ था क्योंकि पुरुष दल तो जंगल में शिकार करने या मछली मारने के लिए एक जगह से दूसरी जगह भटकता फिरता था, जब कि स्त्रियाँ घर पर अर्थात् एक जगह पर ही रहकर फल-मूल आदि इकट्ठा करती थीं। इसलिए स्त्रियों की निगाहों में यह पड़ना सम्भव था कि एक गुठली या बीज से फिर पौधा उग सकता है।[1] यही कारण है कि आदिम समाजों में कृषि-कार्य में स्त्रियाँ विशेष निपुण होती हैं और इस कार्य में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण होता है।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि कृषि का काम सर्वप्रथम मिस्र (Egypt) में प्रारम्भ किया गया था। परन्तु आज इससे कोई सहमत नहीं है। आज के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृषि का काम संसार के एकाधिक भागों में एकसाथ प्रारम्भ किया गया था। पर हाँ, कुछ विशेष भौगोलिक क्षेत्रों में विशेष प्रकार के अनाज को विशेष रूप से उत्पन्न किया जाता है जो कि उस क्षेत्र में पाई जाने वाली

1. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 345.

भौगोलिक परिस्थिति—जलवायु, वर्षा—आदि से सम्बन्धित है चूँकि एक क्षेत्र-विशेष में एक विशिष्ट प्रकार की जलवायु, वर्षा आदि उपलब्ध हैं और चूँकि इन्हें परिवर्तित करने या इनपर नियन्त्रण पाने की कोई कला आदिम लोगों को नहीं आती है, इस कारण उस भौगोलिक परिस्थिति में जो अनाज सरलता से उगाया जा सकता है, उन्हीं की खेती उस क्षेत्र में की जाती है। पुरानी दुनिया (Old World) को इस प्रकार के पांच विशिष्ट क्षेत्रों में बांटा जा सकता है जो निम्नवत् है[1] —

(1) दक्षिण-पश्चिम एशिया (अर्थात् उत्तर-पश्चिम भारत, अफगानिस्तान, ईरान, ट्रांसकाकेशिया और पूर्वी व मध्य आनाटोलिया) नरम गेहूँ, राई, मटर, मसूर की दाल आदि का 'घर' है। इन क्षेत्रों की जलवायु इन अनाजों के उत्पन्न होने के अनुकूल है।

(2) भूमध्य सागरीय क्षेत्र में जैतून, अंजीर आदि की उपज पहले आरम्भ हुई थी।

(3) इथियोपिया गेहूं, जौ तथा बड़े आकार के मटर का 'घर' है।

(4) पर्वती चीन तथा आसपास के क्षेत्र सोयाबीन, बाजरा आदि के, आदि स्थान हैं।

(5) मध्य तथा दक्षिण भारत, बर्मा, इण्डोचीन चावल, गन्ना तथा कपास का 'घर' है।

आदिम समाजों में खेती करने के तरीके बहुत अविकसित हैं। इसका प्रमुख कारण खेती के लिए आवश्यक औजारों या उपकरणों की कमी, खाद या उर्वरक के विषय में ज्ञान का अभाव तथा बीजों को बोने का सही तरीका मालूम न होना है। अनेक जनजातियाँ अति आदिम ढंग से खेती करती हैं जिसे कि स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) कहते हैं। इस प्रकार की खेती में जंगल के पेड़ों को काटकर उन्हें एक स्थान पर एकत्र करके जला दिया जाता है और फिर राख, सारे स्थान पर, जहाँ खेती करनी हो, बिछा दी जाती है और इसमें बीज बो दिये जाते हैं। जब दो-एक वर्ष के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है तो स्थान परिवर्तन करके दूसरे स्थान पर इसी प्रकार से खेती की जाती है। इस कारण इसे स्थानान्तरित खेती कहते हैं। इस प्रकार की खेती से केवल कुछ मोटा अनाज जैसे जौ, बाजरा, मटर, चना आदि ही उत्पन्न हो पाता है। कुल उत्पादन भी बहुत कम होता है और जो कुछ अनाज पैदा होता है उसका कोई भी भाग, सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद, विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। इन समाजों में प्राय: खेती का काम सामूहिक आधार पर होता है ऐसी स्थिति में खेत किसी विशेष परिवार का न होकर, पूरे समूह का होता है और उस पर उस समूह के प्रत्येक परिवार के सभी सक्षम व्यक्ति काम करते हैं और जो कुछ भी उपज होती है उसे मुखिया प्रत्येक परिवार को उनकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देता है। जिन समाजों में यह व्यवस्था नहीं है, वहाँ भी फसल काटने या एकत्रित करने के लिए कभी-कभी संगठित दल सामूहिक रूप से काम करते हैं। युवागृह के सदस्य भी ऐसे कामों में हाथ

1. *Ibid.*, p. 346.

बँटाने आ जाते हैं।

अनेक ऐसे जनजातीय समाज भी हैं जहाँ कि स्थायी तरीके से एक ही जमीन पर खेती होती है और वे अपने खेत का स्थान नहीं बदलते। इन समाजों में खेती करने का तरीका थोड़ा-सा उन्नत है और इसीलिए कुछ अधिक अनाज उत्पन्न हो जाता है। फलतः सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी उत्पन्न अनाज का कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रह जाता है। इसे वे आस-पास के समुदाय में जाकर विनिमय के माध्यम से दूसरों को देकर उसके बदले मे अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को ले आते हैं।

सरल कृषि-व्यवस्था पॉलीनेशिया, मेलानेशिया, मलय-एशिया, भारत आदि देशों के जनजातीय समाजों में पाई जाती है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पारिवारिक या सामूहिक आधार पर आयोजित होती है, यद्यपि स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर किसी-न-किसी प्रकार का आर्थिक श्रम-विभाजन अवश्य ही मिलता है। वेतन देकर बाहरी श्रमिकों को काम पर लगाने की प्रथा नहीं पाई जाती।

(4) औद्योगिक स्तर (Technological stage)—कोई भी आदिम समाज पूर्णतया औद्योगिक स्तर तक नहीं पहुंच पाया है। आदिम समाज तो क्या कोई भी समाज केवल उद्योग पर ही निर्भर है, यह सोचना गलत है। उद्योग के साथ-साथ कृषि कार्य भी प्रायः समस्त प्रगतिशील देशों में ही होता है। आदिम समाजों में सामान्य उद्योग या दस्तकारी देखने को मिलती है और वह भी खेती आदि के साथ-साथ। प्रायः देखा जाता है कि अनेक जनजातीय समाजों में वहाँ के लोगों की आर्थिक क्रियाओं में पशुपालन और खेती के साथ टोकरी बनाना, सूत कातना तथा बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, दरी बनाना, कपड़े बुनना, बेंत का काम करना, लोहे के औजार बनाना, मिट्टी और धातुओं के बर्तन बनाना आदि भी सम्मिलित हैं।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
(The Nature and the Characteristics of Primitive Economies)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि आदिम समाजों में जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठोर है क्योंकि जीवित रहने के साधन बहुत कठिनता से प्राप्त होते हैं। इस अर्थ में आदिम अर्थ-व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि आदिम लोगों की समस्त आर्थिक क्रियाएँ शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखने की समस्या को केन्द्र मानकर की जाती हैं। कैसे जीवित रहें, या किस प्रकार उदर-पूर्ति हो—यह समस्या ही सबसे प्रमुख है और उसी का हल ढूंढने के प्रयत्न में जो कुछ आदिम समाज के लोग करते हैं, वही उनकी अर्थ-व्यवस्था है। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति की इससे सरल व्याख्या शायद सम्भव नहीं। साथ ही यह विशेषता आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा आदिम अर्थ-व्यवस्था के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खींच देती है। इतना ही नहीं, आदिम अर्थ-व्यवस्था में अंश ग्रहण करने वालों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हमें देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, आदिम आर्थिक संगठन के अन्तर्गत उपभोक्ता (consumer) तथा उत्पादक (producer) का आपसी सम्बन्ध बिल्कुल ही उस प्रकार का

नहीं है जैसाकि हम अपने समाज में देखते हैं। आदिम समाजों में उपभोक्ता और उत्पादक दो पृथक् अस्तित्व नहीं रखते और न ही ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि उपभोक्ता और उत्पादक दोनों प्रायः एक ही व्यक्ति होते हैं। वहाँ मोटे तौर पर प्रत्येक व्यक्ति ही उत्पादक है, और प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता भी। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति के विषय में तीसरी प्रमुख बात यह है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की भाँति संगठित, निश्चित ढंग से नियोजित तथा विशिष्ट रूप से नियन्त्रित नहीं होती। प्रत्येक परिवार आर्थिक मामले में आत्म-निर्भर होता है, अथवा अपने आत्म-निर्भर समुदाय की एक आर्थिक इकाई के रूप में क्रियाशील होता है। परिवार को निकालकर आदिम अर्थ-व्यवस्था या आर्थिक संगठन की चिन्ता करना ही मूर्खता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए इसके प्रमुख लक्षणों या विशेषताओं की विवेचना आवश्यक है, जो कि निम्नवत् है—

(1) आदिम समाजों में प्रायः सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को धर्म और जादू-टोना के साथ एक अजीब ढंग से मिला देने की अत्यधिक प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, किसी भी आर्थिक क्रिया को करने से पहले आदिम समाजों में अनेक प्रकार के धार्मिक संस्कारों और जादू-टोने का भी सहारा लिया जाता है। धर्म और जादू की सहायता के बिना आर्थिक क्रियाओं में सफलता असम्भव है; इस प्रकार के अनेक अन्ध-विश्वास आदिम लोगों में पाये जाते हैं। एक सामान्य उदाहरण के द्वारा आदिम अर्थ-व्यवस्था के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समाजों में शिकार पर जाने के सम्बन्ध में अनेक नियमों का पालन अनिवार्य है। जिस दिन शिकार में जाना होता है उसके पहले वाली रात को कोई भी शिकारी अपनी पत्नी के पास नहीं सोता है और न ही किसी रूप में पत्नी के साथ सहवास करता है, क्योंकि उनमें विश्वास है कि वैसा करने पर शरीर और मन दोनों ही अशुचि या नापाक हो जाते हैं जिससे शिकार के देवता अप्रसन्न होते हैं और शिकार में सफलता की कोई आशा नहीं रह जाती। इसलिए शिकार पर जाने के पहले वाली रात सब शिकारी अपने-अपने घर से दूर एकसाथ मिलकर रहते हैं। उसी प्रकार बहुत-से आदिम समाजों में खेत में पहले दिन काम करने जाने से पहले या बीज बोने से पहले फसल के देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि चढ़ाई जाती है। कहीं-कहीं तो फसल काटने के बाद इस प्रकार की बलि चढ़ाने की प्रथा पाई जाती है। कुछ समाजों में कृषि और बागवानी से सम्बन्धित वर्षा, नदी, सूर्य आदि की पूजा की जाती है। संक्षेप में, यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक क्रियाओं में सफलता इन कृत्यों को करने से ही सम्भव है।

(2) आदिम अर्थ-व्यवस्था की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि आर्थिक उत्पादन प्रायः किसी भी प्रकार की प्रौद्योगिकीय सहायता (technological aid) के बिना ही किया जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन समाजों में न तो मशीनों का आविष्कार होता है और न ही इनको व्यवहार में लाने का ज्ञान वहाँ के लोगों को हुआ करता है। आदिम अर्थ-व्यवस्था आदिम ढंग से ही आयोजित तथा संगठित होती है, जिसके फलस्वरूप केवल उत्पादन ही कम नहीं होता, बल्कि चीजों की बर्बादी भी बहुत

होती है। इसका उज्ज्वल दृष्टान्त स्थानान्तरित खेती ही है। खेती के इस तरीके के कारण एक ओर वन-सम्पत्ति और भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है और दूसरी ओर अनाज का उत्पादन श्रम आदि की तुलना में बहुत कम होता है। इसका प्रभाव उन लोगों की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है, क्योंकि जो कुछ थोड़ा-बहुत उत्पादन होता है उसमें से सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद कुछ भी विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। फलत: आर्थिक क्रियाओं से समुदाय के सदस्यों की उदर-पूर्ति ही किसी तरह से हो पाती है, उचित ढंग से जीवित रहना नहीं।

(3) आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन और वितरण पर जितना अधिक बल दिया जाता है उतना विनिमय पर कदापि नहीं। इसका सबसे प्रमुख कारण, जैसा कि ऊपर ही बताया गया है, यह है कि जो कुछ उत्पादन होता है उसे समुदाय के परिवारों में उनकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देने के पश्चात् शायद ही कुछ आधिक्य (surplus) रह जाता है। साथ ही, विनिमय (exchange) से कौन-कौन से लाभ हैं, इसके विषय में न आदिम समाज के लोग कुछ जानते हैं और न ही विनिमय को अधिक संगठित रूप से चलाना उनके लिए सम्भव है। इस कारण आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन अधिकतर उपभोग (consumption) के लिए किया जाता है, न कि विनिमय (exchange) करने या सचय (hoard) करने के लिए। इन समाजों में भोजन का उत्पादन या सकलन सर्वप्रथम किया जाता है और उसके बाद फिर वस्त्र और रोज की आवश्यकता की अन्य वस्तुओं का उत्पादन होता है।

(4) चूँकि आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन विनिमय करने के लिए नहीं होता है, इस कारण विनिमय के किसी माध्यम (medium) मुद्रा—का भी अधिक प्रचलन आदिम समाज में देखने को नहीं मिलता है। आधुनिक समाजों की भाँति आदिम समाजों में मुद्रा (money) को न तो एकत्रित किया जाता है और न ही उसका वस्तुओं के मूल्य आँकने और वस्तुओं के विनिमय में अधिक प्रयोग किया जाता है। बैंक, साख समिति आदि का उनके समाज में नितान्त अभाव होता है। इन सबकी आवश्यकता भी उन समाजों में बहुत कम होती है क्योंकि बाहरी समूहों से आर्थिक आदान-प्रदान या विनिमय बहुत कम होता है।

(5) उत्पादन या विनिमय के द्वारा मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव आदिम अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है। इसके निम्नलिखित दो प्रमुख कारण हैं—प्रथम तो यह कि मुद्रा द्वारा वस्तुओं का मूल्य आँकने की प्रवृत्ति बहुत कम होने के कारण विनिमय के द्वारा मुनाफा लेने की बात उनके मन में उचित ही नहीं होती है; और दूसरे आर्थिक क्रियाओं के साथ एक सामुदायिक भावना जुड़ी होने के कारण मुनाफा लेने का प्रश्न ही नहीं उठता है। चूँकि आर्थिक क्रियाओं में समुदाय के सभी लोगों का सक्रिय सहयोग सबको मिलता है या मिलने की आशा रहती है; इस कारण आदिम समाजों के लोग एक-दूसरे से मुनाफा लेने की बात सोचते तक नहीं हैं। परन्तु आधुनिक समाजों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप अनेक आदिम समाजों में मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति अब प्रवेश कर गई है।

(6) चूंकि आदिम समाज में मुद्रा का कम प्रयोग होता है और आर्थिक वस्तुओं का आधिक्य (surplus) कम होने के कारण बाहरी समूहों से विनिमय-कार्य नाम मात्र का होता है, इसलिए आदिम अर्थ-व्यवस्था में नियमित बाजार, व्यापारी, दलाल, प्रतियोगिता (competition), एकाधिकार (monopoly) आदि का नितान्त अभाव होता है और जहाँ है, वहाँ भी बहुत कम।

(7) आदिम समाजों में परिवार आत्म-निर्भर होता है और वह इस अर्थ में कि प्राय: अपनी समस्त आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक परिवार पृथक् रूप से या संयुक्त रूप में कर लेता है और इस कार्य में परिवार के प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को सक्रिय भाग लेना होता है। ये आर्थिक क्रियाएँ विविध प्रकार की होती हैं और व्यक्ति उनमें से सबको ही करता है या उसे करना पड़ता है। इसीलिए आदिम समाजों में कुशलता के आधार पर आर्थिक क्रियाओं का विशेषीकरण (specialization) नहीं हो पाता है। आदिम समाजों में विशेषज्ञ (specialists or experts) नहीं होते और वह इस अर्थ में कि एक व्यक्ति जो कि पुजारी है, वह जादू-टोना भी करता है, खेती का काम भी जानता है, टोकरी बनाता, सूत कातता और बुनता, मिट्टी के बर्तन भी बनाता, और ऐसे ही दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित अनेक आर्थिक कार्यों को करता है या कम-से-कम कर सकता है। उसे एक विशेषज्ञ बनने की न तो सुविधाएँ प्राप्त हैं और न ही उसके लिए यह आवश्यक है।

(8) आदिम समाजों की अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ सामूहिक और सहकारी आधारों पर संगठित होती हैं। आर्थिक क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक कर्त्तव्यों को निभाना है।

(9) व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति की धारणा प्रत्येक आदिम समाज में किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होती है, विशेषकर उन वस्तुओं के सम्बन्ध में जो एक व्यक्ति या परिवार स्वयं बनाता या व्यवहार करता है। फिर भी खेत, चरागाह, तालाब, शिकार के क्षेत्र, इन सब पर समूहों का अधिकार (group ownership) अधिक होता है।

(10) आदिम समाजों में आर्थिक क्षेत्र में नये परिवर्तन और आविष्कार बहुत ही कम होते हैं। सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने वाले आदिम समाजों के आर्थिक-संगठन में परिवर्तन होना शुरू हो गया है, फिर भी इस परिवर्तन की गति पर्याप्त धीमी है।

(11) अनेक आदिम समाजों में उपहार (gift) विनिमय का एक माध्यम (a medium of exchange) होता है। इन समाजों में मुद्रा के स्थान में उपहार को ही विनिमय का आधार माना जाता है और वह इस अर्थ में कि जब एक समूह दूसरे समूह को कुछ चीज़ें उपहार के रूप में देता है तो दूसरे समूह का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रथम समूह को उसके बदले में कुछ दूसरी चीज़ें दे। इस प्रकार उपहार लेना और देना आदिम समूहों में विनिमय का एक परम्परागत या सामाजिक रीति, नियम या तरीका है।

(12) उसी प्रकार आदिम समाजों में अतिथि-सत्कार या आतिथ्य (hospitality) आर्थिक सेवा के रूप में देखने को मिलता है। विशेषकर खाने-पीने की चीजों के

सम्बन्ध में आदिम समाज में लोग बहुत उदार होते हैं। कोई भी बाहर का आदमी आकर उनके यहाँ खा-पी सकता है, विशेषकर अगर वह अपने ही समूह का है। अगर किसी भी व्यक्ति के पास अतिरिक्त भोजन है, तो उस समुदाय के अन्य किसी को भी वह भोजन मिलने का अधिकार होता है। एक व्यक्ति अपने भण्डार को खाद्यान्न से भरकर रख दे और दूसरे लोग उसी के बिना भूखों मरते रहें (जैसा कि हम लोगों के अपने समाज में होता है और हो रहा है), इस प्रकार की स्थिति को आदिम समाजों में सहन नहीं किया जाता है। उसी प्रकार शिकार अथवा खेती करने के अन्य अनेक निजी सामानों पर समुदाय के अन्य लोगों का अधिकार होता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of the Primitive Economic Organization)

आदिम अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण सभी मानवशास्त्रियों ने समान रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। इसी कारण विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। हम यहाँ कुछ विशिष्ट वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) श्री ग्रास (Gross) ने एक विकासवादी वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए आदिम से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के निम्नलिखित पाँच स्वरूपों का उल्लेख किया है— (क) संकलनशील आर्थिक-व्यवस्था (collectional economy), (ख) सांस्कृतिक खानाबदोशी अर्थ-व्यवस्था (cultural nomadic economy), (ग) स्थिर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (settled village economy), (घ) नागरिक अर्थ-व्यवस्था (town economy), और (ङ) आधुनिकतम अर्थ-व्यवस्था (metropolitan economy)।

(2) सर्वश्री फोर्ड तथा हर्षकोविट्स (Forde and Herskovits) अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त विकासवादी योजना से सहमत नहीं हैं। इन विद्वानों के मतानुसार किसी एक निश्चित स्तर पर सभी समाजों की अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करना मूर्खता है। एक समाज में एकसाथ एकाधिक अवस्थाओं या स्तरों का होना ही अधिक व्यावहारिक है। इन विद्वानों ने आर्थिक-व्यवस्था को पाँच भागों में बाँटा है और यह कहा है कि एक समय में इन पाँच अवस्थाओं में से एकाधिक अवस्थाओं में एक समाज हो सकता है। ये पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(क) संकलन (collection), (ख) शिकार (hunting), (ग) मछली मारना (fishing), (घ) कृषि (cultivation) और (ङ) पशुपालन (stock raising)।

(3) सर्वश्री जैकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था को दो प्रमुख भागों में बाँटा है और इनमें से प्रत्येक भाग के दो उपभागों का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् हैं—(क) शिकार करने, मछली मारने तथा भोजन एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्थाएँ (hunting, fishing and food gathering economies—इस अर्थ-व्यवस्था के दो उपभाग हैं—एक तो भोजन-संकलन की सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ (simple food gathering economies) और दूसरे भोजन-संकलन की

विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ (advanced food gathering economies)। (ख) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था (agriculture and pastoral economies)—इस अर्थ-व्यवस्था के भी दो उपभाग हैं—एक तो कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ और दूसरे कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ।

(4) श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियों में विभाजित किया है जो कि निम्नलिखित हैं—(1) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने, तथा सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and food collectors)। (2) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा कृषकों का समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and agriculturists)। (3) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले, कृषक तथा कारीगरों के श्रेणीवद्ध समाज (Graded society of hunters, trappers, agriculturists and artisans)। (4) चरवाहे (Herdsmen)। (5) समरूप शिकारी तथा चरवाहे (Homogeneous hunters and herdsmen)। (6) प्रजाति के आधार पर श्रेणीवद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह (Ethnically stratified cattle-breeders and traders)। (7) सामाजिक आधार पर श्रेणीवद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह (Socially graded herdsmen with hunting, agricultural and artisan population)।

डॉ० दुबे (Dubey) के अनुसार भोजन प्राप्त करने अथवा उत्पन्न करने के ढंगों के आधार पर आदि संस्कृतियों के आर्थिक संगठन को चार मुख्य भागों या स्तरों में बांटा जा सकता है—(1) संकलन-आखेटक स्तर—इस स्तर को दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम उपभाग में सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित खाद्य का कोई भी भाग विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। दूसरे उपभाग में संकलन की मात्रा इतनी रहती है कि उसका एक अंश सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी विनिमय के लिए शेप रह जाता है। (2) पशुपालन-स्तर। (3) कृषि-स्तर—इस स्तर के अन्तर्गत दो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ सम्मिलित हैं—एक तो फलोद्यान-आश्रित अर्थ-व्यवस्था और दूसरे कृषि-आश्रित अर्थ-व्यवस्था। कृषि-स्तर की अर्थ-व्यवस्था को भी दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है—सरल कृषि-व्यवस्था और विकसित कृषि-व्यवस्था।

आदिम समाजों में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
(Economic Mechanism in Primitive Societies)

किसी भी समाज में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के तीन प्रमुख आधार हैं—उत्पादन, वितरण तथा उपभोग। और यदि उस समाज में उत्पादन की मात्रा इतनी है कि उसका कुछ भाग सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी शेष रह जाता है तो एक अन्य आधार—विनिमय और जुड़ जाता है। साथ ही, प्रत्येक समाज में आर्थिक क्रियाओं को करने के लिए किसी-न-किसी आधार पर श्रम-विभाजन भी हुआ करता है। किसी भी

अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता की विवेचना इन्हीं आधारों पर करनी चाहिए। इस क्रियाशीलता का प्रमुख उद्देश्य समाज के सदस्यों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना और उसके द्वारा शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखना व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए द्वार खोलना है। इस दृष्टिकोण से अर्थ-व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य केवल वस्तुओं का उत्पादन और उन्हें उपभोग के लिए उपलब्ध करना ही नहीं, वरन् उससे कहीं अधिक है। इसलिए आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने वाले समाज के सदस्य एक-दूसरे के साथ आर्थिक बन्धन में बँध जाते हैं और समुदाय के प्रति उनके कितने ही उत्तरदायित्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। यह बात आदिम समाजों के विषय में और भी सच है। इसे ध्यान में रखते हुए अब हम आदिम समाजों में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के उपरोक्त आधारों की विवेचना संक्षेप में करेंगे—

श्रम-विभाजन
(The Division of Labour)

आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन में भी श्रम-विभाजन प्रत्येक समाज में पाया जाता है। शिकार करने वाले आदिम समाजों में यह श्रम-विभाजन स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित होता है। इन समाजों में स्त्रियाँ तथा बच्चे घर पर ही रहते हैं। स्त्रियाँ के दल आस-पास के जंगलों में फल, मूल, कन्द, शाक-पात, शहद आदि एकत्रित करते हैं। साथ ही, बच्चों का पालन-पोषण या देख-रेख करने का काम भी उन पर ही होता है। इन सब दायित्वों से पूर्णतया विमुक्त पुरुष शिकार करने तथा मछली मारने के लिए दूर जंगलों में चले जाते हैं। एस्कीमो, अण्डमानी तथा अरूण्टा जनजातीय समाजों में ठीक ऐसा ही होता है। चूँकि शिकार के कार्य में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, इस कारण यह काम स्त्रियों को नहीं दिया जाता। इसीलिए पुरुष बड़े-बड़े पशुओं का शिकार करते हैं और स्त्रियाँ घर की रखवाली करने, चमड़े से पोशाक बनाने, तथा फल-मूल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करने का काम करती हैं। शिकार के लिए आवश्यक फन्दा (trap), जाल आदि को स्त्रियाँ ही बनाती हैं, परन्तु इनको आर्थिक उत्पादन कार्यों में व्यवहार करने का भार पुरुषों पर ही पड़ता है। इस साधारण नियम का अपवाद उत्तरी ओजिबवा (Northern Ojibwa) लोगों में देखने को मिलता है, जहाँ कि पुरुषों की भाँति कुछ स्त्रियाँ भी शिकार करती हैं, यहाँ तक कि पुरुषों के साथ युद्ध में भी जाती हैं।

पशुपालक तथा कृषि करने वाले आदिम समाजों में स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कोई सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) देखने को नहीं मिलता। यद्यपि सामान्य रूप से स्त्रियों को वे काम करने नहीं दिए जाते हैं जिनमें कि अधिक शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, फिर भी इसे एक मात्र नियम मान लेना उचित न होगा। चुकची (Chukchee) जनजाति में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक परिश्रम के कार्य करती हैं। पशुपालक, टोडा जनजाति में स्त्रियों को भैंस तथा उनके दूध से सम्बन्धित किसी भी काम से बहुत दूर रखा जाता है क्योंकि इन कार्यों के

लिए स्त्रियों को वे लोग अपवित्र मानते हैं। कृषि करने वाली इफूगाओ (Ifugao) जन-जाति में पुरुष फसल बोने तथा काटने का काम और स्त्रियाँ जोतने तथा उखाड़ने का काम करती हैं। ट्रोब्रियंड (Trobriand) समाज में सम्पूर्ण कृषि-कार्य के प्रत्येक स्तर पर स्त्री और पुरुष दोनों ही साथ-साथ मिलकर काम करते हैं। कुइची इण्डियनों में पत्नी अपने पति के साथ रोज खेत को जाती तो है, पर खेत का सब काम अपने पति पर ही छोड़कर खुद आस-पास की एक झाड़ी में दिन-भर बैठे-बैठे बुनने का काम करती रहती है। भारतीय जनजातियों में खेत जोतने का काम केवल पुरुष ही करते हैं, जबकि स्त्रियाँ फसल बोने तथा काटने के काम में मदद करती हैं या कहीं-कहीं स्वयं ही करती हैं।

आदिम समाजों में श्रम-विभाजन के आधार पर ही स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य भी निश्चित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, जूनी (Zuni) जनजाति में दिन-भर काम करने के बाद जब पति घर को लौटता है तो पत्नी उस समय जो कुछ भी काम करती होगी उसे छोड़कर पति का स्वागत करने दरवाजे तक दौड़ जाती है। जो कुछ भी पति साथ लाता है उसे वह पति के हाथों से लेकर घर के अन्दर ले जाती है। तब वह पति के खाने-पीने की व्यवस्था करती है। घर स्त्री का ही होता है और उसमें वह पति का एक अतिथि के रूप में स्वागत करती है। इसके बदले में पति खेत से अनाज आदि साथ लाता है, परन्तु ये चीजें जैसे ही घर की देहरी पार करके घर के अन्दर आ जाती हैं वैसे ही वे स्त्री की सम्पत्ति हो जाती हैं। ये सभी विवाह से सम्बन्धित आर्थिक कर्त्तव्यों तथा अधिकारों की अभिव्यक्ति (expression) हैं और इसीलिए इनका पालन अनिवार्य है।[1]

जो जनजातियाँ दस्तकारी का काम करती हैं उनमें भी स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर कोई स्पष्ट श्रम-विभाजन नहीं पाया जाता है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी टोकरी बनाने, सूत कातने तथा बुनने, रस्सी, चटाई आदि बनाने, बेंत का काम करती हैं परन्तु बढ़ईगीरी अथवा लोहार का काम स्त्रियाँ प्रायः नहीं करती हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव आदिम समाजों के श्रम-विभाजन पर भी पड़ा है। उदाहरणार्थ, भारत के उन जनजातीय क्षेत्रों में जहाँ आस-पास उद्योगों का विकास हुआ है, पुरुष लोहे के कारखानों, कोयले की खानों तथा चाय-बगीचों में काम करते हैं जबकि जनजातीय स्त्रियाँ अभ्रक तथा कोयले की खानों में और चाय-बगीचों में काफी संख्या में काम करती हैं।

उत्पादन
(Production)

आदिम समाजों में भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन या संग्रह शिकार करके, मछली मार के, वन-पर्वत आदि से कन्द, मूल, फल, शाक-पात, मधु आदि

---

1. Ruth Bunzel, *The Economic Organization of Primitive Peoples*, New York, 1933, p. 370.

एकत्रित करके, पशुपालन करके तथा दस्तकारी का काम करके किया जाता है। वास्तव में अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिकार करके, मछली मार के तथा फल-मूल को इकट्ठा करके भोजन आदि को प्राप्त करना संकलन मात्र है, उत्पादन नहीं। उसी प्रकार पशुपालन के द्वारा भोजन आदि प्राप्त करना संकलन और उत्पादन इन दोनों के बीच की अवस्था है। कृषि और शिल्प-उद्योग निश्चित रूप के उत्पादन की श्रेणी में आते हैं। कृषि के द्वारा न केवल प्रत्यक्ष रूप से खाद्यान्न का उत्पादन किया जाता है, बल्कि शिल्प-उद्योग के लिए आवश्यक अनेक कच्चे-मालों का भी उत्पादन होता है। दस्तकारी आदि के द्वारा अन्य आवश्यक आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

प्रायः सभी आदिम समाजों में उत्पादन कार्य केवल अपने तथा अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के लिए नहीं किया जाता है; प्रत्येक उत्पादन कार्य के पीछे सम्पूर्ण समुदाय के प्रति अपने कुछ अनिवार्य कर्त्तव्यों को निभाने की भावना भी स्पष्ट होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि मुखिया तथा जादूगरों को साधारण जनता से आर्थिक उत्पादन कार्य में शारीरिक श्रम (manual labour) कम करना पड़ता है, फिर भी इस कर्त्तव्य से वे पूर्णतया छुटकारा किसी भी समाज में नहीं पाते हैं। उन्हें भी उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग लेना या शारीरिक श्रम करना ही पड़ता है। साथ ही आर्थिक उत्पादन कार्यों के साथ विविध प्रकार के जादू-टोनों, धार्मिक कृत्यों, संस्कारों तथा परम्पराओं को जोड़ दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इसके बिना उत्पादन कार्यों में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

उत्पादन करने वाली या उत्पादन कार्य में भाग लेने वाली इकाइयाँ व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय तीनों ही हैं। उदाहरणार्थ, भारत की कादर, चेंचू खरिया, कोरवा आदि जनजातियों में परिवार के सब पुरुष-सदस्य एकसाथ मिलकर शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, और सब स्त्री-सदस्य वनों से फल-मूल आदि इकट्ठा करती हैं। इस प्रकार एक कादर या चेंचू या कोरवा परिवार अपने सदस्यों के लिए भोजन की व्यवस्था करता है और साथ ही अपने समाज की भोजन-सकलन अर्थ-व्यवस्था की एक उत्पादक इकाई के रूप में कार्य करता है। एस्कीमो समाज में भी परिस्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग शिकार करने या मछली मारने जाना पड़ता है, फिर भी प्रत्येक सदस्य उत्पादन या संकलन के विषय में एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। बहुधा दो व्यक्ति एकसाथ मिलकर शिकार करते हैं। केन्द्रीय अफ्रीका की लांगो (Lango) जनजाति में बड़े-बड़े पशुओं का शिकार करने के लिए बहुत-से लोग एकसाथ जाते हैं। कभी-कभी तो पशुओं को घेरने और शिकार करने के लिए पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे सभी सहयोग देते हैं। माओरी (Maori) जनजाति में सामुदायिक रूप में उत्पादन या संकलन का सबसे उत्तम उदाहरण मिलता है। वहाँ सब लोग मिलकर भोजन को प्राप्त करते हैं और उसे मुखिया के पास जमा कर देते हैं जो कि उसे प्रत्येक परिवार की आवश्यकतानुसार बाँट देता है। जूनी जनजाति में भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है।

वितरण
(Distribution)

एक अर्थ-व्यवस्था में वितरण से तात्पर्य उस प्रतिफल (reward) से है जो कि उत्पादन प्रक्रिया में योगदान करने वाली या हाथ बँटाने वाली प्रत्येक इकाई को प्राप्त होता है। यह प्रतिफल उत्पादित या संकलित वस्तु या भोजन (जैसे शिकार किया हुआ पशु या मछली या उगाया हुआ अनाज) का एक निश्चित हिस्सा, या सम्पूर्ण वस्तु (जब कि उस वस्तु का टुकड़ा नहीं किया जा सकता है। जैसे नाव या शिकार करने का कोई औज़ार) के रूप में मिल सकता है। आदिम समाजों में वितरण के सिद्धान्तों का एक सामाजिक, न कि आर्थिक आधार होता है। इसी कारण प्रतिफल की मात्रा प्रथा और परम्परा के अनुसार निर्धारित होती है। बहुधा प्रतिफल की यह मात्रा उत्पादन कार्य में सहयोग करने तथा कार्य करने वाले की स्थिति के अनुसार, न कि हमारे समाज की भांति एक व्यक्ति ने कितना काम किया है इसके अनुसार निश्चित होती है। उदाहरणार्थ, लांगो जनजाति (केन्द्रीय अफ्रीका) में जो भी पशु शिकार किया जाता है उसके कन्धे का हिस्सा शिकार करने वाले समूह के नेता या मुखिया को मिलता है। साथ ही, परम्परागत रूप में यह भी निश्चित होता है कि उस पशु के शरीर का कौनसा हिस्सा किसे प्राप्त होगा। कुछ जनजातियों में सामुदायिक खेत (communal field) में समुदाय के सब सक्षम, जिसमें मुखिया भी शामिल है, काम करते हैं और जो कुछ भी अनाज उत्पन्न होता है उसे मुखिया की देख-रेख में उसी के पास जमा कर दिया जाता है। फिर यह मुखिया जमा किये हुए अनाज को प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बांट देता है। इस वितरण में यह बात बड़ी नहीं है कि किस परिवार के कितने सदस्यों ने काम किया है, पर बड़ी बात यह है कि उस परिवार को कितना अनाज आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक परिवार में केवल एक व्यक्ति काम करने के योग्य है, परन्तु उस परिवार में खाने वाले (बूढ़े, बच्चे आदि जो खेत में काम नहीं कर सकते) पांच व्यक्ति हैं, तो उस परिवार को इतना अनाज ही मिलेगा कि उन पांचों व्यक्तियों का पेट भर सके। एक दूसरा परिवार चार व्यक्तियों का है जिसमें कि चारों लोग काम करने के योग्य हैं, तो उस परिवार को चार व्यक्तियों के खाने के लिए पर्याप्त अनाज ही प्राप्त होगा। यह परिवार यह नहीं कहेगा कि प्रथम परिवार को भी एक आदमी के काम करने पर पांच व्यक्तियों का अनाज मिला तो दूसरे परिवार को भी चार व्यक्तियों के काम करने पर उसी अनुपात से बीस व्यक्तियों खाने के लिए पर्याप्त अनाज मिलना चाहिए।

परन्तु सभी समाजों में वितरण का तरीका इतना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ, फिलीपाइन्स की इफूगाओ (Ifugao) जनजाति में खेती सामूहिक आधार पर नहीं बल्कि पारिवारिक आधार पर होती है। परन्तु जो फसल उत्पन्न होती है वह अधिकांश परिवार के लिए अपर्याप्त होती है ऐसी स्थिति में साल के किसी भाग में जब एक परिवार के पास कुछ भी अनाज खाने को नहीं रह जाता है तो वह पड़ोस के किसी दूसरे समृद्ध परिवार से अनाज उधार ले लेता है जो कि मय सूद के अगली फसल

मे लौटा देना होता है। इस सूद की दर (जो कि अनाज के रूप में ही चुकानी पड़ती है) बहुत ज्यादा होती है। इस प्रकार इस समाज में वितरण असमान होने के कारण वर्ग-शोषण (class exploitation) का रास्ता खुल जाता है। परन्तु होपी (Hopi) जनजाति में ऐसा नहीं होता है। वहाँ जब एक परिवार के पास भोजन नहीं रह जाता है तो उसे उसका सम्बन्धी परिवार उपहार (gift) के रूप में खाने की चीजें दे देता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह भी आवश्यकता पड़ने पर दूसरों को खाद्य सामग्री का उपहार देगा। जूनी (Zuni) समाज में फसल के मौसम में खाद्य सामग्री खुले हाथों उदारतापूर्वक वितरित की जाती है, खूब भोज दिया जाता है तथा अतिथि-सत्कार की धूम पड़ जाती है। प्रत्येक परिवार का प्रत्येक दूसरे परिवार के प्रति एक आर्थिक कर्त्तव्य-बोध होता है जिसके कारण किसी भी परिवार को भूखों मरने नहीं दिया जाता है।

उपभोग
(Consumption)

उपभोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादन तथा वितरण के साथ है। जिस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होगा और जिस मात्रा में उन चीजों का समुदाय के सदस्यों में वितरण होगा, उसी के अनुरूप वे सदस्य उन वस्तुओं का उपभोग भी करेंगे। आदिम समाजों के अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार उतना नहीं जितना कि सामाजिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति को अधिक उपभोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इन समाजों में उपभोग के आधार पर आर्थिक विभेद या विशिष्टता को सामाजिक विभेद या विशिष्टता से सम्बन्धित किया जा सकता है। चूंकि एक मुखिया (chief) की सामाजिक स्थिति ऊँची है, इस कारण कुछ विषयों में उसे अधिक उपभोग करने का अधिकार है। वह साधारण लोगों से भिन्न तथा उत्तम पोशाकों को पहनता है, अच्छे मकान में रहता है तथा शिकार के एक विशिष्ट भाग को प्राप्त करता है। उसे भेंट या नजराने के तौर पर भी अनेक चीजें मिल जाती हैं। उसी प्रकार प्रायः सभी आदिम समाजों में कोई-न-कोई समूह, वर्ग या व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में कुछ-न-कुछ 'दृष्टि आकर्षक उपभोग' (conspicuous consumption) करता ही है, जिसके आधार पर उस व्यक्ति या वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। सामूहिक भोग (communal feast) के अवसर पर भी चीजों की बर्बादी तथा उपभोग दोनों ही अत्यधिक बढ़ जाते हैं। कुछ भी हो, आधुनिक समाजों की भाँति आदिम समाजों में विभिन्न वर्गों या व्यक्तियों के बीच उपभोग-प्रतिमान (consumption pattern) में उतना अधिक अन्तर या विभेद नहीं होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजों में उत्पादन की मात्रा भी अत्यधिक सीमित होती है। जिन समाजों में जीवित रहना ही एक समस्या है, वहाँ उपभोग की मात्रा में अधिक अन्तर हो भी कैसे सकता है? प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा कम होने के कारण आदिम समाजों में लोगों का जीवन-निर्वाह का स्तर (standard of living) भी बहुत नीचा होता है।

उपहार और अतिथि-सत्कार
(Gifts and Hospitality)

आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं का आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख साधन उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। इन समाजों में उपहार का उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक सम्बन्धों को अधिक मित्रतापूर्ण तथा आन्तरिक बनाने के अतिरिक्त अन्य परिवारों या समुदाय के प्रति अपने आर्थिक कर्त्तव्यों को निभाना भी होता है। आवश्यकता पड़ने पर एक होपी (Hopi) परिवार दूसरे परिवार को उपहार के रूप में जो खाद्य सामग्री देता है, वह मूल रूप से इन परिवारों के बीच पारस्परिक आर्थिक कर्त्तव्य-बोध के द्वारा ही प्रेरित होता है। वैसे उपहार देने की प्रथा सार्वभौम है और इसका आधार सामाजिक ही अधिक है। इसीलिए आदिम और आधुनिक दोनों ही प्रकार के समाजों में जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर उपहार देने का प्रचलन पाया जाता है। उपहार इसे देने और लेने वाले व्यक्तियों के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है और उनमें एक प्रकार का कर्त्तव्य-बोध जागृत करता है। आदिम समाजों में विवाह के अवसर पर जो उपहार या वधू-मूल्य दिया जाता है उसके फलस्वरूप दोनों परिवारों के बीच कितने प्रकार के अधिकार तथा कर्त्तव्य पनपते हैं—इसका वर्णन हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। उपहार देकर शादी की बात पक्की करने की प्रथा भी अनेक जनजातीय समाजों में पाई जाती है। इसीलिए पश्चिमी अफ्रीका की इबो (Ibo) जनजाति में लड़कियों को यह मना कर दिया जाता है कि वे पुरुषों से किसी भी प्रकार का उपहार या भेंट स्वीकार न करें क्योंकि गवाहों के सामने इस प्रकार की भेंट को स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि उस पुरुष के साथ उस लड़की के विवाह के सम्बन्ध में किसी भी पक्ष को कोई आपत्ति नहीं है।

मूलत: सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित उपहार देने की प्रथा का आर्थिक पक्ष भी आदिम समाजों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। साथ ही, आदिम समाजों में, आधुनिक समाजों की भाँति, यह नियम भी सार्वभौम नहीं है कि उपहार में कुछ लेने से समान अवसर पर उपहार देने वाले को बदले में उपहार देना ही होगा। उदाहरणार्थ, ज़ूनी (Zuni) जनजाति में उपहार देना सदैव एक-तरफा होता है जिसे कि धन के पुनर्वितरण (redistribution) के एक निश्चित साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है और वह इस अर्थ में कि जिसके पास धन (जिसमें खाद्य सामग्री, औजार, उपकरण आदि सब कुछ सम्मिलित हैं) नहीं है उसे यह निश्चित सामाजिक अधिकार है कि वह उस धन को उनसे प्राप्त करे जिनके पास वह अधिक मात्रा में है। इस प्रकार ज़ूनी जनजाति के लोग उपहार देने की प्रथा के माध्यम से असमान आर्थिक वितरण को अर्थात् समुदाय में पाई जाने वाली आर्थिक असमानताओं को बहुत-कुछ सन्तुलित करने में सफल होते हैं।

माओरी (Maori) जनजाति की तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उपहार देने की प्रथा पर ही आधारित है। यह जनजाति शिकार करके, मछली पकड़ के तथा फल-मूल इकट्ठा करके जीवन निर्वाह करती है। यह सभी काम सामूहिक आधार पर होता है।

जो फल सबसे पहले मिलता है उसे मुखिया को उपहार देने के लिए अलग रख दिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, जितनी भी मछलियाँ मारी जाती हैं और पक्षियों का शिकार किया जाता है, वह सब-कुछ मुखिया को 'भेंट' कर दिया जाता है। उनमें से मुखिया प्रत्येक को उसकी आवश्यकता, पद तथा अधिकार के अनुसार बाँट देता है; पर इससे भी पहले अपने उपभोग के लिए, सामूहिक कार्यों के लिए तथा अन्य समूहों के मुखियाओं को उपहार देने के लिए एकत्रित सामग्री का अधिकतर भाग मुखिया अपने ही पास रख लेता है। साथ ही, एक मुखिया उपहार के रूप में दूसरों से कुछ भी माँग सकता है और लोगों को वह माँग पूरी करनी होती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मुखिया कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसे उसका मुँह-माँगा उपहार न देने पर वह नाराज़ हो जायगा जिसका कि परिणाम बुरा ही होगा।

'पॉटलैच' (*Potlatch*)—उपहार देने का एक अनोखा तरीका अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की जनजातियों में देखने को मिलता है जिसे कि 'पॉटलैच' (*potlatch*) कहते हैं। पॉटलैच एक बहुत ही व्यय-साध्य (expensive) भोज का नाम है जिसका कि प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है। इस भोज में दूसरों को आमन्त्रित किया, खिलाया-पिलाया और उपहार इसलिए दिया जाता है कि दूसरे भी देख लें कि भोज देने वाले के पास कितना धन इकट्ठा हो गया है और उस धन को वह किस हद तक खर्च कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को बहुत ऊँचा मानता है, परन्तु उसके मानने मात्र से ही उसकी स्थिति (status) ऊँची नहीं हो जायगी जब तक वह पॉटलैच नामक एक विराट् भोज का आयोजन न करे और अन्य समूह के लोगों को उस भोज में आमन्त्रित करके खिला-पिलाकर और उपहार देकर यह प्रमाणित न करे कि वास्तव में ही वह उस स्थिति के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पॉटलैच के लिए धन को एकत्रित करना आवश्यक होता है, परन्तु इस एकत्रित धन का कोई भी महत्त्व जीवन-स्तर को उन्नत करने में या विनिमय कार्य में या दूसरे मनुष्य पर शासन करने में नहीं है। इस धन का औपचारिक या सांस्कारिक (ceremonial) पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है और इस सांस्कारिक पक्ष की अभिव्यक्ति (expression) ही पॉटलैच नामक संस्था है। दूसरे शब्दों में, पॉटलैच वह सामाजिक व विधिवत् तरीका है जिससे एक व्यक्ति सार्वजनिक रूप में या, जैसा कि लोग कहते हैं, डंके की चोट पर एक सम्मानजनक पद या स्थिति को प्राप्त करता है। जिन लोगों में यह संस्था पाई जाती है वे यह विश्वास करते हैं कि चुपके से किसी स्थिति को प्राप्त कर लेना अपमानजनक है।

सिमशियन जनजाति में पॉटलैच को बहुत ही औपचारिक ढंग से आयोजित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति 'अ' एक गोत्र-समूह का मुखिया है और उस रूप में उसे एक विशेष नाम से सब लोग पुकारते हैं। इस 'अ' व्यक्ति की मृत्यु के बाद इसका लड़का या भतीजा 'ब' उस मुखिया-पद तथा उससे सम्बन्धित नाम को ग्रहण करना चाहता है। 'ब' उस पद और नाम को तब तक ग्रहण नहीं करेगा जब तक वह अपने पास इतना धन इकट्ठा न कर लेगा जिससे वह एक विराट् भोज (पॉटलैच) का आयोजन कर सके। उस धन को

एकत्र कर लेने मात्र से ही उसे वह पद और नाम नहीं मिल जायगा जब तक वह उस भोज में दूसरे लोगों को या दूसरे गोत्रों के मुखियाओं आदि को आमंत्रित करके बुला नहीं लायेगा और उस अवसर पर उस एकत्रित किए हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नहीं करेगा जिससे कि दूसरों के ऊपर उसका रौब जम जाय और लोग उसे पद व नाम का अधिकारी मान लें। इसीलिए 'ब' एक विराट् भोज की व्यवस्था करेगा और आस-पास के गोत्र-समूहों के मुखियाओं और उनके साथियों को निमन्त्रण देकर बुलायेगा। उनके आने पर उनका शानदार स्वागत किया जायगा और फिर उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोज खिलाया जायगा तथा कुछ चीजें उनमें से प्रत्येक अतिथि को उपहार के रूप में दी जायेंगी। तब 'ब' अतिथियों को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा करेगा कि वह अपने पिता या चाचा के पद और नाम को ग्रहण कर रहा है। इस घोषणा को उस भोज में उपस्थित मुख्य अतिथि स्वीकार कर लेते हैं और फिर बारी-बारी से अन्य सब मुखिया लोग भी 'ब' को उस पद और नाम के अधिकारी के रूप में मान लेते हैं। फिर नाच-गाने के साथ उस भोज का अन्त होता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की सिमशियन जनजातियों की उपरोक्त पॉटलैच प्रथा में सम्पूर्ण वातावरण औपचारिक, सांस्कारिक और आनन्ददायक या आमोद-प्रमोदमय होता है। परन्तु यह बात क्वाकिउल इण्डियनों (Kwakiutl Indians) के पॉटलैच के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है क्योंकि उनमें यह संस्था घोर प्रतिद्वन्द्वता तथा तनाव की भावना से भरपूर होती है। वास्तव में इस जनजाति के लिए पॉटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लड़ने' की एक विधि मात्र है जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति से भरपूर रहती है।[2] इस जनजाति में यह भावना प्रबल है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान अपने पास धन को इकट्ठा करके रखने से नहीं, बल्कि उसे दूसरों को दिखाकर, बर्बाद कर देने से प्राप्त होती है। इसीलिए अगर किसी को सामाजिक क्षेत्र में नीचा दिखाना है तो उसका सबसे सरल उपाय यही पॉटलैच है। 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हें नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट् भोज का आयोजन करके 'अ' को उनके साथियों के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे और उस अवसर पर अतिथियों में से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी। उदाहरण के लिए इस अवसर पर अतिथियों के सम्मान में अत्यधिक मूल्यवान सील तेल (seal oil) प्रचुर मात्रा में जला दिया जाता है, अनेक पशुओं को काटकर फेंक दिया जाता है। परन्तु मामला यहीं पर समाप्त नहीं होता। दिखावा, व्यय और बर्बादी का कटु चक्र इस प्रथम भोज के बाद भी

[1] See Y. E. Garfield, 'Tsimshian Clan and Society', *University of ... on Publications in Anthropology*, Vol. 7, No. 3, 1939. And also P. ..., 'Rank, Wealth and Kinship in Northwest Coast Society', *Readings in ...pology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1960.

[2] R. F. Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1937, pp. 173-222.

बँटाने आ जाते हैं।

अनेक ऐसे जनजातीय समाज भी हैं जहाँ कि स्थायी तरीके से एक ही जमीन पर खेती होती है और वे अपने खेत का स्थान नहीं बदलते। इन समाजों में खेती करने का तरीका थोड़ा-सा उन्नत है और इसीलिए कुछ अधिक अनाज उत्पन्न हो जाता है। फलतः सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी उत्पन्न अनाज का कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रह जाता है। इसे वे आस-पास के समुदाय में जाकर विनिमय के माध्यम से दूसरों को देकर उसके बदले में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को ले आते हैं।

सरल कृषि-व्यवस्था पॉलीनेशिया, मेलानेशिया, मलय-एशिया, भारत आदि देशों के जनजातीय समाजों में पाई जाती है। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पारिवारिक या सामूहिक आधार पर आयोजित होती है, यद्यपि स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर किसी-न-किसी प्रकार का आर्थिक श्रम-विभाजन अवश्य ही मिलता है। वेतन देकर बाहरी श्रमिकों को काम पर लगाने की प्रथा नहीं पाई जाती।

(4) **औद्योगिक स्तर (Technological stage)**—कोई भी आदिम समाज पूर्णतया औद्योगिक स्तर तक नहीं पहुंच पाया है। आदिम समाज तो क्या कोई भी समाज केवल उद्योग पर ही निर्भर है, यह सोचना गलत है। उद्योग के साथ-साथ कृषि कार्य भी प्रायः समस्त प्रगतिशील देशों में ही होता है। आदिम समाजों में सामान्य उद्योग या दस्तकारी देखने को मिलती है और वह भी खेती आदि के साथ-साथ। प्रायः देखा जाता है कि अनेक जनजातीय समाजों में वहाँ के लोगों की आर्थिक क्रियाओं में पशुपालन और खेती के साथ टोकरी बनाना, सूत कातना तथा बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, दरी बनाना, कपड़े बुनना, बेंत का काम करना, लोहे के औजार बनाना, मिट्टी और धातुओं के बर्तन बनाना आदि भी सम्मिलित हैं।

आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति तथा विशेषताएँ
(The Nature and the Characteristics of Primitive Economies)

अब तक की विवेचना से स्पष्ट है कि आदिम समाजों में जीवन अत्यधिक संघर्षमय तथा कठोर है क्योंकि जीवित रहने के साधन बहुत कठिनता से प्राप्त होते हैं। इस अर्थ में आदिम अर्थ-व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि आदिम लोगों की समस्त आर्थिक क्रियाएँ शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखने की समस्या को केन्द्र मानकर की जाती हैं। कैसे जीवित रहें, या किस प्रकार उदर-पूर्ति हो—यह समस्या ही सबसे प्रमुख है और उसी का हल ढूढ़ने के प्रयत्न में जो कुछ आदिम समाज के लोग करते हैं, वही उनकी अर्थ-व्यवस्था है। आदिम अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति की इससे सरल व्याख्या शायद सम्भव नहीं। साथ ही यह विशेषता आधुनिक अर्थ-व्यवस्था तथा आदिम अर्थ-व्यवस्था के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खींच देती है। इतना ही नहीं, आदिम अर्थ-व्यवस्था में अंश ग्रहण करने वालों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हमें देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, [illegible] उपभोक्ता (consumer) तथा उत्पादक [illegible]

विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ (advanced food gathering economies)। (ख) कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था (agriculture and pastoral economics)—इस अर्थ-व्यवस्था के भी दो उपभाग हैं—एक तो कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी सरल अर्थ-व्यवस्थाएँ और दूसरे कृषि तथा पशुपालन-सम्बन्धी विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ।

(4) श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियों में विभाजित किया है जो कि निम्नलिखित हैं—(1) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने, तथा सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and food collectors)। (2) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा कृषकों का समरूप समुदाय (Homogeneous communities of hunters, trappers and agriculturists)। (3) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले, कृषक तथा कारीगरों के श्रेणीबद्ध समाज (Graded society of hunters, trappers, agriculturists and artisans)। (4) चरवाहे (Herdsmen)। (5) समरूप शिकारी तथा चरवाहे (Homogeneous hunters and herdsmen)। (6) प्रजाति के आधार पर श्रेणीबद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह (Ethnically stratified cattle-breeders and traders)। (7) सामाजिक आधार पर श्रेणीबद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह (Socially graded herdsmen with hunting, agricultural and artisan population)।

डॉ० दुबे (Dubey) के अनुसार भोजन प्राप्त करने अथवा उत्पन्न करने के ढंगों के आधार पर आदि संस्कृतियों के आर्थिक संगठन को चार मुख्य भागों या स्तरों में बांटा जा सकता है—(1) संकलन-आखेटक स्तर—इस स्तर को दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम उपभाग में सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित खाद्य का कोई भी भाग विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। दूसरे उपभाग में संकलन की मात्रा इतनी रहती है कि उसका एक अंश सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी विनिमय के लिए शेष रह जाता है। (2) पशुपालन-स्तर। (3) कृषि-स्तर—इस स्तर के अन्तर्गत दो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ सम्मिलित हैं—एक तो फलोद्यान-आश्रित अर्थ-व्यवस्था और दूसरे कृषि-आश्रित अर्थ-व्यवस्था। कृषि-स्तर की अर्थ-व्यवस्था को भी दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है—सरल कृषि-व्यवस्था और विकसित कृषि-व्यवस्था।

आदिम समाजों में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता
nomic Mechanism in Primitive Societies)

समाज में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के तीन प्रमुख आधार हैं—
भोग। और यदि उस समाज में उत्पादन की मात्रा इतनी है कि
आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी शेष रह जाता है तो एक
र जुड़ जाता है। साथ ही, प्रत्येक समाज में आर्थिक क्रियाओं
सी आधार पर श्रम-विभाजन भी हुआ करता है। किसी भी

अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता की विवेचना इन्ही आधारों पर करनी चाहिए। इस क्रियाशीलता का प्रमुख उद्देश्य समाज के सदस्यों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना और उसके द्वारा शारीरिक अस्तित्व को बनाये रखना व मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए द्वार खोलना है। इस दृष्टिकोण से अर्थ व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य केवल वस्तुओं का उत्पादन और उन्हें उपभोग के लिए उपलब्ध करना ही नहीं, वरन् उससे कहीं अधिक है। इसलिए आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने वाले समाज के सदस्य एक-दूसरे के साथ आर्थिक बन्धन में बँध जाते हैं और समुदाय के प्रति उनके कितने ही उत्तरदायित्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। यह बात आदिम समाजों के विषय में और भी सच है। इसे ध्यान में रखते हुए अब हम आदिम समाजों में अर्थ-व्यवस्था की क्रियाशीलता के उपरोक्त आधारों की विवेचना संक्षेप में करेंगे—

श्रम-विभाजन
(The Division of Labour)

आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन में भी श्रम-विभाजन प्रत्येक समाज में पाया जाता है। शिकार करने वाले आदिम समाजों में यह श्रम-विभाजन स्त्री-पुरुष के भेद पर आधारित होता है। इन समाजों में स्त्रियाँ तथा बच्चे घर पर ही रहते हैं। स्त्रियों के दल आस-पास के जंगलों में फल, मूल, कन्द, शाक-पात, शहद आदि एकत्रित करते हैं। साथ ही, बच्चों का पालन-पोषण या देख-रेख करने का काम भी उन पर ही होता है। इन सब दायित्वों से पूर्णतया विमुक्त पुरुष शिकार करने तथा मछली मारने के लिए दूर जंगलों में चले जाते हैं। एस्कीमो, अण्डमानी तथा अरुण्टा जनजातीय समाजों में ठीक ऐसा ही होता है। चूँकि शिकार के कार्य में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, इस कारण यह काम स्त्रियों को नहीं दिया जाता। इसीलिए पुरुष बड़े-बड़े पशुओं का शिकार करते हैं और स्त्रियाँ घर की रखवाली करने, चमड़े से पोशाक बनाने, तथा फल-मूल, शाक-पात आदि को इकट्ठा करने का काम करती है। शिकार के लिए आवश्यक फन्दा (trap), जाल आदि को स्त्रियाँ ही बनाती हैं, परन्तु इनको आर्थिक उत्पादन कार्यों में व्यवहार करने का भार पुरुषों पर ही पड़ता है। इस साधारण नियम का अपवाद उत्तरी ओजिवबा (Northern Ojibwa) लोगों में देखने को मिलता है, जहाँ कि पुरुषों की भाँति कुछ स्त्रियाँ भी शिकार करती है, यहाँ तक कि पुरुषों के साथ युद्ध में भी जाती हैं।

पशुपालक तथा कृषि करने वाले आदिम समाजों में स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर श्रम-विभाजन का कोई सार्वभौम प्रतिमान (universal pattern) देखने को नहीं मिलता। यद्यपि सामान्य रूप से स्त्रियों को वे काम करने नहीं दिए जाते हैं जिनमें कि अधिक शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है, फिर भी इसे एक मात्र नियम मान लेना उचित न होगा। चुकची (Chukchee) जनजाति में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक परिश्रम के कार्य करती हैं। पशुपालक टोडा जनजाति में स्त्रियों को भैंस तथा उनके दूध से सम्बन्धित किसी भी काम से बहुत दूर रखा जाता है क्योंकि इन कार्यों के

लिए स्त्रियों को वे लोग अपवित्र मानते हैं। कृषि करने वाली इफूगाओ (Ifugao) जनजाति में पुरुष फसल बोने तथा काटने का काम और स्त्रियां जोतने तथा उखाड़ने का काम करती हैं। ट्रोब्रियंड (Trobriand) समाज में सम्पूर्ण कृषि-कार्य के प्रत्येक स्तर पर स्त्री और पुरुष दोनों ही साथ-साथ मिलकर काम करते हैं। कुइची इण्डियनों में पत्नी अपने पति के साथ रोज खेत को जाती तो है, पर खेत का सब काम अपने पति पर ही छोड़कर खुद आस-पास की एक झाड़ी में दिन-भर बैठे-बैठे बुनने का काम करती रहती है। भारतीय जनजातियों में खेत जोतने का काम केवल पुरुष ही करते हैं, जबकि स्त्रियां फसल बोने तथा काटने के काम में मदद करती हैं या कहीं-कहीं स्वयं ही करती हैं।

आदिम समाजों में श्रम-विभाजन के आधार पर ही स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य भी निश्चित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, ज़ूनी (Zuni) जनजाति में दिन-भर काम करने के बाद जब पति घर को लौटता है तो पत्नी उस समय जो कुछ भी काम करती होगी उसे छोड़कर पति का स्वागत करने दरवाजे तक दौड़ जाती है। जो कुछ भी पति साथ लाता है उसे वह पति के हाथों से लेकर घर के अन्दर ले जाती है। तब वह पति के खाने-पीने की व्यवस्था करती है। घर स्त्री का ही होता है और उसमें वह पति का एक अतिथि के रूप में स्वागत करती है। इसके बदले में पति खेत से अनाज आदि साथ लाता है, परन्तु ये चीज़ें जैसे ही घर की देहरी पार करके घर के अन्दर आ जाती हैं वैसे ही वे स्त्री की सम्पत्ति हो जाती हैं। ये सभी विवाह से सम्बन्धित आर्थिक कर्त्तव्यों तथा अधिकारों की अभिव्यक्ति (expression) हैं और इसीलिए इनका पालन अनिवार्य है।[1]

जो जनजातियां दस्तकारी का काम करती हैं उनमें भी स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर कोई स्पष्ट श्रम-विभाजन नहीं पाया जाता है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी टोकरी बनाने, सूत कातने तथा बुनने, रस्सी, चटाई आदि बनाने, बेंत का काम करती हैं परन्तु बढ़ईगीरी अथवा लोहार का काम स्त्रियाँ प्रायः नहीं करती हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव आदिम समाजों के श्रम-विभाजन पर भी पड़ा है। उदाहरणार्थ, भारत के उन जनजातीय क्षेत्रों में जहाँ आस-पास उद्योगों का विकास हुआ है, पुरुष लोहे के कारखानों, कोयले की खानों तथा चाय-बगीचों में काम करते हैं जबकि जनजातीय स्त्रियाँ अभ्रक तथा कोयले की खानों में और चाय-बगीचों में काफी संख्या में काम करती हैं।

उत्पादन
(Production)

आदिम समाजों में भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन या संकलन शिकार करके, मछली मार के, वन-पर्वत आदि से कन्द, मूल, फल, शाक-पात, मधु आदि

---

1. Ruth Bunzel, *The Economic Organization of Primitive Peoples*, New York, 1938, p. 370.

एकत्रित करके, पशुपालन करके तथा दस्तकारी का काम करके किया जाता है। वास्तव में अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिकार करके, मछली मार के तथा फल-मूल को इकट्ठा करके भोजन आदि को प्राप्त करना संकलन मात्र है, उत्पादन नही। उसी प्रकार पशुपालन के द्वारा भोजन आदि प्राप्त करना संकलन और उत्पादन इन दोनो के बीच की अवस्था है। कृषि और शिल्प-उद्योग निश्चित रूप के उत्पादन की श्रेणी में आते हैं। कृषि के द्वारा न केवल प्रत्यक्ष रूप से खाद्यान्न का उत्पादन किया जाता है, बल्कि शिल्प-उद्योग के लिए आवश्यक अनेक कच्चे-मालो का भी उत्पादन होता है। दस्तकारी आदि के द्वारा अन्य आवश्यक आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

प्राय: सभी आदिम समाजो मे उत्पादन कार्य केवल अपने तथा अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के लिए नही किया जाता है; प्रत्येक उत्पादन कार्य के पीछे सम्पूर्ण समुदाय के प्रति अपने कुछ अनिवार्य कर्त्तव्यों को निभाने की भावना भी स्पष्ट होती है। हां, इतना अवश्य है कि मुखिया तथा जादूगरों को साधारण जनता से आर्थिक उत्पादन कार्य मे शारीरिक श्रम (manual labour) कम करना पड़ता है, फिर भी इस कर्त्तव्य से वे पूर्णतया छुटकारा किसी भी समाज में नही पाते हैं। उन्हें भी उत्पादन कार्य मे सक्रिय भाग लेना या शारीरिक श्रम करना ही पड़ता है। साथ ही आर्थिक उत्पादन कार्यों के साथ विविध प्रकार के जादू-टोनों, धार्मिक कृत्यो, सस्कारो तथा परम्पराओं को जोड़ दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इसके बिना उत्पादन कार्यों में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

उत्पादन करने वाली या उत्पादन कार्य मे भाग लेने वाली इकाइयाँ व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय तीनों ही हैं। उदाहरणार्थ, भारत की कादर, चेंचू खरिया, कोरवा आदि जनजातियो मे परिवार के सब पुरुष-सदस्य एकसाथ मिलकर शिकार करने या मछली मारने जाते हैं, और सब स्त्री-सदस्य वनों से फल-मूल आदि इकट्ठा करती हैं। इस प्रकार एक कादर या चेंचू या कोरवा परिवार अपने सदस्यो के लिए भोजन की व्यवस्था करता है और साथ ही अपने समाज की भोजन-सकलन अर्थ-व्यवस्था की एक उत्पादक इकाई के रूप मे कार्य करता है। एस्कीमो समाज मे भी परिस्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग शिकार करने या मछली मारने जाना पडता है, फिर भी प्रत्येक सदस्य उत्पादन या संकलन के विषय मे एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। बहुधा दो व्यक्ति एकसाथ मिलकर शिकार करते हैं। केन्द्रीय अफ्रीका की लांगो (Lango) जनजाति मे बड़े-बड़े पशुओं का शिकार करने के लिए बहुत-से लोग एकसाथ जाते हैं। कभी-कभी तो पशुओं को घेरने और शिकार करने के लिए पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे सभी सहयोग देते है। माओरी (Maori) जनजाति मे सामुदायिक रूप मे उत्पादन या संकलन का सबसे उत्तम उदाहरण मिलता है। वहाँ सब लोग मिलकर भोजन को प्राप्त करते हैं और उसे मुखिया के पास जमा कर देते हैं जो कि उसे प्रत्येक परिवार की आवश्यकतानुसार बाँट देता है। जूनी जनजाति मे भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है।

वितरण
(Distribution)

एक अर्थ-व्यवस्था में वितरण से तात्पर्य उस प्रतिफल (reward) से है जो कि उत्पादन प्रक्रिया में योगदान करने वाली या हाथ बँटाने वाली प्रत्येक इकाई को प्राप्त होता है। यह प्रतिफल उत्पादित या संकलित वस्तु या भोजन (जैसे शिकार किया हुआ पशु या मछली या उगाया हुआ अनाज) का एक निश्चित हिस्सा, या सम्पूर्ण वस्तु (जब कि उस वस्तु का टुकड़ा नहीं किया जा सकता है। जैसे नाव या शिकार करने का कोई औज़ार) के रूप में मिल सकता है। आदिम समाजों में वितरण के सिद्धान्तों का एक सामाजिक, न कि आर्थिक आधार होता है। इसी कारण प्रतिफल की मात्रा प्रथा और परम्परा के अनुसार निर्धारित होती है। बहुधा प्रतिफल की यह मात्रा उत्पादन कार्य में सहयोग करने तथा कार्य करने वाले की स्थिति के अनुसार, न कि हमारे समाज की भांति एक व्यक्ति ने कितना काम किया है इसके अनुसार निश्चित होती है। उदाहरणार्थ, लांगो जनजाति (केन्द्रीय अफ्रीका) में जो भी पशु शिकार किया जाता है उसके कन्धे का हिस्सा शिकार करने वाले समूह के नेता या मुखिया को मिलता है। साथ ही, परम्परागत रूप में यह भी निश्चित होता है कि उस पशु के शरीर का कौनसा हिस्सा किसे प्राप्त होगा। कुछ जनजातियों में सामुदायिक खेत (communal field) में समुदाय के सब सक्षम, जिसमें मुखिया भी शामिल है, काम करते हैं और जो कुछ भी अनाज उत्पन्न होता है उसे मुखिया की देख-रेख में उसी के पास जमा कर दिया जाता है। फिर यह मुखिया जमा किये हुए अनाज को प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार बाँट देता है। इस वितरण में यह बात बड़ी नहीं है कि किस परिवार के कितने सदस्यों ने काम किया है, पर बड़ी बात यह है कि उस परिवार को कितना अनाज आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक परिवार में केवल एक व्यक्ति काम करने के योग्य है, परन्तु उस परिवार में खाने वाले (बूढ़े, बच्चे आदि जो खेत में काम नहीं कर सकते) पाँच व्यक्ति हैं, तो उस परिवार को इतना अनाज ही मिलेगा कि उन पाँचों व्यक्तियों का पेट भर सके। एक दूसरा परिवार चार व्यक्तियों का है जिसमें कि चारों लोग काम करने के योग्य हैं, तो उस परिवार को चार व्यक्तियों के खाने के लिए पर्याप्त अनाज ही प्राप्त होगा। यह परिवार यह नहीं कहेगा कि प्रथम परिवार को भी एक आदमी के काम करने पर पाँच व्यक्तियों का अनाज मिला तो दूसरे परिवार को भी चार व्यक्तियों के काम करने पर उसी अनुपात से बीस व्यक्तियों के खाने के लिए पर्याप्त अनाज मिलना चाहिए।

परन्तु सभी समाजों में वितरण का तरीका इतना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ, फिलीपाइन्स की इफूगाओ (Ifugao) जनजाति में खेती सामूहिक आधार पर नहीं बल्कि पारिवारिक आधार पर होती है। परन्तु जो फसल उत्पन्न होती है वह अधिकतर परिवार के लिए अपर्याप्त होती है ऐसी स्थिति में साल के किसी भाग में जब एक परिवार के पास कुछ भी अनाज खाने को नहीं रह जाता है तो वह पड़ोस के किसी दूसरे क समृद्ध परिवार से अनाज उधार ले लेता है जो कि मय सूद के अगली फसल

में लौटा देना होता है। इस सूद की दर (जो कि अनाज के रूप में ही चुकानी पड़ती है) बहुत ज्यादा होती है। इस प्रकार इस समाज में वितरण असमान होने के कारण वर्ग-शोषण (class exploitation) का रास्ता खुल जाता है। परन्तु होपी (Hopi) जनजाति में ऐसा नहीं होता है। वहाँ जब एक परिवार के पास भोजन नहीं रह जाता है तो उसे उसका सम्बन्धी परिवार उपहार (gift) के रूप में खाने की चीजें दे देता है और उनसे यह आशा की जाती है कि वह भी आवश्यकता पड़ने पर दूसरों को खाद्य सामग्री का उपहार देगा। जूनी (Zuni) समाज में फसल के मौसम में खाद्य सामग्री खुले हाथों उदारतापूर्वक वितरित की जाती है, खूब भोज दिया जाता है तथा अतिथि-सत्कार की धूम पड़ जाती है। प्रत्येक परिवार का प्रत्येक दूसरे परिवार के प्रति एक आर्थिक कर्तव्य-बोध होता है जिसके कारण किसी भी परिवार को भूखों मरने नहीं दिया जाता है।

उपभोग
(Consumption)

उपभोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादन तथा वितरण के साथ है। जिस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होगा और जिस मात्रा में उन चीजों का समुदाय के सदस्यों में वितरण होगा, उसी के अनुरूप वे सदस्य उन वस्तुओं का उपभोग भी करेंगे। आदिम समाजों के अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार उतना नहीं जितना कि सामाजिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति को अधिक उपभोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार इन समाजों में उपभोग के आधार पर आर्थिक विभेद या विशिष्टता को सामाजिक विभेद या विशिष्टता से सम्बन्धित किया जा सकता है। चूंकि एक मुखिया (chief) की सामाजिक स्थिति ऊँची है, इस कारण कुछ विषयों में उसे अधिक उपभोग करने का अधिकार है। वह साधारण लोगों से भिन्न तथा उत्तम पोशाकों को पहनता है, अच्छे मकान में रहता है तथा शिकार के एक विशिष्ट भाग को प्राप्त करता है। उसे भेंट या नजराने के तौर पर भी अनेक चीजें मिल जाती हैं। उसी प्रकार प्राय: सभी आदिम समाजों में कोई-न-कोई समूह, वर्ग या व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में कुछ-न-कुछ 'दृष्टि आकर्षक उपभोग' (conspicuous consumption) करता ही है, जिसके आधार पर उस व्यक्ति या वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। सामूहिक भोग (communal feast) के अवसर पर भी चीजों की बर्बादी तथा उपभोग दोनों ही अत्यधिक बढ़ जाते हैं। कुछ भी हो, आधुनिक समाजों की भाँति आदिम समाजों में विभिन्न वर्गों या व्यक्तियों के बीच उपभोग-प्रतिमान (consumption pattern) में उतना अधिक अन्तर या विभेद नहीं होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजों में उत्पादन की मात्रा भी अत्यधिक सीमित होती है। जिन समाजों में जीवित रहना ही एक समस्या है, वहाँ उपभोग की मात्रा में अधिक अन्तर हो भी कैसे सकता है? प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा कम होने के कारण आदिम समाजों में लोगों का जीवन-निर्वाह का स्तर (standard of living) भी बहुत नीचा होता है।

एकत्र कर लेने मात्र से ही उसे वह पद और नाम नहीं मिल जायगा जब तक वह उस भोज में दूसरे लोगों को या दूसरे गोत्रों के मुखियाओं आदि को आमंत्रित करके बुला नहीं लायेगा और उस अवसर पर उस एकत्रित किए हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नहीं करेगा जिससे कि दूसरों के ऊपर उसका रोब जम जाय और लोग उसे पद व नाम का अधिकारी मान लें। इसीलिए 'ब' एक विराट् भोज की व्यवस्था करेगा और आस-पास के गोत्र-समूहों के मुखियाओं और उनके साथियों को निमन्त्रण देकर बुलायेगा। उनके आने पर उनका शानदार स्वागत किया जायगा और फिर उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोजन खिलाया जायगा तथा कुछ चीजें उनमें से प्रत्येक अतिथि को उपहार के रूप में दी जायेंगी। तब 'ब' अतिथियों को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा करेगा कि वह अपने पिता या चाचा के पद और नाम को ग्रहण कर रहा है। इस घोषणा को उस भोज में उपस्थित मुख्य अतिथि स्वीकार कर लेते है और फिर बारी-बारी से अन्य सब मुखिया लोग भी 'ब' को उस पद और नाम के अधिकारी के रूप में मान लेते हैं। फिर नाच-गाने के साथ उस भोज का अन्त होता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की सिमशियन जनजातियों में उपरोक्त पॉटलैच प्रथा में सम्पूर्ण वातावरण औपचारिक, सांस्कारिक और आनन्ददायक या आमोद-प्रमोदमय होता है। परन्तु यह बात क्वाकिउल इण्डियनों (Kwakiutl Indians) के पॉटलैच के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है क्योंकि उनमें यह संस्था घोर प्रतिद्वन्द्वता तथा तनाव की भावना से भरपूर होती है। वास्तव में इस जनजाति के लिए पॉटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लड़ने' की एक विधि मात्र है जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति से भरपूर रहती है।[2] इस जनजाति में यह भावना प्रबल है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान अपने पास धन को इकट्ठा करके रखने से नहीं, बल्कि उसे दूसरों को दिखाकर, बर्बाद कर देने से प्राप्त होती है। इसीलिए अगर किसी को सामाजिक क्षेत्र में नीचा दिखाना है तो उसका सबसे सरल उपाय यही पॉटलैच है। 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हें नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट् भोज का आयोजन करके 'अ' को उनके साथियों के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे और उस अवसर पर अतिथियों में से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी। उदाहरण के लिए इस अवसर पर अतिथियों के सम्मान में अत्यधिक मूल्यवान सील तेल (seal oil) प्रचुर मात्रा में जला दिया जाता है; अनेक पशुओं को काटकर फेंक दिया जाता है। परन्तु मामला यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है। दिखावा, व्यय और बर्बादी का कटु चक्र इस प्रथम भोज के बाद भी

1. See V. E. Garfield, 'Tsimshian Clan and Society', *University of Washington Publications in Anthropology*, Vol. 7, No. 3, 1939. And also P. Drucker, 'Rank, Wealth and Kinship in Northwest Coast Society', *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1950.

2. R. F. Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1934, pp. 173-222.

जो फल सबसे पहले मिलता है उसे मुखिया को उपहार देने के लिए अलग रख दिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, जितनी भी मछलियाँ मारी जाती हैं और पक्षियों का शिकार किया जाता है, वह सब-कुछ मुखिया को 'भेंट' कर दिया जाता है। उनमें से मुखिया प्रत्येक को उसकी आवश्यकता, पद तथा अधिकार के अनुसार बाँट देता है; पर इससे भी पहले अपने उपभोग के लिए, सामूहिक कार्यों के लिए तथा अन्य समूहों के मुखियाओं को उपहार देने के लिए एकत्रित सामग्री का अधिकतर भाग मुखिया अपने ही पास रख लेता है। साथ ही, एक मुखिया उपहार के रूप में दूसरों से कुछ भी माँग सकता है और लोगों को वह माँग पूरी करनी होती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मुखिया कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसे उसका मुह-माँगा उपहार न देने पर वह नाराज हो जायगा जिसका कि परिणाम बुरा ही होगा।

'पॉटलैच' (*Potlatch*)—उपहार देने का एक अनोखा तरीका अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की जनजातियों में देखने को मिलता है जिसे कि 'पॉटलैच' (*potlatch*) कहते हैं। पॉटलैच एक बहुत ही व्यय-साध्य (expensive) भोज का नाम है जिसका कि प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है। इस भोज में दूसरों को आमन्त्रित किया, खिलाया-पिलाया और उपहार इसलिए दिया जाता है कि दूसरे भी देख लें कि भोज देने वाले के पास कितना धन इकट्ठा हो गया है और उस धन को वह किस हद तक खर्च कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को बहुत ऊँचा मानता है, परन्तु उसके मानने मात्र से ही उसकी स्थिति (status) ऊँची नहीं हो जायगी जब तक वह पॉटलैच नामक एक विराट् भोज का आयोजन न करे और अन्य समूह के लोगों को उस भोज में आमन्त्रित करके खिला-पिलाकर और उपहार देकर यह प्रमाणित न करे कि वास्तव में ही वह उस स्थिति के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पॉटलैच के लिए धन को एकत्रित करना आवश्यक होता है, परन्तु इस एकत्रित धन का कोई भी महत्त्व जीवन-स्तर को उन्नत करने में या विनिमय कार्य में या दूसरे मनुष्य पर शासन करने में नहीं है। इस धन का औपचारिक या सांस्कारिक (ceremonial) पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है और इस सांस्कारिक पक्ष की अभिव्यक्ति (expression) ही पॉटलैच नामक संस्था है। दूसरे शब्दों में, पॉटलैच वह सामाजिक व विधिवत् तरीका है जिससे एक व्यक्ति सार्वजनिक रूप में या, जैसा कि लोग कहते हैं, डंके की चोट पर एक सम्मानजनक पद या स्थिति को प्राप्त करता है। जिन लोगों में यह संस्था पाई जाती है वे यह विश्वास करते हैं कि चुपके से किसी स्थिति को प्राप्त कर लेना अपमानजनक है।

सिमशियन जनजाति में पॉटलैच को बहुत ही औपचारिक ढंग से आयोजित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति 'अ' एक गोत्र-समूह का मुखिया है और उस रूप में उसे एक विशेष नाम से सब लोग पुकारते हैं। इस 'अ' व्यक्ति की मृत्यु के बाद इसका लड़का या भतीजा 'व' उस मुखिया-पद तथा उससे सम्बन्धित नाम को ग्रहण करना चाहता है। 'व' उस पद और नाम को तब तक ग्रहण नहीं करेगा जब तक वह अपने पास इतना धन इकट्ठा न कर लेगा जिससे वह एक विराट् भोज (पॉटलैच) का आयोजन कर सके। उस धन को

मूलतः सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित उपहार देने की प्रथा का आर्थिक पक्ष भी आदिम समाजों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। साथ ही, आदिम समाजों में, आधुनिक समाजों की भाँति, यह नियम भी सार्वभौम नहीं है कि उपहार में कुछ लेने से समान अवसर पर उपहार देने वाले को बदले में उपहार देना ही होगा। उदाहरणार्थ, जूनी (Zuni) जनजाति में उपहार देना सदैव एकतरफा होता है जिसे कि धन के पुनर्वितरण (redistribution) के एक निश्चित साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है और वह इस अर्थ में कि जिसके पास धन (जिसमें खाद्य सामग्री, औजार, उपकरण आदि सब कुछ सम्मिलित हैं) नहीं है उसे यह निश्चित सामाजिक अधिकार है कि वह उस धन को उनसे प्राप्त करे जिनके पास वह अधिक मात्रा में है। इस प्रकार जूनी जनजाति के लोग उपहार देने की प्रथा के माध्यम से असमान आर्थिक वितरण को अर्थात् समुदाय में पाई जाने वाली आर्थिक असमानताओं को बहुत-कुछ सन्तुलित करने में सफल होते हैं।

माओरी (Maori) जनजाति की तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उपहार देने की प्रथा पर ही आधारित है। यह जनजाति शिकार करके, मछली पकड़ के तथा फल-मूल इकट्ठा करके जीवन निर्वाह करती है। यह सभी काम सामूहिक आधार पर होता है।

जो धन सबसे पहले मिलता है उसे मुखिया को उपहार देने के लिए अलग रख दिया जाता है। केवल इतना ही नहीं, जितनी भी मछलियाँ मारी जाती हैं और पक्षियों का शिकार किया जाता है, वह सब-कुछ मुखिया को 'भेंट' कर दिया जाता है। उनमें से मुखिया प्रत्येक को उसकी आवश्यकता, पद तथा अधिकार के अनुसार बाँट देता है; पर इससे भी पहले अपने उपभोग के लिए, सामूहिक कार्यों के लिए तथा अन्य समूहों के मुखियाओं को उपहार देने के लिए एकत्रित सामग्री का अधिकतर भाग मुखिया अपने ही पास रख लेता है। साथ ही, एक मुखिया उपहार के रूप में दूसरों से कुछ भी माँग सकता है और लोगों को वह माँग पूरी करनी होती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मुखिया कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसे उसका मुँह-माँगा उपहार न देने पर वह नाराज हो जायगा जिसका कि परिणाम बुरा ही होगा।

'पॉटलैच' (*Potlatch*)—उपहार देने का एक अनोखा तरीका अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की जनजातियों में देखने को मिलता है जिसे कि 'पॉटलैच' (*potlatch*) कहते हैं। पॉटलैच एक बहुत ही व्यय-साध्य (expensive) भोज का नाम है जिसका कि प्रमुख उद्देश्य अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना है। इस भोज में दूसरों को आमन्त्रित किया, खिलाया-पिलाया और उपहार इसलिए दिया जाता है कि दूसरे भी देख लें कि भोज देने वाले के पास कितना धन इकट्ठा हो गया है और उस धन को वह किस हद तक खर्च कर सकता है। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को बहुत ऊँचा मानता है, परन्तु उसके मानने मात्र से ही उसकी स्थिति (status) ऊँची नहीं हो जायगी जब तक वह पॉटलैच नामक एक विराट् भोज का आयोजन न करे और अन्य समूह के लोगों को उस भोज में आमन्त्रित करके खिला-पिलाकर और उपहार देकर यह प्रमाणित न करे कि वास्तव में ही वह उस स्थिति के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पॉटलैच के लिए धन को एकत्रित करना आवश्यक होता है, परन्तु इस एकत्रित धन का कोई भी महत्व जीवन-स्तर को उन्नत करने में या विनिमय कार्य में या दूसरे मनुष्य पर शासन करने में नहीं है। इस धन का औपचारिक या सांस्कारिक (ceremonial) पक्ष ही महत्वपूर्ण है और इस सांस्कारिक पक्ष की अभिव्यक्ति (expression) ही पॉटलैच नामक संस्था है। दूसरे शब्दों में, पॉटलैच वह सामाजिक व विधिवत् तरीका है जिससे एक व्यक्ति सार्वजनिक रूप में या, जैसा कि लोग कहते हैं, डंके की चोट पर एक सम्मानजनक पद या स्थिति को प्राप्त करता है। जिन लोगों में यह संस्था पाई जाती है वे यह विश्वास करते हैं कि चुपके से किसी स्थिति को प्राप्त कर लेना अपमानजनक है।

सिमशियन जनजाति में पॉटलैच को बहुत ही औपचारिक ढंग से आयोजित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति 'अ' एक गोत्र-समूह का मुखिया है और उस रूप में उसे एक विशेष नाम से सब लोग पुकारते हैं। इस 'अ' व्यक्ति की मृत्यु के बाद इसका लड़का या भतीजा 'ब' उस मुखिया-पद तथा उससे सम्बन्धित नाम को ग्रहण करना चाहता है। 'ब' उस पद और नाम को तब तक ग्रहण नहीं करेगा जब तक वह अपने पास इतना धन इकट्ठा न कर लेगा जिससे वह एक विराट् भोज (पॉटलैच) का आयोजन कर सके। उस धन को

एकत्र कर लेने मात्र से ही उसे वह पद और नाम नहीं मिल जायगा जब तक वह उस भोज में दूसरे लोगों को या दूसरे गोत्रों के मुखियाओं आदि को आमंत्रित करके बुला नहीं लायेगा और उस अवसर पर उस एकत्रित किए हुए धन को मुक्त हस्त से खर्च या बर्बाद नहीं करेगा जिससे कि दूसरों के ऊपर उसका रौब जम जाय और लोग उसे पद व नाम का अधिकारी मान लें। इसीलिए 'ब' एक विराट् भोज की व्यवस्था करेगा और आस-पास के गोत्र-समूहों के मुखियाओं और उनके साथियों को निमन्त्रण देकर बुलायेगा। उनके आने पर उनका शानदार स्वागत किया जायगा और फिर उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोजन खिलाया जायगा तथा कुछ चीज़ें उनमें से प्रत्येक अतिथि को उपहार के रूप में दी जायेंगी। तब 'ब' अतिथियों को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा करेगा कि वह अपने पिता या चाचा के पद और नाम को ग्रहण कर रहा है। इस घोषणा को उस भोज में उपस्थित मुख्य अतिथि स्वीकार कर लेते हैं और फिर बारी-बारी से अन्य सब मुखिया लोग भी 'ब' को उस पद और नाम के अधिकारी के रूप में मान लेते हैं। फिर नाच-गाने के साथ उस भोज का अन्त होता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट की सिमशियन जनजातियों में उपरोक्त पॉटलैच प्रथा में सम्पूर्ण वातावरण औपचारिक, सांस्कारिक और आनन्ददायक या आमोद-प्रमोदमय होता है। परन्तु यह बात क्वाकिउल इण्डियनों (Kwakiutl Indians) के पॉटलैच के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है क्योंकि उनमें यह संस्था घोर प्रतिद्वन्द्वता तथा तनाव की भावना से भरपूर होती है। वास्तव में इस जनजाति के लिए पॉटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लड़ने' की एक विधि मात्र है जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति से भरपूर रहती है।[2] इस जनजाति में यह भावना प्रबल है कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान अपने पास धन को इकट्ठा करके रखने से नहीं, बल्कि उसे दूसरों को दिखाकर, बर्बाद कर देने से प्राप्त होती है। इसीलिए अगर किसी को सामाजिक क्षेत्र में नीचा दिखाना है तो उसका सबसे सरल उपाय यही पॉटलैच है। 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हें नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट् भोज का आयोजन करके 'अ' को उनके साथियों के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे और उस अवसर पर अतिथियों में से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बर्बादी। उदाहरण के लिए इस अवसर पर अतिथियों के सम्मान में अत्यधिक मूल्यवान सील तेल (seal oil) प्रचुर मात्रा में जला दिया जाता है; अनेक पशुओं को काटकर फेंक दिया जाता है। परन्तु मामला यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है। दिखावा, व्यय और बर्बादी का कटु चक्र इस प्रथम भोज के बाद भी

1. See Y. E. Garfield, 'Tsimshian Clan and Society', *University of Washington Publications in Anthropology*, Vol. 7, No. 3, 1939. And also P. Drucker, 'Rank, Wealth and Kinship in Northwest Coast Society', *Readings in Anthropology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1960.
2. R. F. Benedict, *Patterns of Culture*, New York, 1937, pp. 173-222.

इन बाजारों मे जनजाति के लोग अपना-अपना सामान लेकर पहुँच जाते हैं और फिर चीजों का आदान-प्रदान कर लेते हैं।

मूक अदला-बदली (Dumb barter)—विनिमय के अनेक रोचक रूप हमे आदिम समाजो मे देखने को मिलते हैं। इनमे से एक रूप 'मूक अदला-बदली प्रथा' (dumb barter system) है।[1] सभ्य समाज के हम सब लोगो को यह जानकर अचम्भा हो सकता है कि आदि मानव अपने शत्रु-समूहों (enemy groups) से भी व्यापार या विनिमय करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाज के लोग यह अनुभव करते हैं कि दुश्मनी को आर्थिक मामलो से दूर रखना ही अधिक लाभप्रद है। मूक अदला-बदली प्रथा का यही आधार है। मलाया की पिग्मी सेमग (The Pygmy Semang) जनजाति जंगलो से प्राप्त होने वाली अनेक वस्तुओं को अपने शत्रु सकाई (Sakai) जनजाति को देकर उसके बदले मे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करती है। इस विनिमय-व्यवस्था को 'मूक अदला-बदली प्रथा' इसलिए कहते हैं कि इस प्रथा के अन्तर्गत न तो वस्तुओं का मोल-भाव किया जाता है और न ही अदला-बदली करते समय कोई पक्ष (party) एक-दूसरे को देखता है। सेमंग लोग अपनी वस्तुओ को एक निर्धारित स्थान पर अपनी आवश्यकताओ के संकेत के साथ छोड़कर या रखकर चले जाते हैं; जब सकाई लोग उन चीजो को वहाँ देखते हैं तो वे उनमे से उन चीजो को ले लेते हैं जिनकी कि उन्हे आवश्यकता है और उसके बदले उन चीजो को रख देते हैं जिनकी कि आवश्यकता सेमग लोगों को है। कुछ समय के बाद सेमग लोग वहाँ फिर आते हैं और उन चीजों को अपने साथ ले जाते हैं।

कार्थागिनीय (Carthaginian) सौदागर लोग भी अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम तट के आदिवासियों के साथ मूक अदला-बदली प्रथा के द्वारा ही व्यापार करते हैं। ये सौदागर अपनी वस्तुओं को समुद्र के किनारे रखकर अपने जहाजों में लौट जाते हैं। पर जाने से पहले वहाँ आग जलाकर धुआँ उड़ा देते हैं ताकि वहाँ के आदिवासी लोग यह जान जाएँ कि समुद्र के किनारे सामान रखा हुआ है। उस धुंए को देखकर वहाँ के निवासी वहाँ आते हैं और उन चीजों को उठाकर ले जाते हैं और उसके बदले में सोना (gold) रख देते हैं। उनके चले जाने पर सौदागर लोग फिर उस स्थान पर आते हैं और अगर सोने की उस मात्रा से जो कि आदिवासी लोग छोड़ गये हैं वे सन्तुष्ट हैं तो उसे लेकर वे लौट जाते हैं। परन्तु यदि सोने की मात्रा कम है तो वे अपने जहाज में लौटकर और सोना पाने के लिए इन्तजार करते हैं। कुछ देर बाद आदिवासी लोग फिर आकर कुछ और सोना रखकर चले जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक सौदागरों को उचित मात्रा में सोना नहीं मिल जायगा तब तक वे वहाँ से जायेंगे नहीं।[2] मूक अदला-बदली की प्रथा आज भी अफ्रीका के कुछ भागों में पाई जाती है। इसका प्रचलन लंका की वेड्डा (Vedda) जनजाति में भी है। ये लोग तो रात्रि के अन्धकार में अपनी चीजों को एक स्थान पर रखकर

1. *Ibid.*, p. 453-454
2. W. D. Hambly, 'Source Book for African Anthropology', *Field Museum of Natural History*, Anthropological Series, Vol. 26, Part 2, p. 650.

व्यापार और विनिमय
(Trade and Exchange)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं के आदान-प्रदान करने के तीन प्रमुख तरीके उपहार, व्यापार और विनिमय हैं। उपहार के विषय में हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। अब हम अन्य दो साधनों, व्यापार और विनिमय के विषय में विवेचना करेंगे।

उपहार और व्यापार दोनों ही विनिमय के दो महत्त्वपूर्ण साधन या तरीके हैं। परन्तु इन दो तरीकों में, जैसा कि होबल (Hoebel) ने लिखा है, महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि उपहार के माध्यम से विनिमय सामाजिक सम्बन्धों पर अधिक बल देता है जबकि व्यापार के द्वारा विनिमय का प्रमुख उद्देश्य वस्तुओं का वितरण है; यद्यपि व्यापार के माध्यम से भी सामाजिक सम्बन्ध पनपता है क्योंकि व्यापार सामाजिक अन्तःक्रिया पर ही आधारित होता है। उपहार के माध्यम से विनिमय भी वस्तुओं को वितरित करता है परन्तु इसका प्रमुख सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्बन्ध से होता है।[1]

आदिम समाज आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक अविकसित या पिछड़ा हुआ होता है। इन समाजों में उत्पादन की मात्रा भी प्रायः इतनी ही होती है कि समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् विनिमय या व्यापार के लिए प्रायः कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। साथ ही आदिम लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ भी कुछ ही चीज़ों तक सीमित रहती हैं जिनमें से प्रायः सभी चीज़ों को वे स्वयं ही उत्पन्न कर लेते हैं। इसलिए भी व्यापार के माध्यम से विविध वस्तुओं को प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता आदिम लोग अनुभव नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त यातायात (transport) के साधनों की अत्यधिक कमी, घने जंगल, दुर्गम पहाड़ी और रेगिस्तानी प्रदेश, जहाँ कि आदिम समाज बसे होते हैं, अन्तर्जनजातीय व्यापार (intertribal trade) के विकास के पथ पर भारी रुकावटें हैं। इसीलिए आदिम समाजों में अधिकतर विनिमय आपसी अदला-बदली (barter) के द्वारा ही कर लिया जाता है। यह बहुत ही सरल व्यवस्था है और अपनी एक चीज़ दूसरे को देकर उससे उसकी एक चीज़ ले लेना ही इस विनिमय-व्यवस्था (exchange system) का आदि और अन्त है। चूँकि इस प्रकार से अदला-बदली द्वारा विनिमय होने वाली वस्तुओं की संख्या व मात्रा दोनों ही बहुत कम होती हैं, इस कारण न तो नियमित बाज़ारों की और न ही विस्तृत व्यापार-प्रणालियों (trading procedures) की आवश्यकता होती है। बहुधा व्यापार-सम्बन्धी सम्पर्क दो व्यक्तियों के बीच होता है जो कि कभी-कभी अनियमित रूप से अपनी-अपनी वस्तुओं की अदला-बदली करने के उद्देश्य से मिलते रहते हैं। किन्हीं-किन्हीं जनजातियों में खुले बाज़ार (open market) में वस्तुओं का विनिमय अदला-बदली या अन्य उपाय से होता है।

---

1. E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958, p. 452.

इन बाजारों में जनजाति के लोग अपना-अपना सामान लेकर पहुँच जाते हैं और फिर चीजों का आदान-प्रदान कर लेते हैं।

मूक अदला-बदली (Dumb barter)—विनिमय के अनेक रोचक रूप हमें आदिम समाजों में देखने को मिलते हैं। इनमें से एक रूप 'मूक अदला-बदली प्रथा' (dumb barter system) है।[1] सभ्य समाज के हम सब लोगों को यह जानकर अचम्भा हो सकता है कि आदि मानव अपने शत्रु-समूहों (enemy groups) से भी व्यापार या विनिमय करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाज के लोग यह अनुभव करते हैं कि दुश्मनी को आर्थिक मामलों से दूर रखना ही अधिक लाभप्रद है। मूक अदला-बदली प्रथा का यही आधार है। मलाया की पिग्मी सेमग (The Pygmy Semang) जनजाति जंगलों से प्राप्त होने वाली अनेक वस्तुओं को अपने शत्रु सकाई (Sakai) जन-जाति को देकर उसके बदले में अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करती है। इस विनिमय-व्यवस्था को 'मूक अदला-बदली प्रथा' इसलिए कहते हैं कि इस प्रथा के अन्तर्गत न तो वस्तुओं का मोल-भाव किया जाता है और न ही अदला-बदली करते समय कोई पक्ष (party) एक-दूसरे को देखता है। सेमंग लोग अपनी वस्तुओं को एक निर्धारित स्थान पर अपनी आवश्यकताओं के संकेत के साथ छोड़कर या रखकर चले जाते हैं; जब सकाई लोग उन चीजों को वहाँ देखते हैं तो वे उनमें से उन चीजों को ले लेते हैं जिनकी कि उन्हें आवश्यकता है और उसके बदले उन चीजों को रख देते हैं जिनकी कि आवश्य-कता सेमग लोगों को है। कुछ समय के बाद सेमंग लोग वहाँ फिर आते हैं और उन चीजों को अपने साथ ले जाते हैं।

कार्थागिनीय (Carthaginian) सौदागर लोग भी अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम तट के आदिवासियों के साथ मूक अदला-बदली प्रथा के द्वारा ही व्यापार करते हैं। ये सौदा-गर अपनी वस्तुओं को समुद्र के किनारे रखकर अपने जहाजों में लौट जाते हैं। पर जाने से पहले वहाँ आग जलाकर धुआँ उड़ा देते हैं ताकि वहाँ के आदिवासी लोग यह जान जाएँ कि समुद्र के किनारे सामान रखा हुआ है। उस धुंए को देखकर वहाँ के निवासी वहाँ आते हैं और उन चीजों को उठाकर ले जाते हैं और उसके बदले में सोना (gold) रख देते हैं। उनके चले जाने पर सौदागर लोग फिर उस स्थान पर आते हैं और अगर सोने की उस मात्रा से जो कि आदिवासी लोग छोड़ गये हैं वे सन्तुष्ट हैं तो उसे लेकर वे लौट जाते हैं। परन्तु यदि सोने की मात्रा कम है तो वे अपने जहाज में लौटकर और सोना पाने के लिए इन्तज़ार करते हैं। कुछ देर बाद आदिवासी लोग फिर आकर कुछ और सोना रखकर चले जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक सौदागरों को उचित मात्रा में सोना नहीं मिल जायगा तब तक वे वहाँ से जायेंगे नहीं।[2] मूक अदला-बदली की प्रथा आज भी अफ्रीका के कुछ भागों में पाई जाती है। इसका प्रचलन लंका की वेड्डा (Vedda) जन-जाति में भी है। ये लोग तो रात्रि के अन्धकार में अपनी चीजों को एक स्थान पर रखकर

---

1. *Ibid*, p 453-454
2. W. D Hambly, 'Source Book for African Anthropology', *Field Museum of Natural History*, Anthropological Series, Vol. 26, Part 2, p. 650.

चले जाते हैं और फिर दूसरी रात को आकर उसी स्थान से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले जाते हैं। इन सबको 'नीरव व्यापार' (silent trade) भी कहते हैं।

परन्तु ऐसे भी अनेक आदिम समाज हैं जहाँ कि नियमित रूप से विनिमय तथा व्यापार होता। उदाहरणार्थ, होपी जनजाति खेती के सामान्य तथा सूती कपड़ा आदि का थोड़ा-बहुत व्यापार अपने पास-पड़ोस की जनजातियों के साथ करती है। उसी प्रकार आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति के लोग अपने से प्रायः दो सौ मील दूर कुइन्सलैण्ड (Queensland) में निवास करने वाली जनजातियों के साथ व्यापार करते हैं।[1]

कुछ आदिम समाजों में ऐसा भी देखा जाता है कि वहाँ वस्तुओं के उत्पादन के विषय में विशेषीकरण (specialization) है। एक जनजाति एक विशिष्ट चीज का उत्पादन विशेष रूप से करती है और इस प्रकार उस वस्तु का इतनी मात्रा में उत्पादन कर लेती है कि सामुदायिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी कुछ भाग विनिमय के लिए शेष रह जाता है। उत्तर-पश्चिम कैलिफोर्निया की तटीय इण्डियन जनजातियों से अलास्का तक की कतिपय जनजातियों में इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। न्यू मैक्सिको की सिया इण्डियन स्त्रियाँ बहुत सुन्दर मिट्टी के बर्तन बनाती हैं परन्तु इनसे दस मील दूर पर रहने वाली प्युब्लो (Pueblo) जनजाति यह काम बिल्कुल नहीं करती है। उसी प्रकार कुछ और इण्डियन जनजातियाँ पशुओं की खाल और माँस का व्यापार अपने पड़ौस की जनजातियों के साथ करती हैं।

जिन आदिम समाजों में अदला-बदली की प्रथा प्रचलित नहीं है, वहाँ व्यापार क्रय-विक्रय के द्वारा भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, नाइजेरिया (Nigeria) में जनजातीय समाजों में क्रय-विक्रय के लिए नियमित बाज़ार लगता है जहाँ कि लोग अनेक प्रकार की चीजों को बेचने और खरीदने के लिए आते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियों में भी क्रय-विक्रय के द्वारा वस्तुओं का विनिमय या व्यापार होता है। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्राओं का कम प्रचलन जनजातीय समाजों में है। कुछ आदिम समाजों में पशु, तो कुछ में शंख एवं कौड़ियाँ और कुछ में चटाइयाँ आदि विनिमय के माध्यम के रूप में काम में लाये जाते हैं। भारत में उत्तरी-पूर्वी सीमान्त प्रदेश में तिब्बती घण्टियों के माध्यम से व्यापार होता है। जो आदिम समाज सभ्य समाजों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये हैं, उनमें मुद्राओं का प्रचार और विनिमय के रूप में उनका प्रचलन दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

'कूला' (Kula)—आदिम समाजों में व्यापार करने के जितने भी तरीके प्रचलित हैं उनमें सबसे विस्तृत, जटिल तथा औपचारिक प्रथा या तरीका उत्तर-पश्चिमी मेलानेशिया का 'कूला' व्यापार प्रथा है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने मेलानेशिया की ट्रोब्रियंड द्वीपों में निवास करने वाली जनजातियों में प्रचलित इस कूला-प्रथा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह आज भी अपूर्व माना जाता है।[2] आपके अनुसार कूला

1. Beals and Hoijer, *op. cit.*, p. 424.
2. See B. Malinowski, *Argonauts of the Western Pacific*, London, 1922.

को केवल एक व्यापार-प्रथा या आर्थिक क्रिया मान लेना उचित न होगा क्योंकि इस प्रथा के प्रत्येक पग पर प्रत्येक क्रिया परम्परागत नियमों तथा संस्कारों द्वारा नियन्त्रित होती है और इसके साथ अनेक प्रकार के जादू-टोने व धार्मिक कृत्य और सार्वजनिक उत्सव जुड़े हुए होते हैं। इसलिए कूला को व्यापार-क्रिया, जादू-टोना, धार्मिक व सांस्कारिक आदान-प्रदान, यात्रा और मनोरंजन का एक संकुल (complex) मानना ही अधिक उचित होगा।

कूला व्यापार-प्रथा का आधार म्वाली (*mwali*) नामक सफेद सीप के कंगन (arm bands) और सौलवा (*soulava*) नामक लाल सीप का बना हार (necklace) होता है। ये दोनों चीजें एक जनजातीय समूह से दूसरे को एक विशेष दिशा-क्रम से हस्तान्तरित होती रहती हैं। सौलवा सदैव घड़ी का काटा जिस दिशा-क्रम से घूमता है उसी दिशा-क्रम (clockwise direction) से एक जनजातीय समूह से दूसरे को हस्तान्तरित होता है, जबकि म्वाली का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा (counter clockwise) होता है। उदाहरणार्थ, अगर सौलवा 'अ' से 'ब', 'ब' से 'स', 'स' से 'द', और 'द' से फिर 'अ' जनजातीय समूह में हस्तान्तरित होता रहेगा, तो म्वाली का हस्तान्तरित होने का दिशा-क्रम ठीक इसका उल्टा होगा अर्थात् 'अ' से 'द', 'द' से 'स' से 'ब' और 'ब' से फिर 'अ' जनजातीय समूह में हस्तान्तरित होगा। जिन जनजातीय समूहों में ये दोनों चीजें चक्कर काटती रहती हैं उनमें 'कूला' सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहों में ही व्यापार होता है। 'अ' से 'द' समूह को जैसे ही म्वाली (कंगन) प्राप्त होता है, तो 'द' समूह जल्द-से-जल्द उसके बदले में 'अ' समूह को सौलवा (हार) देता है और इसी क्रम से परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। कोई भी व्यक्ति या समूह उसे अधिक समय तक अपने पास रोककर नहीं रखता, बल्कि जल्द-से-जल्द उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देता है ताकि व्यापार-सम्बन्ध की निरन्तरता बनी रहे। यह सम्बन्ध केवल एक बार के लेन-देन से ही समाप्त नहीं हो जाता है क्योंकि नियम यह है कि जिसके साथ एक बार कूला-सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसके साथ वह सम्बन्ध सदैव के लिए बना रहेगा (once in the Kula, always in the Kula)। इसलिए कूला का व्यापार-सम्बन्ध एक स्थायी और सारे जीवन-भर के लिए होता है।

इस कूला व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत एकाधिक जनजातीय समूहों में हार और कंगन का लेन-देन ही सांस्कारिक (ceremonial) दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत है, परन्तु व्यावहारिक रूप में इन दोनों चीजों के साथ-साथ जनजातीय लोग अन्य अनेक आवश्यक वस्तुओं का व्यापार आपस में करते रहते हैं। परन्तु यह व्यापार केवल कूला-सम्बन्ध से सम्बन्धित समूहों में ही होता है और कोई भी पक्ष कूला के सांस्कारिक और सामाजिक पक्ष को और उससे सम्बन्धित नियमों को कभी भी भूल नहीं जाता है।

कूला व्यापार-चक्र में हस्तान्तरित होने वाले हार और कंगन का अपना एक महत्त्व और इतिहास होता है। ये चीजें न तो उपयोगी होती हैं और न ही कोई आभूषण। इनका कोई मूल्य नहीं होता है जिससे कि दूसरी चीजों का मूल्य आंका जाना हो और न ही इन चीजों को कभी भी किसी भी उसके बदले में कोई आव-

श्यक चीज को लिया जाता है। वे तो केवल व्यापार-सम्बन्ध के प्रतीक हैं और इसीलिए सम्मान के द्योतक हैं। एक गांव या समुदाय में इस हार या कंगन के होने से उस गांव या समुदाय का महत्त्व और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है। इसलिए इसे प्राप्त करना गौरव की बात है। इसके साथ आर्थिक उपयोगिता या मुनाफाखोरी के विचार को जोड़ना भी अन्याय समझा जाता है।

कूला का उद्देश्य ऐसा एक सांस्कारिक गोष्ठी का निर्माण करना है जिससे सदस्य-समूह में परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान या व्यापार एक परम्परागत रीति से तथा शान्ति-पूर्ण व सुव्यवस्थित ढंग से चलता रहे। इससे लड़ाकू जनजातियों के बीच आर्थिक लेन-देन के मामले में संघर्ष होने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने लिखा है कि कूला एक ऐसी प्रथा है जो कि आदिवासियों के दृष्टिकोण से उन्हें गौरव तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है और इसीलिए इसके प्रति उनका मनोभाव सम्मानसूचक ही होता है। हार या कंगन के लेन-देन के समय आदिवासियों के व्यवहार से यह स्पष्टतः पता चलता है कि उनके लिए यह न केवल अमूल्य है वरन् सांस्कारिक या धार्मिक महत्त्व का भी है; इस कारण इसके साथ अनेक प्रकार की उद्वेगात्मक प्रतिक्रियाएँ (emotional reactions) जुड़ी होती हैं।[1]

अतः स्पष्ट है कि एक वस्तु के रूप में कूला व्यापार-चक्र में हस्तान्तरित होने वाले हार और कंगन का कोई भी महत्त्व नहीं है; इसका तो महत्त्व केवल इसलिए है कि इसके साथ एक इतिहास, व्यापार, प्रतिष्ठा, धर्म तथा जादू के तत्त्व जुड़े रहते हैं। इसी कारण इन दो चीजों के सम्बन्ध में सबसे अनोखी बात यह है कि अपने समूह में एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा या सम्मान इस बात पर निर्भर नहीं है कि यह हार या कंगन उसके पास है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि ये चीजें कभी उसके पास थीं। इसलिए कोई भी व्यक्ति इन चीजों को अधिक दिन तक अपने पास नहीं रखता है। किसी व्यक्ति के द्वारा इन चीजों को निश्चित समय से अधिक अपने पास रोक रखने पर लोगों को पहले आश्चर्य होता है और वे उस व्यक्ति की समालोचना करते हैं। इसपर भी कोई फल न होने पर उसे चेतावनी दी जाती है और उसके इस कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। बहुत अधिक समय तक हार या कंगन को रोक रखने पर उस व्यक्ति को कूला-गोष्ठी से निकाल दिया जाता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति
(Property in Primitive Economies)

प्रत्येक प्रकार की ही अर्थ-व्यवस्था में, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, सम्पत्ति की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस

1. "To the native it is something that confers dignity and exalts him and which he therefore treats with veneration. Their behaviour at the transaction makes it clear that it is regarded, not only as possessing high value, but that it is treated also in a ritual manner, and arouses emotional reaction."—B. Malinowski, *Ibid.*, p. 83.

किसी भी चीज की जरूरत मानव को होती है, उसी को वह 'सम्पत्ति' के अन्तर्गत ले आता है या मान लेता है। परन्तु आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति की धारणा उस रूप में नहीं है जिस रूप में हम लोग अपने आधुनिक समाज में रहते हुए उसे जानते हैं। श्री लोई (Lowie) ने उचित ही लिखा है कि सम्पत्ति की धारणा औद्योगिक विकास तथा नैतिक विचारों में परिवर्तन के साथ-साथ निरन्तर बदलती रहती है। फल-मूल इकट्ठा करने वाले लोगों में पशुओं को सम्पत्ति न मानना ही स्वाभाविक है। उसी प्रकार पशुपालक समूहों के सदस्यों के लिए यह हो स्वाभाविक है कि वे पशुओं को तथा अधिक-से-अधिक चरागाह को सम्पत्ति मानें। दूसरे प्रकार के भूमि को वे भला क्यों सम्पत्ति मानेंगे ? उसी प्रकार आधुनिक औद्योगिक समाज में पूँजी, मशीन और मिल व फैक्ट्री को छोड़ कर फल-मूल को सम्पत्ति मानना मूर्खता ही होगी। संक्षेप में, आधुनिक दृष्टिकोण से आदिम समाज में पाई जाने वाली सम्पत्ति की धारणा की विवेचना उचित न होगी।

श्री गोल्डनवीज़र (Goldenwieser) के मतानुसार आधुनिक पश्चिमी दुनिया में सम्पत्ति आराम प्राप्त करने के लिए, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए और दूसरे लोगों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए होती है। परन्तु आदिम समाजों में सम्पत्ति की ये तीनों उपयोगिताएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी कि सभ्य समाजों में। आदिम समाजों के अध्ययन से यह पता चलता है कि वहाँ विभिन्न सदस्यों के बीच आर्थिक स्थिति के आधार पर उतना अधिक भेद नहीं होता जितना कि हम लोगों के अपने समाज में पाया जाता है। यहाँ एक सामान्य मजदूर और एक मिल-मालिक के बीच विराट् अन्तर सम्पत्ति या धन के आधार पर है, उतना अन्तर आदिम समाजों में कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। वहाँ तो सब को, जो भी काम करने के लिए सक्षम है, काम करना पड़ता है और इस परिश्रम के स्वरूप में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। इसलिए सम्पत्ति या धन के आधार पर भेद भी बहुत ज्यादा नहीं हो पाता है। सभी को प्रायः एक-सा खाने-पीने, पहनने और रहने को मिलता है और सभी लोग प्रायः समान 'आराम' का उपभोग करते हैं।

सम्पत्ति को, जिसपर कि लोग अपना अधिकार मान सकते हैं और मानते हैं, तीन प्रमुख श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(क) प्राकृतिक चीजें जैसे, भूमि, नदी, नहर, समुद्र, पशु, मछली, खनिज-पदार्थ, पेड़-पौधा और इनसे पैदा होने वाले फल-मूल आदि; (ख) मनुष्य द्वारा बनायी गयी चीजें, जैसे मकान, कपड़ा, आभूषण, नाव, तीर-धनुष आदि और (ग) अभौतिक सम्पत्ति (incorporeal property) जैसे, उपकथाएँ, संगीत, जादू-टोना आदि। आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनों प्रकार की सम्पत्तियों की विवेचना हम अलग-अलग करें।

(क) सम्पत्ति के रूप में प्राकृतिक चीजों में भूमि का स्थान सबसे पहले आता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि भूमि के साथ मनुष्य का सम्बन्ध केवल मात्र आर्थिक ही नहीं होता है। अपने जन्म-स्थान की भूमि को हम पवित्र मानते हैं और उसके

श्यक चीज को लिया जाता है। वे तो केवल व्यापार-सम्बन्ध के सम्मान के द्योतक हैं। एक गांव या समुदाय में इस हार या कंगन समुदाय का महत्त्व और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है। इसलिए इसे बात है। इसके साथ आर्थिक उपयोगिता या मुनाफाखोरी के अन्याय समझा जाता है।

कूला का उद्देश्य ऐसा एक सांस्कारिक गोष्ठी का निर्माण व समूह में परस्पर आर्थिक आदान-प्रदान या व्यापार एक परम्परागत पूर्ण व सुव्यवस्थित ढंग से चलता रहे। इससे लड़ाकू जनजातियों के के मामले में संघर्ष होने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं (Malinowski) ने लिखा है कि कूला एक ऐसी प्रथा है जो कि आदि से उन्हें गौरव तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है और इसीलिए इसके सम्मानसूचक ही होता है। हार या कंगन के लेन-देन के समय आदि से यह स्पष्टतः पता चलता है कि उनके लिए यह न केवल अमूल्य है धार्मिक महत्त्व का भी है; इस कारण इसके साथ अनेक प्रकार की उद्वे (emotional reactions) जुड़ी होती हैं।[1]

अतः स्पष्ट है कि एक वस्तु के रूप में कूला व्यापार-चक्र के वाले हार और कंगन का कोई भी महत्त्व नहीं है; इसका तो महत्त्व के इसके साथ एक इतिहास, व्यापार, प्रतिष्ठा, धर्म तथा जादू के तत्त्व कारण इन दो चीजों के सम्बन्ध में सबसे अनोखी बात यह है कि अपने की प्रतिष्ठा या सम्मान इस बात पर निर्भर नहीं है कि यह हार या कं वरन् इस बात पर निर्भर है कि ये चीजें कभी उसके पास थीं। इसलिए इन चीजों को अधिक दिन तक अपने पास नहीं रखता है। किसी व्यक्ति चीजों को निश्चित समय से अधिक अपने पास रोक रखने पर लोगों होता है और वे उस व्यक्ति की समालोचना करते हैं। इसपर भी को उसे चेतावनी दी जाती है और उसके इस कार्य को सन्देह की दृष्टि से बहुत अधिक समय तक हार या कंगन को रोक रखने पर उस व्यक्ति को निकाल दिया जाता है।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति
(Property in Primitive Economies)

प्रत्येक प्रकार की ही अर्थ-व्यवस्था में, चाहे वह आदिम हो या आ की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी विविध आवश्यकताओं की पू

1. "To ... ve it is something that confers dignity and e ... hich he ... treats with veneration. Their behaviour at th ... it ... hat it is regarded, not only as possessing high valu is ... o in a ritual manner, and arouses emotional re ... , *Ibid.*, p. 83.

करने तथा मछली पकड़ने के भूमि-क्षेत्रों पर सामूहिक अधिकार के अलावा व्यक्तिगत अधिकार भी पाये जाते हैं।

पशुपालक जनजातियों में भी भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध में पर्याप्त उदासीनता है। कोमांची इण्डियन लोग भूमि पर अपना कोई अधिकार नहीं मानते हैं— न तो व्यक्तिगत आधार पर और न ही सामूहिक आधार पर। इसके विपरीत साइबेरिया की टुगस (Tungus) जनजाति में चरागाहों को पूरे गोत्र की संयुक्त सम्पत्ति माना जाता है।

भूमि को वास्तविक सम्पत्ति मानने की प्रवृत्ति फलोद्योग तथा कृषि करने वाली जनजातियों में देखने को मिलती है। पश्चिमी अफ्रीका की जनजातियों में एक प्रकार की सामन्तवादी व्यवस्था (feudal system) पाई जाती है। समस्त भूमि निरंकुश शासक या राजा की होती है। वह उसको विभिन्न मुखियाओं को बाँट देता है; फिर ये मुखिया उस भूमि को गोत्रों में बाँटते हैं; फिर गोत्र का मुखिया उसे प्रत्येक व्यक्ति या परिवार में बाँट देता है। इन परिवारों को यह अधिकार है कि उस जमीन को वे बगीचा लगाने के काम में लाएँ; पर भूमि का वास्तविक मालिक निरंकुश राजा ही समझा जाता है। इण्डोनेशिया की खेती करने वाली जनजातियों में समस्त भूमि सम्पूर्ण गाँव की सम्पत्ति समझी जाती है। अगर किसी भूमि पर खेती नहीं होती है तो समुदाय का कोई सदस्य मुखिया से आज्ञा लेकर उस भूमि को अपने निजी काम में ला सकता है।

भोजन या खाने-पीने की चीजों पर अधिकार के सम्बन्ध में जनजातियों में कुछ भिन्नता पाई जाती है। फिर भी, अधिकतर जनजातियाँ भोजन को प्रकृति का एक अंश मानती हैं, इसलिए उस पर सीमित अधिकार ही सम्भव है। जूनी जनजाति के लोगों का यह विश्वास है कि खलियान में रखे हुए अनाज की अपनी एक इच्छा (will) होती है और यदि आतिथ्य (hospitality) के नियमों का उल्लंघन किया जायगा तो वह अनाज भाग जायगा या गायब हो जायगा। इसलिए अगर कोई भी उनमें से भोजन माँगता है तो वे कभी इन्कार नहीं करते हैं। डकोटा (Dakota) लोगों का तो विश्वास है कि भोजन पर वास्तव में अधिकार सम्भव ही नहीं है। कैनगेंग (Kaingang) जनजाति में प्रत्येक बड़े शिकार को खेमा (camp) की समस्त स्त्रियों में बाँट दिया जाता है। वेड्डा (Vedda) लोगों में एक ही स्त्री अपने पूरे समूह के लिए खाना पकाती है। कोमाची (Comanchee) जनजाति में जब एक शिकारी शिकार लेकर अपने खेमे में लौटता है तो उस शिकार पर उन सबका हिस्सा होता है, जो भी हिस्सा लेने के लिए उस समय वहाँ उपस्थित होता है। शिकारी उन्हें हिस्सा देने से इन्कार नहीं कर सकता। संक्षेप में, भोजन के सम्बन्ध में उदारता बरतना आदिम अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता या आदर्श है : परन्तु कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ कैनाडा की ओजिबवा (Ojibwa) जनजाति का एक सदस्य शीतकाल में जो कुछ भी शिकार करता है या मछली पकड़ता है वह उसकी निजी सम्पत्ति होती है और वह उसको किसी भी रूप में काम ला सकता है। परन्तु जैसे ही वह शिकार को अपनी पत्नी के हवाले कर देता है

वैसे ही उस पर से उसका समस्त अधिकार समाप्त हो जाता है। फिर उसे पत्नी अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकती है। पत्नी अपनी उस सम्पत्ति से भोजन तथा वस्त्र बनाती है और उन तैयार चीज़ों को उपहार के रूप में अपने पति व छोटे बच्चों को देती है और अपने लिए रख लेती है। यह उपहार जिन्हें प्राप्त होता है, वह उनकी ही सम्पत्ति हो जाती है।

(ख) **सम्पत्ति के रूप में मनुष्य द्वारा बनाई गई चीज़ों** के सम्बन्ध में भी जन-जातीय समाजों में एक-सा विचार नहीं है। औज़ार और उपकरणों पर सामान्यतः व्यक्तिगत अधिकार ही होता है। नियम यह है कि जिन वस्तुओं को व्यक्ति ने श्रम या प्रयत्न से बनाया है उन पर उसी व्यक्ति का अधिकार होगा और वह उन्हें बेच तथा हस्तान्तरित कर सकता है। परन्तु इन चीज़ों के सम्बन्ध में आदिम समाजों में एक अनोखी बात यह है कि वहाँ लोगों को यह असीमित अधिकार होता है कि वे इन चीज़ों को दूसरों से अपने काम के लिए माँग सकते हैं, विशेषकर उन चीज़ों (शिकार के औज़ार आदि) को जो कि एक व्यक्ति के पास अधिक मात्रा (surplus) में हैं। उदाहरणार्थ, कैनगेंग जनजाति में अगर कोई चीज फालतू पड़ी हुई है तो उसे कोई भी उसके मालिक से आज्ञा लिए बिना ही ले जा सकता है और फिर सुविधानुसार लौटायी जा सकती है। हाँ, अगर मालिक को उस चीज की आवश्यकता है तो वह उस व्यक्ति से उस चीज़ को लौटा देने की माँग भी कर सकता है। एस्कीमो लोगों में तो यह भावना है कि 'अ' ने अपने किसी शिकार करने के उपकरण को 'ब' को काम में लाने के लिए दे दिया है तो इसका यही अर्थ है कि 'अ' को उस चीज़ की आवश्यकता नहीं है। इसलिए 'ब' के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह उस चीज़ को, जब तक उसे उसकी आवश्यकता है, 'अ' को लौटा ही दे।

(ग) **अभौतिक सम्पत्ति** (Incorporeal Property) की धारणा केवल जन-जातीय समाजों में ही नहीं, आधुनिक समाजों में भी प्रायः समान रूप से पाई जाती है। हम अपने समाज में भी देखते हैं कि दूकानदारी या व्यापार में 'सुनाम' (good name) का एक मूल्य होता है। उस कम्पनी के नाम पर और कोई भी व्यक्ति अपनी चीज़ों को बेच नहीं सकता। '7 O' Clock' इस नाम से कोई भी कम्पनी अपने ब्लेड (blade) को बेच नहीं सकती। हाँ, यह हो सकता है कि इससे मिलता-जुलता कोई नाम जैसे '6 O'Morning' रख लिया जाय। ट्रेड मार्क या पेटेण्ट के द्वारा इस प्रकार की 'सुनाम' रूपी सम्पत्ति की रक्षा की जाती है। उसी प्रकार ग्रामोफोन रेकार्ड कम्पनी, फिल्म कम्पनी, प्रकाशक आदि संगीत, कहानी आदि के रूप में अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा 'कॉपी राइट' (Copy Right) के द्वारा करते हैं। यहाँ तक कि पारिवारिक नाम भी सम्पत्ति हो सकती है। इसलिए यदि हम यह कहते हैं कि आदिम समाजों में नाम, उपकथा, जादू-टोने के तरीके, संगीत आदि महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है, तो शायद किसी को भी आश्चर्य न होगा। अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी तट पर निवास करने वाली कुछ जनजातियों में कतिपय उपकथाओं को एक वंश-विशेष की सम्पत्ति माना जाता है और उन्हें कोई दूसरा वंश व्यवहार में नहीं ला सकता है। क्वाकिउल (Kwakiutl) इण्डियनों

में एक विशेष नाम को सबसे बड़ी सम्पत्ति समझा जाता है और उस नाम को प्राप्त करने के लिए एक पॉटलैच (*potlatch*) का आयोजन करके एक व्यक्ति अपनी समस्त सम्पत्ति को बर्बाद करने के लिए भी तैयार रहता है। यही कारण है कि नाम को प्राप्त करने के विषय को लेकर उस समाज में प्रतिद्वन्द्विता के अनेक कटु उदाहरण पाये जाते हैं। उसी प्रकार डोबुअन (Dobuan) जनजाति में जादू-टोने की प्रणालियों को सीखने के विषय को लेकर लोगों में खूब संघर्ष होता है। स्पष्ट है कि इन सब अभौतिक चीजों को सम्पत्ति इसलिए समझा जाता है क्योंकि इन चीजों के अधिकारी होने से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व प्रतिष्ठा आप-से-आप ऊँची उठ जाती है। इसी कारण लोग इसे सम्पत्ति मानकर इसकी रक्षा करते हैं।

आदिम साम्यवाद[1]
(Primitive Communism)

उपरोक्त विवेचना से आदिम अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। यह मानी हुई बात है कि आदिम समाजों में सम्पत्ति को, विशेषकर भूमि, भोजन आदि प्राकृतिक चीजों को लेकर 'तू-तू, मैं-मैं' का झगड़ा उतना कटु और उग्र नहीं है जितना कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत हमें देखने को मिलता है। इसी के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि आदिम अर्थ-व्यवस्था आवश्यक रूप से साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था है। इस विचार का समर्थन विशेष रूप से उद्विकासवादी लेखक करते हैं। उद्विकासवादी योजना के अनुसार यह सोचना स्वाभाविक ही है कि चूँकि आधुनिक युग में घोर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पाई जाती है, इस कारण आदिकालीन समाजों में इसकी बिल्कुल विपरीत व्यवस्था—साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था—ही पाई जाती होगी। यह उपकल्पना केवल कल्पना मात्र ही है, इसके पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार यह कहना गलत होगा कि प्रत्येक विषय में आदिम अर्थ-व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था है, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि निजी सम्पत्ति की धारणा उन समाजों में उतने ही उग्र रूप में है जितनी कि हम लोगों के अपने समाजों में; अर्थात् आदिम समाजों में साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्षण बिल्कुल नहीं पाये जाते हैं, यह कहना उचित न होगा। निम्नलिखित विश्लेषण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने लिखा है कि उपलब्ध मानवशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक घटना (historic Phenomenon) के रूप में सम्पत्ति मनुष्य की, जैसा कि उसे हम जानते हैं, सदा से ही साथी रही है। मनुष्य और सम्पत्ति दोनों ही प्रारम्भ से साथ-साथ विराजमान हैं। मनुष्य है और सम्पत्ति की धारणा नहीं है, ऐसा कभी नहीं हुआ है। निजी 'सम्पत्ति'

1. See Robert H. Lowie, *Primitive Society*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1953, pp. 196–200.

की धारणा तो, एक अर्थ में, पशु-समाज में भी पाई जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि पशुओं में मनुष्य के सबसे घनिष्ठ और पुराने साथी कुत्ते ने मनुष्य से जितनी भी चीजें सीखी हैं, उनमें निजी सम्पत्ति की धारणा भी एक है। अतः स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति की धारणा कोई नयी धारणा नहीं है। फिर भी इतना अवश्य है कि इस धारणा का रूप या स्वरूप और साथ ही इसकी क्रियाशीलता व व्यावहारिक प्रयोग सभी काल में एकसमान नहीं था और न रहने की आशा ही की जा सकती है। अगर हम इस पृष्ठभूमि पर आदिम अर्थ-व्यवस्था की विवेचना या विश्लेषण करें तो उसका वास्तविक स्वरूप स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

तथाकथित आदिम साम्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्री लोई (Lowie) ने दो तर्कों को प्रस्तुत किया है जो निम्नवत हैं—

प्रथमतः, निजी सम्पत्ति और अधिकार का नाम तक न हो, इस प्रकार का पूर्ण साम्यवाद शायद कभी भी नहीं था; फिर भी संयुक्त या समष्टिगत मिलकियत (collective ownership) आदिम समाजों में सामान्य हैं। आदिम समाजों में यह देखा जाता है कि विवाह एक व्यक्तिगत विषय न होकर दो परिवारों के बीच का एक संयुक्त सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति भी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्मिलित रूप में बहुतों की होती है, जो कि साधारणतः एक ही गोत्र के सदस्य होते हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) जैसे विद्वान भारत के प्राचीन या परम्परागत जीवन के इस पक्ष को देखकर इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि आपका तो निष्कर्ष ही यह था कि समष्टिगत मिलकियत एक अति प्राचीन संस्था है जो कि व्यक्तिगत मिलकियत (individual ownership) से पहले विद्यमान थी। दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की धारणा का वर्तमान रूप प्रकट होने से पहले सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि सम्मिलित अधिकार हुआ करता था। यह सम्मिलित अधिकार दो व्यक्तियों का, या एक परिवार का, या कुछ परिवारों का, या एक भ्रातृदल का, या एक धार्मिक गोष्ठी का, या एक गोत्र का हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि यह अधिकार सदैव सामुदायिक अधिकार (communal ownership) ही हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक सम्पूर्ण गाँव में केवल एक ही गोत्र के सदस्य रहते हैं। फलतः गाँव के सभी लोग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या अपने को सम्बन्धित मानते हैं और इसलिए ज़मीन आदि के विषय में बँटवारा न करके उन पर सम्मिलित या संयुक्त अधिकार रखना ही अधिक लाभदायक समझते हैं। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उस आदिम अर्थ-व्यवस्था में साम्यवाद का कोई-न-कोई लक्षण अवश्य ही स्पष्ट है।

द्वितीयतः, कभी-कभी कुछ सामाजिक नियम, आचार, प्रथा या परम्परा की क्रियाशीलता के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि बहुत-कुछ साम्यवादी अवस्था से मिलती-जुलती है। फलतः हम उसी को साम्यवाद कह डालते हैं। परन्तु वास्तव ... नहीं है। वास्तव में वैधानिक दृष्टिकोण से साम्यवाद और सामान्य सामाजिक ... के अनुसार साम्यवाद, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। आदिम समाजों के सम्बन्ध ... यह बात और भी सच है क्योंकि वहाँ कानून या विधान बिल्कुल ही अस्पष्ट है।

इसलिए उस दृष्टिकोण से उनकी किसी भी संस्था को परिभाषित करना अगर असम्भव नही तो कष्टकर अवश्य ही है। वास्तव में बात यह है कि आदिम समाज छोटा और सरल होता है और एक गाँव या समुदाय मे अधिकतर सदस्य एक-दूसरे के नाते-रिश्तेदार (चाहे वास्तविक हों या कल्पित) होते हैं। जो नाते-रिश्तेदार नही भी हैं उन्हे भी लोग घनिष्ठ रूप से जानते-पहचानते हैं। इस कारण उस गाँव या समुदाय के सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति एक आतंरिक कर्त्तव्य-बोध से बँधे रहते हैं और हर समय एक-दूसरे की सहायता (जिसमे कि आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है) करने के लिए तैयार रहते हैं। अतः जिसे हम लोग साम्यवाद कहने की गलती करते हैं वह वास्तव मे आदिम लोगो का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध, नैतिक नियमो का पालन या आतिथ्य (hospitality) की अभिव्यक्ति मात्र है। 'आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति' की विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठों मे इस प्रकार के अनेक सामाजिक नियमों, अतिथि-सत्कार आदि के उदाहरण दिये गये है। फिर यहाँ पर उनमें से दो-तीन उदाहरणो को दोहरा देना ही उचित होगा। जूनी जनजाति में यह विश्वास है कि अगर अतिथि-सत्कार के नियमो का उचित ढग से पालन नही किया जायगा तो खलिहान का अनाज आप-से-आप गायब हो जायगा। इस विश्वास के आधार पर ही अगर कोई भी किसी भी समय खाने की चीज किसी भी जूनी परिवार से मागता है तो उसे फौरन वह चीज दे दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ मे उस जूनी समुदाय की सभी खाने की चीजो पर प्रत्येक जूनी का पूर्ण अधिकार है और इस दृष्टिकोण से कम-से-कम खाद्यान्न पर किसी व्यक्ति या परिवार विशेष का नही, बल्कि सम्पूर्ण समुदाय का अधिकार है। परन्तु यह साम्यवाद नहीं है क्योंकि दूसरे के अधिकार को केवल सामाजिक नियम के पालन के हेतु स्वीकार किया जाता है, वास्तविक अधिकार व्यक्ति या परिवार का ही होता है। उसी प्रकार डकोटा (Dakota) जनजाति के लोग यह अनुभव करते हैं कि खाने की चीजो पर वास्तव मे किसी का अधिकार हो ही नही सकता और किसी से भी कोई चीज उपहार के रूप मे मागी जा सकती है और उस उपहार को देने से इन्कार भी किसी को न करना चाहिए। 'जो माँगने पर उपहार देने से इन्कार करता है वह सच्चा डकोटा नही है।' कुछ भी हो, पर यह साम्यवाद नही है क्योंकि वास्तविक अधिकार व्यक्तिगत या पारिवारिक ही है और उस वास्तविक मालिक से चीजें मागी जाती हैं और वह भी उपहार के रूप में। उसी प्रकार कोमांची जनजाति का एक सदस्य अपने शिकार से दूसरों को हिस्सा सामाजिक नियम या शिष्टाचार का पालन करने के लिए देता है, न कि इसलिए देता है कि दूसरों का उस शिकार पर अधिकार है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि अधिकतर जनजातियों का आर्थिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण है। उन्हे प्रकृति से घोर मोर्चा लेकर अपना पेट पालना होता है। प्रकृति से इस प्रकार का मोर्चा निरन्तर लेने के लिए केवल व्यक्तिगत शक्ति ही पर्याप्त नही होती, संयुक्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इस कारण आर्थिक क्षेत्र मे केवल परिवार के सभी सदस्यों की ही नहीं, बल्कि समूह के अन्य लोगों के सहयोग की भी आवश्यकता होती है। सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब बहुत से लोग सहयोग करते हैं या करने को तैयार रहते हैं तो उनमे स्वभावतः ही 'हम' की भावना पनपती है और वे अपने-

की धारणा तो, एक अर्थ में, पशु-समाज में भी
उल्लेखनीय है कि पशुओं में मनुष्य के सबसे घ
जितनी भी चीजें सीखी हैं, उनमें निजी सम्पत्ति
निजी सम्पत्ति की धारणा कोई नयी धारणा नह
धारणा का रूप या स्वरूप और साथ ही इसकी
काल में एकसमान नहीं था और न रहने की आ
पृष्ठभूमि पर आदिम अर्थ-व्यवस्था की विवेचना
स्वरूप स्वत: ही स्पष्ट हो जायगा।

तथाकथित आदिम साम्यवाद के स्वरू
(Lowie) ने दो तर्कों को प्रस्तुत किया है जो f

प्रथमत:, निजी सम्पत्ति और अधिकार
साम्यवाद शायद कभी भी नहीं था; फिर भी
tive ownership) आदिम समाजों में सामान
कि विवाह एक व्यक्तिगत विषय न होकर दो
है। ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति भी किसी एक
की होती है, जो कि साधारणत: एक ही गोत्र
Henry Maine) जैसे विद्वान भारत के प्राच
देखकर इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि अ
मिलकियत एक अति प्राचीन संस्था है जो
ownership) से पहले विद्यमान थी। दूसरे
सम्पत्ति की धारणा का वर्तमान रूप प्रकट होने
का नहीं बल्कि सम्मिलित अधिकार हुआ
व्यक्तियों का, या एक परिवार का, या कुछ प
धार्मिक गोष्ठी का, या एक गोत्र का हो सकता
सदैव सामुदायिक अधिकार (communal o
ोता है कि एक सम्पूर्ण गाँव में केवल एक
लोग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या
न आदि के विषय में बँटवारा न करके उन
क लाभदायक समझते हैं। ऐसी अवस्थ
में साम्यवाद का कोई-न-कोई लक्षण

द्वितीयत:, कभी-कभी कुछ सामाजि
ता के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न
से मिलती-जुलती है। फलत: हम उस
नहीं है। वास्तव में वैधानिक दृ
के अनुसार साम्यवाद, इन दोनों में पर
यह बात और भी सच है क्योंकि वहाँ

इसलिए उस दृष्टिकोण से उनकी किसी भी संस्था को परिभाषित करना अगर असम्भव नहीं तो कष्टकर अवश्य ही है। वास्तव में बात यह है कि आदिम समाज छोटा और सरल होता है और एक गांव या समुदाय में अधिकतर सदस्य एक-दूसरे के नाते-रिश्तेदार (चाहे वास्तविक हों या कल्पित) होते हैं। जो नाते-रिश्तेदार नहीं भी हैं उन्हें भी लोग घनिष्ठ रूप से जानते-पहचानते हैं। इस कारण उस गांव या समुदाय के सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति एक आंतरिक कर्त्तव्य-बोध से बँधे रहते है और हर समय एक-दूसरे की सहायता (जिसमें कि आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है) करने के लिए तैयार रहते हैं। अतः जिसे हम लोग साम्यवाद कहने की गलती करते हैं वह वास्तव में आदिम लोगों का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध, नैतिक नियमों का पालन या आतिथ्य (hospitality) की अभिव्यक्ति मात्र है। 'आदिम अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति' की विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठों मे इस प्रकार के अनेक सामाजिक नियमों, अतिथि-सत्कार आदि के उदाहरण दिये गये है। फिर यहाँ पर उनमें से दो-तीन उदाहरणों को दोहरा देना ही उचित होगा। जूनी जनजाति मे यह विश्वास है कि अगर अतिथि-सत्कार के नियमों का उचित ढग से पालन नहीं किया जायगा तो खलिहान का अनाज आप-से-आप गायब हो जायगा। इस विश्वास के आधार पर ही अगर कोई भी किसी भी समय खाने की चीज किसी भी जूनी परिवार से मांगता है तो उसे फौरन वह चीज दे दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ मे उस जूनी समुदाय की सभी खाने की चीजों पर प्रत्येक जूनी का पूर्ण अधिकार है और इस दृष्टिकोण में कम-से-कम खाद्यान्न पर किसी व्यक्ति या परिवार विशेष का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समुदाय का अधिकार है। परन्तु यह साम्यवाद नहीं है क्योंकि दूसरे के अधिकार को केवल सामाजिक नियम के पालन के हेतु स्वीकार किया जाता है, वास्तविक अधिकार व्यक्ति या परिवार का ही होता है। उसी प्रकार डकोटा (Dakota) जनजाति के लोग यह अनुभव करते हैं कि खाने की चीजों पर वास्तव में किसी का अधिकार हो ही नहीं सकता और किसी से भी कोई चीज उपहार के रूप में मांगी जा सकती है और उस उपहार को देने से इन्कार भी किसी को न करना चाहिए। 'जो माँगने पर उपहार देने से इन्कार करता है वह सच्चा डकोटा नहीं है।' कुछ भी हो, पर यह साम्यवाद नहीं है क्योंकि वास्तविक अधिकार व्यक्तिगत या पारिवारिक ही है और उस वास्तविक मालिक से चीजें मांगी जाती हैं और वह भी उपहार के रूप में। उसी प्रकार कोमांची जनजाति का एक सदस्य अपने शिकार से दूसरों को हिस्सा सामाजिक नियम या शिष्टाचार का पालन करने के लिए देता है, न कि इसलिए देता है कि दूसरों का उस शिकार पर अधिकार है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि अधिकतर जनजातियों का आर्थिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण है। उन्हें प्रकृति से घोर मोर्चा लेकर अपना पेट पालना होता है। प्रकृति मे इस प्रकार का मोर्चा निरन्तर लेने के लिए केवल व्यक्तिगत शक्ति ही पर्याप्त नहीं होती, संयुक्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इस कारण आर्थिक क्षेत्र में केवल परिवार के सभी सदस्यों की ही नहीं, बल्कि समूह के अन्य लोगों के सहयोग की भी आवश्यकता होती है। सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब बहुत से लोग सहयोग करते हैं या करने को तैयार रहते हैं तो उनमें स्वभावतः ही 'हम' की भावना पनपती है और वे अपने-

की धारणा तो, एक अर्थ में, पशु-समाज में भी पाई जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि पशुओं में मनुष्य के सबसे घनिष्ठ और पुराने साथी कुत्ते ने मनुष्य से जितनी भी चीज़ें सीखी हैं, उनमें निजी सम्पत्ति की धारणा भी एक है। अतः स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति की धारणा कोई नयी धारणा नहीं है। फिर भी इतना अवश्य है कि इस धारणा का रूप या स्वरूप और साथ ही इसकी क्रियाशीलता व व्यावहारिक प्रयोग सभी काल में एकसमान नहीं था और न रहने की आशा ही की जा सकती है। अगर हम इस पृष्ठभूमि पर आदिम अर्थ-व्यवस्था की विवेचना या विश्लेषण करें तो उसका वास्तविक स्वरूप स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

तथाकथित आदिम साम्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्री लोवि (Lowic) ने दो तर्कों को प्रस्तुत किया है जो निम्नवत हैं—

प्रथमतः, निजी सम्पत्ति और अधिकार का नाम तक न हो, इस प्रकार का पूर्ण साम्यवाद शायद कभी भी नहीं था; फिर भी संयुक्त या समष्टिगत मिलकियत (collective ownership) आदिम समाजों में सामान्य हैं। आदिम समाजों में यह देखा जाता कि विवाह एक व्यक्तिगत विषय न होकर दो परिवारों के बीच का एक संयुक्त सम्बन्ध है। ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति भी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्मिलित रूप में बहुत की होती है, जो कि साधारणतः एक ही गोत्र के सदस्य होते हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) जैसे विद्वान भारत के प्राचीन या परम्परागत जीवन के इस पक्ष को देखकर इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि आपका तो निष्कर्ष ही यह था कि समष्टिगत मिलकियत एक अति प्राचीन संस्था है जो कि व्यक्तिगत मिलकियत (individual ownership) से पहले विद्यमान थी। दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की धारणा का वर्तमान रूप प्रकट होने से पहले सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि सम्मिलित अधिकार हुआ करता था। यह सम्मिलित अधिकार कुछ व्यक्तियों का, या एक परिवार का, या कुछ परिवारों का, या एक भ्रातृदल का, या एक धार्मिक गोष्ठी का, या एक गोत्र का हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि यह अधिकार सदैव सामुदायिक अधिकार (communal ownership) ही हो। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक सम्पूर्ण गाँव में केवल एक ही गोत्र के सदस्य रहते हैं। फलतः गाँव के सभी लोग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या अपने को सम्बन्धित मानते हैं और इसलिए ज़मीन आदि के विषय में बँटवारा न करके उन पर सम्मिलित या संयुक्त अधिकार रखना ही अधिक लाभदायक समझते हैं। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उस आदिम अर्थ-व्यवस्था में साम्यवाद का कोई-न-कोई लक्षण अवश्य ही स्पष्ट है।

द्वितीयतः, कभी-कभी कुछ सामाजिक नियम, आचार, प्रथा या परम्परा की क्रियाशीलता के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि बहुत-कुछ साम्यवादी अवस्था से मिलती-जुलती है। फलतः हम उसी को साम्यवाद कह डालते हैं। परन्तु वास्तव में वैसा नहीं है। वास्तव में वैधानिक दृष्टिकोण से साम्यवाद और सामान्य सामाजिक नियम के अनुसार साम्यवाद, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। आदिम समाजों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी सच है क्योंकि वहाँ कानून या विधान बिल्कुल ही अस्पष्ट है

इसलिए उस दृष्टिकोण से उनकी किसी भी संस्था को परिभाषित करना अगर असम्भव नहीं तो कष्टकर अवश्य ही है। वास्तव में बात यह है कि आदिम समाज छोटा और सरल होता है और एक गाँव या समुदाय में अधिकतर सदस्य एक-दूसरे के नाते-रिश्तेदार (चाहे वास्तविक हों या कल्पित) होते हैं। जो नाते-रिश्तेदार नहीं भी हैं उन्हें भी लोग घनिष्ठ रूप से जानते-पहचानते हैं। इस कारण उस गाँव या समुदाय के सभी सदस्य एक-दूसरे के प्रति एक आतरिक कर्त्तव्य-बोध से बँधे रहते हैं और हर समय एक-दूसरे की सहायता (जिसमें कि आर्थिक सहायता भी सम्मिलित है) करने के लिए तैयार रहते है। अतः जिसे हम लोग साम्यवाद कहने की गलती करते हैं वह वास्तव में आदिम लोगो का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बोध, नैतिक नियमों का पालन या आतिथ्य (hospitality) की अभिव्यक्ति मात्र है। 'आदिम अर्थ-व्यवस्था मे सम्पत्ति' की विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठों में इस प्रकार के अनेक सामाजिक नियमो, अतिथि-सत्कार आदि के उदाहरण दिये गये हैं। फिर यहाँ पर उनमें से दो-तीन उदाहरणों को दोहरा देना ही उचित होगा। जूनी जनजाति मे यह विश्वास है कि अगर अतिथि-सत्कार के नियमों का उचित ढग से पालन नहीं किया जायगा तो खलिहान का अनाज आप-से-आप गायब हो जायगा। इस विश्वास के आधार पर ही अगर कोई भी किसी भी समय खाने की चीज किसी भी जूनी परिवार से मागता है तो उसे फौरन वह चीज दे दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ मे उस जूनी समुदाय की सभी खाने की चीजों पर प्रत्येक जूनी का पूर्ण अधिकार है और इस दृष्टिकोण में कम-से-कम खाद्यान्न पर किसी व्यक्ति या परिवार विशेष का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समुदाय का अधिकार है। परन्तु यह साम्यवाद नहीं है क्योंकि दूसरे के अधिकार को केवल सामाजिक नियम के पालन के हेतु स्वीकार किया जाता है, वास्तविक अधिकार व्यक्ति या परिवार का ही होता है। उसी प्रकार डकोटा (Dakota) जनजाति के लोग यह अनुभव करते हैं कि खाने की चीजों पर वास्तव मे किसी का अधिकार हो ही नहीं सकता और किसी से भी कोई चीज उपहार के रूप मे मांगी जा सकती है और उस उपहार को देने से इन्कार भी किसी को न करना चाहिए। 'जो माँगने पर उपहार देने से इन्कार करता है वह सच्चा डकोटा नहीं है।' कुछ भी हो, पर यह साम्यवाद नहीं है क्योंकि वास्तविक अधिकार *व्यक्तिगत या पारिवारिक ही है और उस वास्तविक मालिक से चीजें* मागी जाती हैं और वह भी उपहार के रूप मे। उसी प्रकार कोमाँची जनजाति का एक सदस्य अपने शिकार से दूसरों को हिस्सा सामाजिक नियम या शिष्टाचार का पालन करने के लिए देता है, न कि इसलिए देता है कि दूसरों का उस शिकार पर अधिकार है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि अधिकतर जनजातियों का आर्थिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण है। उन्हे प्रकृति से घोर मोर्चा लेकर अपना पेट पालना होता है। प्रकृति से इस प्रकार का मोर्चा निरन्तर लेने के लिए केवल व्यक्तिगत शक्ति ही पर्याप्त नहीं होती, संयुक्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इस कारण आर्थिक क्षेत्र मे केवल परिवार के सभी सदस्यों की ही नहीं, बल्कि समूह के अन्य लोगों के सहयोग की भी आवश्यकता होती है। सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब बहुत से लोग सहयोग करते हैं या करने को तैयार रहते है तो उनमें स्वभावतः ही 'हम' की भावना पनपती है और वे अपने-

पराये के भेद को बहुत स्पष्ट रूप से खींचना लाभकारी नहीं समझते हैं। इसीलिए खाने-पीने तथा अन्य चीज़ों को दूसरे की आवश्यकता पड़ने पर मुक्त-हस्त से दान कर देते हैं उस दान या उपहार को ग्रहण करने वाले के मन में भी इसी कारण कोई अपने-पराये की भावना जागृत नहीं होती है। यही कारण है कि एस्कीमो समूह का एक सदस्य दूसरे की चीज़ों को उसके मालिक को बताये बिना ही उठा ले जाता है और माँगकर भी ले जाता है तो भी उस चीज़ को तब तक लौटाकर नहीं देता है जब तक उसे उस चीज की जरूरत है। परन्तु यह साम्यवाद नहीं है, आर्थिक सहकारी की भावना मात्र है क्योंकि उस चीज़ पर वास्तविक अधिकार उसके मालिक का ही है, न कि उस व्यक्ति का जो कि उसे माँगकर ले जाता है।

विभिन्न समाजों के निष्पक्ष निरीक्षण से यह पता चलता है कि प्रत्येक समाज में ही संयुक्त तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के ही अधिकार या मिलकियत (ownership) पाई जाती है। जहाँ तक आदिम समाजों का सम्पर्क है, उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि ये चीजें जो कि प्रत्यक्ष रूप से जीवन-धारण के मामले में सहायक हैं अर्थात् जीवित रहने के साधन हैं जैसे, शिकार करने के क्षेत्र, मछली पकड़ने की नदी और तालाब, बगीचा लगाने की ज़मीन, खेत आदि पर व्यक्तिगत अधिकार न रखकर अधिकतर सम्मिलित अधिकार ही रक्खा जाता है क्योंकि जनजातीय जीवन के संघर्ष में यही अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके विपरीत रोज के व्यवहार की चीज़ों जैसे मकान, कपड़ा, आभूषण आदि पर प्राय: सभी आदिम समाजों में व्यक्तिगत अधिकार ही माना जाता है। वे सभी चीजें जो कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत श्रम या प्रयत्न से उत्पन्न करता या इकट्ठा करता है, उसे निजी सम्पत्ति (private property) ही मानी जाती है। इस अर्थ में निजी सम्पत्ति की धारणा आदिम समाजों में प्रायः सार्वभौम (universal) है। साथ ही, संयुक्त अधिकार या सम्मिलित सम्पत्ति आधुनिक समाजों में भी पाई जाती है। आधुनिक समाजों में भी नहरों, नदियों, जंगलों और अनेक भूमियों पर समुदाय प्रतिनिधि राज्य का अधिकार होता है; साथ ही संयुक्त स्टॉक कम्पनी (joint stock company) में भी अधिकार संयुक्त ही होता है।

अत: श्री गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) का निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत अधिकार या निजी सम्पत्ति की बात को बिल्कुल निकालकर आदिम साम्यवाद की अवधारणा को अस्वीकार कर देना ही उचित होगा। परन्तु आदिम साम्यवाद की अवधारणा में एक सत्यता अवश्य ही है और वह यह है कि आधुनिक समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार का जितना अनावश्यक व कटु रूप देखने को मिलता है, उतना आदिम समाजों में कदापि नहीं मिलता। साथ ही, आधुनिक समाज में व्यक्ति के अधिकार में ऐसी असंख्य चीजें रहती हैं जिनके विषय में आदिम समाजों के लोग सपना भी नहीं देख सकते। आदिम समाजों में जीवन या जीवित रहने के लिए आवश्यक चीज़ों को या उन क्षेत्रों को, जहाँ से ये चीजें प्राप्त हो सकती हैं या उत्पन्न की जा सकती हैं, व्यक्तिगत अधिकार में छोड़ा नहीं जाता है, उन पर समूह का ही अधिकार होता है; परन्तु आधुनिक समाज में इसका उल्टा भी हो सकता है। इस अर्थ में और इस सीमा तक यह कहना अनु-

चित न होगा कि आदिम समाज की विशेषता सामूहिक अधिकार है, जबकि आधुनिक समाज की विशेषता व्यक्तिगत अधिकार ही है।

भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था
(Economies of Indian Tribes)

भारतीय जनजातियों का आर्थिक जीवन एक-सा नहीं है। उन्हें अपने जीवन-धारण के लिए अनेक प्रकार के व्यवसाय करने होते हैं और इस कारण उनकी अर्थ-व्यवस्था में शिकार करना, फल, कन्द, मूल, शाक-सब्जी और शहद इकट्ठा करना, पशुओं को पालना, खेती करना और दस्तकारी का काम करना सभी सम्मिलित हैं। इससे भारतीय जनजातियों में जीविका-निर्वाह की जटिलता स्पष्ट होती है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, श्री थर्नवाल्ड (Thurnwald) ने आदिम समाजों की अर्थ-व्यवस्था को सात श्रेणियों में विभाजित किया है। इन्हें हम भारतीय जनजातियों के वर्गीकरण में भी लागू कर सकते हैं—

(1) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले तथा खाद्य सामग्री इकट्ठा करने वाले समरूप (homogeneous) समुदाय। भारत की कादर, चेंचू खरिया, कोरवा आदि जनजातियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

(2) *शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले और कृषकों का समरूप समुदाय।* कमार, बैंगा और बिरहोर जनजातियां इस श्रेणी के उत्तम उदाहरण हैं।

(3) शिकार करने, पशु-पक्षी पकड़ने वाले, कृषक तथा कारीगरों के श्रेणीबद्ध (graded) समाज। भारत की अधिकतर जनजातियां इसी श्रेणी में आती हैं। चेरा और *अगरिया जनजाति कारीगरों के रूप में प्रसिद्ध है।*

(4) चरवाहे—टोडा और भील जनजाति इस श्रेणी के अति उत्तम उदाहरण हैं।

(5) समरूप शिकारी और चरवाहे—भारत की कोई भी जनजाति इस श्रेणी के *अन्तर्गत नहीं आती है।*

(6) प्रजाति के आधार पर श्रेणीबद्ध पशु पालने वाले तथा व्यापार करने वाले समूह। उत्तर प्रदेश के हिमाचल क्षेत्र में रहने वाली भोटिया जनजाति इस श्रेणी के अन्तर्गत है।

(7) *सामाजिक आधार पर श्रेणीबद्ध शिकारी, कृषक तथा कारीगर समूह। इस श्रेणी के अन्तर्गत भी अनेक जनजातियाँ आ जाती हैं।*

भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था को और भी भली-भांति समझने के लिए हम उन्हें निम्नलिखित पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(1) शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली *जनजातियाँ (Hunting and food gathering tribes)*—इस श्रेणी में कादर मालापण्डारम, पालीयन, पनीयन, ग्रनादि, कुरुम्बा, बिरहोर, खरिया, चेंचू खड़िया, राजी आदि भारतीय जनजातियाँ आती हैं। ये लोग खेती या अन्य किसी प्रकार से भोजन को उत्पन्न करना नहीं जानते

अविवाहित रहना पड़ता है।

उत्तर प्रदेश की भोटिया जनजाति पशुपालन के साथ-साथ खेती भी करती है। मध्य भारत में भी कुछ जनजातियाँ हैं जो पशुओं को पालकर ही अपनी जीविका का निर्वाह करती हैं।

(3) खेती करने वाली जनजातियाँ (Agricultural tribes)—सन् 1951 की जनगणना के अनुसार एक करोड़ सत्ते लाख जनजातीय व्यक्तियों में से एक करोड़ सत्तर लाख व्यक्ति खेती पर निर्भर हैं। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो वे जो स्थानान्तरित खेती (shifting cultivation) करते हैं और दूसरे वे जो स्थायी खेती करते हैं।

स्थानान्तरित खेती का प्रचलन भारतीय जनजातियों में बहुत अधिक है; यद्यपि अलग-अलग जनजातियाँ इसे अलग-अलग नाम से पुकारती हैं। उदाहरण के लिए, नागा जनजाति इसे 'झूम' (*jhum*) कहती है, मरिया इसे 'पेंडा' (*pendo*), खोंड इसे 'पोडू' (*podu*) और बैगा जनजाति इसे 'बेवर' (*bewar*) कहती हैं। इस प्रकार की खेती से उत्पन्न होने वाली फसल अत्यधिक निम्न स्तर की होती है और इससे भूमि की भी अधिक बर्बादी होती है। इस ढंग की खेती आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास, आंध्र, ट्रावन्कोर और कोंकण की अनेक जनजातियाँ करती हैं। अनुमान है कि प्रायः 10 लाख व्यक्ति लगभग 13 हजार वर्ग मील में इस प्रकार की कृषि करते हैं। विभिन्न जनजातियों में इसकी पद्धति में थोड़ा-बहुत अन्तर भी देखने को मिलता है, फिर भी इसका सामान्य रूप निम्न-लिखित है—

अपनी जनजाति के पुरोहित से पूछकर धार्मिक विधियों के अनुसार खेती के लिए जंगल का एक भाग चुन लिया जाता है। फरवरी के महीने में इस स्थान के सब पेड़ों को काटकर सूखने दिया जाता है। अप्रैल के अन्त में सूखे हुए सब पेड़ों को एक स्थान पर इकट्ठा करके जला दिया जाता है और उसकी राख को उतने स्थान पर बिछा दिया जाता है जितने पर खेती करनी है। वर्षा ऋतु की पहली बौछारों के बाद यहाँ या तो बीज बिखेर कर बोये जाते हैं या खुरपी या नुकीले औजार से जमीन में छेद करके उनमें डाले जाते हैं। अगस्त-सितम्बर तक फसल पकने लगती है। फसल तैयार हो जाने पर उसे काट लिया जाता है और फिर दूसरे वर्ष पुनः फसल के ठूँठों और घास-पात को जलाकर खेती के लिए भूमि तैयार कर ली जाती है। दो या तीन वर्ष तक एक स्थान पर खेती करने के बाद पुनः खेती करने के लिए दूसरी नयी जगह चुनी जाती है और पुरानी जगह को कुछ वर्षों के लिए (जैसे उड़ीसा में 4 से 6 वर्ष तक तथा बस्तर में 15 से 20 वर्ष तक), खाली छोड़ दिया जाता है, ताकि भूमि फिर खेती करने के योग्य हो जाय। स्थानान्तरित खेती में मकई, चना, बाजरा आदि अन्न, अनेक प्रकार के तिलहन, दालें, साग-सब्जियाँ उत्पन्न की जाती हैं।

इस प्रकार से खेती क्यों की जाती है, इसके सम्बन्ध में जनजातियों में अनेक धार्मिक विश्वास भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, जैसे मध्य प्रदेश के बैगा लोगों का यह विश्वास है कि भगवान ने उनके पूर्वज बैगा को हिन्दुओं और गोंड़ों की भाँति हल चला-

कर खेती करने का निषेध किया था, क्योंकि इससे धरती माता की छाती विदीर्ण होती है।

स्थायी खेती का भी प्रचलन भारतीय जनजातियों में है। भारत की अनेक जनजातियों ने स्थानान्तरित खेती का परित्याग कर स्थायी खेती का पेशा अपना लिया है। इस प्रकार की जनजातियों में राजस्थान के भील और गोंड, मद्रास के बड़ग, कोट, इरूला व परजा, बंगाल के संथाल, आसाम के खासी, मणिपुरी, बिहार के मुण्डा, 'हो' तथा ओरांव और उत्तर प्रदेश के थारू, माझी, बिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

(4) **हस्तकार जनजातियाँ (Handicraft tribes)**—अनेक जनजातियाँ विविध प्रकार के सहायक उद्योग-धन्धे या दस्तकारी के काम भी करती हैं। इनमें टोकरी बनाना, सूत कातना और बुनना, रस्सी, चटाई आदि बनाना, बेंत का काम, लोहे के औज़ार, मिट्टी और धातुओं के बर्तन बनाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। छोटा नागपुर और उड़ीसा के बिरहोर जंगल की कुछ लताओं से बहुत मजबूत और सुन्दर रस्सी बनाते हैं। सओरा, कोंड और गोंड सूत कातने, बेंत का काम, मिट्टी के बर्तन और धातु का काम बहुत अच्छा करते हैं। कोरवा और अगरिया लोहे को गलाकर उससे अनेक चीजें बनाते हैं। घासी मृत जानवरों से ताँत तैयार करते हैं। मद्रास के इरूला बाँस की चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनते हैं और हलों और पहियों को भी बनाते हैं।[1] बैगा, कमार, चेंचू आदि जनजातियाँ बांस के बर्तन प्राचीन काल से ही बनाते आये हैं। वे अब इस कला का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करने लगे हैं। उत्कल के आदिवासी बोंदो बुनने का काम करते हैं। बढ़ईगिरी का काम प्राय: प्रत्येक जनजाति के लोग करते हैं।

(5) **उद्योग में लगी हुई जनजातियाँ (Tribes engaged in Industries)**—औद्योगिक जीवन के साथ जनजातियों का सम्पर्क दो प्रकार से हुआ है—या तो वे नौकरी की तलाश में स्वयं ही औद्योगिक केन्द्रों में जा बसी हैं या उनके निवास क्षेत्र में ही उद्योग का विकास हुआ है।[2] भारत में जैसे-जैसे उद्योगों, चाय-बागानों और खानों का काम बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे आस-पास में बसी हुई जनजातियों पर भी उसका प्रभाव पड़ता जा रहा है, क्योंकि इन कामों के लिए मजदूरों की जो आवश्यकता होती है, वह अत्यधिक कम मजदूरी पर इन जनजातियों के लोग पूरा कर देते हैं। इस प्रकार के मजदूरों की पूर्ति सबसे अधिक बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियों द्वारा होती है। मध्य प्रदेश के मैंगनीज (Manganese) उद्योग में लगे श्रमिकों में 50 प्रतिशत जनजातीय लोग हैं। जमशेदपुर के टाटा के लोहे के कारखाने में 17 हजार से भी अधिक श्रमिक संथाल और 'हो' जनजाति के हैं।[3]

इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि उपर्युक्त विभाजन एक सैद्धान्तिक रूपरेखा (theoretical outline) मात्र है। अधिकतर जनजातियाँ एक से अधिक श्रेणियों में आती हैं। ऐसी अनेक जनजातियाँ हैं जो केवल खेती ही नहीं करतीं, बल्कि दस्तकारी

1. Majumdar and Madan, *op. cit.*, p. 199.
2. *Ibid.*, p. 199.
3. *Ibid.*, p. 200.

के काम और औद्योगिक श्रमिक के रूप मे भी काम करती है, जैसे गोंड जनजाति । इस कारण इनमें कोई अन्तिम विभाजक रेखा खीचना उचित न होगा।

तीन जनजातियों का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Three Tribes)

भारत की जनजातीय अर्थ-व्यवस्था को और भी अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम दो-एक जनजातियों के आर्थिक जीवन की बिल्कुल अलग रूप से विवेचना करें। इस सम्बन्ध में तीन विभिन्न स्तर वाली—कादर, टोडा तथा कोरवा—जनजातियों की आर्थिक दशाओ का संक्षिप्त परिचय उदाहरण के लिए दिया जा सकता है।

कादर (Kadar)—केरल की दुर्गम पर्वतमालाओं और घने जगलों मे रहने वाली कादर ही सम्भवत: भारत की एकमात्र ऐसी जनजाति है जिसमे खेती का प्रचलन किसी भी रूप मे नही है। कुछ समय पहले तक ये लोग केवल जगल मे घूम-घूमकर शिकार करके तथा फल, मूल, कन्द शाक-पात व शहद इकट्ठा करके अपना पेट भरते थे। चूंकि इन्हें अपने भोजन को इकट्ठा करने के लिए इधर-उधर घूमना पड़ता है, इस कारण इनका आर्थिक जीवन स्थिर नही है। वे खानाबदोशी जीवन व्यतीत करते हैं। आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष के बीच कोई निश्चित श्रम विभाजन नही है। स्त्री और पुरुष दोनों ही मिलकर फल-मूल आदि इकट्ठा करते हैं। परन्तु बहुधा यह काम स्त्रियों पर छोड़कर पुरुष मछली पकड़ने और शिकार करने के काम मे अधिक ध्यान देते हैं। हवा से बचने के लिए बाँस की अस्थायी झोंपड़ियाँ बनाना तथा आग को जलाये रखने का काम भी स्त्रियाँ ही करती हैं। शिकार बाँस के तीर-धनुष, कुदाल (digging stick) आदि से किया जाता है। कादर लोग लगूर का शिकार करना बहुत पसन्द करते हैं। वे बकरियाँ, मुर्गियाँ तथा अन्य पशु भी पालते हैं। पुरुष बाँस की बड़ी सुन्दर कघियाँ बनाते हैं। कादर लोग बाँस के प्याले के अतिरिक्त और कोई बर्तन सामान्यत: काम में नही लाते हैं। वे अपने शरीर को पेड़ की छाल तथा पत्तों से सजाया करते थे। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे इनके जंगलों से इमारती लकड़ी, शहद, जंगली काली मिर्च आदि को प्राप्त करने के लिए ठेकेदारों का प्रवेश इनके समाज मे हुआ जिसके फलस्वरूप अब इनकी अर्थ-व्यवस्था में धीरे-धीरे परिवर्तन शुरू हो गया है।

टोडा (Toda)—कादर जनजाति की अर्थ-व्यवस्था भोजन इकट्ठा तथा शिकार करने वाली जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था है। इसके विपरीत, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नीलगिरी के टोडा, विशुद्ध रूप से पशुपालक हैं। ये कृषि अथवा दस्तकारी का कोई कार्य नही करते हैं, बल्कि काफी संख्या मे भैंस को पालते हैं और भैंस के दूध तथा दूध से बनी चीजों को पास-पड़ौस के लोगों को देते हैं और उसके बदले में अपनी रोज की आवश्यक चीजों को प्राप्त करते है। दूध और उससे बनी चीजों को बेचने के कारण इन टोडा लोगों का सम्पर्क नीलगिरी पर्वत के नीचे समतल भूमि पर रहने वालों से भी हो गया है। इस प्रकार टोडा जनजाति के आर्थिक जीवन का एकमात्र आधार भैंस

है। इसलिए कुछ भैंसे इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि जहाँ इनका दूध निकाला और दही मथा जाता है वह स्थान इस जनजाति के लोगों का मन्दिर होता है। यहाँ बड़ी ऊँची तथा शंकु के आकार वाली (conical) छत वाली पवित्र झोंपड़ी में बड़े जटिल कर्मकाण्ड का अनुसरण करते हुए पुरोहित इन भैंसों का दूध निकालते हैं। स्त्रियों को इनसे सम्बन्धित समस्त कार्यों से दूर रखा जाता है। इस सम्बन्ध में विस्तारित विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं।

कोरवा (Korwa)—कोरवा जनजाति उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के दुद्धी परगने में रहती है। वहां का अधिकांश भाग बहुत घने जंगलों से भरा था परन्तु आदिवासियों ने स्थानान्तरित खेती करने के लिए इस जंगल के कुछ भागों को जलाकर साफ कर दिया है। ये लोग खेती करने के लिए जंगल के पेड़ों को काटकर उन्हें एक स्थान पर एकत्र करके जला देते हैं और फिर उस राख को सारे स्थान में, जहाँ खेती करनी हो, बिछा देते हैं और उसमें बीज वो देते हैं। जब दो-एक वर्ष खेती करने के बाद उस स्थान की भूमि की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे लोग स्थान परिवर्तन करके दूसरे किसी स्थान पर इसी प्रकार से खेती करते हैं। कोरवा प्रदेश में पानी की बहुत कमी है, क्योंकि कन्हार रिन्ध, बिच्छी, लहूरा तथा अन्य छोटी-छोटी नदियां पूरे साल तक पानी नहीं पहुंचा पाती हैं। साथ ही, इस परगने में सूखी जलवायु तथा पानी के अभाव के कारण वहाँ पक्षी देखने को नहीं मिलते हैं। इसलिए कोरवा लोगों को अपना पेट भरने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रदेश के निर्बल पशु गहरी जुताई नहीं कर पाते हैं। जो कुछ भी कर पाते हैं उसे जुताई न कहकर जमीन को खुरचना ही कहना अधिक उचित होगा। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिए पानी की कमी, खाद का अभाव आदि खेती को कोरवा लोगों के लिए एक समस्या ही बना देते हैं। पानी आदि के लिए प्रकृति पर अत्यधिक निर्भर रहना पड़ता है और प्रकृति प्रायः सहयोग करने को राजी नहीं होती है जिसके फलस्वरूप फसलों का खराब होना कोरवा लोगों के आर्थिक जीवन की एक साधारण घटना है। यही कारण है कि कोरवा लोग बहुत गरीब हैं और साल-भर कठोर परिश्रम करने के बाद भी पेट भरने की समस्या को सुलझा नहीं पाते हैं। फलतः वे निर्दयी महाजनों के पंजों में फँस जाते हैं या भूमि के मालिकों के द्वारा उनका खूब शोषण होता है।

अधिकतर भारतीय जनजातियों की यही 'कहानी' है।

SELECTED READINGS

1. A Committee of the Royal Anthropological Institution of Great Britain and Ireland : *Notes and Queries on Anthropology*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1954.

2. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The [illegible] Co., New York, [illegible]

3. Boas and Others : *General Anthropology*, D. C. Heath & Co., New York, 1938.

4. Govt. of India : *The Adivasis*, The Publication Division, Delhi, 1960

5. Herskovits, M. J. : *Economic Anthropology*, Alfred A. Knopf, New York, 1952.

12 टोटमवाद (Totemism)

अनेक जनजातीय संस्कृतियों में धर्म तथा सामाजिक संगठन के तत्त्व और विशे
ताएं अनोखे ढंग से मिली-जुली रहती हैं और वह इस अर्थ में कि ये जनजातियां कि
भौतिक पदार्थ, पशु या पेड़-पौधों से अपना एक रहस्यमय सम्बन्ध जोड़कर अलौकि
विश्वासों को पनपाती एवं सामाजिक जीवन को नियमित करती हैं। मानवशास्त्री
जनजातियों को टोटमवादी (Totemic) कहते हैं और जिससे ये लोग एक रहस्यम
सम्बन्ध होने का दावा करते हैं, उसे 'टोटम' (Totem) कहते हैं। 'टोटम' शब्द का बो
उत्तरी अमेरिका के इण्डियनों से सर्वप्रथम श्री जे० लांग (J. Long) ने सन् 1791
किया था; और श्री जे० एफ० मैकलिनन (J. F. McLennan) ने एक आदिम साम
जिक संस्था के रूप में टोटमवाद (Totemism) के महत्त्व को सबसे पहले स्वीका
किया।[1]

वास्तव में जैसा, कि हम आगे देखेंगे, टोटमवाद (Totemism)[2] जनजातियों
सामाजिक संगठन का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके आधार पर गोत्र-जीव
संगठित तथा विवाह आदि नियन्त्रित होते है। इस कारण टोटम और टोटमवाद के स्व
रूपों को समझना बहुत ही आवश्यक है।

जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं
रखते हैं, बल्कि किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड़-पौधे तथा अन्य प्राकृतिक चीजों से अपना
सम्बन्ध होने का दावा करते हैं और केवल सम्बन्ध ही नहीं, अपितु उस सम्बन्ध के आधा
पर अनेक अन्धविश्वासों, श्रद्धा, भक्ति और आदर के भाव को जन्म देते हैं। इस प्रकार
किसी भौतिक वस्तु या पशु-पक्षी या प्रकृति की अन्य कोई चीज, जिसके साथ एक गोत्र
अपना गूढ़ सम्बन्ध मानता है, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त
धारणाओं, विश्वासों और संगठन को टोटमवाद कहते हैं।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

टोटमवाद धार्मिक तत्वों और सामाजिक संगठन का एक अनोखा संयोग (combination) है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि टोटमवाद न तो धर्म है और न ही टोटम कोई भगवान या भगवान का प्रतीक।

टोटम की परिभाषा
(Definition of Totem)

श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "टोटम एक पदार्थ, प्राय. एक पशु अथवा एक पौधा है जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धाभाव रखते हैं और जो यह अनुभव करते हैं कि उनके और टोटम के बीच भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट बन्धन है।"[1] श्री फ्रायड (Freud) के अनुसार, 'वास्तव मे, टोटम एक पशु है (चाहे भक्ष्य हो तथा हानिरहित, भयंकर हो तथा डरावना) और यदा-कदा एक पौधा अथवा एक प्राकृतिक पदार्थ (जैसे वर्षा या जल) भी हो सकता है, जिसका कि समग्र गोत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।"[2] श्री जेम्स फ्रेज़र (James Frazer) ने टोटम की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "टोटम भौतिक वस्तुओं का एक वर्ग है जिसका एक आदिम जाति, यह विश्वास रखते हुए कि उसके तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान है, अन्धविश्वासपूर्ण आदर करती है।"[3] श्री गोल्डनवीज़र(Goldenweiser) ने टोटम के अर्थ को और भी विस्तारपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि "गोत्रों मे विभाजित अनेक आदिम जनजातियों मे गोत्र-नाम एक पशु, पौधा अथवा प्राकृतिक पदार्थ से लिया गया है और गोत्र से सदस्य इन पशुओं अथवा वस्तुओं के प्रति विशिष्ट मनोभाव रखते हैं। इसी को मानवशास्त्री टोटम कहते हैं।"[4]

उपरोक्त परिभाषाओं से टोटम के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा बन जाती है। अगर उक्त परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाय तो हमे टोटम के सम्बन्ध मे दो-तीन बातों का पता चलता है—प्रथम तो यह है कि साधारणतया टोटम कोई अभौतिक या अमूर्त्त वस्तु नही होती है, यह कोई-न-कोई भौतिक चीज़, पशु-पक्षी या पेड़-पौधा होता

1. "Totem is an object, often an animal or a plant, held in special regard by the members of a social group, who feel that there is a peculiar bond of emotional identity between themselves and the totem."—E A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, p 512

2. "It is as a rule an animal (whether edible and harmless, dangerous and fear) and more rarely a plant or a natural phenomenon such as rains or water, which stands in close relation to the whole clan."—S. Freud, *Totem and Taboo*.

3 "A totem is a class of material objects which a savage regards with superstitious respect believing that there exists between him and every member of clan an intimate altogether a special relation."—James Frazer, *Totemism*

4. "Among many primitive tribes divided into sibs (clans or gentes) the sib name is derived from an animal, plant or natural object and the sib mates display special attitude towards these creatures or things which in this connection are designated by anthropologist as totems."—A Goldenweiser, *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. 13, p. 657.

है । दूसरी बात यह है कि यह भौतिक चीज, पशु या पौधा एक गोत्र-समूह के सदस्यों के दृष्टिकोण से कोई साधारण या सामान्य चीज नहीं होती है, इसलिए अन्य भौतिक चीज, पशु या पौधों से उसको भिन्न ही किया जाता है । तीसरी बात यह है कि चूँकि यह टोटम कहलाने वाला भौतिक पदार्थ या पशु या पक्षी या पेड़ या पौधा असाधारण या अलौकिक या विशिष्ट शक्तिसम्पन्न है, इस कारण इसके प्रति गोत्र-समूह के सदस्यों की अन्धविश्वास-मूलक श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना होती है । अन्तिम बात यह है कि इस श्रद्धा, भक्ति व आदर की भावना के आधार पर यह भी विश्वास किया जाता है कि टोटम तथा गोत्र के प्रत्येक सदस्य के बीच एक विशिष्ट, आध्यात्मिक, रहस्यमय या अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है । इन समस्त विशेषताओं से सम्बन्धित भौतिक पदार्थ, पशु, पक्षी, पेड़ व पौधे को ही टोटम कहते हैं ।

टोटमवाद की परिभाषा
(Definition of Totemism)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी भौतिक वस्तु, पशु, पक्षी, पेड़, पौधा या प्रकृति की अन्य कोई चीज जिसके साथ एक गोत्र के सदस्य अपना एक अलौकिक या गूढ़ सम्बन्ध मानते हैं और जिसके प्रति वे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर का भाव रखते हैं, टोटम कहलाता है और इस टोटम से सम्बन्धित समस्त धारणाओं, विश्वासों और संगठन को टोटमवाद कहते हैं । अति संक्षेप में, टोटम की संस्थागत अभिव्यक्ति (institutionalized expression) ही टोटमवाद है । इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत टोटम की परिभाषा निम्नवत् है—

श्री मैरेट (Marett) के अनुसार, "किसी गोत्र के सम्बन्ध में टोटमवाद उस पद्धति को कहते हैं, जिसके अनुसार किसी जनजाति का कोई उपभाग किसी विशेष जानवर या वनस्पति से अपना विशिष्ट सम्बन्ध समझता है, उसके नाम का प्रयोग करता है और यह दावा करता है कि उसके साथ उसका एक रहस्यमय सम्बन्ध है ।"

रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) ने टोटमवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है, "टोटमवाद प्रथाओं और विश्वासों का वह समूह है जिसके द्वारा समाज तथा पशुओं और पौधों एवं अन्य प्राकृति वस्तुओं, जो कि सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, के बीच सम्बन्धों की एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो जाती है ।"[1]

श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने टोटमवाद के संस्थात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि "गोत्रों, उनके टोटम तथा उनसे सम्बन्धित विश्वासों, प्रथाओं व संस्कारों के योग से बनने वाली संस्था को टोटमवाद कहते हैं ।"[2]

---

1. "Totemism is a set of customs and beliefs by which there is set up a ecial system of relation between the society and the animals and plants and ıer natural objects that are important in the social life."—Radcliffe-Brown, *cial Organization of Australian Tribes, The Oceania Monographs*, No. 1, acmillan & Co., Melbourne, 1931, p. 29.

2. "The institution which comprises the sibs, their totems and the attendent beliefs, customs and rituals is called totemism."—A. Goldenweiser, *Encyclopaedia of the Social Sciences*, Vol. 13, 1957, p. 657.

श्री हर्सकोविट्स (Herskovits) के अनुसार, "टोटमवाद उस धारणा या विश्वास को कहते हैं जिसके अनुसार किसी मानव-समुदाय का किन्हीं वनस्पति, पशु या कभी-कभी अन्य कोई प्राकृतिक वस्तु के साथ अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं को ऊपरी-तौर पर विवेचना करने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि धर्म और टोटमवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने तो टोटमवाद को ही समस्त धर्मों का प्रारम्भिक स्वरूप माना है। आपके अनुसार, ऐसा टोटमवाद प्रकृति से ही सम्भव हुआ क्योंकि टोटमवाद दैविक क्रियाओं और मौलिक विश्वासों की वह समष्टि है जिसके द्वारा समाज अर्थात् एक गोत्र के सदस्यों और पशु, पौधों या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यद्यपि श्री दुर्खीम के विचारों में कुछ सत्यता है, फिर भी आज अधिकतर मानवशास्त्री धर्म और टोटमवाद में एक स्पष्ट भेद मानते हैं। विभिन्न जनजातीय समाजों के अध्ययन से इस बात की ही पुष्टि होती है कि आदिवासी समाजों में धर्म और टोटम अलग-अलग पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद में एक गोत्र के सदस्य टोटम से अपने रहस्यमय सम्बन्ध को जोड़ते हैं और उसी के आधार पर एक टोटम-समूह के सदस्य आपस में शादी-विवाह नहीं करते हैं। ये दोनों ही विशेषताएँ टोटमवाद में अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म में इन दोनों का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनों घुल-मिलकर एक हो गये होते। साथ ही टोटम सर्वव्यापी नहीं है और न ही आवश्यक रूप से यह प्रत्येक गोत्र में पाया जाता है। ऐसे अनेक जनजातीय समाज हैं, जिनमें कि टोटमवाद का दर्शन ही नहीं होता है। वास्तव में टोटमवाद केवल उन रहस्यमय सम्बन्धों की ओर निर्देश करता है जो कि टोटम तथा गोत्र-समूह के सदस्यों के बीच पाये जाते हैं। इन रहस्यमय सम्बन्धों के आधार पर ही कुछ विशेष प्रकार के विश्वासों, प्रथाओं एवं संस्कारों का जन्म होता है। इरोक्वाइस इण्डियनों में तो टोटम जैसे रीछ, कछुआ, सांप आदि केवल गोत्रों के नाम को बताने के लिए ही होते हैं। इन गोत्रों का अपने टोटम से इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा सम्बन्ध, जैसा कि भारत तथा अन्य देशों के जनजातीय समाजों में पाया जाता है, नहीं है। श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि वास्तव में टोटम गोत्र के लिए केवल एक चिन्ह (sign) के रूप में कार्य करता है और उस रूप में वह गोत्र की कुछ प्रमुख विशेषताओं को बताता है। परन्तु श्री मुरडॉक का यह कथन सभी स्थानों पर लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, भारत के जनजातीय समाजों में टोटम केवल एक गोत्र-चिन्ह ही नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक महत्त्व का है। यहाँ के गोत्र-सदस्यों के लिए टोटम कुछ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है और इसीलिए उससे सम्बन्धित कितने ही विश्वास, प्रथाएँ तथा संस्कार विकसित हो गये हैं। गोत्र को केवल एक गोत्र-चिन्ह मानने से इन सब विश्वासों, प्रथाओं और संस्कारों का विकास कदापि सम्भव न होता। इसीलिए संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि टोटमवाद टोटम से सम्बन्धित विश्वासों, प्रथाओं तथा संस्कारों का वह योग है जो कि एक गोत्र के सदस्यों को एक सूत्र में बांधता है और सामाजिक संगठन को एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है।

टोटम और टोटमवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of Totemism)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम टोटम और टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं :

(1) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कोई प्रकार का गूढ़, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

(2) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह के सदस्यों की रक्षा करती है, उन्हें चेतावनी देती तथा उनके भविष्य के बारे में निर्देशित करने के लिए भविष्यवाणी करती है। उदाहरणार्थ, अगर एक गोत्र का टोटम एक पक्षी है, तो उस गोत्र के सदस्यों में यह विश्वास हो सकता है और होता है कि उस टोटम-पक्षी का एक विशेष आवाज या ढंग से चिल्लाना इस बात की चेतावनी है कि उस गोत्र-समूह पर कोई विपदा आने वाली है। इसी प्रकार अगर टोटम-पक्षी या पशु एकाएक मर जाता है तो यह विश्वास किया जाता है कि गोत्र-समूह पर आने वाली किसी आफत को टोटम ने अपने ऊपर लेकर समूह के सदस्यों की रक्षा की।

(3) इसी कारण टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। टोटम को मारना, खाना या अन्य किसी भी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है। टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को बहुत पवित्र माना जाता है। टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरों पर धारण किया जाता है। टोटम के चित्र बनाकर या बनवाकर रखे जाते हैं और शरीर पर टोटम के चित्र की गुदाई भी प्रायः सभी लोग करवाते हैं। टोटम-सम्बन्धी निषेधों का उल्लंघन करने वालों की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इससे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यों को प्रोत्साहित किया जाता है।

(4) टोटम के साथ जो गूढ़ और अलौकिक सम्बन्ध का दावा किया जाता है, उसीके आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि उस गोत्र-विशेष के सभी सदस्य उसी से सम्बन्धित हैं और परस्पर भाई-भाई या भाई-बहन हैं।

(5) चूँकि एक टोटम के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य टोटम से सम्बन्धित मानते हैं, इस कारण वे कभी भी आपस में विवाह आदि नहीं करते। इस अर्थ में प्रत्येक टोटम-समूह बहिर्विवाही (exogamous) होता है और अपने टोटम-समूह से बाहर विवाह करता है।

(6) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है, वह इस बात पर निर्भर नहीं होती कि कौनसी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योंकि टोटम तो ायः अहानिकारक पशु या पौधा होता है। यदि टोटम कोई हिंसक पशु जैसे शेर, चीता दि या कोई विषैला जन्तु जैसे साँप आदि भी है, तो भी गोत्र के सदस्यों का यह दृढ़ विश्वास होता है कि उससे उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचेगी।

(7) जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, यदि किसी गोत्र का टोटम कोई पशु या पक्षी है तो उसे मारना अथवा उसका मांस खाना वर्जित माना जाता है, परन्तु कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, रैब्बिट गोत्र में, जहाँ कि पशु भोजन का महत्त्वपूर्ण साधन है, इस प्रकार का कोई भी निषेध नहीं है। उसी प्रकार खाद्य संकट के समय भी उसके मांस का उपयोग किया जा सकता है; इस प्रकार की छूट भी कुछ जनजातीय समाजों में पाई जाती है। परन्तु ऐसी स्थिति में टोटम-गोत्र के सदस्य कई प्रकार की प्रार्थनाएँ तथा धार्मिक व सामाजिक संस्कार करते हुए, अर्थात् एक विशेष प्रकार की विधि द्वारा टोटम-पशु को मारते हैं। श्री फ्रॉयड (Freud) का कथन है कि कभी-कभी पूर्वज-भोज (ancestral feast), जो कि गोत्र के पूर्वज की पुण्य-स्मृति में किया जाता है, के अवसर पर भी टोटम-पशु को मारने की और उसके मांस को खाने की छूट होती है। गोत्र का प्रत्येक सदस्य इस भोज को पवित्र मानकर उसमें भाग लेता है।

सामान्य तौर पर, जैसाकि सर्वश्री मजूमदार और मदान का कथन है, टोटमवाद के सबसे आधारभूत लक्षण तीन हैं—

(क) एक पशु या वनस्पति के प्रति एक विशिष्ट मनोभाव, (ख) एक गोत्र-संगठन, और (ग) गोत्र-बहिर्विवाह।[1]

टोटम के भेद
(Kinds of Totem)

टोटम आठ प्रकार के होते हैं जो कि निम्नवत् हैं—

(1) गोत्र-टोटम (Clan Totem)—इस प्रकार के टोटम का सम्बन्ध सम्पूर्ण गोत्र से होता है। गोत्र के सभी सदस्यों का विश्वास यदि एक टोटम-विशेष पर है तो उसे गोत्र-टोटम कहते हैं। इस टोटम पर विश्वास वंश-परम्परागत रूप से चलता रहता है। संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक बड़े समूह को जन्म देते हैं जिसे कि गोत्र-समूह या भ्रातृदल (phratry) कहते हैं। हो सकता है कि इस भ्रातृदल का समग्र रूप से एक सामान्य टोटम हो; उसी प्रकार द्विदल-संगठन (Dual organization) और उसके अर्द्धांश (moiety) का भी एक सामान्य टोटम हो।

(2) पितृवंशीय टोटम (Patrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्बन्ध पितृवंशीय परिवारों से है। इस प्रकार का टोटम वंश के आधार पर होता है और प्रत्येक वंश अपना एक अलग टोटम अपना लेता है। अगर वह वंश पितृवंशीय है तो उस वंश से सम्बन्धित टोटम को पितृवंशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम आस्ट्रेलिया के जनजातीय समाजों में पाये जाते हैं।

(3) मातृवंशीय टोटम (Matrilineal Totem)—यह वह टोटम है जिसका कि सम्पर्क मातृवंशीय परिवारों से है। अगर एक वंश मातृवंशीय है और उस वंश का अपना टोटम है, तो उसे मातृवंशीय टोटम कहते हैं। इस प्रकार के टोटम दक्षिणी वेल्स,

1. Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 124.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम (Individual Totem)**—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूंकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम (Sex Totem)**—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम (Split Totem)**—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपना कर संतोष कर लेता है।

(7) **गर्भधारण कराने वाला टोटम (Conceptional Totem)**—टोटम का वास्तविक और स्पष्ट रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। यहाँ अधिक [illegible] अलौकिक रूप से गर्भधारण कराने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के [illegible] भाग में रहने वाली अरुण्टा (Arunta) जनजाति

में एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रों के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति में यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियों को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणतः कोई टीला, पेड आदि) में निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर में प्रवेश कर जाती है। फलतः वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति में कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों में पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति में उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) **बहुसदस्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)**—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति में बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति में 36 बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* में दो निबन्ध आदिम समाजों में पशुओं और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमें से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानवशास्त्रियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नहीं, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V F. Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम** (Individual Totem)—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूँकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम** (Sex Totem)—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम** (Split Totem)—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपनाकर संतोष कर लेता है।

(7) **गर्भधारण करने वाला टोटम** (Conceptional Totem)—टोटम का वास्तविक जटिल रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। उसी जटिल रूप का एक अनोखा स्वरूप यही गर्भधारण करने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानी भाग में रहने वाली अरुण्टा (Arunta) जनजाति

मे एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रों के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति मे यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियो को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणत: कोई टीला, पेड़ आदि) मे निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है। फलतः वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति मे कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते है जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों मे पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति में उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रो को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) बहुसंख्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति मे बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति मे 36 बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* मे दो निबन्ध आदिम समाजो मे पशुओं और पौधो की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमे से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानवशास्त्रियो ने अपने-अपने सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नही, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमे से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

---

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V.F. Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम (Individual Totem)**—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूँकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम (Sex Totem)**—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम (Split Totem)**—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, सिर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभाजन होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपनाकर ग्रहण कर लेता है।

(7) **गर्भधारण करने वाला टोटम (Conceptional Totem)**—टोटम का [illegible] आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। [illegible] गर्भधारण करने वाले टोटम पर विश्वास है। [illegible] आस्ट्रेलिया के [illegible] भाग में रहने वाले अरुण्टा (Arunta) जनजाति

में एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रों के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति में यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियों को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणत: कोई टीला, पेड़ आदि) में निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर में प्रवेश कर जाती है। फलत वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति में कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों में पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति में उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) बहुसंख्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति में बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति में 36 बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* में दो निबन्ध आदिम समाजों में पशुओं और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमें से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानवशास्त्रियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नहीं, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V.F. Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम** (Individual Totem)—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूँकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम** (Sex Totem)—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम** (Split Totem)—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपनाकर संतोष कर लेता है।

(7) **गर्भधारण करने वाला टोटम** (Conceptional Totem)—टोटम का वास्तविक जटिल रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। उसी जटिल रूप का एक अनोखा स्वरूप यही गर्भधारण करने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानी भाग में रहने वाली अरुण्टा (Arunta) जनजाति

में एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रों के आधार पर निश्चित होती है और यह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति में यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियों को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणतः कोई टीला, पेड़ आदि) में निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुज़रती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर में प्रवेश कर जाती है। फलतः वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति में कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों में पूर्वजों की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति में उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) बहुसंख्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति में बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति में 36 बर्हिविवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* में दो निबन्ध आदिम समाजों में पशुओं और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमें से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मानवशास्त्रियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नहीं, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V.F. Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

विक्टोरिया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं।

(4) **व्यक्तिगत टोटम** (Individual Totem)—इस प्रकार के टोटम से गोत्र के किसी व्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध होता है और चूँकि यह टोटम सम्पूर्ण गोत्र का नहीं बल्कि व्यक्ति का होता है इसलिए इसका महत्त्व गोत्र के लिए न होकर केवल उसी व्यक्ति के लिए होता है। गोत्र के अन्य व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं रखते और न ही इस प्रकार का टोटम अधिक स्थायी होता है। व्यक्तिगत टोटम के उत्तम उदाहरण नयी दक्षिणी वेल्स में मिलते हैं जहाँ पर कि प्रत्येक चिकित्सक (medicine man) कुछ असाधारण अलौकिक शक्ति का अधिकारी होता है। यह विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ उसे अपने व्यक्तिगत टोटम, कोई पशु, से प्राप्त हुई हैं जिससे उस व्यक्ति के लिए जादू-टोना आदि करना सम्भव होता है।

(5) **लिंग टोटम** (Sex Totem)—लिंग टोटम से तात्पर्य यह होता है कि कुछ समाजों में स्त्री और पुरुष दोनों का ही टोटम अलग-अलग होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के आधार पर एक गोत्र दो टोटम-समूहों में बँट जाता है—एक समूह स्त्रियों का होता है और इनका अपना एक टोटम होता है जिसमें कि गोत्र की सभी स्त्रियाँ विश्वास करती हैं। दूसरा समूह पुरुषों का होता है और इनका भी अपना पृथक् टोटम होता है जिसमें कि गोत्र के सभी पुरुष विश्वास करते हैं। आस्ट्रेलिया के पूर्वी भाग में रहने वाले आदिवासियों में इस प्रकार के लिंग टोटम पाये जाते हैं। उसी प्रकार हंटर नदी (नयी दक्षिणी वेल्स) के किनारे रहने वाली जनजातियों में कठफोड़वा (woodpecker) तो स्त्रियों का टोटम है और चमगादड़ (bat) पुरुषों का।

(6) **विभक्त टोटम** (Split Totem)—कई समाजों में किसी पशु या पक्षी को पूरे तौर पर टोटम न मानकर उसके शरीर के किसी एक अंग को, जैसे उसके दिल को, लिवर को या खाल को टोटम माना जाता है। इस प्रकार के विभक्त टोटम की उत्पत्ति तब ही होती है जब कि मूल गोत्र भी अनेक भागों में बँट जाता है। पहले जबकि यह गोत्र अविभाजित था तब एक पशु पूरे तौर पर ही उस गोत्र का टोटम था, परन्तु जैसे-जैसे गोत्र विभिन्न भागों में बँट जाने लगे वैसे-वैसे प्रत्येक भाग ने उस पशु के शरीर के एक-एक अंग को टोटम के रूप में ग्रहण कर लिया जिससे कि प्रत्येक भाग की अपनी कुछ विशिष्टता बनी रहे। इस प्रकार गोत्र के विभक्त होने के साथ-साथ टोटम-पशु भी विभक्त होते जाते हैं, इसीलिए इसे विभक्त टोटम कहा जाता है। छोटा नागपुर की जनजातियों में ऐसे टोटम के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर जैसे ही एक गोत्र का आकार बड़ा हो जाता है वैसे ही वह गोत्र कुछ उपगोत्रों में बँट जाता है और प्रत्येक उपगोत्र अपने मूल टोटम-पशु, पक्षी या पेड़-पौधे के एक अंग-विशेष को टोटम के रूप में अपनाकर संतोष कर लेता है।

(7) **गर्भधारण करने वाला टोटम** (Conceptional Totem)—टोटम का वास्तविक जटिल रूप आस्ट्रेलिया की जनजातियों में देखने को मिलता है। उसी जटिल रूप का एक अनोखा स्वरूप यही गर्भधारण करने वाले टोटम पर विश्वास है। उत्तरी-केन्द्रीय आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानी भाग में रहने वाली अरुण्टा (Arunta) जनजाति

में एक टोटम-समूह की सदस्यता कुछ टोटम-केन्द्रो के आधार पर निश्चित होती है और वह इस प्रकार से कि एक बच्चा उसी टोटम-केन्द्र से सम्बन्धित समझा जाता है जहाँ कि उसकी माँ सर्वप्रथम गर्भवती हुई थी। और भी स्पष्ट रूप से, इस जनजाति मे यह विश्वास किया जाता है कि स्त्रियाँ टोटम की कृपा से ही गर्भवती होती हैं या टोटम ही स्त्रियो को गर्भधारण करवाने वाला होता है। यह टोटम-आत्मा कुछ 'केन्द्रों' (साधारणत. कोई टीला, पेड़ आदि) मे निवास करती है और जब कोई स्त्री उस केन्द्र के पास से गुजरती है तो वह आत्मा उस स्त्री के शरीर मे प्रवेश कर जाती है। फलत. वह स्त्री गर्भवती हो जाती है। जिस टोटम-केन्द्र से वह स्त्री गर्भवती होती है या गर्भवती होने का ज्ञान होता है, उसकी सन्तान उसी टोटम-केन्द्र की सदस्य मानी जाती है। इस विश्वास के आधार पर ही उक्त जनजाति मे कई ऐसे पवित्र टोटम-केन्द्र होते हैं जहाँ पर कि, उनके विश्वास के अनुसार, उनके काल्पनिक पूर्वज या प्रवर्तक की आत्माएँ मृत्यु के पश्चात् निवास करती हैं। इन केन्द्रों में पूर्वजो की दो आत्माएँ रहती हैं, एक तो वह जो उस पवित्र स्थान पर सदैव बनी रहती है, और दूसरी वह जो कि अवसर मिलते ही किसी स्त्री के शरीर में प्रवेश करके उसे गर्भ धारण करवाती है। इस प्रकार विद्यमान अरूण्टा जनजाति मे उन पूर्वजों का पुनर्जन्म होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण ही अरूण्टा जनजाति की निरन्तरता कायम रहती है और इसीलिए यह जनजाति इन टोटम केन्द्रों को अपने अस्तित्व का कारण मानती है।

(8) बहुसंख्यक टोटम (Linked or Multiple Totem)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही गोत्र-समूह के दो या अधिक टोटम हैं। बगण्डा (Baganda) जनजाति में बिल्कुल यही स्थिति है। इस जनजाति मे 36 बहिर्विवाही गोत्र हैं और प्रत्येक गोत्र एक से अधिक टोटम पर विश्वास करता है।

टोटम की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(Theories of the Origin of Totem)

श्री जॉन फर्गूसन मैकलिनन (John Ferguson McLennan) ने सन् 1869-70 में *Fortnightly Review* मे दो निबन्ध आदिम समाजों मे पशुओ और पौधों की पूजा के विषय पर प्रकाशित किये थे। इनमे से प्रथम का विषय-वस्तु टोटम और टोटमवाद था, जब कि दूसरा आदिम लोगों के टोटम-ईश्वर (Totem-Gods) से सम्बन्धित था।[1] उस समय से लेकर, विशेषकर श्री जॉन फ्रेजर (John Frazer) द्वारा लिखित पुस्तक *Totemism* (1887) के प्रकाशित होने के पश्चात् टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न मानवशास्त्रियो ने अपने-अपने सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है। केवल मानवशास्त्री ही नही, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि ने भी इस विषय पर अपने-अपने मतों को व्यक्त किया है। उनमे से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

---

1. Alexander Goldenweiser, 'Totemism', *The Making of Man*, Edited by V.F. Calverton, The Modern Library, New York, 1931, p. 364.

(1) **नामवादी सिद्धान्त** (Nominalistic Theory)—इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम मेजर पॉवेल (Major Powell) ने प्रस्तुत किया था जिसका कि आंशिक रूप में सर्वश्री पिकलर तथा सोमलो (Pikler and Somlo) ने समर्थन किया था। मेजर पॉवेल ने टोटमवाद को 'नामकरण की एक व्यवस्था' (system of naming) के रूप में माना था। इसके पश्चात् इस सिद्धान्त को और भी क्रमबद्ध रूप में श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने प्रस्तुत किया। आपका विश्वास था कि पहले आदिम समाजों में लोग पशुओं के नाम के आधार पर ही अपने वच्चों का नामकरण करते थे। परन्तु चूंकि आदिम समाजों में भाषा अधिक विकसित नहीं है इस कारण आगे चलकर व्यक्तियों के नाम को ही भूल से फिर पशुओं से सम्वन्धित मान लिया गया। संक्षेप में, पहले व्यक्तियों को पशुओं का नाम मिला और फिर अविकसित भाषा के कारण पशुओं को ही पूर्वज मान लिया गया और पूर्वज के रूप में पशुओं की पूजा शुरू हो गई।[1] एक उदाहरण के द्वारा इस स्थिति को उत्तम ढंग से समझाया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति 'अ' है; इसका नामकरण किसी पशु के नाम पर हुआ और यह 'अ' महाशय 'विल्ली' नाम से परिचित हुए। इसके वाद दो-चार पीढियाँ वीत गईं। प्रत्येक पीढ़ी के वंशज यह जानते रहे कि उनके पूर्वज 'विल्ली' हैं। आदिम समाजों की भाषा में शव्द भण्डार वहुत कम होने के कारण वहुत समय वीत जाने पर यह निश्चित रूप से निर्धारित न हो सका कि यह पूर्वज 'विल्ली', व्यक्ति है अथवा पशु। पशु मान लेने की सम्भावना अधिक थी क्योंकि विल्ली नामक पशु उस समय भी पाये जाते थे या लोग देखते थे। इसीलिए उस पशु विल्ली को ही पूर्वज मानकर उसे ही लोगों ने पूजना या उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव को रखना प्रारम्भ किया। इसीके आधार पर टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई।

श्री ए० लैंग (Andrew Lang) ने अपनी पुस्तक '*Secret of the Totem*' (1850) में उस सिद्धान्त को आंशिक रूप में ग्रहण किया। आपके मतानुसार यह सम्भव है कि किसी कारणवश पहले-पहल पशुओं के नाम के आधार पर सामाजिक समूहों (न कि व्यक्तियों) का नाम रखा जाता था, परन्तु वाद में लोग इन नामों की उत्पत्ति के सम्वन्ध में सव कुछ भूल गये और इस सम्वन्ध में उन्होंने अपनी-अपनी कल्पना को दौड़ाया जिसके फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। श्री लैंग (Lang) का विश्वास था कि अपने पशु नामधारी समूह की उत्पत्ति के विषय में लोगों को ज्ञान न होना, समान नामधारी मानव तथा पशुओं के वीच वंशानुगत सम्वन्ध के विषय में विश्वास तथा रक्त के सम्वन्ध में अन्धविश्वास—ये तीन तत्त्व ही टोटम, टोटमवाद, यहाँ तक कि वहिर्विवाह की प्रथा को जन्म देने के लिए पर्याप्त थे।[2]

---

1. "Spencer assumed that animal names were once given to individuals. that these names were subsequently confused with the animals themselves owing to the vagueness of primitive languages and that ultimately such animals came to be worshipped as ancestors."—*Ibid.*, pp. 364-365.
2. "No more than these three things—argued Lang—a group animal of unknown origin; belief in a transcendental connection between all

(2) आत्मा का सिद्धान्त (Theory of Soul)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जेम्स फ्रेज़र (James Frazer) ने अपनी पुस्तक '*Totemism and Exogamy*' (1910) में किया है। आपके मतानुसार टोटम की उत्पत्ति आदिम लोगों में आत्मा पर विश्वास के आधार पर हुई है। आदिम लोगों में यह विश्वास दृढ़ है कि मृत्यु के पश्चात् मृत व्यक्तियों की आत्मा बाहर किसी पशु अथवा पेड़ में निवास करती है। इससे स्वभावतः ही इन पशुओं या पेड़ों के प्रति आदिम लोगों के मन में श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना पनपी और इन पशुओं या पेड़ों को किसी भी रूप में हानि पहुँचाना या आघात करना निषिद्ध हो गया। इसी के फलस्वरूप टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति हुई। अरूण्टा जनजाति में यह बात बहुत ही सच प्रतीत होती है। उनमें से एक अनोखा विश्वास यह प्रचलित है कि मरे हुए पूर्वजों की आत्मा पुनर्जन्म की राह देखती हैं, और इसीलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह आत्मा कुछ निश्चित स्थानों में पेड़ अथवा पशु में निवास करती हैं। इस स्थान से जो भी स्त्री निकलती है, वह आत्मा उस स्त्री के शरीर में प्रवेश कर जाती है और स्त्री गर्भवती हो जाती है। अतः उस पेड़ अथवा पशु का, अपने पूर्वजों की आत्मा के ठहरने के आधार के रूप में, अरूण्टा लोग आदर करते हैं। श्री फ्रेज़र ने लिखा है कि गर्भधारण का यह सिद्धान्त ही टोटमवाद का मूल आधार है; साथ ही, यह सिद्धान्त या टोटमवाद गर्भवती स्त्रियों की, न कि पुरुषों के मस्तिष्क की, उपज है।[1]

(3) आर्थिक सिद्धान्त (Economic Theory)—कुछ विद्वानों ने टोटमवाद की उत्पत्ति का आर्थिक कारण बताया है। इस सिद्धान्त में श्री हॉपकिन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपके मतानुसार टोटम या टोटमवाद की उत्पत्ति आर्थिक उपयोगिता के आधार पर हुई है। जिस पशु या वनस्पति का किसी जनजाति के लिए आर्थिक महत्व है अथवा उस पशु या वनस्पति के द्वारा उसे जीवित रहने के साधन प्राप्त हो रहे हैं, तो यह मानी हुई बात है कि उसके प्रति उस जनजाति की धीरे-धीरे श्रद्धा की भावना पनपती है जिससे कि आगे चलकर टोटम की उत्पत्ति होती है। भारत की टोडा जनजाति इसका प्रमुख उदाहरण है। टोडा जनजाति का टोटम भैंस है, क्योंकि वह उन्हें भोजन देती है। यह जनजाति, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, एक पशु-पालक जनजाति है। इसके सदस्यों के जीवन-धारण का एक मात्र उपाय भैंसों के दूध तथा दूध से बनी चीजों को बेचना है। अतः स्पष्ट है कि भैंस के प्रति उनका आदर भाव स्वाभाविक ही है।

---

bearers, human and bestial, of the same name; and belief, if the blood superstitions—were needed to give rise to all the totemic creeds or practices including exogamy."—*cf* Alexander Goldenweiser, *op. cit*, p. 365.

1. "If we use what in particular may have suggested the theory of conception which appears to be the tap-root of totemism, it seems probable that, as I have already indicated, a preponderant influence is to be ascribed to the sick fancies of pregnant women, and that so far, totemism may be described as a creation of the feminine rather than of the masculine mind."—James Frazer

(4) **सामाजिक सिद्धान्त** (Social Theory)—इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक श्री दुर्खीम हैं। आपके अनुसार टोटम सामुदायिक जीवन का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज या समूह के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। टोटम, श्री दुर्खीम के मतानुसार, सामूहिक प्रतिनिधित्व (collective representation) है । इसीलिए टोटम साधारण (profane) नहीं, पवित्र (sacred) वस्तु है ।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है उनका कहना है कि इस जनजाति के लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर टोटम से सम्बन्धित पवित्र अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह है कि पवित्रता का ज्ञान एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना (group excitement) के कारण है। त्यौहारों तथा उत्सवों पर जब गोत्र के सभी लोग एक साथ एकत्र होते थे तो प्रत्येक मनुष्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान है। ऐसा अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्योहारों तथा उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावों, विचारों व रुचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावों, विचारों व रुचियों के सम्मेलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है । टोमस इसी सामूहिक शक्ति का प्रतीक है। साथ ही, इन त्योहारों तथा उत्सवों के अवसर पर एकत्रित भीड़ में एक प्रकार का मानसिक उल्लास प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवतः मानव की सामाजिक मूल-प्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरों में एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते है और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारों व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलतः व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन में समूह या समाज के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। चूंकि कोई-कोई पेड़-पौधा, पशु या पक्षी समूह या समाज का प्रतिनिधित्व करता है इस कारण वह पेड़-पौधा या पशु या श्रद्धा-भक्ति का आधार हो जाता है। उसे वह पवित्र समझने लगता है और उसका आदर करता है । इस प्रकार टोटम, श्री दुर्खीम के अनुसार, समाज-पूजा का एक प्रतीक है। अतः टोटमवाद समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर है।

(5) **आकस्मिक ऐतिहासिक घटना का सिद्धान्त** (*Theory of Historical Accident*)—इस सिद्धान्त के समर्थकों में श्री एलविन, डा० मजमूदार तथा रायबहादुर शरत् चन्द्र राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री एलविन के मतानुसार टोटम स्मक सम्बन्ध या घटना का परिणाम होता है। जैसे, किसी व्यक्ति ने एक कबूतर

को मारा, उसके बाद किन्हीं कारणों से वह अकस्मात् अन्धा हो गया। उस समूह के चिकित्सक (medicine man) ने इन दोनों घटनाओं में सम्बन्ध जोड़कर यह बताया कि उस व्यक्ति का अन्धा होना उसके द्वारा कबूतर को मारने से सम्बन्धित है। इससे कबूतर के प्रति आदर-मिश्रित-भय का भाव उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे कबूतर उस समूह का टोटम बन गया।

श्री राय ने ओरांव जनजाति के टोटमों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ऐसी घटनाओं का होना सम्भव है जिसमें किसी व्यक्ति की प्राणरक्षा अथवा हानि किसी विशेष प्राणी या वनस्पति से हुई हो। इससे उस वस्तु के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा और आदर-मिश्रित-भय का पनपना ही स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में वह वस्तु उस समूह का टोटम बन जाती है। उदाहरणार्थ, ओरांव जनजाति में यह किंवदन्ति प्रचलित है कि उस जनजाति का कोई प्रधान या मुखिया जंगल में कुंजर वृक्ष के नीचे सो रहा था। जंगल में अनेक हिंसक पशु तथा विषैले जन्तु थे जिनसे कि उस प्रधान की किसी भी क्षण प्राणहानि हो सकती थी। परन्तु कुंजर पौधों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और इस प्रकार उसकी रक्षा की। इस प्रधान ने कुंजर पौधे को अपना टोटम मान लिया। कुंजर पौधे की यह कहानी उस समूह में फैल गई और अपने सरदार या प्रधान के माध्यम से उस पौधे के महत्व से सब लोग प्रभावित हुए और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता तथा सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उसे अपना टोटम मान लिया। साथ ही, उस प्रधान के जितने भी वंशज हुए, उन सभी ने कुंजर पौधे को महत्त्व दिया। इस प्रकार कुंजर पौधा उस जनजाति का टोटम बन गया।

टोटम या टोटमवाद के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष के हिन्दू समाज में भी तुलसी, गाय, गंगा आदि को लोग श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं तथा उनकी रक्षा और पूजा करते हैं। परन्तु इन सब चीजों को या पशु या प्राकृतिक पदार्थों को टोटम समझना बहुत बड़ी गलती होगी, क्योंकि इन सबके साथ इनके मानने वाले कोई गूढ़ सम्बन्ध नहीं जोड़ते, न ही बहिर्विवाह के नियमों का पालन करते हैं। तुलसी की पूजा करने वाले सभी व्यक्ति आपस में शादी-विवाह करते हैं और वे तुलसी से कोई रहस्यमय सम्बन्ध भी नहीं मानते। ये दोनों ही विशेषताएँ टोटमवाद में अनिवार्य हैं। इस कारण ये सब चीजें टोटम नहीं हैं।

टोटमवाद का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Totemism)

टोटमवाद का जनजातियों के जीवन में काफी महत्त्व है और उनकी सामाजिक व्यवस्था को संगठित तथा व्यवस्थित करने में यह काफी महत्वपूर्ण कार्य करता है। टोटम के आधार पर ही सामुदायिक भावना और इस कारण भ्रातृभाव का जन्म होता है जो कि जनजातीय संगठन को स्थिर रखने में काफी सहायक सिद्ध होती है। टोटम-समूह के सभी सदस्य एक-दूसरे के भाई-बहन हैं, यह भावना इतनी तीव्र होती है कि उनमें विवाह तथा किसी भी प्रकार का सम्पर्क निषिद्ध है। इसी टोटम के आधार

उनमें परस्पर सहिष्णुता, सहानुभूति, भ्रातृभाव, स्नेह और सहयोग पाया जाता है। ये तत्त्व सामाजिक जीवन की शान्ति और सुव्यवस्था में बड़े महत्त्व के होते हैं। संकट के समय में इसीलिए टोटम समूह के सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं और प्रत्येक के प्रति सबका उत्तरदायित्व सभी सदस्य अनुभव करते हैं। बाहर के किसी भी व्यक्ति ने अगर टोटम-समूह के किसी सदस्य को किसी प्रकार से हानि या आघात पहुँचाया है, तो सम्पूर्ण टोटम-समूह उसका बदला लेता है।

टोटम या टोटमवाद सामाजिक नियंत्रण का भी एक साधन है। टोटम के आधार पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विवाह-सम्बन्धों को नियमित किया जाता है ताकि एक समूह के अन्तर्गत यौन-सम्बन्धी व्यभिचार न फैल सके। कुछ निश्चित वस्तुओं के प्रति आदर भाव रखना, उन्हें मारना या आघात न करना तथा उनके मांस आदि को न खाना आदि अनेक रूपों में टोटम के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। टोटम की कुछ विशिष्ट शक्ति होती है; उस शक्ति के डर से भी टोटम-समूह के सदस्य अपने व्यवहारों को नियंत्रित तथा नियमित रखते हैं।

टोटमवाद का भौगोलिक वितरण

(Geographical Distribution of Totemism)

आदिम समाजों की अत्यधिक विस्तृत संस्थाओं में टोटमवाद एक है। उत्तरी अमेरिका की अधिकतर जनजातियों में टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका में भी प्रायः वही स्थिति है। अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान से लेकर कालाहारी (kalahari) रेगिस्तान तक की प्रायः सभी जनजातियों में टोटमवाद का विस्तार पाया गया है। आस्ट्रेलिया में तो शायद ही कोई जनजाति ऐसी हो जिसमें टोटमवाद न पाया जाता हो।

उपरोक्त देशों में किन-किन जनजातियों में टोटमवाद का विस्तार है, इसका भी संक्षिप्त ज्ञान यहाँ आवश्यक है। उत्तरी अमेरिका में टिलनगिट, हैडा, जूनी, होपी तथा अन्य दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेश की जनजातियों में, दक्षिण-पूर्व में, नेटेज़, क्रीक आदि में तथा कुछ कैलीफोर्निया और वुडलैण्ड की जनजातियों में टोटमवाद अत्यधिक प्रचलित है। अमेरिका के मैदानी भागों में रहने वाली जनजातियाँ जैसे, सियान, नाभाहो, क्रो, चीईनी आदि में भी टोटमवाद पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका की जनजातियों तथा ब्राज़ील के इण्डियनों में टोटमवाद अति व्यापक है। भूमध्यसागरीय जनजातियों तथा दक्षिणी अफ्रीका की बुशमैन और हॉटेनटॉट जनजातियों को छोड़कर टोटमवाद अफ्रीका के अन्य सभी भागों में पाया जाता है। बगण्डा, एकिक्यू, बिडोयिन, लाँगो, मसाई आदि जनजातियों में टोटमवाद अत्यधिक लोकप्रिय संस्था है। वैसे तो आस्ट्रेलिया की सभी जनजातियों में टोटमवाद का प्रचलन है; फिर भी इस सम्बन्ध में अरूण्टा, केरीरा, तस्मानियन आदि जनजातियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Calverton, V. F. (edited) : *The making of man*, The modern Library, New York, 1931.

3. Goldenweiser, A : *Anthropology*, F. S Crofts and Co., New York, 1946.

4. Majumdar, D N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

5. Majumdar and Madan : *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1960.

6. Piddington, R. : *An Introduction of Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952.

13 धर्म और जादू
(Religion and Magic)

मानव संसार की समस्त घटनाओं या सृष्टि के रहस्यों को नहीं समझ पाता है। अपने जीवन के रोज के अनुभवों से वह यह सीखता है कि अनेक ऐसी घटनाएं हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं है । स्वभावत: ही उसमें यह धारणा पनपती है कि कोई एक ऐसी भी शक्ति है जो कि दिखाई नहीं देती, परन्तु वह किसी भी मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली है। यह शक्ति अलौकिक शक्ति है; इसे डरा-धमकाकर या ऐसे अन्य किसी उपाय से अपने वश में नहीं किया जा सकता है। इस शक्ति को अपने पक्ष में लाने का एकमात्र उपाय इसके सम्मुख सिर झुकाकर पूजा, प्रार्थना या आराधना करना है। इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित विश्वासों और क्रियाओं को ही धर्म कहते हैं।

इसके विपरीत, कुछ ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो कि मनुष्य की अपनी शक्ति से अधिक शक्तिशाली हैं; परन्तु इन पर कुछ निश्चित तरीकों से अधिकार किया जा सकता है। इसीलिए मानव इस शक्ति के सामने झुकने के बजाय इस पर अपना अधिकार स्थापित करके उससे अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाता है। इसी को जादू कहते हैं।

उपरोक्त दो प्रकार की शक्तियों को और अच्छी तरह समझने के लिए हम अब धर्म और जादू की अलग-अलग विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

धर्म
(Religion)

धर्म की परिभाषा
(Definition of Religion)

धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (superhuman) **या अलौकिक** (supernatural) **या समाजोपरि** (suprasocial) **शक्ति पर विश्वास है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना है।**[1] उपरोक्त परिभाषा आदिम और आधुनिक दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले धर्मों की एक सामान्य व्याख्या है। प्रत्येक धर्म का आधार किसी शक्ति

1. "Religion is the belief in one or the other superhuman, or supernatural, or suprasocial power which (the belief) has for its basis the fear, the reverence, the devotion and the idea of sacredness and which is expressed through prayer, worship or submission."—R. N. Mukherjee, *People and Institution of India*, Saraswati Sadan, Mussoorie, 1961, p. 94.

पर विश्वास है और यह शक्ति मानव-शक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ है। परन्तु केवल विश्वास से ही धर्म सम्पूर्ण नहीं है। इस विश्वास का एक भावनात्मक (emotional) आधार भी होता है, जैसे उस शक्ति के सम्बन्ध में भय या उसके दण्ड का भय। साथ ही, उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रेम-भाव भी धर्म का आवश्यक अंग है। उस शक्ति से लाभ उठाने के लिए और उसके कोप से बचने के लिए प्रार्थना, पूजा या आराधना करने की विधियाँ या संस्कार (rituals) भी हुआ करते हैं। इन धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग समाज में अलग-अलग तरह की धार्मिक सामग्रियों (religious objects), धार्मिक प्रतीकों (religious symbols) और जादू-टोने, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है। उस शक्ति का, जिस पर विश्वास किया जाता है, रूप और स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है। कहीं तो निराकार शक्ति की आराधना की जाती है और कहीं उस शक्ति का साकार रूप (मूर्ति या प्रतिमा) पूजा जाता है। संक्षेप में, इस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासों, भावनाओं और क्रियाओं के सम्मिलित रूप को *धर्म* कहते हैं।

आधुनिक मानवशास्त्र के प्रवर्तक श्री एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) ने ही शायद सर्वप्रथम सबसे कम शब्दों में धर्म की सबसे विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी। आपके अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।"[1]

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) के मतानुसार धर्म की प्रकृति और भी निश्चित है। आपने लिखा है, "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियन्त्रित करती हैं।"[2] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्री फ्रेजर ने धर्म के तीन प्रमुख पहलुओं पर बल दिया है। प्रथम तो यह कि धर्म का सम्बन्ध एक ऐसी शक्ति से होता है जो कि मानव-शक्ति से श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि यह वह शक्ति है जो कि प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्देशित तथा नियन्त्रित करती है। और तीसरी बात यह है कि यह शक्ति मनुष्य-शक्ति से श्रेष्ठ है और चूँकि वह प्रकृति तथा मानव-जीवन को निर्धारित तथा नियन्त्रित करने वाली है, इस कारण भलाई इसी में है कि उसे खुश रखा जाय चाहे वह खुश रखने का तरीका आराधना हो, या पूजा हो या और कुछ। धर्म के अन्तर्गत ये तीनों तत्त्व सम्मिलित हैं।

कुछ विद्वानों ने अपनी परिभाषा में मानसिक या मनवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। उदाहरणार्थ, श्री हानिगशीम (Honigsheim) के अनुसार "प्रत्येक मनोवृत्ति, जो कि *इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से सम्बन्धित है कि अलौकिक* शक्तियों का अस्तित्व है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव व महत्त्वपूर्ण है, धर्म

---

1. "Religion is the belief in Spiritual Beings."—Edward B. Tylor, *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913, p. 424.

2. "By religion .... I understand a propitiation or conciliation of powers superior to man which are believed to direct and control the course of nature and of human life."—Sir James Frazer, *The Golden Bough*, The Macmillan Co [illegible] p. 459.

कहलाती है।"[1] इस परिभाषा में हानिग्शीम ने चार बातों पर बल दिया है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक धर्म का आधार विश्वास है। अविश्वास के क्षेत्र में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है अर्थात् जहाँ अविश्वास है वहाँ से धर्म भी दूर है क्योंकि धर्म तो मनुष्य के विश्वास पर ही टिका हुआ है। दूसरी बात यह है कि धर्म इस विश्वास से सम्बन्धित मानव की मनोवृत्ति है। ये दोनों ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व (psychological element) हैं। धर्म की यह विशेषता स्पष्टतः इस ओर संकेत करती है कि धर्म कोई बाहरी घटना (external phenomenon) नहीं है, धर्म तो एक आन्तरिक अनुभूति है, इसका स्थान तो मनुष्य के मन में है। तीसरी बात यह है कि मनुष्यों में इस बात का भी विश्वास होना चाहिए कि अलौकिक (supernatural) शक्तियों का अस्तित्व है और मनुष्यों के लिए यह सम्भव है कि वे इन शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। यह धर्म की एक बहुत ही रोचक विशेषता है। यद्यपि ये शक्तियाँ अलौकिक हैं, फिर भी ये अपनी ही हैं और चूंकि अपनी हैं इसी कारण उनसे सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है। भक्तों के भगवान अर्थात् भगवान भक्तों के (यानी जो उन पर विश्वास करता है उनके) ही आत्मजन होते हैं, इस कथन में धर्म की उपरोक्त तीसरी विशेषता ही झलकती है। और चौथी बात यह कि अलौकिक शक्ति से केवल सम्बन्ध स्थापित ही नहीं हो सकता है, बल्कि ये सम्बन्ध मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowaski) धर्म के समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं को एक-सा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी आधार पर आपके अनुसार, "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी; और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[2] इस कथन से धर्म की चार प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हैं। पहली विशेषता यह है कि धर्म विश्वासों की एक व्यवस्था है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा या और किसी पर हो सकता है। ये विश्वासों की एक व्यवस्था इस अर्थ में हैं कि उस अलौकिक शक्ति पर कुछ परम्परा-स्वीकृत तरीकों से विश्वास करते हैं या उसके विषय में चिन्ता करते हैं। उदाहरणार्थ, एक समाज अपने धर्म के अन्तर्गत निराकार शक्ति पर विश्वास करता है, तो वह समाज उस निराकार शक्ति के बारे में जो कुछ सोचेगा या जिस ढंग से सोचेगा वह उस समाज के ढंग से भिन्न होगा, जहाँ साकार शक्ति पर विश्वास किया जाता है। धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक धर्म में विश्वासों से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ या कर्म होते हैं। अर्थात् धार्मिक विश्वास उस शक्ति के प्रति मनुष्य को निष्क्रिय (passive) या उदासीन रहने नहीं देता। उसे कर्म करना पड़ता है और इस कर्म की अभिव्यक्ति

---

1. "The term religion will be used to denote every attitude based on, and connected with the conviction that supernatural forces exist and that relations with them are possible and significant."—P. Honigsheim, *Sociology of Religion*, Modern Sociological Theory, The Dryden Press, New York, 1957, p. 452.

2. "Religion is a mode of action as well as a system of belief, and a sociological phenomenon as [illegible] personal experience."—B. Malinowski, *Magic, Science and Religio[illegible] ssays*, Glen[illegible] oe, 1948, p. 24.

प्रार्थना, पूजा-पाठ या आराधना के रूप में होती है। धर्म की तीसरी विशेषता यह है कि धर्म एक सामाजिक घटना (phenomenon) है। एक ही समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग धर्म है, ऐसा देखा नहीं गया। धर्म की चौथी विशेषता यह है कि धर्म को मानना या न मानना स्वयं व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है और यह बात उसके व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा प्रभावित होती है। हो सकता है कि एक हिन्दू के जीवन में कुछ ऐसे अनुभव हों जिनके कारण वह हिन्दू-धर्म को त्यागकर इस्लाम को अपना ले। धर्म की यह विशेषता अनुभव द्वारा प्राप्त व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियों पर बल देती है।

ऐसे तो धर्म की असंख्य परिभाषाएँ[1] विभिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत की हैं, फिर भी धर्म का सामान्य स्वरूप उपरोक्त परिभाषाओं व विवेचना से काफी स्पष्ट हो जाता है। आगे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories regarding Origin of Religion)

मानव-समाज में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका प्रारम्भिक रूप क्या था, इस सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। विकासवादी लेखकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज जनजातीय या आदिकालीन समाजों का ही क्रमिक विकसित रूप है, इस कारण धर्म की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनजातीय समाजों में ही हुई होगी। अतः अनेक मानवशास्त्री जनजातियों के जीवन का विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप को ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं। यहां हम धर्म की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

(1) आत्मावाद या जीववाद
(Animism)

श्री एडवर्ड टायलर (Edward B Tylor) इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। आपके अनुसार आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के

---

1. "Religion," says Schleiermacher, "consists of an absolute sense of our dependence." "It is," says Feuerbach, "a desire which manifests itself in prayer, sacrifice and faith." Kant saw in it, "a sense of our duties as based on divine law." "Religion," says Max Muller, "is a faculty of the mind which enables a man to grasp the infinite independently of sense and reason." The great English ethnographer, Tylor, is more modest, and accepts as the minimum definition of religion "a belief in spiritual beings," Marie-Jean Guyau was the [illegible] element essential to [illegible] universal sociomor- [illegible] *of Religions*, trans- [illegible], New York, 1942, p 23.

(For a recent survey of the numerous conceptions of religion, please see Joachim Wach, *Sociology of Religion*, University of Chicago Press, Chicago, 1944.)

कहलाती है।"[1] इस परिभाषा में हानिगशीम ने चार वातों पर वल दिया है। पहली वात तो यह है कि प्रत्येक धर्म का आधार विश्वास है। अविश्वास के क्षेत्र में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है अर्थात् जहाँ अविश्वास है वहाँ से धर्म भी दूर है क्योंकि धर्म तो मनुष्य के विश्वास पर ही टिका हुआ है। दूसरी वात यह है कि धर्म इस विश्वास से सम्वन्धित मानव की मनोवृत्ति है। ये दोनों ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व (psychological element) हैं। धर्म की यह विशेषता सम्भवतः इस ओर संकेत करती है कि धर्म कोई वाहरी घटना (external phenomenon) नहीं है, धर्म तो एक आन्तरिक अनुभूति है, इसका स्थान तो मनुष्य के मन में है। तीसरी वात यह है कि मनुष्यों में इस वात का भी विश्वास होना चाहिए कि अलौकिक (supernatural) शक्तियों का अस्तित्व है और मनुष्यों के लिए यह सम्भव है कि वे इन शक्तियों से अपना सम्वन्ध स्थापित करें। यह धर्म की एक वहुत ही रोचक विशेषता है। धर्म में शक्तियाँ अलौकिक हैं, फिर भी वे अपनी ही हैं और चूँकि अपनी हैं इसी कारण उनसे सम्वन्ध स्थापित करना सम्भव है। भक्तों के भगवान अर्थात् भगवान भक्तों के (यानी जो उन पर विश्वास करता है उनके) ही आत्मजन होते हैं, इस कथन में धर्म की उपरोक्त तीसरी विशेषता ही झलकती है। और चौथी वात यह कि अलौकिक शक्ति से केवल सम्वन्ध स्थापित ही नहीं हो सकता है, वल्कि ये सम्वन्ध मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowaski) धर्म के समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं को एक-सा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी आधार पर आपके अनुसार, "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी; और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[2] इस कथन से धर्म की चार प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हैं। पहली विशेषता यह है कि धर्म विश्वासों की एक व्यवस्था है। यह विश्वास किसी अलौकिक शक्ति, आत्मा, परमात्मा या और किसी पर हो सकता है। ये विश्वासों की एक व्यवस्था इस अर्थ में हैं कि उस अलौकिक शक्ति पर कुछ परम्परा-स्वीकृत तरीकों से विश्वास करते हैं या उसके विषय में चिन्ता करते हैं। उदाहरणार्थ, एक समाज अपने धर्म के अन्तर्गत निराकार शक्ति पर विश्वास करता है, तो वह समाज उस निराकार शक्ति के वारे में जो कुछ सोचेगा या जिस ढंग से सोचेगा वह उस समाज के ढंग से भिन्न होगा, जहाँ साकार शक्ति पर विश्वास किया जाता है। धर्म की दूसरी विशेपता यह है कि प्रत्येक धर्म में विश्वासों से सम्वन्धित कुछ क्रियाएँ या कर्म होते हैं। अर्थात् धार्मिक विश्वास उस शक्ति के प्रति मनुष्य को निष्क्रिय (passive) या उदासीन रहने नहीं देता। उसे कर्म करना पड़ता है और इस कर्म की अभिव्यक्ति

1. "The term religion will be used to denote every attitude based on, and connected with the conviction that supernatural forces exist and that relations with them are possible and significant."—P. Honigsheim, *Sociology of Religion*, Modern Sociological Theory, The Dryden Press, New York, 1957, p. 452.

2. "Religion is a mode of action as well as a system of belief, and a sociological phenomenon as well as a personal experience."—B. Malinowski, *Magic, Science and Religion o*[illegible] *Essays*, Glencoe, 1948, p. 24.

प्रार्थना, पूजा-पाठ या आराधना के रूप में होती है। धर्म की तीसरी विशेषता यह है कि धर्म एक सामाजिक घटना (phenomenon) है। एक ही समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग धर्म है, ऐसा देखा नहीं गया। धर्म की चौथी विशेषता यह है कि धर्म को मानना या न मानना स्वयं व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है और यह बात उसके व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा प्रभावित होती है। हो सकता है कि एक हिन्दू के जीवन में कुछ ऐसे अनुभव हों जिनके कारण वह हिन्दू-धर्म को त्यागकर इस्लाम को अपना ले। धर्म की यह विशेषता अनुभव द्वारा प्राप्त व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियों पर बल देती है।

ऐसे तो धर्म की असंख्य परिभाषाएँ[1] विभिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत की हैं, फिर भी धर्म का सामान्य स्वरूप उपरोक्त परिभाषाओं व विवेचना से काफी स्पष्ट हो जाता है। आगे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories regarding Origin of Religion)

मानव-समाज में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका प्रारम्भिक रूप क्या था, इस सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। विकासवादी लेखकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज जनजातीय या आदिकालीन समाजों का ही क्रमिक विकसित रूप है, इस कारण धर्म की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम जनजातीय समाजों में ही हुई होगी। अत: अनेक मानवशास्त्री जनजातियों के जीवन का विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप को ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं। यहां हम धर्म की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

(1) आत्मावाद या जीववाद
(Animism)

श्री एडवर्ड टायलर (Edward B. Tylor) इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। आपके अनुसार आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के

---

1. "Religion," says Schleiermacher, "consists of an absolute sense of our dependence" "It is," says Feuerbach, "a desire which manifests itself in prayer, sacrifice and faith." Kant saw in it, "a sense of our duties as based on divine law." "Religion," says Max Muller, "is a faculty of the mind which enables a man to grasp the infinite independently of sense and reason" The great English ethnographer, Tylor, is more modest, and accepts as the minimum definition of religion "a belief in spiritual beings," Marie-Jean Guyau was the first, in 1887, to introduce into the definition of religion an element essential to "all religions, a social character". "Religion," he said, "is a universal sociomorphism." Quoted by Salomon Reinach, *Orpheus : A History of Religions*, translated by William Siegel, Liveright Publication Corporation, New York, 1942, p. 23.

(For a recent survey of the numerous conceptions of religion, please see Joachim Wach, *Sociology of Religion*, University of Chicago Press, 1944.)

दर्शन का आधार है।"[1] यह आत्मावाद दो वृहत् विश्वासों में विभाजित है—**प्रथम** तो यह कि मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व मृत्यु या शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी बना रहता है और **द्वितीय** यह है कि मनुष्यों की आत्माओं के अतिरिक्त शक्तिशाली देवताओं की अन्य आत्माएँ भी होती हैं।[2] श्री टायलर के अनुसार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की होती हैं। ये पारलौकिक आत्माएँ केवल अमर ही नहीं हैं, वरन् वे इस भौतिक संसार की सब घटनाओं को तथा मनुष्यों के जीवन की दिशा को भी निर्देशित व नियन्त्रित करती हैं। इसीलिए लोग इन आत्माओं से डरते हैं या श्रद्धा-भक्ति करते हैं, जिससे कि धर्म की उत्पत्ति होती है।

अतः स्पष्ट है कि श्री टायलर के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति में आत्माओं पर विश्वास ही सर्वप्रमुख है। परन्तु आत्माओं पर विश्वास आदिवासियों को कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री टायलर का कथन है कि आत्माओं पर विश्वास आदिवासियों के रोज के जीवन से सम्बन्धित **दो** प्रकार के अनुभवों के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुआ। वे दो अनुभव (अ) मृत्यु और (ब) स्वप्न थे। एक जीवित और एक मृत व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले भेदों को देखकर आदिम मनुष्य के मस्तिष्क में यह बात आयी कि जीवित व्यक्ति के शरीर के अन्दर अवश्य ही कोई-न-कोई ऐसी चीज़ या शक्ति रहती है जिसके चले जाने पर अर्थात् शरीर से निकल जाने पर शरीर क्रियाहीन हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य न बोल पाता है न खा सकता है, न चल पाता है और न ही अन्य कोई कार्य कर सकता है। पर यह चीज़ या शक्ति क्या है ? इसका उत्तर स्वप्न तथा अन्य अनुभवों ने दिया। मनुष्य अपनी आवाज की गूँज सुनता था, अपनी परछाई देखता था और स्वप्न में अनेक प्रकार के कार्य करता था, अपने को और दूसरे अनेक जीवित और मृत व्यक्तियों को उस सपने में देखता भी था। शरीर से सम्बन्धित इन चीज़ों को ही मनुष्य ने 'आत्मा' का नाम दिया जो कि उसके उपरोक्त अनुभवों के अनुसार "एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भाँति है।"[3]

फिर भी इस सम्बन्ध में मनुष्य की एक शंका बनी ही रही और वह यह कि सोते समय भी तो मनुष्य मृत-तुल्य होता है, पर सपनों में कोई चीज़ या शक्ति शरीर से निकल कर विभिन्न स्थानों में जाती है, अनेक प्रकार का कार्य करती है और अनेक जीवित और मृत व्यक्तियों से मिलती है और अन्त में एक समय अपनी इच्छानुसार फिर लौट आती है और मनुष्य, नींद टूटने पर, फिर पूर्ववत् हो जाता है। अर्थात् यह दूसरी शक्ति पहली शक्ति की तरह नहीं है कि शरीर से एक बार निकल जाने के बाद फिर लौटकर नहीं

---

1. "Animism is the groundwork of the Philosophy of Religion from that of savages upto that of civilized men."—E.B. Tylor, *op. cit.*, p. 426.

2. Animismis *subdivided into* "two great dogmas......first, concerning souls of individual creatures, capable of continued existence after the death or destruction of the body; second, concerning other spirits, upward to the rank of powerful duties."—*Ibid.*, p. 426.

3. "It is a thin unsubstantial human image, in its nature a sort of vapour, film or shadow."—*Ibid., p. 429.*

आती। यह स्वतन्त्र शक्ति है जो अपनी इच्छानुसार शरीर से बाहर निकल जाती है और परछाईं के रूप में दिखाई देती है, आवाज की प्रतिध्वनि करती है और सपनों में अनेक प्रकार का अनुभव करती है। संक्षेप में, सपनों के आधार पर आदिमानव दो निष्कर्षों पर आता है—प्रथम तो यह कि आत्माएँ दो हैं—(अ) स्वतन्त्र-आत्मा (free soul) जो शरीर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के अनुभव करने और फिर वापस चले जाने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र है; और (ब) शरीर-आत्मा (body soul) जो एक बार शरीर छोड़कर चले जाने के बाद फिर लौटकर नहीं आती और मनुष्य मर जाता है। दूसरा निष्कर्ष यह था कि आत्मा अमर है, क्योंकि सपनों में वे व्यक्ति दिखायी देते हैं जो बहुत पहले ही मर चुके हैं। अगर आत्मा अमर न होती तो उन्हें फिर से देखना कैसे सम्भव होता?

श्री टायलर के अनुसार आदिम मानव में यह विश्वास है कि ये आत्माएँ मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। साथ ही, यह भी माना जाता है कि ये आत्माएँ मनुष्यों से सम्बन्ध बनाये रखती हैं; मनुष्य के अच्छे-बुरे कार्यों से इन आत्माओं को दुःख और सुख होता है। इसके अतिरिक्त, इन आत्माओं को प्रसन्न रखने से मनुष्य को लाभ और इनके अप्रसन्न होने पर मनुष्य को नुकसान हो सकता है। इसलिए इनकी विनती या आराधना करना आवश्यक है जिससे वे हमारा अनिष्ट न करें। इस विश्वास को लेकर आदिम मनुष्यों ने पितरों की विनती आरम्भ की और यही आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर आत्मावाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(1) आत्मावाद का मूल आधार आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास है। यह 'वाद' यह विश्वास करता है कि मनुष्यों की आत्माओं के अलावा दूसरी प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमें प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की सभी आत्माएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार आत्मावाद में आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। दूसरे शब्दों में आत्मावाद अनेक आत्माओं पर विश्वास है।

(2) इन आत्माओं की अवधारणा (concept) का जन्म आदिम मनुष्यों के रोज के जीवन में होने वाले अनुभवों के कारण हुआ। इन अनुभवों में मृत्यु और स्वप्न सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आवाज का गूंजना, परछाईं आदि को देखना इस प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए।

(3) इन अनुभवों के आधार पर आत्माओं को दो मुख्य श्रेणियों में बाँटा गया—एक तो स्वतन्त्र-आत्मा, जिसका कि अस्तित्व शरीर नष्ट हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है और दूसरी शरीर-आत्मा जो कि मनुष्य की मृत्यु या शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहती है। आत्मावाद का सम्बन्ध इन अमर आत्माओं से ही है।

(4) *ये आत्माएँ इस भौतिक संसार की सब घटनाओं को तथा मनुष्यों के वर्तमान तथा पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियन्त्रित करती हैं।* आत्मावाद में यह

विश्वास उल्लेखनीय है। यदि किसी समाज में मनुष्यों में यह विश्वास नहीं है तो ऐसे समाज में आत्मावाद का जन्म नहीं हो सकता।

(5) उपरोक्त विश्वास अपने-आप, अनिवार्य और सक्रिय रूप से मनुष्य को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह उन प्रभावशाली आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी आराधना, प्रार्थना या पूजा करे। आत्माओं की पूजा ही धर्म का प्रारम्भिक रूप है।

समालोचना (Criticism)—सर्वश्री लैंग (Lang), मैरेट (Marett), वूण्ट (Wundt), जेवन्स (Jevons) आदि विद्वानों ने श्री टायलर के सिद्धान्त की जो समालोचना की है उसमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

(क) श्री टायलर के सिद्धान्त की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि आपने आदिम मनुष्यों को अत्यधिक तर्कयुक्त दार्शनिक के रूप में मान लिया है। आत्मावाद के सिद्धान्त को देखने से पता लगता है कि सम्पूर्ण सिद्धान्त को बहुत सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। इतने सिलसिलेवार से आदिम मनुष्य तो क्या आधुनिक मनुष्य भी सोच नहीं सकता। इसलिए हम कह सकते हैं कि इतने क्रमबद्ध रूप से आत्मा की धारणा को विकसित करना आदिम मनुष्य के लिए सम्भव नहीं था जैसा कि श्री टायलर ने सोचा है।

(ख) श्री टायलर के सिद्धान्त से यह पता चलता है कि आदिम समाजों में धर्म का स्वरूप आत्माओं पर विश्वास और उनकी पूजा या आराधना है। दूसरे शब्दों में, श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त के माध्यम से यह विचार प्रस्तुत किया है कि जनजातियों में ऊँचे देवताओं की धारणा नहीं होती। श्री एन्ड्र्यू लैंग (Andrew Lang) के अनुसार श्री टायलर का यह विचार गलत है। उन्होंने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में नैतिक दृष्टि से विशुद्ध सृष्टिकर्त्ता या ईश्वर की धारणा पाई जाती है। श्री श्मिड (Schmidt) ने भी श्री लैंग के विचार का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि कुछ नीग्रिटो जनजातियों में, अमेरिका के कैलीफोर्निया की जनजातियों में और फ्यूजी जनजातियों में परमेश्वर की धारणा पाई जाती है। इन तथ्यों के आधार पर श्री टायलर के इस मत से सहमत होना उचित न होगा कि जनजातियों के धर्म में अर्थात् प्रारम्भिक रूप के धर्म में केवल आत्मा की धारणा थी और ऊँचे देवताओं की धारणा का विकास बाद में हुआ।

(ग) श्री मैरेट (Marett) का कथन है कि श्री टायलर ने अपने सिद्धान्त में केवल आत्मा पर विश्वास का ही उल्लेख किया है परन्तु जनजातियों के जीवन का गहन अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जनजातीय लोग दूसरी ऐसी शक्तियों में भी विश्वास करते हैं, जो कि आत्मा की शक्ति से भिन्न है। इसलिए केवल आत्मा की धारणा को ही जनजातीय धर्म का आधार मानना उचित न होगा, क्योंकि जनजातियों में अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर श्री मैरेट ने अपने जीवितसत्तावाद (Animatism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

(घ) श्री टायलर ने धर्म को अति सरल रूप में प्रस्तुत किया है और इसीलिए उसकी उत्पत्ति को भी सरल ही मान लिया है। परन्तु धर्म इतनी सरल संस्था नहीं है

जितना कि श्री टायलर ने सोचा है। धर्म की उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित अनुभवों के आधार पर हुई है, यह सोचना गलत है।

(ङ) श्री टायलर के कुछ आलोचकों के अनुसार धर्म एक सामाजिक घटना (social phenomenon) है। इस कारण इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारण अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं। परन्तु श्री टायलर ने धर्म के 'सामाजिक उपादानों' की सर्वथा अवहेलना की है।

श्री टायलर के सिद्धान्त में उपरोक्त कमियाँ होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि श्री टायलर ही प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने कि धर्म की एक स्पष्ट परिभाषा और धर्म की उत्पत्ति का एक स्पष्ट कारण प्रस्तुत किया, जिसके कारण बाद में मानवशास्त्रियों को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सीधा रास्ता मिल गया।

(2) जीवितसत्तावाद या मानावाद

(Animatism or Manaism)

जीवितसत्तावाद या जीविवाद के प्रमुख समर्थकों में सर्वश्री प्रीयस (Preuss) और मैक्समूलर (Max Muller) उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ में, चाहे वह चेतन हो या जड, एक जीवितसत्ता है। वह सत्ता अलौकिक है और इसे प्रसन्न रखना लाभदायक सिद्ध होता है। इन विद्वानों के अनुसार इसी अलौकिक सत्ता या शक्ति की आराधना ही सबसे प्रारम्भिक धर्म था।

श्री कॉडरिंगटन (Codrington) के मेलानेशिया की जनजातियों के सम्बन्ध में अनुसंधानों के आधार पर हाल ही में श्री मैरेट (Marett) ने जीवितसत्तावाद के सिद्धान्त को एक नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसे मानावाद (Manaism) कहते हैं। इसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति 'आत्मा' की धारणा से नहीं, 'माना' की धारणा से हुई है। (मेलानेशिया की जनजातियों में 'माना' की अवधारणा की जो प्रमुख विशेषताएँ हैं, उसके आधार पर श्री कॉडरिंगटन ने 'माना' को इस प्रकार परिभाषित किया है : "'माना' एक शक्ति है जो कि भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है; यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियन्त्रण पाना अत्यन्त लाभदायक है।......यह एक शक्ति या प्रभाव तो अवश्य है, पर शारीरिक शक्ति नहीं है, और एक अर्थ में यह अलौकिक है; किन्तु यह शारीरिक शक्ति या अन्य किसी प्रकार की शक्ति या क्षमता में, जिसका कि एक मनुष्य अधिकारी है, अपने को प्रकट करती है। यह अलौकिक इस अर्थ में है कि यह सब चीजों पर प्रभाव डालने के लिए जिस रूप में कार्य करती है, वह मनुष्य की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं के बाहर है।"[1]

---

1. "It (*Mana*) is a force altogether distinct from physical power which act in all kinds of ways for good and evil and which it is of greatest advantage to possess or control......If it is a power or influence, not physical, and in a way supernatural, but it shows itself in physical force or in any kind of power excellence which a man possesses. —It is supernatural in

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर हम 'माना' की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(1) 'माना' शारीरिक शक्ति नहीं है। यह शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह एक अलौकिक शक्ति है और वह इस अर्थ में कि यह प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करने वाले ऐसे कार्यों को करती है जो साधारण मनुष्यों की शक्ति से और प्रकृति की सामान्य प्रक्रियाओं से परे हैं।

(2) 'माना' अलौकिक शक्ति होते हुए भी शारीरिक शक्ति या अन्य प्रकार की शक्तियों में प्रगट होती है। अर्थात् 'माना' की शक्ति की क्रियाशीलता का आधार शारीरिक शक्ति या वे अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं जिन्हें मनुष्य पाना चाहता है।

(3) 'माना' की शक्ति का कोई शारीरिक रूप नहीं है। इसलिए इस शक्ति को अशरीरी (impersonal) कहा जाता है। चूंकि यह शक्ति अलौकिक तथा अशरीरी है, इस कारण इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता।

(4) यह हो सकता है कि 'माना' की शक्ति किसी चीज़ में कम और किसी में अधिक हो, पर होगी यह सब में।

(5) 'माना' का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनों तरीकों का हो सकता है। दूसरे शब्दों में, इस शक्ति से हमें हानि व लाभ दोनों ही हो सकते हैं।

(6) 'माना' की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि यह बिजली की करेण्ट (current) या शक्ति की भाँति होती है जो व्यक्तियों और चीजों को प्रभावित कर सकती है और जो एक से दूसरे में आ-जा सकती है। कोई आशातीत सफलता 'माना' के कारण और असफलता इसके अभाव के कारण होती है।[1]

मेलानेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी काम में भी उन्हें तब तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि 'माना' सहायक न हो। युद्ध में योद्धाओं को विजय 'माना' के कारण मिलती है, शिकार में शिकारियों की सफलता का कारण भी 'माना' है और जाल में आकर मछलियों का फँसना भी उसी 'माना' की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है।

उपरोक्त आधार पर श्री मैरेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिकालीन समाज के लोग विश्व की सभी जड़ और चेतन वस्तुओं में 'माना' के आधार पर एक अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक या अशरीरी, उत्प्राकृतिक, अलौकिक तथा दैवीय जीवितसत्ता पर विश्वास करते थे। इस सत्ता या शक्ति का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का होता है और इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सका। इसी कारण आदिकालीन समाज के लोग

---

what works to effect every thing, which is beyond the ordinary power of man, outside the common process of nature."—R.H. Codrington, *The Melanesians*, Oxford, 1891, p. 119.

1. "*Mana* was like an electrical fluid that could charge persons and things and be diverted from one to another. Any conspicuous success was due to *mana*, failure to its absence or loss."—Robert H. Lowie, *An Introduction to Cultural Anthropology*, Farrar and Rinehart, New York, 1934, p. 303.

इस शक्ति को ही सब कुछ मानकर इसके सम्मुख नतमस्तक हुए और अपने जीवन में अधिकाधिक सफलता पाने और शक्ति के बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस सत्ता या शक्ति की आराधना करने लगे। यही धर्म का प्रारम्भिक रूप था।

अनेक विद्वानों ने मानावाद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। श्री दुर्खीम (Durkheim) ने इस सिद्धान्त की जो आलोचना की है वह निम्नवत् है—

(1) मानावाद की सर्वप्रथम दुर्बलता यह है कि इस सिद्धान्त में इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती कि 'माना' की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ। एक अशरीरी या अलौकिक शक्ति की धारणा को पनपने के लिए किसी-न-किसी आधार की आवश्यकता होती है। इस शक्ति के बारे में केवल कल्पना की सहायता से सब कुछ सोच सके, इतनी उच्च कोटि का दार्शनिक आदिमानव कदापि न था और न ही होना सम्भव था। परन्तु सर्वश्री मैरेट, कॉडरिंगटन आदि विद्वानों ने अपने सिद्धान्त में आदिम मनुष्य को उसी रूप में प्रस्तुत करने या मान लेने की गलती की है।

(2) धर्म एक सामाजिक तथ्य (social fact) है और सामाजिक तथ्य व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं वरन् मस्तिष्क के बाहर वास्तविक सामाजिक परिस्थिति में निवास करता है। इस कारण धर्म की उत्पत्ति का कारण समाज में न ढूँढकर व्यक्ति के मस्तिष्क में ढूँढने का प्रयत्न करना उचित न होगा।

(3) मानावाद का एक बहुत बड़ा दोष यह भी है कि यह धार्मिक जीवन के केवल कुछ भागों पर ही प्रकाश डालता है। अगर हम आदिमानव के धर्म तथा जादू से सम्बन्धित विश्वासों का गहन अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उन विश्वासों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबको 'माना' के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

(4) श्री दुर्खीम का यह भी कहना है किसी भी धर्म में एक विशेष बात यह होती है कि उसमें पवित्र और अपवित्र वस्तुओं में एक स्पष्ट भेद माना जाता है। धर्म का सम्बन्ध 'पवित्र' से होता है परन्तु मानावाद में इस धारणा का कोई भी आभास नहीं होता।

(5) मानावाद [illegible] क इसमें अशरीरी तथा
अलौ— [illegible] ो प्रयत्न नहीं किया गया
[illegible] िक संसार से बहुत दूर हो
[illegible] वास्तव में न तो वह कभी था
[illegible] यह कभी कदापि न पन-
[illegible] अवहेलना न करते।

[illegible] sm)

[illegible] विवेचना के आधार पर हम

(क) **मानावाद एकत्ववादी और आत्मावाद बहुत्ववादी है**—आत्मावाद का अर्थ आत्माओं में विश्वास है। ये आत्माएँ अनेक हैं, क्योंकि ये पूर्वज, भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच किसी की भी आत्मा हो सकती हैं और अलौकिक शक्ति, जिस पर कि विश्वास किया जाता है, का प्रकट रूप इन्हीं में से कुछ भी हो सकता है। ये आत्माएँ पशु, पक्षी, चट्टान किसी में भी निवास कर सकती हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मावाद में अलौकिक शक्ति की धारणा कोई एक निश्चित रूप प्रकट नहीं करती, क्योंकि आत्माएँ भी एक नहीं, अनेक होती हैं। इस अर्थ में आत्मावाद बहुत्ववादी है। इसके विपरीत मानावाद का सम्बन्ध अनेक आत्माओं से नहीं, वरन् एक अशरीरी, उत्प्राकृतिक तथा अलौकिक शक्ति या सत्ता से है जो कि सभी जड़ और चेतन वस्तुओं में छायी हुई है। आत्माएँ अनेक होती हैं, इसके अनेक रूप हैं; परन्तु जीवितसत्ता अनेक नहीं, अनेक वस्तुओं में एक है। इस प्रकार मानावाद का जीवितसत्तावाद एकत्ववादी है।

(ख) **मानावाद अवैयक्तिक या अशरीरी शक्ति पर विश्वास है, आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर**—आत्मावाद में आत्मा किसी पूर्वज, भूत, प्रेत-विशेष की होती है और प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध एक विशेष व्यक्ति से ही होता है। इस अर्थ में आत्मावाद वैयक्तिक शक्ति पर विश्वास है। इसके विपरीत मानावाद एक अशरीरी और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करता है, जिसका सम्बन्ध किसी भी व्यक्ति-विशेष से नहीं है। यह शक्ति प्रत्येक में एक ही है, यद्यपि इस शक्ति की मात्रा किसी चीज़ में कम और किसी में अधिक होती है।

(ग) **आत्मावाद सीमित है, मानावाद व्यापक है**—आत्मावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक नहीं है क्योंकि इसमें वैयक्तिक आत्मा की अवधारणा पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा का दर्शन प्रत्येक चीज में नहीं होता। परन्तु मानावाद में 'माना' सर्वव्यापक और सृष्टि की समस्त वस्तुओं में पाया जाता है। आत्मा का क्षेत्र सीमित और 'माना' का सर्वव्यापी है।

(3) प्रकृतिवाद

(Naturism)

श्री मैक्समूलर (Max Muller)[1] का प्रकृतिवाद भी जीवितसत्तावाद का ही एक रूप है। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद में ही पलता है। प्रकृति की विभिन्न चीज़ों से उसे लाभ व हानि दोनों ही होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य से उसे धूप मिलती है जो कि ठण्डक से उसकी रक्षा करती थी अर्थात् ठण्डक में उसे आराम पहुँचाती थी। दूसरी ओर आँधी उसकी झोंपड़ी को उड़ाकर ले जाती थी; बिजली गिरकर उसके पेड़ और घर को जला देती थी। ऐसी अवस्था में प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर आदिकाल में मानव के मन में श्रद्धा, भय, आतंक, आश्चर्य आदि होना स्वाभाविक ही था। इन मानसिक भावनाओं के कारण वह प्रकृति से ऐसा डरने लगा या उसे इतनी

---

1. See Max Muller, *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co., London.

श्रद्धा करने लगा जैसे किसी जानदार वस्तु से करता था उसे श्रद्धा करता था। प्रकृति की विभिन्न चीज़ों को देखकर उसके मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि वे भी कोई जानदार चीज़ें हैं और साथ ही अधिक शक्तिशाली। उदाहरण के लिए, आदिमानव ने यह देखा कि जिस झोंपड़ी को उसने बहुत दिनों के परिश्रम से बड़ी मुश्किल से बनाया था उसे 'आँधी' ने एक मिनट में उड़ाकर फेंक दिया। इस दृश्य को देखकर उसके दिल में यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी कि कोई ऐसी शक्ति है जो कि दिखायी तो नहीं देती, पर है मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली। इसीलिए उसके प्रति उन लोगों के दिल में श्रद्धा, भक्ति, भय आदि उत्पन्न हुए। इसीके आधार पर संस्कृत और भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री मैक्समूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म की उत्पत्ति का प्रथम चरण प्रकृति के विभिन्न पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, और यहाँ तक कि कुछ पेड़-पौधे आदि की आराधना थी। मिस्र में तथा अन्यत्र हुई खुदाइयों से इस विचार की पुष्टि मिली। मिस्र में सबसे बड़ा देवता 'रा' अर्थात् सूर्य था। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को सजीव समझना और उनके प्रति श्रद्धा, प्रेम या भय की भावना का जन्म दोषपूर्ण भाषा के कारण हुआ। प्रायः कहा जाता है कि 'सूर्य उदय और अस्त होता है', 'आँधी आ रही है' इत्यादि। परन्तु वास्तव में सूर्य न तो उदय ही होता है और न अस्त ही होता है। पर कुछ भी हो, आदिमानव प्रकृति की इस असीम विशालता के सम्मुख नत-मस्तक होता है और धर्म की प्रथम नींव पड़ती है।[1]

इस सिद्धान्त की जो समालोचना (criticism) आधुनिक मानवशास्त्री करते हैं उनमें से तीन उल्लेखनीय हैं—

(क) प्रकृति की पूजा से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या बहुत ही संकुचित विश्लेषण प्रतीत होती है। केवल प्रकृति की पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति कैसे सम्भव है, इसे श्री मैक्समूलर उचित ढंग से नहीं समझा पाये हैं।

(ख) दोषपूर्ण भाषा के आधार पर प्रकृति के पदार्थों को सजीव समझने की बात भी कुछ स्पष्ट प्रतीत नहीं होती।

(ग) धर्म एक सामाजिक संस्था है, परन्तु श्री मैक्समूलर के सिद्धान्त में धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक कारकों को कोई भी स्थान प्राप्त नहीं है। इस सिद्धान्त की यह एक बहुत बड़ी दुर्बलता है।

(4) फ्रेजर का सिद्धान्त
(Theory of Frazer)

श्री फ्रेजर (Frazer) के मतानुसार[2] सर्वप्रथम आदिम मनुष्यों ने जादू-टोने के द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और असफल होने पर यह मान लिया कि 'संसार' में उनसे भी कोई अधिक शक्तिशाली है जो उनके प्रयत्नों को व्यर्थ करता है; अतः उस शक्ति पर जादू-टोने के द्वारा शासन करना कदापि

...). 37.
...mes Frazer, *op. cit*, pp. 11—50.

सम्भव नहीं है। इस धारणा के फलस्वरूप ही वह उस शक्ति पर शासन करने की इच्छा स्थगित कर उसकी आराधना करने लगता है और इसी में धर्म की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में, श्री फ्रेजर के अनुसार धर्म की प्रारम्भिक अवस्था (initial primacy) जादू-टोना है और जादू-टोने से निराश होकर ही लोगों ने धर्म की अर्थात् किसी अलौकिक व महान शक्ति की शरण ली थी। इस प्रकार धर्म प्रकृति के द्वारा पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

श्री फ्रेजर के सिद्धान्त की सबसे प्रमुख दुर्बलता यह है कि इन्होंने सामाजिक विकास में एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जब केवल जादू-टोने का ही राज्य था। वास्तव में ऐसी किसी स्थिति के पक्ष में कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं मिलता है।

(5) धर्म का सामाजिक सिद्धान्त
(Social Theory of Religion)

श्री दुर्खीम ने अपनी पुस्तक '*The Elementary Forms of Religious Life*' में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की है। अपने धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से सामूहिक-चेतना (collective consciousness) का प्रतीक (symbol) ही धर्म है। इस सम्बन्ध में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, श्री दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "समाज ही वास्तविक देवता है।"

अपने धर्म के सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए श्री दुर्खीम ने धर्म-सम्बन्धी अब तक के सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन सिद्धान्तों में धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताये गये कारण केवल अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि अवैज्ञानिक भी हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए श्री दुर्खीम ने सर्वश्री एडवर्ड टायलर, मैक्स-मूलर, फ्रेज़र आदि विद्वानों के मतों का इस आधार पर खण्डन किया कि इन विद्वानों ने धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक कारकों की पूर्णतया अवहेलना की है। श्री दुर्खीम ने लिखा है कि आदि मानव के लिए प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं में अन्तर करना सम्भव नहीं; न तो उन्हें प्राकृतिक चीजों और घटनाओं के सम्बन्ध में उचित ज्ञान है और न ही वे अलौकिक घटनाओं को ठीक से समझते हैं। साथ ही, धर्म एक इतनी सरल घटना नहीं है कि इसकी उत्पत्ति परछाईं, स्वप्न, प्रतिध्वनि, मृत्यु आदि कुछ सीमित तथा व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर सम्भव है। प्रत्येक धर्म का तो कोई 'वास्तविक' आधार होता है और वह आधार, श्री दुर्खीम के अनुसार, स्वयं 'समाज' है। 'स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है" (*The Kingdom of Heaven is a glorified Society*)।

श्री दुर्खीम के अनुसार, सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं या घटनाओं को—चाहे वे सरल हों या जटिल, वास्तविक हों या आदर्शात्मक—दो प्रमुख भागों में बाँटा सकता है—(अ) साधारण (Profane), और (ब) पवित्र (sacred)। समस्त का सम्बन्ध 'पवित्र' पक्ष से होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी

पवित्र वस्तुएँ ईश्वरीय या ईश्वर होती हैं, यद्यपि समस्त ईश्वरीय या आध्यात्मिक घटनाएँ तथा वस्तुएँ पवित्र अवश्य ही होती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ समाज की प्रतीक या सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि हैं। इसी कारण व्यक्ति इनके अधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के सदस्य जिन्हें पवित्र समझते हैं, उन्हें अपवित्र या साधारण से सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते हैं।[1] धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। चूँकि इन प्रयत्नों से सम्बन्धित विश्वासों, आचरणों, संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की इस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नत-मस्तक होना ही पड़ता है। यहीं से धर्म की नींव पड़ती है।

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में श्री दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा (Arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्री दुर्खीम का कहना है कि इन जनजातीय लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना (group excitement) के कारण है। त्योहारों तथा उत्सवों पर जब गोत्र (clan) के सभी लोग एकसाथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता था कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक (individual) शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान् है। ऐसे अनुभव करने के स्पष्ट कारण भी हैं। इन त्योहारों तथा उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावों, विचारों व रुचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावों, विचारों व रुचियों के सम्मिलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है। यही सामूहिक शक्ति होती है जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है। साथ ही, इन त्योहारों तथा उत्सवों के अवसरों पर एकत्रित भीड़ में एक प्रकार का मानसिक उल्लास प्रदर्शित होता है। यह उल्लास सम्भवतः मानव की सामाजिक मूलप्रवृत्ति के कारण है। ऐसे अवसरों में एक ही समय पर अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारों व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। फलतः व्यक्ति की अपनी शक्ति गौण हो जाती है और समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। व्यक्ति समूह की इस शक्ति के सामने झुकता है और उसकी शक्ति से प्रभावित होकर उसके मन में समूह के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से श्रेष्ठ या महान समझने लगता है। वस्तुतः यह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा का प्रतीक हो जाता है।

---

1. The final key characteristic of sacred things is found in the fact that they "are those which the interdictions protect and isolate; profane things, those to which these interdictions are applied and which must remain at a tance from the first."—Emile Durkheim, *The Elementary Forms of* [illegible] *Life*, trans[illegible]ain, Free Press, Glencoe, 1947, p. 41.

उपर्युक्त तर्क श्री दुर्खीम के शब्दों में इस प्रकार है—"यह बात बड़ी सरलता से समझी जा सकती है कि जब व्यक्ति अपनी उत्तेजना की अवस्था में होता है तो क्यों वह अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है। चूँकि उस समय वह अपने को किसी बाहरी शक्ति के अधीन तथा उसके द्वारा संचालित अनुभव करता है जो उसे इस प्रकार से सोचने और कार्य करने को बाध्य करती है जैसा कि शायद वह सामान्य परिस्थितियों में न करता, तब स्वभावत: उसके मन में यह धारणा घर कर लेती है कि अब उसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। उसे ऐसा लगता है जैसे कि वह एक नया प्राणी बन गया हो।......इसी प्रकार उसके सब साथी भी अपने को बदले हुए पाते हैं।...सम्पूर्ण परिस्थिति इस प्रकार की होती है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह एक नयी दुनिया में आ गया है; यह दुनिया उस दुनिया से बिल्कुल भिन्न है जिसमें कि वह साधारणतया रहता है, और वह अपने को असाधारण प्रभावशाली शक्तियों से भरपूर एक ऐसे वातावरण में पाता है जो कि उसे अपने अधिकार में रखता और रूपान्तरित करता रहता है। जब इस प्रकार के अनुभव प्रति-दिन और प्रति-सप्ताह होते रहते हैं, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि व्यक्ति को यह विश्वास न हो जाय कि वास्तव में दो असमान तथा परस्पर अतुलनीय दुनिया का अलग-अलग अस्तित्व है? एक दुनिया तो वह है जिसमें कि उसका दिन-प्रतिदिन का जीवन नीरस रूप में लुढ़कता चलता है; लेकिन एक दूसरी दुनिया भी है जिसमें वह उस समय तक प्रवेश नहीं कर सकता जब तक उसका सम्बन्ध ऐसी असाधारण शक्तियों से स्थापित न हो जाय, जो उसे अपने को भुला दें। पहली साधारण (profane) दुनिया है और दूसरी पवित्र (sacred)।"[1]

फिर भी इस सम्बन्ध में एक शंका रह जाती है और वह यह कि पवित्रता की धारणा के पनपने का 'वास्तविक' आधार क्या है? इसके उत्तर में श्री दुर्खीम का कथन है कि टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र और साधारण वस्तुओं में भेद करने की भावना का जन्म हुआ। अत: टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर या रूप है। ऐसा टोटमवाद की प्रकृति से ही सम्भव हुआ, क्योंकि टोटमवाद नैतिक कर्त्तव्यों और मौलिक विश्वासों की वह समष्टि है जिसके द्वारा समाज और पशु-पौधे या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और मौलिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस टोटमवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(क) टोटम के साथ एक गोत्र के सदस्य अपना कई प्रकार का गूढ़, अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध मानते हैं।

(ख) टोटम के साथ इस अलौकिक तथा पवित्र सम्बन्ध के आधार पर ही यह विश्वास किया जाता है कि टोटम उस शक्ति का अधिकारी है जो उस समूह की रक्षा करती है, सदस्यों को चेतावनी देती है और भविष्यवाणी करती है।

(ग) टोटम के प्रति विशेष भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। टोटम को मारना, खाना या किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है और उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया जाता है। टोटम, उसकी खाल और उससे सम्बन्धित अन्य

1. *Ibid.*, pp. 218-219.

वस्तुओं को बहुत पवित्र माना जाता है। टोटम की खाल को विशेष-विशेष अवसरों पर धारण किया जाता है; टोटम के चित्र बनवाकर रखे जाते हैं और शरीर पर उसके चित्र की गुदाई भी प्रायः सभी लोग करवाते हैं। टोटम-सम्बन्धी निषेधों का उल्लंघन करने वालों की समाज द्वारा निन्दा की जाती है और दूसरी ओर इनसे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नैतिक कर्त्तव्यों को प्रोत्साहित किया जाता है।

(घ) टोटम के प्रति भय, भक्ति और आदर की जो भावना होती है वह इस बात पर निर्भर नहीं होती कि कौनसी वस्तु टोटम है या वह कैसी है, क्योंकि टोटम तो प्रायः बहानिकारक पशु या पौधा होता है। श्री दुर्खीम के मतानुसार टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व (collective representation) का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज के प्रति अपने श्रद्धाभाव के कारण हुई है। यही श्रद्धाभाव पवित्रता की भावना को जन्म देता है और टोटम-समूह के समस्त सदस्यों को एक नैतिक बन्धन में बाँधता है। यही कारण है कि टोटम-समूह के सभी सदस्य अपने को एक-दूसरे का भाई-बहन मानते हैं और वे आपस में कभी विवाह नहीं करते।

टोटमवाद की उपरोक्त विशेषताओं का उल्लेख करते हुए श्री दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी धर्म की उत्पत्ति में उक्त सभी तत्वों (elements) का होना परमावश्यक है। इस कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि टोटमवाद सब धर्मों का प्राथमिक रूप है क्योंकि टोटम एक समूह के नैतिक जीवन के सामूहिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है। इस प्रकार धर्म का मूल स्रोत तो स्वयं समाज है। और भी स्पष्ट शब्दों में, श्री दुर्खीम के अनुसार, ईश्वर समाज की प्रतीकात्मक (symbolic) अभिव्यक्ति है।

अतः स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति से नहीं, बल्कि उसके सामूहिक जीवन से है। यहीं पर धर्म और जादू में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जादू में भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास, संस्कार आदि होते हैं, फिर भी मूल रूप में जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से होता है। इसी कारण जादू उस पर विश्वास करने वालों को एक समूह में संयुक्त नहीं कर पाता है। इसके विपरीत धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं होता है। इसका आधार तो स्वयं समाज है। इसी कारण धर्म इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय (moral community) में संयुक्त करता है। श्री दुर्खीम का मत है कि धर्म की कोई भी परिभाषा धर्म की इस विशेषता के आधार पर होनी चाहिए। इसी कारण श्री दुर्खीम के अनुसार धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—"धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।[1]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्री दुर्खीम का धर्म-सम्बन्धी सामाजिक सिद्धान्त पवित्र और साधारण के बीच अन्तर पर आधारित है और इन दोनों में भेद करने की

1. "Religion is the unified system of beliefs and practices relative sacred things which unite into one single moral community......all adhere to them." *Id.*, p. 47.

भावना का जन्म टोटमवाद के आधार पर हुआ। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति का प्रमुख स्रोत टोटम या अन्तिम रूप में, समाज है क्योंकि टोटम समाज का ही सामूहिक प्रतिनिधि या प्रतीक है। टोटम के प्रति जो भय और आदर का रहस्यमय मनोभाव होता है और टोटम के साथ एक गोत्र (clan) के सदस्यों का जो गूढ़ और अलौकिक सम्बन्ध माना जाता है, उसी के आधार पर पवित्रता की भावना पनपती है जिसके फलस्वरूप उस समूह के सभी सदस्यों में एक भाईचारे की भावना जागृत होती है और वे एक नैतिक समुदाय में संयुक्त हो जाते हैं। यहीं से धर्म की नींव पड़ती है क्योंकि टोटम के आधार पर संयुक्त नैतिक-समूह जिस शक्ति का अधिकारी होता है उसकी तुलना में व्यक्ति अपनी वैयक्तिक शक्ति को तुच्छ समझने लगता है और उसी के सामने सिर झुका देता है।

श्री दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त का सामान्य निष्कर्ष निम्न शब्दों में दिया है—"धार्मिक प्रतिनिधित्व (religious representation) सामूहिक प्रतिनिधित्व है जो कि सामूहिक वास्तविकताओं (realities) को व्यक्त करते हैं; धार्मिक कृत्य (rites) क्रिया करने का वह तरीका है जो कि समवेत समूहों में पनपता है और जो इन समूहों में पाई जाने वाली कुछ मानसिक अवस्थाओं (mental states) को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुनर्जीवित करता है।......धार्मिक जीवन समग्र सामूहिक जीवन की सारकृत (concentrated) अभिव्यक्ति है।......समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। इस कारण धार्मिक शक्तियाँ वास्तव में मानव-शक्तियां, नैतिक शक्तियां हैं।...समाज की अवहेलना करना या उससे पृथक् रहना तो दूर रहा, धर्म समाज की ही प्रतिमा (image) है; धर्म समाज के समस्त पक्षों को, यहाँ तक कि सबसे अशिष्ट तथा सबसे घृणात्मक पक्षों को भी प्रतिविम्वित (reflect) करता है।[1]

श्री अलेक्ज़ेंडर गोल्डनवीज़र तथा अन्य विद्वानों ने श्री दुर्खीम के उपरोक्त सिद्धान्त की जो **समालोचना** की है, वह संक्षेप में निम्नवत् है—

(1) श्री दुर्खीम का यह कथन कि टोटमवाद धर्म का सर्वप्रमुख तथा सर्वप्रथम आधार है, गलत है। विभिन्न जनजातीय समाजों का अध्ययन इस वात की पुष्टि नहीं करता है। आदिवासी समाजों में धर्म और टोटम अपने-अपने पृथक् अस्तित्व रखते हैं। टोटमवाद में एक गाँव के सदस्य टोटम को अपना मूल-पुरुष या सामान्य पुरुष मानते हैं और उसे मानने वाले सभी व्यक्ति आपस में शादी-विवाह नहीं करते हैं। ये दोनों ही विशेषताएँ टोटमवाद में अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म में इन दोनों का ही अभाव होता है। अगर धर्म का आधार टोटमवाद ही होता तो अब तक ये दोनों घुल-मिलकर एक हो गये होते।

---

1. "Religious representations are collective representations which express collective realities; the rites are manner of acting which take rise in the midst of the assembled groups and which are destined to excite, maintain, or recreate certain mental states in these groups......The religious life is the concentrated expression of the whole collective life......The idea of society is the soul of religion. Religious forces are therefore human forces, mental forces. ......Religion far from ignoring the real society and making abstraction of it, is its image : it reflects all its aspects, even the most vulgar and the most repul-...."—Emile Durkheim. *Ibid.*, pp. 157-158.

(2) केवल पवित्र और साधारण इन दो धारणाओं के आधार पर ही धर्म को समझा या समझाया नहीं जा सकता। इस प्रकार का भेद-भाव आदिम समाजों में स्पष्ट हो सकता है, परन्तु आधुनिक समाजों में इन दोनों के बीच स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना कठिन है।

(3) धर्म की उत्पत्ति में सामाजिक कारक महत्त्वपूर्ण है, इस सत्य को कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा परन्तु यह कहना उचित व वैज्ञानिक न होगा कि धर्म की उत्पत्ति में समाज ही एक मात्र कारण है। श्री दुर्खीम ने यह कहकर कि "समाज ही वास्तविक देवता है", समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने की गलती की है।

(4) श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि श्री दुर्खीम ने समाज का जिस प्रकार व्यक्तिकरण (personification) किया है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अवैज्ञानिक है। समाज की सामूहिक आत्मा (collective soul) या सामूहिक चेतना (collective consciousness) के सिद्धान्तों को मनोवैज्ञानिकों ने गलत सिद्ध कर दिया है।

(5) केवल सामूहिक आधारों पर ही धर्म की उत्पत्ति हुई है, श्री दुर्खीम का यह कथन भी पूर्णतया सत्य नहीं है। श्री मैलिनोवस्की ने अपने अध्ययनों से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आदिम समाजों में बहुत हद तक व्यक्तिगत आधारों पर ही धर्म की उत्पत्ति हुई है।

(6) प्रकार्यवादी सिद्धान्त
(Functional Theory)

जैसा कि पिछले अध्याय में हम लिख चुके हैं, श्री मैलिनोवस्की के मतानुसार संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व या भाग किसी-न-किसी कार्य को करने के लिए प्रकट होता है। संस्कृति का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो कि हमारी किसी-न-किसी आवश्यकता को न पूरा करता हो। संस्कृति का कोई भी भाग बेकार या बेकाम का नहीं होता। चूँकि मानव को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है, इस कारण वह विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों को जन्म देता है और इन्हीं को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में व्यवहार करता है। चूँकि धर्म भी संस्कृति का एक अंग है, इसलिए उसका भी प्रत्येक संस्कृति में कुछ-न-कुछ निश्चित कार्य होता है। उन कार्यों को करने के लिए ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। दूसरे शब्दों में, धर्म कुछ मानवीय आवश्यकताओं की प्रतिक्रियाओं का ही फल है।

आदिकालीन मानव को अनेक ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनका हल उसके पास नहीं है। उदाहरणार्थ, मृत्यु के समय और बच्चे के पैदा होने के समय कुछ मानसिक कष्ट का अनुभव होता है, जिनसे छुटकारा पाना आवश्यक है। उसी प्रकार खेती करने में और समुद्र में नाव चलाने में कभी-कभी ऐसी दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ता है जिनकी कि कभी आशा ही नहीं होती। ये समस्याएँ किसी एक व्यक्ति के जीवन में नहीं, बल्कि समाज के अधिकतर लोगों के जीवन में आ खड़ी होती हैं।

सुलझाने के लिए, या इनका सामना सफलतापूर्वक करने के लिए मानव जो प्रयत्न करता है, धर्म उन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। चूंकि ये सबकी समस्याएँ हैं, इस कारण इनसे सम्बन्धित क्रियाओं में सब लोग दिलचस्पी लेते हैं। सार्वजनिक दिलचस्पी या सारे समूह के भाग लेने के कारण धार्मिक नियमों के पीछे सारे समाज का बल होता है।

श्री नैडेल (Nadel) ने लिखा है कि श्री मैलिनोवस्की के मत में "यह ठीक है कि धर्म-समूह के मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा करता है, पर बिना व्यक्ति की अभिवृत्तियों और विचारों से धर्म नहीं चल सकता। इस प्रकार धर्म सामाजिक और वैयक्तिक या मानसिक दोनों आधारों पर उत्पन्न होता है।"

उपरोक्त सिद्धान्त की जो **समालोचनाएँ** की जाती हैं, उनमें सबसे प्रमुख यह है कि श्री मैलिनोवस्की ने धर्म के प्रकार्यात्मक पक्ष पर इतना अधिक बल दिया है कि धर्म का वास्तविक आधार अत्यधिक अस्पष्ट और दुर्बल हो गया है। साथ ही, आपने केवल ट्रोब्रियंड द्वीप के निवासियों का अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाला है वह सभी समाजों पर कैसे लागू किया जा सकता है, इसे श्री मैलिनोवस्की ने सोचा ही नहीं है। अतः आपका निष्कर्ष अत्यन्त सीमित तथ्यों (facts) पर आधारित होने के कारण पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक विद्वान ने अपने निजी तरीके से धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है। पर उनमें से किसी भी सिद्धान्त को न तो सम्पूर्ण असत्य और न ही धर्म की उत्पत्ति का अन्तिम कारण मानना चाहिए क्योंकि प्रत्येक समाज की सामाजिक व प्राकृतिक और साथ ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अन्तर होने के कारण धर्म की उत्पत्ति भी अलग-अलग समाज में अलग-अलग कारणों से हुई है; बहुधा एकाधिक कारणों का योग रहा है।

धर्म का व्यावहारिक पक्ष
(Practical Aspect of Religion)

धार्मिक विश्वासों को लोग अपने मन में ही रखकर सन्तुष्ट नहीं होते हैं, वरन् उन्हें व्यावहारिक तथा बाहरी तौर पर अभिव्यक्त भी करते हैं। धर्म में किसी-न-किसी शक्ति पर विश्वास किया जाता है और प्रार्थना, पूजा, आत्मनिवेदन व आराधना द्वारा उस शक्ति को प्रसन्न कर उससे लाभ उठाने और उसके कोप से बचने का प्रयत्न किया जाता है। यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक धर्म में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष होते हैं। सैद्धान्तिक पक्ष में एक अदृष्ट, अज्ञेय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास होता है और व्यावहारिक पक्ष में इस शक्ति के प्रति आत्मनिवेदन की बाह्य अभिव्यक्ति। धर्म के व्यावहारिक पक्ष में उपासना, पूजा या आत्मनिवेदन की विधियाँ अलग-अलग समाज में अलग-अलग हो सकती हैं, परन्तु इनका होना धर्म के अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही प्रत्येक समाज में इस व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित कुछ विशेषज्ञ होते हैं जो कि धार्मिक क्रियाओं को व्यावहारिक रूप देने में निपुण होते हैं। धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष के सामान्य तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(क) विधि-विधान तथा संस्कार (Codes and Rituals)—सब धर्मों में संस्कार, विधि-विधान पाये जाते हैं। विधि-विधान से हमारा तात्पर्य उन नियमों और रीतियों से है जिनके अनुसार उस अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। ये नियम और रीतियाँ अलग-अलग धर्म में अलग-अलग होती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू मन्दिर में जाकर कुछ विशेष ढंग से ईश्वर की पूजा करते हैं, जबकि मुसलमान मस्जिद में जाकर किसी दूसरे ही ढंग से नमाज पढ़कर उस शक्ति की आराधना करते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक धर्म में अनेक संस्कार भी होते हैं। जन्म के समय, विवाह के समय और मृत्यु के समय धर्म के आधार पर अनेक संस्कारों को करना पड़ता है, वरना वह कार्य पूरा नहीं समझा जाता है। उदाहरणार्थ, यह एक सामान्य विश्वास है कि सन्तान का जन्म ईश्वर-कृपा का ही फल है। इसीलिए बच्चा ठीक-ठाक उत्पन्न हो जाने के बाद ईश्वर की पूजा की जाती या बलि चढ़ाई जाती है। ग्रहण के समय गर्भवती स्त्री को बाहर नहीं निकाला जाता है क्योंकि उससे गर्भ के बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार छत्तीसगढ़ के चमारों में प्रसव यदि बहुत पीड़ापूर्ण होता है तो देवी-देवताओं को भेंट-बलि देकर कष्ट को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। उत्कल की बोंदो जनजाति में शिशु का नामकरण करने के लिए देवी-देवताओं के सामने मुर्गे की बलि देकर उसका एक पैर नवजात शिशु के हाथ में दे दिया जाता है। बच्चे के निकट उसका कोई रिश्तेदार बैठकर धीरे-धीरे एक-एक पूर्वज का नाम लेता है। कोई विशेष नाम लिए जाते समय यदि बच्चा मुर्गे के पैर को हाथ से दबाता है तो यह माना जाता है कि उसकी आत्मा ने ही जन्म लिया है और शिशु को सब लोग उसी नाम से पुकारने लगते हैं। उसी प्रकार हिन्दू विवाह तथा मृत्यु के समय अनेक धार्मिक संस्कारों को करते हैं।

(ख) धार्मिक कथाएँ—धर्म से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भी प्रत्येक समाज में पाई जाती हैं। ये गाथाएँ विशेषकर उस अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित होती हैं जिस पर कि लोग विश्वास करते हैं। इन गाथाओं के माध्यम से ईश्वर की महिमाओं को प्रस्तुत किया जाता है, ताकि उस शक्ति के प्रति लोगों की श्रद्धा और आस्था अटल रहे। घर पर पूजा-आराधना करते समय परिवार का कोई सदस्य या पुरोहित इन धार्मिक गाथाओं को सबको सुनाता है। किस प्रकार एक नास्तिक व्यक्ति अन्त में भगवान की महिमाओं से प्रभावित होकर कट्टर भक्त बन गया या किस प्रकार भगवान अपने भक्तों की रक्षा हर संकट में करते हैं, इसी की रोचक गाथाएँ लोगों को सुनायी जाती हैं।

(ग) शामन तथा पुरोहित—प्रायः सभी समाजों में धार्मिक कृत्यों के विशेषज्ञ पाये जाते हैं। उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार उन्हें दो प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है। वे वर्ग हैं—शामन और पुजारी। 'शामन' शब्द का प्रयोग मानवशास्त्रियों ने साइबेरिया की जनजातियों में पाये जाने वाले कुछ इस प्रकार के विशेषज्ञों के नाम के आधार पर किया है जो कि बहुधा रोगियों का उपचार करने का कार्य करते हैं। कुछ ऐसे रोग हैं जिनके बारे में आदिवासियों में यह विश्वास है कि वे रोग विशेष दैवी शक्तियों के कोप के फलस्वरूप होते हैं। इन रोगों को ठीक करने के लिए ही 'शामन' की सेवाएँ माँगी जाती हैं। उसी प्रकार धार्मिक कृत्यों को करने के लिए प्रत्येक समाज में पुरोहित

हैं। इनका सबसे प्रमुख काम अलौकिक शक्ति के आराधना-कार्य में जनता का पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना है। ऐसा भी होता है कि पुरोहित किसी व्यक्ति, परिवार या समूह की ओर से अपनी प्रार्थना और आराधना द्वारा दैवी शक्तियों को प्रसन्न रखने का निरंतर प्रयास करता रहता है। अनेक समाजों में धार्मिक उत्सवों में पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य है। हिन्दू-समाज में तो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समय जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनका संचालन पुरोहित के द्वारा ही होता है। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, नीलगिरी की टोडा जनजाति में कुछ भैंसें इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि दुग्धशालाएँ ही इन लोगों का मन्दिर होता है और बड़े जटिल धार्मिक कृत्यों को करते हुए पुरोहित इन भैंसों का दूध निकालते हैं। इनके मुख्य पुरोहित 'पोलोल' को अपने पद पर काम करते हुए अठारह वर्ष अविवाहित रहना पड़ता है। यह अवधि पूरी होने पर उसे समाज यह अधिकार देता है कि वह किसी भी समय किसी भी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करे। वैसे भी प्रायः प्रत्येक समाज में ही पुजारियों से यह आशा की जाती है कि वे पवित्र और सादा जीवन व्यतीत करें।

(घ) **पारिवारिक देवता और पितृ या/व मातृ-पूजा**—अनेक समाजों में पारिवारिक देवता को पूजने की प्रथा है। यह साधारणतः उन समाजों में होता है जहाँ कि एक से अधिक देवी-देवताओं पर विश्वास किया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता होते हैं। अनेक परिवार इनमें से किसी एक देवी या देवता को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। एक परिवार लक्ष्मी-नारायण की पूजा करता है तो एक परिवार में सीता-राम की मूर्ति की पूजा होती है। उसी प्रकार परिवारों के पूर्वजों को भी देवता के रूप में पूजा जाता है। चीन में पितृ-पूजा की भावना और उससे सम्बन्धित अनेक धार्मिक कृत्यों का विकसित रूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी श्रद्धा-पक्ष साल में एक बार अपने पूर्वजों को पिण्डदान करने या श्रद्धांजलि अर्पित करने के उद्देश्य से मनाया जाता है। इसमें भी अनेक धार्मिक विश्वासों व कृत्यों का समावेश होता है। कुछ समाजों में पूर्वजों के लिए चबूतरे बनाकर उनकी नियमित पूजा करना भी आवश्यक समझा जाता है। मुसलमान अपनी कब्रों पर सप्ताह में एक दिन दीया जलाते तथा फूल आदि चढ़ाकर मृत व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं।

जादू
(Magic)

जादू क्या है ?
(What is Magic ?)

जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, मनुष्य से अतिमानवीय जगत् पर या अलौकिक शक्ति के नियन्त्रण करने के हेतु दो उपायों को अपनाया—**प्रथम** तरीका उस शक्ति की विनती या आराधना करके उसे प्रसन्न करना और फिर उस प्रसन्नता से लाभ उठाना या उस शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियों से बचना है। इसी से धर्म का विकास हुआ।

और दूसरा तरीका उस शक्ति जो दवाकर अपने अधिकार में करके उस शक्ति को अपने उद्देश्य-पूर्ति के हेतु प्रयोग करना है। यही जादू है।

डा० दुबे के अनुसार, "जादू उस शक्ति-विशेष का नाम है, जिससे अतिमानवीय जगत् पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ-अशुभ उपयोग में लाया जा सके।"[1]

उपरोक्त परिभाषा में डा० दुबे ने "जादू की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है। प्रथम तो यह है कि जादू का सम्बन्ध अतिमानवीय जगत् से होता है। दूसरा यह कि जादू एक शक्ति है। जादूगर इस शक्ति को अपने अधिकार में अतिमानवीय जगत् पर नियन्त्रण पाने के उद्देश्य से रखना चाहता है और तीसरी बात यह है कि इस शक्ति का प्रयोग जादूगर अपनी इच्छानुसार करता है या कर सकता है और इसीलिए इस शक्ति का प्रयोग भले या बुरे, शुभ या अशुभ काम के लिए किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में जादूगर अपनी उस शक्ति की सहायता से दूसरे को हानि या लाभ पहुँचा सकता है।

श्री फ्रेजर (Frazer) के विचार उक्त विचार से कुछ भिन्न हैं। जादू की परिभाषा करते हुए आपने लिखा है कि, "जादू इस आधार पर एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के एक अटल नियम के अनुसार यह प्रकृति पर दबाव डालता है।" इस प्रकार श्री फ्रेजर के अनुसार जादू प्रकृति पर नियन्त्रण पाने का एक साधन है। यह साधन कुछ नियमों पर इस अर्थ में आधारित है कि इसके *अन्तर्गत कार्य-कारण की एक नियमितता पाई जाती है।* इस दृष्टि से जादू प्रकृति को नियन्त्रित करने के लिए कुछ प्रविधियों और पद्धतियों का एक समूह है। श्री फ्रेजर के अनुसार जादू में विश्वास करने वाले व्यक्ति अर्थात् जादूगर की दो विशेषताएँ होती हैं। पहली तो यह कि उसमें यह विश्वास होता है कि उसकी जादू की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों से अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि एक जादूगर प्राकृतिक शक्तियों के कार्य-कारण सम्बन्धों के अटल नियमों को समझता है और इसीलिए वह उनपर प्रभुत्व करने का दावा करता है। वह प्राकृतिक शक्तियों को स्वामी नहीं बल्कि दास समझता है जिसे कि वह इच्छानुसार अपने काम में लगा सकता है। इसलिए वह प्राकृतिक शक्ति को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है। जादूगर की दूसरी विशेषता उसकी कार्यविधि से सम्बन्धित है। धर्म पर विश्वास करने वाले व्यक्ति की भाँति जादूगर प्राकृतिक शक्ति की विनती या आराधना, पूजा या प्रार्थना करके उसे प्रसन्न करके उस प्रसन्नता से लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वह उस शक्ति के भेद को जानकर उसे दबाकर अपने अधिकार में करके उस शक्ति को अपने उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयोग करता है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने जादू के सम्बन्ध में लिखा है कि, "जादू विशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओं का योग है जिन्हें कि उद्देश्यों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है।"[2] आपने यह भी लिखा है कि जब इच्छित परिणामों को अन्य

1. Dr. S.C. Dube, *Manava aur Sanskriti*, Delhi, 1960, p. 133.

2. "Magic is a body of purely practical acts, performed as a means to an end."—B. Malinowski, *op. cit.*, p. 70.

किसी भौतिक प्रविधि या उपाय से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, तब जादू के साधन से उन परिणामों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की ने जादू के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। जादू की यह व्यावहारिकता या उपयोगिता आदिकालीन समाज में और भी अधिक है क्योंकि आदिवासी लोगों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका कि हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नहीं कर पाते हैं। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करता है। उनके जीवन में अनेक खतरे होते हैं और ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं जिनका अन्दाज़ा पहले से नहीं लगाया जा सकता। ऐसी परिस्थितियों में जादू लोगों का बहुत बड़ा सहारा है। इसके अतिरिक्त जादू चमत्कारों में विश्वास दिलाकर अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करने का साहस लोगों को प्रदान करता है। जादू का चमत्कार इसके अधिकारी को शत्रु का विनाश करने या उसे हानि पहुँचाने में भी मदद करता है। इसीलिए श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादू वह शक्ति है जो कुछ व्यावहारिक हितों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग में लायी जाती है।

जादुई क्रियाओं के तत्त्व
(Elements of Magical Acts)

डा० दुबे के अनुसार, किसी भी जादुई क्रिया में हमें तीन तत्त्वों का समावेश मिलता है।[1]

(1) **कतिपय शब्द—उच्चारित या अभिमन्त्रित**—ये शब्द साधारण से कुछ भिन्न और सामान्यतः गुप्त रखे जाते हैं। इनका उपयोग केवल वे लोग ही जानते हैं जो कि जादुई क्रिया में निपुण होते हैं। ये निपुण व्यक्ति जादू के इन शब्दों या मन्त्रों को अपने शिष्यों को ही सिखाते हैं। कभी-कभी जब जादू को एक सामान्य सामाजिक घटना के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब उस समाज के सभी सदस्य इन शब्दों से परिचित होते हैं, किन्तु उस स्थिति में भी इन शब्दों को उन लोगों से गुप्त रखा जाता है जो उस समाज के सदस्य नहीं, क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि वैसा न करने पर जादू की प्रभावशीलता के कम हो जाने की सम्भावना रहती है।

(2) **शब्दोच्चारण के साथ कतिपय विशिष्ट क्रियाएँ**—मन्त्रों के प्रतिफलित होने के लिए बहुधा उनके उच्चारण के साथ कतिपय क्रियाओं का करना भी आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण को नाटकीय तत्त्व प्रदान करती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि उनका सम्मिलित प्रभाव उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि में सहायक [illegible]द्ध होता है।

(3) **जादू करने वाले व्यक्ति की विशेष स्थिति**—जिन दिनों जादू की क्रियाएँ [illegible] जाती हैं, उन दिनों रोज जैसा जीवन बिताया जाता है उससे कुछ भिन्न प्रकार का [illegible]वन बिताना आवश्यक समझा जाता है। इस काल में जादूगर को कुछ चीज़ों को खाने-[illegible] या कुछ विशिष्ट व्यवहारों की मनाही होती है।

1. Dr. S.C. Dube, *op. cit.*, pp. 138-139.

डा० दुबे ने आगे और लिखा है कि उपरोक्त तीन तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र ही होते हैं, अन्य क्रियाएँ तो उनके सहायक के रूप में प्रयोग की जाती हैं। इसीलिए कभी-कभी इन क्रियाओं में से कुछ क्रियाओं को बेकार का समझकर जादुई क्रिया में सम्मिलित नहीं किया जाता है, परन्तु मन्त्र सदैव आवश्यक अंग के रूप में प्रत्येक जादुई क्रिया में उपस्थित रहते हैं। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति मानव के साथ सुलह करे, इस उद्देश्य से इन्हें प्रयोग किया जाता है। आदर्शतः यदि ठीक प्रकार से मन्त्रों का उच्चारण हो और अन्य क्रियाएँ नियमानुसार सम्पन्न की जाएँ तो अतिप्राकृतिक शक्ति कर्त्ता अर्थात् जादूगर की इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य हो जाती है। और यदि ऐसा नहीं होता है तो यह विश्वास किया जाता है कि मन्त्रों के उच्चारण में या उनके साथ की जाने वाली अन्य क्रियाओं में कहीं कोई त्रुटि रह गई है।

श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादुई क्रियाओं में निम्नवत् चार तत्त्व होते हैं[1]—

(अ) मन्त्र (Spell)—मन्त्र प्रत्येक जादुई क्रिया का सर्वप्रथम और आधारभूत तत्त्व है। इसके बिना कोई भी जादुई क्रिया सम्पन्न हो ही नहीं सकती। यह मन्त्र की ही शक्ति है जो कि अतिप्राकृतिक शक्ति पर दबाव डालकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है। प्रत्येक मन्त्र में तीन विशेषताएँ होती हैं—पहली, प्राकृतिक आवाजों की नकल आवश्यक है। यह विश्वास किया जाता है कि कार्य की सिद्धि के लिए कुछ कारणों को उत्पन्न करना आवश्यक है। इसीलिए जादूगर नकली आवाजें को उत्पन्न कर उन कारणों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। दूसरी, आदिम मनुष्यों के मन्त्रों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो किसी वर्तमान परिस्थिति को बतलाते हैं और इच्छित उद्देश्य को पूरा करने का आदेश देते हैं। तीसरी, प्रत्येक सम्मोहन मन्त्र में उन पूर्वजों के नाम का भी उल्लेख होना है जिनसे जादू प्राप्त हुआ माना जाता है।

(ब) भौतिक पदार्थ—प्रत्येक प्रकार की जादुई क्रिया में कुछ निश्चित भौतिक पदार्थों को काम में लाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इन भौतिक चीजों को प्रयोग में न लाये बिना इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं है। इस कारण ये भौतिक चीजें भी जादुई क्रिया का एक आवश्यक अंग हो गई हैं। काले जादू में कटार या चाकू या जहरीली चीजों का प्रयोग होता है और प्रेम-जादू में इत्र, फूल या अन्य इस प्रकार की वस्तुएँ काम में लायी जाती हैं जो प्रेमी को उद्दीप्त करें।

(स) कृत्यों की नियमबद्धता—जादुई क्रिया मनमाने ढंग से नहीं की जाती है। एक इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए जादुई क्रिया की एक निश्चित विधि या तरीका होता है। किस क्रम में और किस तरह कौनसी जादुई क्रियाएँ की जायेंगी, इसका उचित तथा क्रमबद्ध ज्ञान जादूगर को होना चाहिए। यदि जादुई क्रिया अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हुई तो यह सोच लिया जाता है कि जादूगर अज्ञान है या उसने मन्त्रों के शब्दक्रम अथवा उनके साथ की जाने वाली क्रियाओं में कोई त्रुटि की है या उस जादूगर ने उस विशिष्ट स्थिति में अनिवार्य निषेधों का उल्लंघन किया है।

(द) संवेगों की अभिव्यक्ति—प्रत्येक प्रकार के जादू में उद्देश्यों के ———

1. B. Malinowski, op. cit.

किसी भौतिक प्रविधि या उपाय से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, तब जादू के साधन से उन परिणामों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की ने जादू के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। जादू की यह व्यावहारिकता या उपयोगिता आदिकालीन समाज में और भी अधिक है क्योंकि आदिवासी लोगों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका कि हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नहीं कर पाते हैं। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करता है। उनके जीवन में अनेक खतरे होते हैं और ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं जिनका अन्दाज़ा पहले से नहीं लगाया जा सकता। ऐसी परिस्थितियों में जादू लोगों का बहुत बड़ा सहारा है। इसके अतिरिक्त जादू चमत्कारों में विश्वास दिलाकर अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करने का साहस लोगों को प्रदान करता है। जादू का चमत्कार इसके अधिकारी को शत्रु का विनाश करने या उसे हानि पहुँचाने में भी मदद करता है। इसीलिए श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादू वह शक्ति है जो कुछ व्यावहारिक हितों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग में लायी जाती है।

जादुई क्रियाओं के तत्त्व
(Elements of Magical Acts)

डा० दुबे के अनुसार, किसी भी जादुई क्रिया में हमें तीन तत्त्वों का समावेश मिलता है।[1]

(1) **कतिपय शब्द—उच्चारित या अभिमन्त्रित**—ये शब्द साधारण से कुछ भिन्न और सामान्यतः गुप्त रखे जाते हैं। इनका उपयोग केवल वे लोग ही जानते हैं जो कि जादुई क्रिया में निपुण होते हैं। ये निपुण व्यक्ति जादू के इन शब्दों या मन्त्रों को अपने शिष्यों को ही सिखाते हैं। कभी-कभी जब जादू को एक सामान्य सामाजिक घटना के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब उस समाज के सभी सदस्य इन शब्दों से परिचित होते हैं, किन्तु उस स्थिति में भी इन शब्दों को उन लोगों से गुप्त रखा जाता है जो उस समाज के सदस्य नहीं, क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि वैसा न करने पर जादू की प्रभावशीलता के कम हो जाने की सम्भावना रहती है।

(2) **शब्दोच्चारण के साथ कतिपय विशिष्ट क्रियाएँ**—मन्त्रों के प्रतिफलित होने के लिए बहुधा उनके उच्चारण के साथ कतिपय क्रियाओं का करना भी आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण को नाटकीय तत्त्व प्रदान करती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि उनका सम्मिलित प्रभाव उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि में सहायक सिद्ध होता है।

(3) **जादू करने वाले व्यक्ति की विशेष स्थिति**—जिन दिनों जादू की क्रियाएँ की जाती हैं, उन दिनों रोज जैसा जीवन बिताया जाता है उससे कुछ भिन्न प्रकार का जीवन बिताना आवश्यक समझा जाता है। इस काल में जादूगर को कुछ चीजों को खाने-पीने या कुछ विशिष्ट व्यवहारों की मनाही होती है।

1. Dr. S.C. Dube, *op. cit.*, pp. 138-139.

डा॰ दुबे ने आगे और लिखा है कि उपरोक्त तीन तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र ही होते हैं, अन्य क्रियाएँ तो उनके सहायक के रूप में प्रयोग की जाती है। इसीलिए कभी-कभी इन क्रियाओं में से कुछ क्रियाओं को बेकार का समझकर जादुई क्रिया में सम्मिलित नहीं किया जाता है, परन्तु मन्त्र सदैव आवश्यक अंग के रूप में प्रत्येक जादुई क्रिया में उपस्थित रहते हैं। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति मानव के साथ अनुग्रह करे, इस उद्देश्य से इन्हें प्रयोग किया जाता है। आदर्शतः यदि ठीक प्रकार से मन्त्रों का उच्चारण हो और अन्य क्रियाएँ नियमानुसार सम्पन्न की जाएँ तो अतिप्राकृतिक शक्ति कर्त्ता अर्थात् जादूगर की इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य हो जाती है। और यदि ऐसा नहीं होता है तो यह विश्वास किया जाता है कि मन्त्रों के उच्चारण में या उनके साथ की जाने वाली अन्य क्रियाओं में कहीं कोई त्रुटि रह गई है।

श्री मैलिनोवस्की के अनुसार जादुई क्रियाओं में निम्नवत् चार तत्त्व होते हैं[1]—

(अ) मन्त्र (Spell)—मन्त्र प्रत्येक जादुई क्रिया का सर्वप्रथम और आधारभूत तत्त्व है। इसके बिना कोई भी जादुई क्रिया सम्पन्न हो ही नहीं सकती। यह मन्त्र की ही शक्ति है जो कि अतिप्राकृतिक शक्ति पर दबाव डालकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है। प्रत्येक मन्त्र में तीन विशेषताएँ होती हैं—पहली, प्राकृतिक आवाजों की नकल आवश्यक है। यह विश्वास किया जाता है कि कार्य की सिद्धि के लिए कुछ कारणों को उत्पन्न करना आवश्यक है। इसीलिए जादूगर नकली आवाजों को उत्पन्न कर उन कारणों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। दूसरी, आदिम मनुष्यों के मन्त्रों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो किसी वर्तमान परिस्थिति को बतलाते हैं और इच्छित उद्देश्य को पूरा करने का आदेश देते हैं। तीसरी, प्रत्येक सम्मोहन मन्त्र में उन पूर्वजों के नाम का भी उल्लेख होता है जिनसे जादू प्राप्त हुआ माना जाता है।

(ब) भौतिक पदार्थ—प्रत्येक प्रकार की जादुई क्रिया में कुछ निश्चित भौतिक पदार्थों को काम में लाया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इन भौतिक चीजों को प्रयोग में न लाये बिना इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं है। इस कारण ये भौतिक चीजें भी जादुई क्रिया का एक आवश्यक अंग हो गई हैं। काले जादू में कटार या चाकू या जहरीली चीजों का प्रयोग होता है और प्रेम-जादू में इत्र, फूल या अन्य इस प्रकार की वस्तुएँ काम में लायी जाती हैं जो प्रेमी को उद्दीप्त करें।

(स) कृत्यों की नियमबद्धता—जादुई क्रिया मनमाने ढंग से नहीं की जाती है। एक इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए जादुई क्रिया की एक निश्चित विधि या तरीका होता है। किस क्रम में और किस तरह कौनसी जादुई क्रियाएँ की जायेंगी, इसका उचित तथा क्रमबद्ध ज्ञान जादूगर को होना चाहिए। यदि जादुई क्रिया अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हुई तो यह सोच लिया जाता है कि जादूगर अज्ञान है या उसने मन्त्रों के शब्दक्रम अथवा उनके साथ की जाने वाली क्रियाओं में कोई त्रुटि की है या उस जादूगर ने उस विशिष्ट स्थिति में अनिवार्य निषेधों का उल्लंघन किया है।

(द) संवेगों की अभिव्यक्ति—प्रत्येक प्रकार के जादू में उद्देश्यों के अनुसार,

1. B. Malinowski, *op. cit*

अलग-अलग संवेगों (emotions) की अभिव्यक्ति की जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि इन संवेगों को जाहिर करने पर मन्त्रों को बल मिलता है और उनका सम्मिलित प्रभाव अभीष्ट की सिद्धि को पास लाता है। इसलिए जादूगर अपने उद्देश्य के अनुसार संवेगों को अवश्य प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, काले जादू में जादूगर का उद्देश्य दुश्मन को मारना होता है, इसलिए जादू करने के समय जादूगर के चेहरे से क्रूरता का भाव टपकता है और वह अपने क्रोध को झलकाते हुए मन्त्रों का उच्चारण करता है।

जादू के भेद
(Kinds of Magic)

श्री फ्रेज़र (Frazer) ने जादू के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए लिखा है कि "जादू में दो आधारभूत सिद्धान्तों का समावेश है—**प्रथम** तो यह कि समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होता है, अर्थात् एक कार्य अपने कारण के सदृश्य होता है; और **द्वितीय** यह कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाती है वह सदैव उसके सम्पर्क में रहकर उस समय भी एक-दूसरे पर क्रिया व प्रतिक्रिया करती रहती है जबकि उनका शारीरिक सम्बन्ध टूट गया हो, अर्थात् वे एक-दूसरे से दूर या पृथक् हों।"[1] श्री फ्रेज़र ने अपने इन दो सिद्धान्तों को नियमों का रूप दिया है और इन्हीं के आधार पर जादू के दो भेदों का उल्लेख किया है। प्रथम सिद्धान्त को आपने 'समानता का नियम' (the law of similarity) कहकर पुकारा है। समानता के नियम पर जो जादू आधारित है उसे होमियोपैथिक (homoeopathic) या अनुकरणात्मक (*imitative*) जादू कहते हैं। दूसरे सिद्धान्त को श्री फ्रेज़र ने 'सम्पर्क या संसर्ग का नियम' (the law of contact or contagion) कहकर पुकारा है। संसर्ग के नियम पर जो जादू आधारित है उसे संक्रामक जादू (contagious magic) कहते हैं।

इस प्रकार श्री फ्रेज़र के अनुसार जादू के दो भेद हैं—(1) अनुकरणात्मक जादू, और (2) संक्रामक जादू।

अनुकरणात्मक जादू इस नियम पर आधारित है कि जब एक प्रकार की क्रिया की जाती है तो परिणाम भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, आस्ट्रिया में यह विश्वास किया जाता है कि यदि प्रसवा माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाय तो उस वृक्ष पर अगले वर्ष काफी फल आयेंगे। गेलेलारी समाज में जब कभी युवक प्रेमी अपनी प्रेयसी से मिलने रात्रि में उसके घर जाता है तो वह श्मशान से कुछ मिट्टी अपने साथ ले जाता है जिसे वह अपनी प्रेयसी के घर की छत पर डाल देता है। इस जादू का यह उद्देश्य होता है कि गुप्त भेंट के समय प्रेयसी के माता-पिता मृतवत् अर्थात् गहरी नींद में सोते रहें और उन प्रेमी-

---

1. "Magic involves two basic assumptions: First, that like produces like, or that an effect resembles its cause; and second, that things which have once been in contact with each other at a distance, even after the physical contact has been severed."—*James Frazer, The Golden Bough*, Abridged Edition, Vol. I, The Macmillan Co., 1923, p. 11.

प्रेमिका के मिलन में कोई बाधा न पहुँचे।[1]

इसके विपरीत संक्रामक जादू इस नियम पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाती है, वह हमेशा सम्पर्क में रहती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के बाल या नाखून उसके शरीर के सम्पर्क में हैं। अगर उन बालों या नाखूनों को काट डाला जाय तो बाहरी तौर पर उनका सम्पर्क उस व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाता है। परन्तु संक्रामक जादू के नियम के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि बाहरी तौर पर उन बालों या नाखूनों का सम्पर्क व्यक्ति के शरीर से समाप्त हो जाने पर भी उन दोनों का सम्पर्क बना रहता है। इसीलिए यदि किसी व्यक्ति के कटे हुए बालो या नाखूनों को कोई भी नुकसान पहुँचाया जाय तो उस व्यक्ति को भी कष्ट पहुँचेगा।

इन दोनों प्रकार के जादुओं को श्री फ्रेजर (Frazer) ने 'सहानुभूत-जादू' (sympathetic magic) कहा है, क्योंकि इन दोनो प्रकार के जादुओं मे कारण और कार्य का आन्तरिक सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध सम्पर्क के द्वारा या समानता के कारण उत्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध के कारण जादुई क्रिया के प्रति उसके लक्ष्य की सहानुभूति होती है। इसीलिए इन्हें सहानुभूत-जादू कहा गया है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने एक दूसरे तरीके से जादू का वर्गीकरण किया है। आपके अनुसार समस्त प्रकार के जादू को दो प्रमुख श्रेणियो मे रखा जा सकता है—(1) सफेद जादू (White Magic), और (2) काला जादू (Black Magic)।

सफेद जादू के दो भेद है। पहले भेद में वे जादू आते हैं जिन्हें कि जीवन की अनिश्चितता और खतरों से मनुष्य की रक्षा करने के हेतु काम मे लाया जाता है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियंड द्वीपसमूह के निवासी गहरे समुद्र मे मछली का शिकार करने जाते हैं तब वहाँ उन्हें प्रायः नाना प्रकार के खतरो का सामना करना पड़ता है। इन खतरो से बचने के लिए वे जादू की सहायता लेते हैं। सफेद जादू के दूसरे भेद मे विचित्र घटनाएँ (miracles) आती हैं। जब कोई व्यक्ति जादू की शक्ति से कोई ऐसा चमत्कार दिखाता है जिसकी कि कोई भी आशा नहीं कर सकता, तो उसे इस श्रेणी के अन्तर्गत लाते हैं। इन दोनो प्रकार के जादुओं को सफेद जादू इसलिए कहा जाता है कि इनका उद्देश्य सामाजिक दृष्टिकोण से कल्याणकारी होता है। इस कारण ऐसे जादू को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

इसके विपरीत काला जादू का उद्देश्य दूसरों को हानि पहुँचाना होता है। इसीलिए इन्हें काला जादू कहा जाता है और इन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती है। इन जादुओं को जादूगर अपने शत्रु के प्रति प्रयोग करता है जिससे कि उसे जान-माल की हानि हो या वह बीमार पड़ जाय या उसे अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचे। श्री मैलिनोवस्की काले जादू के अन्तर्गत टोना (sorcery) तथा भूत-प्रेतों की सिद्धि (witchcraft) को भी सम्मिलित करते है।

डा० दुबे ने जादुई क्रिया के उद्देश्य के आधार पर जादू को तीन भागो मे बाँटा

1. Dr. S C. Dube, *op. cit.*, p. 139.

है[1]—(1) **संवर्द्धक जादू**—इसके अन्तर्गत आखेट का जादू, उर्वरता का जादू, वर्षा के लिए जादू, मछली पकड़ने का जादू, नौका चलाने का जादू, वाणिज्य-लाभ का जादू और प्रणय के लिए जादू आते हैं।

(2) **संरक्षक जादू**—इसके अन्तर्गत सम्पत्ति-रक्षा के लिए जादू, दिए हुए ऋण को पुन: प्राप्त करने के लिए जादू, दुर्भाग्य से बचाव के लिए जादू, रोग-उपचार के लिए जादू, यात्रा में सुरक्षा के लिए जादू, विनाशक जादू का प्रभाव रोकने के लिए अवरोधक जादू आदि सम्मिलित हैं।

(3) **विनाशक जादू**—इसके अन्तर्गत तूफान लाने के लिए जादू, सम्पत्ति नष्ट करने के लिए जादू, बीमार करने के लिए जादू, मृत्यु बुलाने के लिए जादू आदि आते हैं।

जादू और विज्ञान
(Magic and Science)

श्री फ्रेज़र ने अपनी जादू की परिभाषा में लिखा है कि जादू एक आभासी-विज्ञान (pseudo-science) है। एक अन्य स्थान पर आपने जादू को विज्ञान की 'अवैध बहन' (bastard sister) कहा है। इस अर्थ में, श्री फ्रेज़र के अनुसार, जादू आदिमानव का विज्ञान है। स्वभावत: ही इन दोनों में कई समानताएँ हैं—(1) जादू और विज्ञान दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि घटनाएँ कुछ प्राकृतिक नियमों के कारण ही घटित होती हैं और इन नियमों में एक निश्चित व्यवस्था और नियमबद्धता होती है। (2) "सहानुभूत-जादू यह विश्वास करता है, एक घटना का अनिवार्यत: अन्य घटनाओं पर प्रभाव पड़ता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।" विज्ञान में भी यह विशेषता पाई जाती है। (3) वैज्ञानिक और जादूगर दोनों ही यह मानते हैं कि प्राकृतिक घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को समझकर कारणों को उत्पन्न कर कार्य को भी पैदा किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, दोनों ही यह विश्वास करते हैं कि यदि कुछ कार्यक्रमों को नियमानुसार और सूक्ष्म रूप से काम में लाया जाय तो इच्छित परिणाम अवश्य निकलेंगे। (4) जादू और विज्ञान में एक और समानता यह है कि दोनों में ही कुछ-न-कुछ सीमा तक भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने भी जादू और विज्ञान में कई समानताओं का उल्लेख किया है। पहली समानता तो यह है कि दोनों का ही मनुष्य की प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं से सम्बन्धित कोई-न-कोई निश्चित उद्देश्य होता ही है। दूसरी समानता यह है कि जादू और विज्ञान दोनों ही कुछ निश्चित नियमों पर आधारित हैं। मनमाने ढंग से न तो जादू में कार्य होता है और न ही विज्ञान में। तीसरी समानता यह है, जादू व विज्ञान दोनों में एक विशेष प्रविधि (technique) का प्रयोग किया जाता है।

उक्त समानताओं के होते हुए भी जादू और विज्ञान को एक समझने की गलती

---

1. *Ibid.*, p. 141.

न करनी चाहिए क्योंकि बाहरी तौर पर ये समानताएँ प्रगट होने पर भी वे वास्तविक नहीं हैं। वास्तव में जादू तथा विज्ञान दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। इन दोनों में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख है—(1) जादू और विज्ञान में सर्वप्रमुख भिन्नता यह है कि जादू का सम्बन्ध अधिप्राकृतिक (supernatural) जगत् से है, जबकि विज्ञान केवल प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखता है। अधिप्राकृतिक जगत् विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत कदापि नहीं आता है जबकि जादू की समस्त रुचि इसी में होती है। (2) रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के अनुसार विज्ञान के परिणामों की परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होता है और इन पद्धतियों का एक वास्तविक आधार भी होता है। परन्तु चूँकि जादू का सम्पर्क अधिप्राकृतिक जगत् से होता है, इस कारण जादू की विधियाँ मानव-मस्तिष्क की कल्पना मात्र होती है। (3) विज्ञान की असफलता अपर्याप्त ज्ञान के कारण होती है और इसका संशोधन शोध (research) के द्वारा हो सकता है। परन्तु जादू में असफल होने का कारण यह सोचा जाता है कि जादूगर ने "मन्त्रों के शब्द-क्रम अथवा उसके साथ की जाने वाली क्रियाओं में कोई त्रुटि की, अथवा उसने इस विशिष्ट स्थिति के अनिवार्य निषेधों का उल्लंघन किया।" (4) श्री गोल्डनवीज़र के अनुसार एक जादूगर जिन उपकरणों का प्रयोग करता है उनमें रूढ़िवादिता या परम्परा की बू रहती है और इसी कारण वे अनुभवों से परे होते हैं। परन्तु वैज्ञानिक के उपकरण परिवर्तनशील होते हैं और अनुभव के आधार पर उन्हें किसी भी समय बदला जा सकता है। (5) श्री मैलिनोवस्की के अनुसार "विज्ञान, यहाँ तक कि आदिमानव का विज्ञान भी निरीक्षण (observation) के आधार पर तर्क (reason) द्वारा निर्धारित रोज के जीवन के उन स्वाभाविक तथा सार्वभौम अनुभवों पर आधारित है जो कि अपनी जीविका (subsistence) और सुरक्षा के लिए प्रकृति के साथ संघर्ष करने के दौरान पर मनुष्य प्राप्त करता है। इसके विपरीत, जादू मनुष्य की उद्वेगात्मक अवस्थाओं (emotional states) के विशिष्ट अनुभवों पर आधारित होता है, जिसमें की मनुष्य प्रकृति को नहीं बल्कि अपने को निरीक्षण करता है, जिसमें कि सत्य का निर्णय तर्क द्वारा नहीं बल्कि मानव-शरीर पर उद्वेगों की क्रियाशीलता द्वारा होता है। (6) विज्ञान इस विश्वास पर आधारित है कि अनुभव, प्रयत्न तथा तर्क सही हैं; पर जादू इस विश्वास पर आधारित है कि आशा व्यर्थ नहीं हो सकती, न ही इच्छा कभी धोखा दे सकती है।"[1]

1. "Science, even as represented by the primitive knowledge of savage man, is based on the normal, universal experience of everyday life, experience won in man's struggle with nature for his subsistence and safety, founded on observation, fixed by reason. Magic is based on specific experience of emotional states in which man observes not nature but himself, in which the trust is revealed not by reason, but by the play of emotions upon the human organism. Science is founded on the conviction that experience, effort and reason are valid, magic on the belief that hope cannot fail nor deceive."—B. Malinowski, *op cit.*

जादू और धर्म

(Magic and Religion)

समानताएँ—आदिम संस्कृति में धर्म और जादू एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए हैं कि इन्हें अलग करना एक प्रकार से असम्भव ही है। (1) श्री गोल्डनवीज़र ने लिखा है कि जादू तथा धर्म में जो सामान्य तत्त्व (common element) है वह यह कि दोनों का ही सम्बन्ध अधिप्राकृतिक शक्ति से है। (2) साथ ही, इन दोनों में ज्ञान परम्परागत होते हैं। (3) धार्मिक तथा जादुई क्रियाओं में उद्वेगों की उपस्थिति भी होती है जो कि इन दोनों को और भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करती है। श्री मैलिनोवस्की ने लिखा है कि धर्म तथा जादू दोनों ही उद्वेगात्मक तनाव की परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं, जैसे जीवन के संकट, असफल प्रेम और घृणा की परिस्थितियाँ।" (4) इन दोनों में एक दूसरी समानता यह है कि दोनों उन संकटमय परिस्थितियों से बचने के साधन के रूप में प्रयोग किये जाते हैं जिनसे कि अन्य किसी साधन के माध्यम से पार नहीं पाया जा सकता है। लोग यह विश्वास करते हैं कि धर्म या जादू में चमत्कार दिखाने की शक्ति है क्योंकि यह अधिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित है। इसलिए जिन उद्देश्यों की पूर्ति अन्य उपायों से सम्भव नहीं, वह धर्म तथा जादू की सहायता से सहज ही सम्भव हो सकती है। (5) जादू तथा धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं को करने के लिए कुछ परम्परागत विधियाँ होती हैं जिनका कि अनुसरण करना आवश्यक समझा जाता है। अगर जादू या धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं में अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है तो यह मान लिया जाता है कि उन परम्परागत विधियों का ठीक-ठीक अनुसरण नहीं किया गया है। (6) धर्म तथा जादू की क्रियाओं को करने के लिए नित्यप्रति से भिन्न प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, इन दोनों में ही कुछ अनिवार्य निषेधों का पालन करना पड़ता है वरना यह सोचा जाता है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति असंभव है।

भेद—उपरोक्त समानताओं के होते हुए भी धर्म और जादू में निम्नलिखित भेद स्पष्ट हैं—(क) धर्म एक सामाजिक कृत्य है, जब कि जादू एक वैयक्तिक कृत्य है। धर्म और जादू के इस भेद पर श्री दुर्खीम ने अत्यधिक बल दिया है। आपने लिखा है कि जादू में भी धर्म की भाँति अनेक विश्वास संस्कार, कृत्य आदि होते हैं; फिर भी मूल रूप में जादू वैयक्तिक (individualistic) होता है। जादू का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से होता है। इसी कारण जादू उस पर विश्वास करने वालों को एक समूह में संयुक्त नहीं कर पाता है। इसके विपरीत, धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं होता है। यह तो एक सामाजिक तथ्य है। इसी कारण धर्म उसपर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय (moral community) में संयुक्त करता है। (ख) जादू और धर्म दोनों में ही अधि-[illegible]तिक या अलौकिक शक्ति में विश्वास किया जाता है। परन्तु धर्म में उस शक्ति की [illegible]ी, पूजा, प्रार्थना या आराधना करके उसे प्रसन्न करने और फिर उस प्रसन्नता से [illegible] उठाने या उस शक्ति के द्वारा की जाने वाली हानियों से बचने का प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत जादू में उस शक्ति को दबाकर अपने अधिकार में करके उस शक्ति को

अपने उद्देश्य की पूर्ति में प्रयोग किया जाता है। इस भेद को श्री गोल्डनवीजर (Goldenweiser) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—धर्म में आत्मसमर्पण या अधीनता निहित है, जब कि जादू मे दृढ आत्मसकल्प तथा नियन्त्रण।[1] (ग) इन दोनो में एक अन्तर यह है कि धर्म मे अलौकिक शक्ति के प्रति धार्मिक व्यक्ति के मन मे भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की भावना होती है। परन्तु जादू मे जादूगर प्राकृतिक शक्तियो को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है क्योंकि वह उनका भेद जानता है और उन पर काबू पा सकता है। (घ) श्री मैलिनोवस्को ने लिखा है कि जादू सबके लिए नहीं होता है अर्थात् जादुई क्रियाएँ केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो कि इन क्रियाओं में निपुण है। इन क्रियाओं को ये निपुण व्यक्ति अपने शिष्यो को ही सिखाते हैं। इसके विपरीत धार्मिक क्रियाएँ सबके द्वारा और सबके लिए की जाती हैं। (ङ) धर्म समूह के कल्याण की चिन्ता करता है; जादू बहुधा व्यक्ति का कल्याण सोचता है। (च) धर्म में प्रार्थना सफल और असफल दोनों ही हो सकती हैं परन्तु जादुई क्रिया इस विश्वास के साथ की जाती है कि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति या अभीष्ट की सिद्धि अवश्य ही होगी।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer : *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Boas and Others : *General Anthropology*, New York, 1938.

3. Dube, S. C. : *Manava our Sanskriti*, Rajkamal Prakashan, Delhi, 1960.

4. Durkheim, Emile : *The Elementary Forms of Religious Life*, Translated by J. W. Swain, Free Press, Glencoe, 1947.

5. Frazer, James : *The Golden Bough*, The Macmillan Co., New York, 1950.

6 Goode, W. J. : *Religion among the Primitives*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1951.

7. Malinowski, B. : *Magic, Science and Religion and Other Essays*, Glencoe, 1948.

8. Max Muller : *Lectures on the Origin and Growth of Religion*, Longmans, Green and Co , London.

9. Radin, Paul : *Primitive Religion*, Dover Publications, New York, 1957.

10. Titiev, Mischa, *Introduction to Cultural Anthropology*, Henry Holt and Co., New York, 1959.

11. Tylor, E. B. : *Primitive Culture*, John Murray, London, 1913.

1. "In the first case (religion) there is submission or dependence, in the second case (magic) self-determination and control."—Goldenweiser, *op. cit.*

14 आदिकालीन कला
(Primitive Art)

मानव आदिकाल से ही सौन्दर्य का भूखा है। वह सौन्दर्य को केवल आंखों से देखकर ही तृप्त नहीं होता है, वरन् उसे रचनात्मक कल्पना की सहायता से एक मूर्त रूप देना चाहता है इसी के फलस्वरूप कला का जन्म होता है। कला का यह जन्म मानव-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके जन्म से मानव व पशु में जो अन्तर-रेखा खिंच गई वह आज भी अमर है। पशु कलाविहीन है, मनुष्य कलाकार है; पशु कला से दूर है, मनुष्य कला में ही अमर है। इस प्रकार मानव-समाज या मानव-जीवन की एक सार्वभौम (universal) विशेषता उसकी कला है।

प्रत्येक मानव या मानव-समाज संस्कृति का अधिकारी है और कला उसी मानव-संस्कृति का एक आवश्यक अंग है। इस अर्थ में कला न केवल अति प्राचीन है, वरन् सार्वभौम भी। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिकाल से ही मानव केवल प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं रह पाया; उस सौन्दर्य को और उन्नत स्तर पर लाकर उसे मूर्त्त रूप देने तथा नवीन सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति मानव में सदा से ही विद्यमान रही है। मानव केवल भोजन, वस्त्र तथा निवास को उत्पन्न या निर्माण करके ही कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुआ; जीवन के समस्त संघर्षों के बीच भी उसने इतना समय निकाल ही लिया कि उस समय में खेल-कूद सके, चित्र बना सके या नृत्य व संगीत में अंश ग्रहण कर सके। मानव की सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि की यह शक्ति व प्रवृत्ति ही उसकी मानवता को बनाये रखती है और मानव फिर से पशु-स्तर पर लौट नहीं जाता है। यही कारण है कि मानव जब गुफाओं में रहता था तभी वह कई प्रकार के चित्रों तथा बहुमुखी कला का विकास कर चुका था। डा० दुबे ने लिखा है कि "प्राचीन प्रस्तर युग के प्रथम भाग से ही पत्थर और सीपों के प्राथमिक आभूषण मिलने लगते हैं। इस युग के मध्य भाग में अधिक विकसित आभूषणों का प्रचलन हो गया था, तथा वे पत्थर के अतिरिक्त हड्डियों और कच्ची धातु के टुकड़ों से भी बनाये जाने लगे थे। इस युग के अन्तिम चरण में मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। पश्चिमी यूरोप की गुफाओं की दीवारों और निचली छतों पर उक्त काल की अनेक सुन्दर 'पॉली-क्रोम' पेंटिंग मिलती हैं।" हमारे भारतवर्ष में भी अजन्ता की गुफाओं में प्राचीन भारतीय कला का जो प्रमाण मिलता है वह न केवल विशिष्ट है, बल्कि चमत्कृत करने वाला भी। अतः स्पष्ट है कि कला मानव-जीवन का एक अति प्राचीन सहचर है। परन्तु इस 'सहचर' के विषय में और कुछ विवेचना करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि 'कला' कहते किसे हैं ?

कला क्या है ?
(What is Art ?)

कला के बिना मानव का अस्तित्व शायद असम्भव न था; फिर भी इन दोनों को—मानव और कला को—एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण ही मानव की भाँति कला का क्षेत्र तथा अर्थ भी अत्यधिक व्यापक हो गया है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई कला की कुछ परिभाषाओं को हम यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं—

सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों में, "कला एक क्रिया है जो कि इसके व्यावहारिक या उपयोगी मूल्यों के अतिरिक्त कलाकार को तथा उन लोगों को जो कि उसके उस कार्य में दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप मे अंश ग्रहण करते हैं, सन्तुष्टि प्रदान करती है। यही सौन्दर्यपूर्ण या ललित तत्त्व है जो कि कला को संस्कृति के दूसरे पक्षों से पृथक् करता है।"[1]

उपरोक्त परिभाषा पर ध्यान देने से कला की वास्तविक प्रकृति के विषय में एक स्पष्ट धारणा हो सकती है। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने अपनी परिभाषा मे कला को एक ललित-तत्त्वयुक्त क्रिया माना है। इस क्रिया के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो बाह्य या बाहरी (overt) और दूसरा आन्तरिक या अन्दरूनी (covert)। बाहरी तौर पर इस क्रिया अर्थात् कला का व्यावहारिक या उपयोगी मूल्य तो होता ही है, पर इससे भी बड़ी बात यह है कि कला ललित-तत्त्वयुक्त या सौन्दर्यपूर्ण वह क्रिया है जो कि उस क्रिया को करने वाले अर्थात् कलाकार को तथा उन लोगों को जो कि उसके उस कार्य मे दर्शक, श्रोता या सहयोगी के रूप में अंश ग्रहण करते हैं, एक आन्तरिक सन्तुष्टि प्रदान करती है। अतः स्पष्ट है कि कला का सम्पर्क हृदय से है। मनुष्य का हृदय जो कुछ भी सुन्दर मानकर बनाता है या करता है, उसी को कला कह सकते हैं। और भी संक्षेप मे, मनुष्य द्वारा 'सुन्दर' की सृष्टि ही कला है। जो इस सुन्दर का सृजन करता है और जो इस सुन्दर को निहारता या सुनता है, दोनों को ही आनन्द का अनुभव होता है।

इसीलिए श्री नित्यानन्द दास ने लिखा है, "कला सम्मिलित रूप मे आत्मिक तथा प्राकृतिक बोध का एक प्रतीक है। इसका एक पक्ष सुन्दर स्वरूपों की सृष्टि का आनन्द है और साथ ही उन पर मनन करने का आनन्द भी।"[2] इस प्रकार कला का

---

1 "Art is defined ... and above its practical or ... artist and to those who ... collaborators. It is this ... ther aspects of culture."— ... The Macmillan Co., New York, 1959, p. 620.

2 "Art is an emblem ... ngs combined to- ... forms as well as ... eliterate Art ... ference for, ...

सम्बन्ध हृदय तथा प्रकृति दोनों से ही है। जब एक गायक संगीत की रचना करता है तो वह अपने हृदय के अनुभव या बोध (feeling) को ही व्यक्त करता है परन्तु इस बोध में प्राकृतिक तत्त्व भी इस अर्थ में सम्मिलित है कि उस बोध के लिए आवश्यक कच्चा माल वह अपने आस-पास की परिस्थिति से ही प्राप्त करता है। साथ ही, कुछ बोध करने की शक्ति उसे प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। इस प्राकृतिक शक्ति के कारण ही मानव के हृदय में एक भाव उठता है, उसमें इच्छा होती है कुछ सुन्दर चीजों की सृष्टि करने की। वह वैसा ही करता है, सृष्टि करने का आनन्द उसे प्राप्त होता है। कलाकार इस सौन्दर्य-सृष्टि के हर पग पर आनन्द से भरपूर हो उठता है, उसे आत्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, वह कुछ सुन्दर चीज या स्वरूप को बनाने में सफल होता है। उस सुन्दर की सृष्टि हो जाने के बाद कलाकार का परिश्रम सार्थक होता है। अपनी इस सार्थकता या सफलता पर उसे आनन्द होता है और जो उसे देखता या सुनता है, उसे भी आनन्द ही प्राप्त होता है। यही कला है, यही कला की सार्थकता भी।

श्री हॉबल (Hoebel) ने अपनी परिभाषा में मानव की सौन्दर्य-वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि की उक्त प्रवृत्तियों (impulses) की ओर ही संकेत किया है। मानव में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उसे सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा देती है। इन प्रवृत्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति (overt expression) ही कला है जो कि रेखाचित्र, रंगीन-चित्र, मूर्ति, संगीत, नृत्य, कविता व साहित्य के रूप में व्यक्त होती है या हमें देखने व सुनने को मिलती है। इसी आधार पर श्री हॉबल (Hoebel) ने कला को परिभाषित करते हुए लिखा है, "कला से हमारा तात्पर्य रेखा, आकृति, रंग, ताल तथा शब्द—जैसे रेखा-चित्र, रंजनकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत, कविता व साहित्य के रूप में मानव-प्रवृत्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति है।"[1]

कला के अर्थ को समझने के पश्चात् हमें स्पष्ट रूप से यह भी समझ लेना होगा कि आदिकालीन कला किसे कहते हैं।

आदिकालीन कला क्या है ?
(What is Primitive Art ?)

श्री हॉबल (Hoebel) ने लिखा है कि यही उचित होगा कि आदिकालीन कला क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कहें कि आदिकालीन कला आदिम लोगों की कला है। आदिकालीन कला को केवल भद्दी और अपरिपुष्ट कला कहकर परिभाषित करना सत्य को अस्वीकार करना होगा क्योंकि अनेक आदिकालीन कला में पर्याप्त जटिलता भी देखने को मिलती है।[2] श्री हॉबल का कथन है कि इसको हम बच्चों की कला (childish art) भी नहीं कह सकते क्योंकि कई स्थानों पर कला की पद्धति में बड़ी सावधानी बरती

---

1. "By Art we mean overt expression of impulses in line, form, colour, rhythm, and tone, as in drawing, painting, sculpture, dance, music, and literature."—E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958, p. 352.
2. *Ibid.*, p. 174.

जाती है। विशेषकर मूर्तिकला में कुछ जनजातियों की निपुणता को देखकर आज भी कलाकार दाँतों तले अँगुली दबाते हैं। साथ ही आदिकालीन कला केवल प्रकृतिवादी (naturalistic) है, ऐसा सोचना भी गलत है क्योंकि आदिकालीन कला में हमे अनेक उच्चकोटि की शैली तथा परम्परा देखने को मिलती है। श्री हॉबल ने उचित ही लिखा है कि "आदिम लोगों की कला का क्षेत्र कलात्मक दृष्टिकोण से भद्देपन से लेकर उच्च कौशल तक, बालकों-सी सरलता से लेकर आश्चर्यजनक जटिलता तक, तथा प्रकृतिवाद व यथार्थवाद से लेकर औपचारिकवाद तक विस्तृत है।"[1] उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलियन कला अति शैलीपूर्ण है किन्तु कुछ स्थानों में सांकेतिक (symbolic) तथा औपचारिक कला भी हमे देखने को मिलती है। इसके विपरीत एस्किमो-कला अधिकतर प्रकृतिवादी है। अतः स्पष्ट है कि आदिकालीन कला को किसी एक निश्चित दायरे मे सीमाबद्ध करके परिभाषित करने का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। वास्तव मे आदिम अथवा आधुनिक मानव की सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को किसी निश्चित सीमा-रेखा के अन्दर रखना सम्भव नही है। यह तो मुक्त पक्षी की भाँति उन्मुक्त आकाश मे उड़ती-फिरती है। इसकी अभिव्यक्ति कहाँ और किस समय किस रूप में होगी, यह किसी निश्चित नियम के आधार पर कहा नही जा सकता। हाँ, आदिम कला के सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनका सम्पर्क आदिम संस्कृति से अति घनिष्ठ है क्योंकि आदिम कला आदिम संस्कृति का ही उसी प्रकार एक अंग है जिस प्रकार आधुनिक कला आधुनिक संस्कृति का ही एक पक्ष है। आधुनिक चित्रकला मे एक इंजिन का चित्र बन सकता है क्योंकि इंजिन आधुनिक संस्कृति का ही एक तत्त्व (trait) है; परन्तु एस्किमो-चित्रकला मे इंजिन का चित्र वास्तव में असम्भव है क्योंकि इंजिन एस्किमो-संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आता है।

आदिकालीन कला के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह कला धर्म तथा अन्धविश्वासों द्वारा अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। धर्म का सम्बन्ध विश्वासों से है, और इन विश्वासों की स्पष्ट छाप आदिवासियों की कला मे देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज में धार्मिक क्रियाओं मे नाना प्रकार की धार्मिक सामग्रियाँ (religious objects), धार्मिक प्रतीक (religious symbols) आदि का समावेश होता है। आदिम समाजों मे ये धार्मिक सामग्रियाँ तथा प्रतीक ही कला की अभिव्यक्ति (expression) का सर्वप्रमुख साधन या माध्यम हैं। एक उदाहरण के द्वारा आदिकालीन कला के इस पक्ष को स्पष्ट किया जा सकता है। आदिवासी लोग प्रायः एकाधिक अलौकिक शक्तियों या देवी-देवताओं पर विश्वास करते हैं। इनके प्रति उनके मन मे विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है। कल्पना द्वारा इन अलौकिक शक्तियों का एक रूप भी निश्चित कर लिया जाता है और उसी के अनुरूप उन अलौकिक शक्तियों के चित्र व मूर्तियाँ बनवाकर रखी जाती हैं या शरीर पर उसके चित्र को गुदाई (tattoo) भी सामान्य रूप से की जाती है। इस

1. "The art of primitive peoples runs a wide gamut from clumsiness to high skill, from childlike simplicity to confusing from [illegible] to conventionalized abstraction."—

प्रकार उस अलौकिक शक्ति के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा-भक्ति को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न के फलस्वरूप अनायास ही कला की सृष्टि होती है। साथ ही, अलौकिक शक्तियां ही कला को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम वन जाती हैं। जव आदिवासी अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार अलौकिक शक्ति को एक मूर्त्त (concrete) रूप देने की इच्छा से उसकी मूर्ति वनाता है या चित्र अंकित करता है तो वह सहज और स्वाभाविक रूप से कला की ही, सृष्टि करता है। साथ ही, आदिमानव इन अलौकिक शक्तियों से डरता भी है। उन शक्तियों से लाभ उठाने के लिए और उनके कोप से वचने के लिए वह उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, और इस उद्देश्य से वह उन शक्तियों की स्तुति में गीतों की रचना करता है, उन्हें गाता है और नाचता है। इस रूप में भी वह कला की सृष्टि करता है। आदिम समाजों में धर्म से सम्वन्धित अनेक मूर्ति, चित्र, संगीत तथा नृत्य की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कलाकारों के विना सम्भव नहीं। ये कलाकार की सृष्टि करते हैं।

कला की उत्पत्ति
(The Origin of Art)

आदिकालीन कला के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा कर लेने के पश्चात् यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि कला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कला के सम्वन्ध में जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं, उससे स्पष्ट है कि कला की बुनियाद या जड़ स्वयं मानव के हृदय, मस्तिष्क या प्रवृति में ही निहित है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति चित्रकार, संगीतकार, नर्तक या साहित्यकार नहीं होता और न ही हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में वह अनुभूति या प्रवृत्ति नहीं होती, जो कि कला की सृष्टि के लिए आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता या प्रवृत्ति को जागृत करने का प्रयास नहीं करता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि कला की उत्पत्ति तभी सम्भव हुई होगी जव कि मानव में वह प्रवृत्ति जागृत हुई जो कि सौन्दर्य-वृद्धि तथा सौन्दर्य-सृष्टि के लिए आवश्यक थी। इसके बिना कला की उत्पत्ति सम्भव न थी क्योंकि इस प्रवृत्ति की वाह्य अभिव्यक्ति ही कला है।

इस सम्वन्ध में एक दूसरी स्मरणीय वात यह है कि कला की उत्पत्ति मानव की मानसिक आवश्यकता के फलस्वरूप ही हुई है। जैसा कि हम पहले ही वता चुके हैं कि मानव की कुछ भौतिक तथा शारीरिक आवश्यकताएँ ही नहीं वरन् कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। और भी स्पष्ट रूप से मानव केवल क्षुधा-तृप्ति और यौन-तृप्ति ही नहीं वल्कि मानसिक सन्तोप भी चाहता है। केवल शरीर का ही नहीं, उसके मन अथवा मस्तिष्क का भी अपना तगादा या मांग होती है। कला की उत्पत्ति इसी मांग की पूर्ति के हेतु है। श्री होमेस (Holmes) ने उचित ही लिखा है कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जिसे कि केवल शरीर की मांग को ही नहीं वरन् मस्तिष्क की मांग को भी पूरा करना पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो शायद मानव के लिए पशु-स्तर

से ऊँचा उठना आज भी सम्भव न होता।[1] कला की उत्पत्ति का रहस्य इसी में छिपा हुआ है।

कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त सामान्य बातों को जान लेने के पश्चात् इस सम्बन्ध में कुछ विशेष सिद्धान्तों की विवेचना भी आवश्यक है।

कला के उद्विकासवादी सिद्धान्त
(Evolutionary Theories of Art)

अन्य सामाजिक घटनाओं (phenomena) की भाँति कला भी स्थिर और जड़ नहीं होती; गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। यह देखा गया है कि संस्कृति के अन्य पक्षों में परिवर्तन के साथ-साथ कला में भी परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हम पहले ही बता चुके हैं कि मानसिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं से कला का रूप प्रभावित होता है और इन आवश्यकताओं में होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही कला के गठन में परिवर्तन होता है। सौन्दर्य के प्रति मानव के बदलते हुए दृष्टिकोण तथा परिवर्तित होती मानसिक मांगों के परिणामस्वरूप कला के रूप में अथवा सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि के ढंग में परिवर्तन होना ही स्वाभाविक है। गहन अध्ययन द्वारा यह भी देखा गया है कि कला के स्वरूप, प्रक्रियाओं तथा गठन में होने वाले परिवर्तनों में एक नियमबद्धता होती है। इसी नियमबद्धता का अतिरंजित रूप कला का उद्विकासवादी सिद्धान्त है।

उद्विकासवादी लेखकों का कथन है कि कला का क्रमिक विकास होता है। परन्तु इस क्रमिक विकास के कुछ निश्चित स्तर (definite stages) होते हैं जिनमें से होकर कला प्रत्येक समाज में गुजरी है और तब कहीं आधुनिक स्तर पर पहुँच पाई है। कला के क्रमिक विकास के ये निश्चित स्तर कौन-कौनसे हैं, इस विषय पर विभिन्न उद्विकासवादी लेखकों के अलग-अलग मत हैं। उदाहरणार्थ, एक लेखक के अनुसार कला का उद्विकास निम्नलिखित स्तरों में से गुजरता हुआ होता है और हुआ है—(1) प्रारम्भिक स्तर (formative stage), (2) पुरातन स्तर (archaic stage), (3) परिपक्व स्तर (mature stage), (4) तड़क-भड़क का स्तर (flamboyant stage), और (5) पतन का स्तर (decadent stage)। इस विकासवादी योजना के समर्थकों का कहना है कि माया मूर्तिकला पेरूर्या नास्का की मिट्टी के बर्तन-सम्बन्धी कला उपरोक्त पाँच स्तरों में से होकर ही गुजरी है।[2] परन्तु इस विकासवादी योजना के समर्थन में जो दो-एक उदाहरण मिलते हैं उसके आधार पर कोई यथार्थ नियम न तो बन सकते हैं और न बनाना उचित होगा।

परन्तु कला के सम्बन्ध में विकासवादी लेखकों के सिद्धान्तों में सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त श्री ए० सी० हड्डन (A. C. Haddon) का है। आपके अनुसार कला के

1. O.W. Holmes, 'Law in Science and Science in Law', *Collected Legal Papers*, p. 212.
2. Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 173.

उद्‌विकास में सर्वप्रथम स्तर यथार्थवादी स्तर (realistic stage) था। शुरू-शुरू में आदिकालीन मानव यथार्थ चित्रण करता था अर्थात् जिस चीज़ को वह जिस रूप में देखता था उसे उसी रूप में कला के माध्यम से प्रस्तुत करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करता था। आस्ट्रेलिया की चित्रकला में यथार्थ के साथ मेल रखने का इतना प्रयत्न किया जाता है कि अगर कंगारू का चित्र बनाना हो, तो वहाँ का चित्रकार केवल कंगारू के शरीर को ही नहीं बनायेगा बल्कि उसकी रीढ़, हृदय, पेट आदि को भी चित्रित करके अपने चित्र को अधिक-से-अधिक यथार्थ बनाने का प्रयत्न करता है। हैदराबाद की चेंचू जनजाति का चित्रकार पेड़ का चित्र बनाने में उसके तने-शाखा-पत्ते के साथ-साथ वह उसकी जड़ों का भी चित्र बना देता है। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि आदिकालीन मानव का कला-सम्बन्धी विचार यथार्थवादी था। इस यथार्थवादी कला के बाद दूसरे स्तर पर ज्यामितिक कला का विकास होता है। इस प्रकार की कला में रेखाओं के द्वारा चित्र के सम्पूर्ण भाव को प्रगट करने का प्रयत्न किया जाता है। ज्यामितिक रेखाएँ आकृतियाँ भी बना सकती हैं और ज्यामितिक डिज़ाइन भी। इस ज्यामितिक स्तर (Geometric stage) के बाद कला का प्रगतिशील सरलीकरण (progressive simplification) स्तर आता है। इस स्तर में कला को सरल और सहज ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है ताकि उसमें कृत्रिमता कम-से-कम हो। इसके पश्चात् संकेतवादी स्तर (symbolic stage) आता है। इस स्तर पर जो है उसे उसी रूप में प्रस्तुत न करके कुछ संकेतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की कला का जन्म तभी सम्भव है जब कि संकेतों के सम्बन्ध में मानव को पर्याप्त ज्ञान हो; वह समझ सके कि अमुक संकेत से अमुक भाव प्रकट होता है। वास्तव में सांकेतिक कला में कलाकार सब कुछ प्रस्तुत नहीं करता वरन् दर्शकों से कुछ संकेतों से ही यथार्थ की कल्पना कर लेने की आशा की जाती है। इस प्रकार श्री हड्डन के अनुसार कला का क्रम-विकास यथार्थवादी स्तर से संकेतवादी स्तर की ओर हुआ है। यह नियम सार्वभौम है; अर्थात् प्रत्येक समाज में ही कला का उद्‌विकास उपरोक्त स्तरों में से गुज़रता हुआ होता है। ऐसा नहीं होता है कि किसी समाज में यथार्थवादी स्तर पहले आया है और दूसरे किसी समाज में ज्यामितिक स्तर कला का प्रारम्भिक स्तर रहा हो। प्रत्येक समाज में ही कला के उद्‌विकास में वही स्तर उसी क्रम से आये हैं जिस क्रम से उसकी ऊपर विवेचना की गई है। अगर कहीं इसके विपरीत कुछ हुआ है तो वह केवल अपवाद (exception) है, नियम नहीं। श्री हड्डन के अनुसार अगर कहीं इस शृंखला या क्रम में कोई हेर-फेर होता है तो यह समझ लेना चाहिए कि उसका कारण व्यक्तिगत अयोग्यता या साधनों का उचित प्रयोग न करना या उचित साधन उपलब्ध न हो सकना है। इससे उपरोक्त नियम की सार्वभौमिकता अप्रमाणित नहीं होती है।

अपनी उपकल्पना (hypothesis) को प्रमाणित करने के लिए श्री हड्डन ने उसकी पुष्टि में टौरेस स्ट्रेट्स (Torres Straits) से एकत्रित किये गये तीरों (*arrows*) का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन तीरों पर मगरमच्छ के चित्र बने थे। इनमें से कुछ

तीरों पर तो मगरमच्छ के यथार्थ चित्र बने थे, कुछ पर रेखाओं द्वारा मगरमच्छ की आकृतियाँ अंकित थी और कुछ पर मगरमच्छ के शरीर के विभिन्न अंगों के केवल सांकेतिक चिह्न बने हुए थे। श्री हड्डन ने इन तीरों को इस क्रम से सजाकर रक्खा कि उन्हें देखने से स्पष्टतः यह ज्ञात होता है कि आदिकालीन कला सर्वप्रथम यथार्थवादी थी, फिर ज्यामितिक हुई और अन्त में सांकेतिक कला का विकास हुआ। संक्षेप में, तीरों को इस भाँति रखा गया था कि श्री हड्डन का सिद्धान्त उचित जान पड़े।

परन्तु उपरोक्त प्रमाण के सम्बन्ध में श्री हड्डन यह भूल जाते हैं कि वे सब तीर एक ही काल में बनाए गए थे, वास्तव में श्री हड्डन ने इस तथ्य (fact) की कोई भी परवाह न करते हुए तीरों को एक पूर्वनिश्चित क्रम से इस भाँति प्रस्तुत किया है जिससे कि उनका सिद्धान्त उचित जान पड़े। श्री हड्डन के सिद्धान्त की यही सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसीलिए आज अधिकतर मानवशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यथार्थ कला को प्रस्तुत करने के लिए जिस कुशलता, ज्ञान तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है वे सब आदिकालीन मानव के पास न तो थे और न ही उनके होने की कल्पना हम कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में गहन अध्ययन करने से पता चला है कि पश्चिमी यूरोप के कुछ ही इने-गिने प्रदेशों की चित्रकला, न्यू गिनी की संगतराशी तथा मध्य अमेरिका के बर्तनों पर के चित्रों को छोड़कर अन्य कहीं यथार्थ कला का विकास नहीं हुआ था। साथ ही, इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह पता चलता है कि टोकरी तथा वस्त्र बनाने की कला-शैलियों (art styles) का प्रारम्भ ज्यामितिक अथवा सांकेतिक तौर पर ही हुआ था और यथार्थवादी स्तर केवल तब ही आया था जब कि लोगों की कुशलता उच्च स्थिति पर पहुँच गई थी।[1]

विकासवादी सिद्धान्त की एक और दुर्बलता यह है कि इसके लेखक यह मान लेते हैं कि प्रत्येक समाज में कला के उद्‌विकास का एक ही क्रम, दिशा या स्तर रहा है। सभी समाजों में कला का उद्‌विकास कुछ निश्चित स्तरों में से होकर गुजरा है, यह सोचना गलत है। क्योंकि प्रत्येक समाज की परिस्थिति, उपलब्ध साधन, व्यक्तियों के मनोभाव आदि भिन्न-भिन्न होते हैं और उसी के अनुरूप प्रत्येक समाज में संस्कृति के विभिन्न पक्षों का (जिसमें कला भी एक है) विकास अलग-अलग ढंग से हुआ है।

साथ ही, कला में परिवर्तन केवल उद्‌विकास के नियमों से ही घटित होता है, यह सोचना गलत है। दूसरे लोगों की कला को देखकर या दूसरों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप भी कला में परिवर्तन होता है। संक्षेप में उद्‌विकासवादी लेखकों ने अपने सिद्धान्त में प्रसार (diffusion) के नियमों की अवहेलना करके अपने सिद्धान्त को और भी निर्बल बना दिया है।

कला के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Art)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि कला की उत्पत्ति किसी निश्चित

---

1. *Ibid*, p. 174.

नियम के अनुसार नहीं हुई है। जिस समाज में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं उन्हीं की प्रतिक्रिया के रूप में कला भी उत्पन्न हुई है। कला के विकास में प्रसार (diffusion) का नियम भी क्रियाशील रहा है। साथ ही, मानव की मानसिक आवश्यकताओं या मनोभाव में जो परिवर्तन हुआ है उसका भी स्वाभाविक प्रभाव कला पर सदैव पड़ता रहा है। इन सबके अलावा भी कला के कुछ आवश्यक तत्त्व हैं जिनके विषय में सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभकारी सिद्ध होगा—

सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग
(Aesthetic Emotion)

कला की उत्पत्ति तथा विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व मानव का सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है। पशुओं में यह उद्वेग नहीं होता, इसी कारण वे कला को भी जन्म नहीं दे पाये हैं। मानव सुन्दर और असुन्दर में भेद कर पाता है। उसका अन्तःकरण जिसे सुन्दर मानकर ग्रहण करता है मानव उसे अनुभव करता है और केवल अनुभव करके ही चुप नहीं बैठता बल्कि उसे मूर्त्त रूप देने या बाह्य रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। जो उसे ऐसा करने की प्रेरणा देता है वही उसका सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है। श्री रूथ बंजिल (Ruth Bunzel) के अनुसार यह सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग अन्य उद्वेगों से एक विशेष अर्थ में भिन्न होता है।[1] अन्य प्रकार के उद्वेग किसी स्वार्थ, साध्य (end) अथवा आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन (means) होते हैं, परन्तु सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग स्वयं ही साध्य (end in itself) है। एक सुन्दर फूल को देखकर या एक सुमधुर संगीत को सुनकर हमारे अन्दर जो 'आनन्द' भाव उत्पन्न होता है वही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है, इस सौन्दर्य को हम पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। हमारा यह प्रयत्न कला को जन्म देता है। इस सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग के दो स्पष्ट पक्ष हैं—एक तो सुन्दर वस्तुओं या आकृतियों की सृष्टि करने का आनन्द और दूसरा उसे देखने या सुनने या उस पर मनन करने से प्राप्त होने वाला आनन्द। अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने, अपनी कामवासना को तृप्त करने या समस्त अर्थिक व राजनैतिक सुविधाओं को प्राप्त कर लेने से जो आनन्द या सुख हमें प्राप्त होता है वह उस आनन्द से बिलकुल ही भिन्न है जो कि कला के सृजन से या उसे देखने और सुनने से अर्थात् एक चित्रकला, संगीत या नृत्य की रचना करने या देखने या सुनने से प्राप्त होगा। यही सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग है और इसी में समस्त सौन्दर्य-वृद्धि व सौन्दर्य-सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है।

कला में सामाजिक तत्त्व
(Social Element in Art)

प्रत्येक कला का एक सामाजिक आधार होता है। कला समाज से पृथक् नहीं है और न होना सम्भव ही है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि कलाकार सदैव

---

1. Ruth Bunzel, 'Art', *General Anthropology*, New York, 1938, pp. 536-539.

अपने समाज के सामाजिक विचार, मूल्य, धर्म, परम्परा तथा अन्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होता रहता है। कलाकार जिस कला की सृष्टि करता है उसकी सार्थकता इसी में है कि वह समाज के अधिकाधिक सदस्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले, जनसाधारण उसे मान ले। साथ ही, आस-पास की परिस्थिति भी कलाकार को प्रभावित करती है। समुद्र के किनारे रहने वाला एक चित्रकार अपने चित्रो मे समुद्र की लहरों को जिस सजीवता से चित्रित कर सकेगा, वह पहाड़ के पास रहने वाले एक चित्रकार के लिए सम्भव न होगा। यह बात आदिकालीन कला के सम्बन्ध मे और भी सच है, क्योंकि आदिमानव पर आधुनिक मानव की तुलना में सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों, धर्म, परम्परा आदि का प्रभाव अधिक होता है। साथ ही, आदिकालीन कला केवल कला के लिए है (art for art sake), यह भी सच नही है। उसमें सामाजिक उपयोगिता का कुछ अंश अवश्य ही होता है। आदिवासी कला का सृजन करता है, केवल मानसिक सुख-प्राप्ति के लिए ही नहीं वरन् सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी। वह टोकरी बनाकर कला की सृष्टि करने के साथ-साथ उससे सामाजिक आवश्यकता की भी पूर्ति करता है। वह नाचता या गाता है, दिन-भर की थकावट या जीवन की नीरसता को दूर करने के लिए या अलौकिक शक्ति को संतुष्ट करने के लिए। परन्तु प्रत्येक प्रकार की कला मे या उससे सम्बन्धित क्रियाओं में उपयोगिता होगी ही, ऐसा कोई निश्चित नियम भी नही है।

शैली
(Style)

कला की एक आकृति, रूप, स्वरूप, रेखा, ताल या सुर होता है। इसे प्रस्तुत करने का कोई-न-कोई परम्परागत या प्रचलित ढग होता है, यद्यपि कलाकार अपने अनुभव तथा योग्यता के अनुसार उसमे हेर-फेर कर सकता है और करता भी है। इस 'ढग' को ही कला की शैली (art style) कहते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक चित्रकार को एक चित्र अंकित करना है। इसके लिए उसे कुछ रेखाओं को खीचना होगा और यदि कलाकार आवश्यक समझे तो उन रेखाओं द्वारा बनी आकृति मे वह कुछ रंगो को भी भरेगा। इन सब चीज़ों को वह कुछ हेर-फेर करते हुए एक निश्चित ढंग से प्रस्तुत करता है। यही उसकी शैली है। कोई गायक अपने संगीत को 'सरगम' के साथ प्रस्तुत करता है और कोई गीत गाते समय उसे 'बोल' के रूप में कहता नहीं है। कोई नृत्य को द्रुत लय में प्रस्तुत करता है तो कोई विलम्बित लय मे। ये सभी कला की शैलियाँ हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि कला को मनमाने ढग से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रत्येक कला की किसी-न-किसी रूप में एक स्वीकृत शैली होती है जो कि समय-समय पर बदलती रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला की शैली का एक स्वीकृत या प्रचलित रूप होता है; पर उस शैली मे परिवर्तन भी होता है और साथ ही नयी शैलियों का जन्म भी, क्योंकि कला एक सामाजिक क्रिया है और अन्य सामाजिक क्रियाओं की भाँति यह कोई स्थिर या जड़ क्रिया नहीं है। कला की शैली पर

लोग फल-फूल इकट्ठा करके और पशुओं का शिकार करके जीवननिर्वाह करते थे। इस कारण इस काल के चित्रों मे पशुओ जैसे हाथी, गैंडे, जंगली सूअर, घोड़े आदि के चित्र अधिक मिलते हैं। इनमे से अधिक चित्रो मे पशुओं की गति भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। चित्रों मे कभी-कभी रंग का भी प्रयोग किया गया है। इन चित्रों में शिकार, युद्ध-दृश्य आदि के चित्र भी मिलते हैं। इनमे आदि मानव के आस-पास के पर्यावरण तथा उनकी जीवन-विधि की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। इसी काल मे खुदाई का काम भी आदिमानव करता था। यह खुदाई का काम बहुधा हाथीदांत पर किया जाता था। इस युग मे हाथीदांत तथा पत्थर की मूर्तियां भी बनायी जाती थी। इन मूर्तियो में सिर तथा पैर का निर्माण तो न के बराबर है, पर उरोजो तथा जघाओं को अत्यधिक उभारकर दिखाया जाता था। इन मूर्तियों मे सबसे प्रसिद्ध मूर्ति ऑस्ट्रिया मे मिली है जो कि 'विलेनडार्फ की वीनस' (Venus of Willendorf) के नाम से प्रसिद्ध है।

केवल यूरोप मे ही नही, उत्तर अफ्रीका मे भी प्रारम्भिक कला की अनेक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। नव-पाषाण युग के पूर्व ही एटलस पर्वत के क्षेत्र मे निवास करने वाला आदिमानव चट्टानी दीवारो पर खुदाई द्वारा या पत्थर तोडकर पशुओ की मूर्तियां बनाता था। दक्षिण अफ्रीका की बुशमेन जनजाति के लोग मनुष्य की आकृतियो को भी अंकित कर लेते थे और रेखाओं की सहायता से गति को भी दिखलाने मे सफल हुए थे। प्रस्तर युग से सम्बन्धित सुन्दर ढग से रंगे हुए बर्तन जावा और चीन मे पाये गये हैं।

जहाँ तक समकालीन (contemporary) आदिकालीन कला का प्रश्न है, इस काल मे मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया है। इस काल मे चट्टानो पर चित्र बनाने, रेखाओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ अंकित करने, लकड़ी, हाथीदांत, पत्थर आदि से नाना प्रकार की मूर्तियाँ बनाने, मिट्टी के खिलौने तथा बर्तन बनाने, वृक्ष की छाल, जानवर की खाल तथा कपड़े आदि पर चित्रकारी करने, बर्तनों पर बेल-बूटा बनाने तथा चित्रकारी करने, डिजाइनदार टोकरी बनाने, खम्बों पर खुदाई करने तथा गुदाई द्वारा शरीर पर नाना प्रकार की चित्रकारी करने की कला में संसार की जनजातियां आज सिद्धहस्त हैं। इनके सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

अफ्रीका की नीग्रो जनजाति लकड़ी तथा हाथीदांत की खुदाई तथा मूर्ति बनाने मे विशेष निपुण है। पश्चिमी अफ्रीका के नीग्रो कलाकार लकड़ी के काम के विशेषज्ञ माने जाते है। यद्यपि ये लोग पूर्वजो की पूजा नही करते, फिर भी व पूर्वजो की काष्ठ-मूर्तियों का निर्माण करते हैं। वहाँ की काष्ठ-मूर्तियाँ, चेहरे (mask), लकड़ी के खिलौने प्रसिद्ध हैं, इनको रंगने के लिए वे लोग रग का भी प्रयोग करते हैं। लकड़ी पर नक्काशी के काम मे भी ये लोग सिद्धहस्त हैं। फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका मे पूर्वजों की बड़ी-बड़ी काष्ठ-मूर्तियां बनायी जाती हैं। कागो तथा दक्षिणी नाइजीरिया की जनजातियों में हाथीदांत को तराश-कर उसकी तथा पीतल की भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियां बनायी जाती हैं। न्यू गिनी मे रोज के व्यवहार के लिए लकड़ी की अनेक वस्तुएँ बनायी जाती हैं जिनमें कि कला का पुट दिखाई देता है। यहाँ पर लकड़ी पर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। डच न्यू

गिनी में 'कोरवार' नामक पूर्वजों की आत्माओं के निवास के लिए जो काष्ठ-समाधियाँ बनाई जाती हैं, वे वहाँ की जनजाति की विकसित कला का एक उत्तम उदाहरण है। पापुअन जनजाति के लोग गोलाकार लकड़ी की चीज़ें बनाने में निपुण हैं। ये लोग लकड़ी के गोल प्याले, पशुओं तथा मनुष्यों की आकृतियों को बड़े आकर्षक रूप में बनाते हैं और उन्हें रंगते भी हैं। सेपिक तथा रामू जनजाति के लोग चित्रकला में पूर्वज की आत्मा को पक्षी का रूप देकर प्रस्तुत करते हैं। मेलानेशिया के टोम्बारा द्वीप के दक्षिणी भाग में चाक के विशाल टुकड़ों से पूर्वजों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। उनकी सजावट बहुधा लाल और कभी-कभी काली रेखाओं से की जाती है। केन्द्रीय न्यू आयरलैण्ड की जनजातियाँ अपने मुखियाओं की स्मृति में उनकी काष्ठ-मूर्तियाँ बनाती हैं जिन्हें कि ये लोग 'उली' कहते हैं। न्यू ब्रिटेन में नरम पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं और उनपर खुदाई का काम भी वहाँ की जनजातियाँ करती हैं। माइक्रोनेशिया में मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण दोनों की ही कला पाई जाती है। यहाँ के लोग लकड़ी की खुदाई में जानवरों का चित्रण करते हैं, पत्थरों की मूर्तियाँ बनाते हैं तथा विविध रंगों से अलंकृत चित्र, लकड़ी की खुदाई, मूर्तियाँ, बर्तन आदि बनाने में सिद्धहस्त हैं। माओरी जनजाति के लोग नेफाइट व ह्वेल की हड्डी आदि की खुदाई के काम में निपुण हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी चट्टानों पर रेखाचित्रों को अंकित करने तथा उनमें रंग भरने का काम बहुत अच्छा कर लेते हैं। इनकी कला में यथार्थवाद की झलक स्पष्ट होती है। उत्तरी अमेरिका के एस्किमो लोग नकाब या चेहरा बनाने की कला तथा खुदाई का काम दोनों में ही समान रूप से निपुण हैं। इन नकाबों (masks) पर वे पौराणिक नायकों और देवताओं के चित्रों को अंकित करते हैं और उन्हें धार्मिक उत्सवों तथा हास्यात्मक नाटकों के अवसरों पर पहनते हैं। खुदाई का काम ये लोग लकड़ी तथा हड्डियों पर करते हैं।

भारत में जनजातीय कला
(Tribal Art in India)

भारतीय जनजातीय कला की विशेषताएँ
(Characteristics of Indian Tribal Art)

(1) भारतीय जनजातीय कला मे सरल और जटिल दोनों ही प्रकार की शैली का समावेश देखने को मिलता है। दो-एक पाश्चात्य लेखको का तो मत है कि आसाम की कुछ जनजातियों को छोड़कर भारत की अन्य जनजातियों की जो कला है उसे वास्तव मे कला नही कहा जा सकता, क्योंकि वे न तो सौन्दर्यपूर्ण हैं और न ही उनमे कलात्मक प्रतिभा का कोई परिचय मिलता है।[1] परन्तु श्री एलविन (Elwin) इस मत से सहमत नही हैं। उनका कथन है कि अगर हम आधुनिक दृष्टिकोण या मान (standard) से उनकी कला की विवेचना करेंगे तो नि.सन्देह ही बहुत बड़ी गलती का शिकार बनेंगे। यह सच है कि वास्तविकता को यथार्थरूप मे कल्पना करने की प्रतिभा आदिवासियों मे नहीं है इसलिए यथार्थ प्राय: विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है; किन्ही-किन्ही विषयों मे अतिरजना भी देखने को मिलती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि भारतीय जनजातीय कला का अस्तित्व ही नही है।

(2) भारतीय जनजातीय कला में यथार्थवाद तथा संकेतवाद दोनों के ही तत्त्व पाये जाते हैं। नागा, 'हो' आदि जनजातियों की कला में यथार्थवाद की झलक अधिक देखने को मिलती है। नागा लोग शिकार खेलने के चित्र बनाते हैं तथा 'हो' लोग पशु-पक्षियों का यथार्थ चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। हैदराबाद की चेंचू जनजाति के लोग पेड़ का चित्र बनाते हुए न केवल उसके तने, टहनी और पत्ते ही बनाते हैं, बल्कि उसकी जड़ों का चित्र भी खीच देते हैं। सांकेतिक कला मे भी अनेक भारतीय जनजातियाँ निपुण हैं।

(3) भारत की जनजातियों मे मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दोनों ही पाई जाती हैं। भारत की अनेक जनजातियाँ पत्थरों, लकड़ी आदि की मूर्तियाँ बनाती हैं। लकड़ी और मिट्टी के बर्तनों पर खुदाई का काम भी उन्हे आता है। चट्टानों, दीवारों, खम्भो, औजारों तथा आभूषणों पर चित्र बनाने की कला भी अनेक भारतीय जनजातियों को आती है। शरीर पर चित्र गोदने का काम भी उन्हे आता है। कपड़ो, आभूषणों, कौड़ियों आदि को रंग-बिरंगे चित्रों से ये लोग भर देते हैं। सिर की वेश-भूषा को नाना प्रकार से सजाने की ओर इनका विशेष ध्यान होता है। मुरिया गोंड जनजाति के लोग सिर पर सीग धारण करते हैं और इसे नाना प्रकार के चित्रो तथा कौड़ियों आदि से सजाते हैं। भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते समय मुखाकृति, पैर आदि पर विशेष ध्यान नही देते; शरीर के कतिपय अंग, विशेषकर उरोजों तथा अंगों को अवश्य उभारकर दिखाते हैं।

(4) दीवारो पर चित्र बनाने की कला सारे जनजातीय समाजों में पारम्परिक रूप से प्रचलित है। त्योहारों, पर्वों, विवाहों आदि के अवसरों पर घरों की दीवारों पर और आँगन मे विभिन्न प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध विशेषत: पौराणिक

1. See Verrier Elwin, 'Tribal Art', *The Adivasis*, The Publication Division, Govt. of India, New Delhi, 1960, p. 126.

कथाओं से होता है। लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण, स्थानीय प्रभाव और संकेतों (symbols) से भी ये चित्र भरपूर होते हैं। उनसे समाज़ की गतिविधियों, प्रभावों, वेश-भूषा-सम्बन्धी बातों का आभास होता है।

(5) श्री एलविन (Elwin) के अनुसार भारतीय जनजातीय कला की एक विशेष उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसको उपयोगिता-पक्ष (utilitarian aspect) या सामाजिक महत्त्व (social significance) से पृथक् करके इनकी विवेचना सम्भव नहीं है। 'कला केवल कला के लिए है' इस प्रकार की कला का दर्शन जनजातीय ग्रामों में बहुत कम होता है। अधिकतर कला का एक धार्मिक या जादू-सम्बन्धी उद्देश्य होता है और इसका सामाजिक महत्त्व भी होता है। केवल सौन्दर्य की सृष्टि करने या सजाने के उद्देश्य से कला का सृजन आदिवासी समाज में बहुत कम होता है।[1] मूर्तियाँ बनाकर पूजा करने या मन्दिर में रखने की प्रथा भारतीय जनजातियों में बहुत कम है। गोंड, संथाल, भील आदि जनजातियों के मन्दिरों में पत्थर, मिट्टी का ढेला आदि देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस कारण जनजातीय लोग जिन मूर्तियों को बनाते हैं, वे देवताओं की मूर्तियाँ नहीं होतीं परन्तु देवताओं को अर्पित करने के लिए होती हैं। बस्तर की मुरिया जनजाति हाथी, घोड़ा और मानव की मूर्तियाँ बनाकर देवता को अर्पित करती हैं। उसी प्रकार विवाह को धूमधाम से मनाने और उस समय आने वाली समस्त विपदाओं को रोकने के लिए भी अनेक कलात्मक चीज़ों को जनजाति के लोग बनाते हैं। संथाल लोग विवाह की डोली को खूब सजाते हैं और उस पर जो खुदाई करते हैं उससे उत्साह और उल्लास का आभास होता है। इस अवसर पर अनेक जनजातियाँ भूत, चुड़ैल आदि की आकृतियाँ बनाकर विवाह-स्थान पर रखते हैं, जिससे कि इन भूत, चुड़ैल का प्रभाव कम हो जाय। सामाजिक दृष्टिकोण से मृत्यु ने भी कला को प्रोत्साहित किया है। समुद्र के किनारे रहने वाली गंजम (Ganjam) जनजाति सुन्दर कब्रें बनाती हैं, उस कब्र पर नाना प्रकार की चित्रकारी होती है। अनेक जनजातियाँ मृत व्यक्तियों की स्मृति में बीमारी को भगाने के लिए, ज़मीन की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाने के लिए तथा विशेष-विशेष त्योहारों में दीवारों पर चित्र बनाती हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आदिकालीन कला की एक प्रमुख विशेषता इसका धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष है।

प्रागैतिहासिक कला[3]
(Pre-historic Art)

आमधारणा के अनुसार भारत के प्राचीनतम कला-भण्डार अजन्ता, बाग तथा बादामी की गुफाओं में पाये जाते हैं। परन्तु भारत में इससे भी प्राचीन कला-भण्डार का

---

1. "There is very little art for art's sake in a tribal village. Much of the art has a religious or magical purpose; much again has social importance; there is very little that is simply decorative or that aims at the creation of beauty and nothing else."—*Ibid.*, p. 127.

2. *Ibid.*, pp. 127–129.

3. Based on Shri Vakankar's article in *Dharmayug*, June 14, 1959, pp. 25-26.

अस्तित्व है, ये भण्डार उन शिलाश्रयों तथा गुफाओं में हैं जो विंध्याचल एवं सतपुड़ा की श्रेणियों में सर्वत्र पाये जाते हैं। दक्षिण प्रदेश में भी कतिपय स्थानों पर जैसे चीला सरगम, कोडाईकल नेलोर में ऐसे भण्डार देखने को मिले हैं। गुफाओं की दीवारों में पाषाण युग के मानव ने जो चित्र बनाये हैं वे गेरू, सफेद मिट्टी एवं काले रंग से रंगे गये हैं। चित्रों को बनाते समय अनेक शैलियों का प्रयोग किया गया है तथा कई बार स्थानाभाव के कारण चित्र परस्पर एक-दूसरे पर भी रंगे गये हैं। इन चित्रों में यथार्थवादिता तथा आवेग अधिक है। रेखाओं का अत्यधिक प्रयोग भी इनमें देखने को मिलता है। चित्रों के विषय भी विविध हैं; पशुपालन, शिकार, सामूहिक नृत्य, युद्ध-चित्रण, जंगली पशु-पक्षी एवं धार्मिक विचारों का यहाँ सर्वत्र प्रकटीकरण हुआ है। जंगली पशु-पक्षियों में हिरन, साभर, नील-गाय, घोड़ा, सुअर, हाथी, शेर, बकरी, कुत्ता, बन्दर, साँप, कौआ, बिच्छू, मोर आदि के चित्र मिलते हैं। साथ ही, नाना प्रकार के पत्थरों के औज़ार और मूर्तियों को भी बनाने की कला उन्हें आती थी।

उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले की विजयगढ़ नाम की गुफाओं में कुछ चित्रों के नमूने पत्थरों की शिलाओं पर मिले हैं। इनमें से एक चित्र में एक गैंडे पर हमला करने वाले छः शिकारी दिखाये गये हैं। कुछ शिकारी सिर पर पंख लगाये हुए हैं। मध्य प्रदेश के रायगढ़ जिले में सिंघनपुर नामक ग्राम में भी इस प्रकार के कतिपय रंगीन चित्र वहाँ की चट्टानों पर अंकित किये हुए मिले हैं। उनमें तीन विभिन्न रंगों का प्रयोग किया गया है और मानव, पक्षी और सूअरों की आकृतियाँ बनाई गई हैं।[1]

समकालीन कला
(Contemporary Art)

भारतीय जनजातियों की समकालीन कला के विषय में हम इसकी विशेषता की विवेचना पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर संक्षेप में केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि समकालीन जनजातीय कला में मूर्तिकला, चित्रकला, मौखिक साहित्य, नृत्य, नाटक तथा संगीत सभी अपने पर्याप्त विकसित रूप में देखने को मिलता है। उनमें सामाजिक और धार्मिक स्वर ही अधिक मुखर है चाहे उनकी शैली कोई भी हो। अनेक सामाजिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के जनजातीय कलाकार मूर्ति बनाते हैं; चट्टानों दीवारों तथा औजारों आदि पर चित्रकारी करते हैं। मूर्तियों में तथा चित्रकारी में जिस प्रकार मनुष्यों की आकृतियां बनाई जाती हैं, इसी प्रकार गाय, हाथी, घोड़ा, सूअर, बन्दर तथा अन्य प्रकार के पक्षियों की आकृतियाँ तथा भूत व चुड़ैलों की शक्लें भी बनाई जाती हैं। जो लोग पूर्वजों की आत्मा पर विश्वास करते हैं, वे यह भी मानते हैं कि यह आत्मा एक विशेष स्थान पर निवास करती है। उस स्थान को भी कला की अनेक कृतियों द्वारा सजाने का प्रयत्न किया जाता है। टोटम का चित्र बनाना, शरीर पर उसके चित्र की गुदाई करना आदि भारतीय जनजातियों की कला को व्यक्त करने का एक और

---

1. Majumdar and Madan, *op. cit.*, p. 177.

तरीका है। कोरापुट के साओरा लोग अदृश्य जगत् का एक काल्पनिक चित्र देवताओं, भूतों और पूर्वजों के चित्र बनाकर प्रस्तुत करते हैं। मुरिया गोंड के लोग सिर पर सींग धारण करते हैं जिसे कि वे खूब सजाते हैं। कौड़ियों के अनेक प्रकार के अलंकार बनाना भी उन्हें आता है। नागा लोग अपने अस्त्रों पर विभिन्न प्रकार के चित्र बनाते हैं। उसी प्रकार अधिकतर जनजातियाँ युवागृह को भी कलात्मक ढंग से सजाने का प्रयत्न करती हैं। आदिवासियों में विवाह के गाने, नृत्य-गीत, मृत्यु-गान आदि भी होते हैं। संगीत, नृत्य, लोक-कथा और मौखिक साहित्य के विषय में हम अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

SELECTED READINGS

1. Beals and Hoijer : *An Introduction to Social Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959.

2. Boas, F. : *Primitive Art*, Dover Publications, New York, 1951.

3. Bunzel, R. : 'Art' in F. Boas, *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York, 1938.

4. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

5. Jacobs and Stern : *General Anthropology*, Barnes and Noble, New York, 1955.

6. Publication Division, *The Adivasis*, Delhi, 1960.

7. Read, H. : *Art and Society*, Faber and Faber, London, 1946.

15 संगीत तथा नृत्य (Music and Dance)

भूमिका—संगीत तथा नृत्य का महत्त्व
(Introduction—Importance of Music and Dance)

सौन्दर्य तथा आनन्द को उपभोग करने तथा उन्हे एक मूर्त्त रूप देने की चिरंतन अभिलाषा मानव में सदा से ही है। मानव अपने कष्टों को, दुख और दुर्दशा को उसी मे डुबो देना चाहता है, उसे भूल जाना चाहता है। संगीत के स्वर में या नृत्य की ताल में वह विभोर हो जाता है, सब कुछ भूल जाता है। संगीत तथा नृत्य मे मानव-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ व्यक्त है। इसी कारण संगीत तथा नृत्य की उत्पत्ति उसी दिन से है जिस दिन मानव ने हँसना और रोना सीखा है, विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से अपने मन को अभिव्यक्त करना जान लिया है।

आदिकालीन समाज मे तो संगीत तथा नृत्य का और भी अधिक महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजों में मानव का जीवन अति संघर्षपूर्ण है। उन्हे अपनी जीविका-पालन के हेतु कठोर परिश्रम करना पड़ता है। उस कठोर परिश्रम के दौरान में परिश्रम के भार को सहन करने के लिए तथा परिश्रम के बाद थकावट को भूलने के लिए संगीत तथा नृत्य का महत्त्व वास्तव मे अत्यधिक है। यह देखा गया है कि कठिन-से-कठिन काम के दौरान मे अगर नाचते-गाते हुए उस काम को किया जाय तो वह काम वास्तव मे बहुत सरल प्रतीत होने लगता है और काम करने वाले निरन्तर नये उत्साह को प्राप्त करते जाते हैं। हो सकता है इसलिए भी आदिमानव में काम करते-करते गाना गाने का एक रिवाज-सा देखने को मिलता है। आदिम समाजों मे ही नही बल्कि भारत के गाँवों मे भी स्त्रियाँ खेत में काम करते तथा चक्की मे कुछ पीसते समय बहुधा गीत गाती रहती हैं। उसी प्रकार नाव खेते हुए मल्लाहों का गीत विशेषत: बंगाल के लोक-गीत की एक अमूल्य सम्पदा है। साथ ही, संगीत तथा नृत्य का एक और महत्त्व यह है कि इसके द्वारा त्योहार, मेल-मिलाप, धार्मिक अनुष्ठान तथा मेले के अवसरों पर अपनी खुशियों को सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। इन अवसरों पर नाचने और गाने वालों के लिए जिस प्रकार संगीत व नृत्य अपने उल्लास को व्यक्त करने का एक उत्तम साधन बन जाता है, उसी प्रकार उन्हे देखने व सुनने वालों के लिए वे मनोरंजन का एक साधन हैं। इस प्रकार संगीत तथा नृत्य के कलाकार तथा दर्शक के बीच एक आत्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि सामाजिक नियंत्रण, संगठन व एकता सभी के लिए परम उपयोगी सिद्ध होता है।

जिस प्रकार खाने-पीने की समस्या मानव को व्याकुल करती है, उसी प्रकार सौन्दर्य और आनन्द का उपभोग करने के लिए भी वह छटपटाता है। यह सच है कि जीवन-धारण के लिए अर्थात् जीवित रहने के लिए खाने-पीने की चीजों की अत्यधिक आवश्यकता है, परन्तु यह भी सच है कि जीवित रहने के लिए केवल ये चीजें ही पर्याप्त नहीं हैं। खाने-पीने की चीजें तो 'शरीर' की खुराक हैं; शरीर की खुराक के अलावा भी मानव को अपने 'मन' की खुराक भी जुटानी पड़ती है।

संगीत
(Music)

संगीत की उत्पत्ति
(Origin of Music)

संगीत की उत्पत्ति मानव की उस अभिलाषा के फलस्वरूप हुई जिसके कारण वह सौन्दर्य तथा आनन्द को एक मूर्त रूप देना चाहता है। सौन्दर्य तथा आनन्द को कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके लिए सर्वप्रथम तो भाषा की आवश्यकता होती है। चूँकि पशुओं के पास भाषा नहीं है इस कारण उनमें संगीत का विकास भी नहीं हो पाता है। मानव अपने मन की भावना को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकता है और करता है। इस भाषा के साथ मन की भावना भी आवश्यक है। मन की भावना को जब छन्द रूप में प्रकट किया जाता है तब उसे कविता कहते हैं। कविता संगीत का [illegible] है जिससे कि सभी प्रकार संगीत को बनाता है। कविता को ही जब नियमानुसार [illegible]

गीत गाने के आधार पर समझा जा सकता है। ये स्त्रियाँ या मल्लाह गीत क्यों गाते हैं ? इसीलिए कि लगातार काम करते जाने पर जल्द ही थक जाने की सम्भावना होती है, परन्तु थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर गीत के स्वर पर जोर देने से उनके शरीर को नयी स्फूर्ति मिलती रहती है और वे अपने काम को सरलता से कर डालते हैं। श्री वुण्ट (Wundt) ने इसी सिद्धान्त को नृत्य के सम्बन्ध में भी लागू किया है। उनके अनुसार नृत्य में भी संगीत की भाँति ताल की आवश्यकता होती है जोकि थोड़े-थोडे समय के बाद शरीर की एक गति-विशेष पर जोर देने से उत्पन्न होती है। जोर इसीलिए दिया जाता है कि ऐसा करने पर शरीर का बोझ हल्का हो जाता है और काम सरलता से हो जाता है। परन्तु श्री बोआस (Boas) सर्वश्री बूचर तथा वुण्ट के मत से सहमत नहीं हैं।[1] उनका कथन है कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी रचना को सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। किसी भी रचना में अगर बीच-बीच में समान अन्तर दिया जाय तो वह सुन्दर दीखने लगती है। उदाहरणार्थ, अगर आप सुलेख लिख रहे हैं तो प्रत्येक अक्षर के बाद अगर आप समान फासला छोड़ते जाएँ तो वह लेख सुन्दर प्रतीत होगा। किसी चीज़ को सुन्दर बनाकर हमें प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता की अभिव्यक्ति ही ताल है। जब एक व्यक्ति नाचता या गाता है तो उसे अपनी उस रचना पर प्रसन्नता होती है और वह उस प्रसन्नता को उपभोग करने के लिए थोड़े-थोड़े समय बाद अपने स्वर या शरीर-गति पर जोर देता है या क्षण-भर के लिए रुक जाता है। यही संगीत या नृत्य का ताल है।

सुर (melody) के आधार पर ही संगीत श्रुति-मधुर होता है। इस सुर का मुख्य आधार गाने वाले का स्वर या आवाज है जिससे कि वह संगीत की कथाओं या गीत के शब्दों को अपने मुँह से निकालता है। स्वर के एक नियमित चढ़ाव-उतार से आनन्दप्रद या आकर्षक ध्वनि (tone) प्रस्तुत करना ही सुर की सृष्टि है। यह सुर-ताल से नियमित तथा नियंत्रित होता है; तभी संगीत बनता है। अर्थात् ताल और सुर के मेल से संगीत बनता है। सुर की उत्पत्ति आवेग या संवेग से होती है। एक परिस्थिति-विशेष में एक विशिष्ट प्रकार का संवेग मन में उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है जो कि या तो आनन्दप्रद व श्रुति-मधुर होती है या केवल आकर्षक। यह ध्वनि आनन्दप्रद होगी या और कुछ, यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। क्योंकि परिस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति में एक विशेष संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, एक धार्मिक अनुष्ठान में व्यक्ति के मुख से जिस प्रकार की ध्वनि निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि सामाजिक उत्सव में नहीं निकल सकती और जिस प्रकार की ध्वनि इस सामाजिक उत्सव में निकलेगी उस प्रकार की ध्वनि प्रेमिका के वियोग में कभी नहीं निकलेगी। वियोग-व्यथा से पीड़ित संगीत में भी सुर होता है और उल्लास में विभोर संगीत में भी सुर होता है। इस कारण सुर में केवल आनन्दप्रद या श्रुति-मधुर ध्वनि ही होगी, यह कहना गलत होगा। पर सुर श्रुति-कटु नहीं होता है; वह किसी-न-किसी रूप में आकर्षक अवश्य ही होता है।

---

1. For [illegible] please see Franz Boas, 'Literature, [illegible] and Dance', C[illegible] *[illegible]ogy*, D.C. Heath and Co., New York, [illegible] Chapter XII.

श्री कार्ल स्टम्फ (Carl Stumpf) का कहना है कि सुर की उत्पत्ति पहले-पहल क्रन्दन या रोने से हुई है। रोने में एक प्रकार की स्वाभाविक ध्वनि निकलती है। यह एक इस प्रकार की ध्वनि होती है जो कि सहज ही दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इसी अनुभव से सुर की सृष्टि मनुष्य ने की। विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आकर्षक ध्वनि की सहायता से गीत के शब्दों को कहना लोगों ने प्रारम्भ किया। यही संगीत है।

वाद्य-यंत्र (musical instruments) ताल-लय व सुर को नियंत्रित करने तथा संगीत को और भी आकर्षक बनाने के लिए व्यवहार में लाये जाते हैं। पहले-पहल इनका प्रयोग नहीं किया जाता था, कण्ठ से ही संगीत गाया जाता था। पर धीरे-धीरे नाना प्रकार के वाद्य-यंत्रों का आविष्कार और संगीत के क्षेत्र में प्रवेश होता गया। आदिम समाजों में आज भी गिने-चुने वाद्य-यंत्रों का प्रयोग होता है परन्तु आधुनिक समाजों में तो संगीत के साथ वाद्य-यंत्रों का मेल-सा बैठ जाता है। इसके विषय में कुछ विस्तार से लिखने का अवसर हमें आगे मिलेगा।

संगीत के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Music)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि संगीत के तीन आवश्यक तत्त्व हैं — ताल, सुर तथा वाद्य-यंत्र। आदिकालीन मानव के दृष्टिकोण से इन तीनों पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

पेशेवर गायक आदिवासियों में शायद ही होता है। उनके समाज में सभी को जीविका-पालन के हेतु सदा प्रयत्नशील बना रहना पड़ता है जिसके कारण संगीत का नियमित अभ्यास करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। इस कारण आदिवासियों के संगीत मे सुर में समता और नियमितता अधिक नही होती है। वे उच्च स्वर का प्रयोग अधिक करते हैं।

वर्तमान अंग्रेजी संगीत में अष्टक (octave) को बारह सम-भागों मे बांटा जाता है, परन्तु आदिवासियों मे इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही है। जावा की जन-जातियाँ अष्टक को पांच सम-भागों में और स्याम की जनजातियाँ इसे सात सम-भागों मे बांटती हैं। संगीत के लय तथा सुर की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए अनेक जन-जातियों में निरर्थक शब्दों को जोड़ दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे संगीत में त-न-न-न-न, अंग्रेजी में ला-ला-ला को संगीत मे सुर का पुट देने के लिए जोड़ा जाता है। जन-जातियों मे भी इस प्रकार के अनेक शब्दो को प्रयोग मे लाया जाता है।

(3) वाद्य-यंत्र (Musical Instrument)—संगीत का तीसरा आवश्यक तत्त्व वाद्य-यंत्र है। वाद्य-यंत्रो के दो प्रमुख कार्य होते हैं। प्रथम कार्य तो ताल व सुर को नियंत्रित और निर्देशित करना और दूसरा सुर को ही प्रकट करना है। वाद्य-यंत्र स्वयं ही सुर की सृष्टि करते हैं और गायक उससे कण्ठ मिलाकर गाता जाता है। यह भी हो सकता है कि गायक का कण्ठ जैसे ध्वनि या सुर को अभिव्यक्त करता है वैसे यंत्र भी सुर को प्रकट करने लगते हैं। अफ्रीका की कुछ जनजातियाँ ढोल से ऐसी ध्वनि निकालती हैं जो कण्ठ की ध्वनि का अनुकरण करती है। ताल देने के लिए भी वाद्य-यंत्र अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। जब तक तबला, ढोल, मृदंग आदि ताल देने के यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक ताली या भूमि पर पैर बजाकर इनसे ताल दी जाती थी।

वाद्य-यंत्रों को तीन भागो मे बांटा जा सकता है—डोरी, तांत या तार से बजने वाले वाद्य-यंत्र (stringed instruments), हवा से बजने वाले वाद्य-यंत्र (wind-instruments), और चोट लगाकर बजाये जाने वाले यंत्र (percussion instruments)। जनजातियों मे डोरी, तांत या तार से बजने वाले वाद्य-यंत्र जैसे तम्बूरा, सारगी, सितार, वीणा, वायलिन आदि न के समान पाये जाते हैं। तम्बूरा और सारगी जैसे वाद्य-यंत्र कतिपय भारतीय जनजातियों मे देखने को मिलते हैं। मुंह की हवा से बजने वाले वाद्य-यंत्रों जैसे बांसुरी, तुरही आदि का प्रचलन जनजातियों मे अपेक्षाकृत अधिक है। जन-जातियाँ लकड़ी, सींग, बांस, मिट्टी आदि नाना पदार्थ से इस प्रकार के वाद्य-यंत्रो को बनाती हैं। कतिपय जनजातियों मे नाक से बजने वाले यंत्र भी पाये जाते हैं। चोट देने से बजने वाले वाद्य-यंत्र जनजातियों मे बहुत अधिक संख्या मे पाये जाते हैं। इस प्रकार के यन्त्रों में ढोल, नगाड़ा और ढोलक बहुत लोकप्रिय हैं। घण्टा, घड़ियाल व घुंघरू को भी जनजातियाँ बहुत प्रयोग मे लाती हैं। अफ्रीका की कतिपय जनजातियो मे एक तरह का पियानो बजाया जाता है जिसे वे लोग जैंजा (Zanza) कहते हैं। इस यंत्र में भिन्न-भिन्न नापों की धातु की पट्टियाँ या बांस की धज्जियाँ इस प्रकार लगायी जाती हैं कि जब किसी पट्टी या ˆ को अंगूठे से दबाकर छोड़ दिया जाता है तो वह डोल ...

भारत के लोक-गीत
(Folk-Songs of India)

लोक-गीत की प्रकृति
(Nature of Folk-songs)

आदि-जगत् के लोगो को हम प्राय. 'जंगली' कहकर सम्बोधित करते है और यह आशा करते हैं कि उनका जीवन असभ्य तथा हिंसक प्रवृत्तियो से भरपूर होगा। परन्तु यह सत्य नही है। उनके हृदय मे भी अनेक कोमल भावनाएँ तथा विचारधाराएँ होती हैं; उनका हृदय और मस्तिष्क भी प्रेम, प्रीति, विरह, मिलन, आनन्द और आंसू से प्लावित होता है। हृदय की इन अनुभूतियों को सगीतमय करने की शैली उन तथाकथित जगलियों को भी मालूम होती है। यह सच है कि यह शैली सस्कृति के स्तर से सम्बन्धित है अर्थात् सस्कृति के क्रमिक विकास के साथ-साथ लोक-गीतों को प्रस्तुत करने की शैली मे भी उन्नति होती जाती है। आदि-सस्कृति के लोग सरल मनोभाव वाले होते हैं इस कारण उनका गीत को प्रस्तुत करने का ढग भी बहुत सरल होता है। साधारणतया वे अपने ही दैनिक जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना को गीत के विषय के रूप मे चुन लेते हैं और फिर उससे सम्बन्धित अपने मनोभाव को सरल ढग से व्यक्त करते हैं। यही लोक-गीत है। लोक-गीत की सबसे प्रमुख विशेषता स्वत स्फूर्तता तथा स्वाभाविकता है। वैसे भी संगीत का प्रमुख लक्ष्य लोकरजन है, जो इस लक्ष्य की सिद्धि मे अधिक सफल है, वही अधिक स्वाभाविक है। जो जितना स्वाभाविक है, वह उतना ही लोक-गीत के अन्तर्गत आता है। लोक-गीत के सम्बन्ध मे डा० दुबे ने उचित ही लिखा है कि "लोक-गीत स्वत.स्फूर्त प्राकृतिक काव्य का अग है। लोक-गीतों मे उनके रचयिता अथवा रचना-काल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नही होता; उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य मे रहता है। उनमे एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक-हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्ति-विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोक-गीत समुदाय की भावना के कही अधिक सच्चे प्रतीक होते है। काल और स्थान की सीमा को लांघ, लोक-गायकों और गायिकाओं के अधरो पर जीवित रहने वाले ये लोक-गीत अतीत की परम्परा को वर्तमान मे भी अशतः जीवित बनाये रखते हैं, समय के व्यवधान से लोक-गीतों के बाह्य स्वरूप मे तो परिवर्तन अवश्य होते हैं; किन्तु उनके मूल-भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहती हैं।"

लोक-गीत मे कविता की विशेषताएँ बहुधा नही होती। लोक-गीत मे छन्दो का मिलान नहीं होता। यह बात विशेष करके जनजातियों के लोक-गीतो के सम्बन्ध में अधिक सच है। भारतीय गाँवो में जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनमे काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में होती है। परन्तु जनजातियों के लोक-गीत के सम्बन्ध मे यह बात नहीं है। फिर भी सभी जनजातियों के सभी लोक-गीतों मे काव्यात्मक अभिव्यक्ति का पूर्णतया अभाव होता है, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू जनजाति के लोगो के गीत "प्रायः अस्पष्ट उद्गार ही होते हैं; उनमे काव्यात्मक अभिव्यक्ति का

अभाव रहता है।" आसाम की कोनयाक नागा तथा छत्तीसगढ़ की कमार जनजाति के गीतों के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है। परन्तु छोटा नागपुर के संथाल जनजातीय समूह के लोक-गीतों में कविता की विशेषताएँ भी मौजूद होती हैं।

लोक-गीत की परिभाषा
(Definition of Folk-songs)

उपरोक्त विवेचना से लोक-गीत की **प्रकृति तथा विशेषताएँ** बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती हैं। लोक-गीत के सम्बन्ध में श्री सामर ने लिखा है कि चूंकि लोक-संगीत का सृजन अनन्तकाल से होता आया है, इसका इतिहास बहुत पुराना और प्रचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिए इसकी अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होनी भी स्वाभाविक हैं। सच पूछिए तो जिस लोक-संगीत की परम्पराएँ ही नहीं होतीं, वह लोक-संगीत ही नहीं है। किसी व्यक्ति-विशेष का रचा हुआ गीत जब सामाजिक क्षेत्र में उतरकर समाज की धरोहर बन जाता है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व उस गीत से हट जाता है तथा समस्त समाज का व्यक्तित्व उस पर अंकित हो जाता है, तभी वह गीत लोक-गीतों की श्रेणी में आता है। श्री सामर ने आगे और लिखा है कि इन गीतों में भाषा तथा भाव की दृष्टि से क्षेत्रीय तथा जातीय विशेषताएँ अवश्य होती हैं, परन्तु इनकी आत्मा एक होती है और इनका व्यवहार लगभग एक ही प्रयोजन से होता है। ऐसे गीत चूंकि सामाजिक धरोहर होते हैं, इसलिए अधिकतर सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। लोक-गीतों में वैयक्तिक रूप से गाने की परम्परा लगभग नहीं के बराबर है।

लोक-गीत के प्रकार
(Kinds of Folk-songs)

लोक-गीत अनेक प्रकार के होते हैं जैसे सामान्य गीत, नृत्य-गीत, उत्सव-गीत, धार्मिक-गीत, स्त्रियों के गीत, भिखारियों के या 'बाउल'-गीत, विवाह व जन्म-गीत, आदि। श्री सामर ने भारतीय लोक-गीतों को निम्नलिखित छः भागों में बाँटा है—

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, तथा पर्व-समारोह आदि पर गाए जाने वाले गीत, (2) मनोविनोद तथा उमंग के समय गाये जाने वाले गीत, (3) धार्मिक तथा सांस्कारिक गीत, (4) भजन तथा कीर्तन के गीत, (5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाये जाने वाले गीत, और (6) व्यावसायिक गीत। इन विभिन्न प्रकार के लोक-गीतों का जो विवरण श्री सामर ने दिया है उसका संक्षिप्त-सार निम्नवत् है।

(1) उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व आदि में जो लोक-गीत गाये जाते हैं उनकी संख्या अनगिनत है। ये गीत प्राय: सभी जातियों, समुदायों तथा व्यक्तियों द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत चूंकि बड़े दायरे में बड़ी तादाद द्वारा तथा लम्बे समय तक गाये जाते हैं इसलिए इनकी स्वर-रचना सरल, शब्द-चयन छोटा और लय सादी तथा गतिशील होती है। ये गीत विशिष्ट त्योहारों, पर्वों तथा मांगलिक अवसरों के साथ सांस्कारिक रूप से ही जुड़े होते हैं। इनको गाये बिना वह पर्व या त्योहार अधूरा ही समझा जाता है। गीतों में विवाह के बधावे, द्वारचार, सम्बन्धियों की गालियां, फेरा या विदाई के क्षण

मूर्त हो उठते हैं। तीज, राखी, होली, आदि पर्वों तथा त्योहारों मे ये विशेषकर गाये जाते है।

(2) उमंग तथा मनोविनोद के समय गाये जाने वाले लोक-गीतों की पसन्द चूंकि मनुष्य के विशिष्ट हास-उल्लास के क्षणो पर अवलम्बित रहती है इसलिए इनका प्रचार-क्षेत्र बहुत लम्बा-चौड़ा नही होता और न इन्हे अधिक व्यापक रूप से गाया ही जाता है। चूंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से अधिक है, इसलिए इनका सांगीतिक पक्ष अधिक प्रबल होता है। इन गीतों मे कल्पना की उड़ानें अधिक और स्वरों की रचना राग की दृष्टि से बहुत ही मधुर होती है। राजस्थानी लोक-गीत मे इस श्रेणी के अन्तर्गत गोरबन्ध, पनिहारी, इण्डोणी, अलेची, पीपली, हिचकी, काजली, चौमासा, झूला, पोमचे, बादली, सपना, पादीना, आदि प्रमुख हैं।

(3) धार्मिक तथा सांस्कारिक लोक-गीत भी उत्सव, त्योहारों आदि पर गाये जाने वाले गीतो की तरह व्यापक और लोकप्रिय होते हैं। परन्तु इनके साथ देवी-देवताओं की पूजा-पाठ की विधियां, परम्पराएँ, विश्वास आदि जुड़े रहने के कारण ये गीत मन्त्र-तन्त्र आदि की तरह कुछ रूढिवादी हो गये हैं। किसी विशिष्ट धार्मिक क्रिया के समय ये गीत यदि नहीं गाये जाएँ तो अपशकुन-सा माना जाता है। ये गीत प्रचलित और व्यापक इसलिए हैं कि इनके साथ सैंकड़ों वर्षों की धार्मिक परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं।

(4) धार्मिक तथा सांस्कारिक लोक-गीतो की श्रेणी मे भजन तथा कीर्तन नही रखा गया है। इसका कारण, श्री सामर के अनुसार, यह है कि इनमें प्रकृति, रचना तथा व्यवहार की दृष्टि से काफी भिन्नता है। भजन-कीर्तनों मे कोई सकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा अन्धपरम्परा नही है। इसका प्रचार एव प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक है। इन गीतो मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्च भावनाएँ अंकित रहती हैं। इनका काव्य तथा सांगीतिक पक्ष भी उनसे अधिक मधुर होता है। इन गीतों का लय-पक्ष तो सभी लोक-गीतो से अधिक प्रबल होता है।

(5) नृत्य तथा नाटकों के साथ गाये जाने वाले लोक-गीत अनेक लोकप्रिय कथाओं के साथ जुड़े होने के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है। इन गीतों का साहित्यिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल होता है, तथा संगीत-पक्ष प्रबल।

(6) लोक-गीत की परिभाषा के अनुसार किसी भी लोक-गीत को व्यावसायिक नही होना चाहिए। यदि यह व्यावसायिक हो जाता है, तो उसका लोक-पक्ष निश्चय ही दुर्बल होता है। परन्तु कुछ सामाजिक कारणों से भारतवर्ष के विभिन्न भागों मे कुछ समूह ऐसे बन गये है, जिनका व्यवसाय ही नाच-गाकर अपनी आजीविका उपार्जन करना हो गया है। चूंकि गाना-बजाना तथा नाचना उनका व्यवसाय हो गया है, इसलिए उनमें थोड़ी-सी विशिष्टता तथा चमत्कारिता होना स्वाभाविक है। उनकी गायन-विधि में थोड़ा सा व्यावसायिक गुण यदि नहीं हो, तो उनके आश्रयदाता अथवा यजमान उनको कभी मांग ही न करें। ऐसे गीतों को गाने वाली अनेक जातियां राजस्थान में पाई जाती हैं। गीत ढोला, मिरासी, कामड़, लंगड़े, राव, भाट, ढाढी, भाट, भवाई आदि जातियों की धरोहर बन गये है जिनमे कला-पक्ष की दिन-प्रतिदिन वृ[illegible]

उनके गाने की शैली भी शास्त्रीय गीतों के ढंग की बनती जा रही है।

संक्षेप में, जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतों में होती है। लोक-गीत मानव-जीवन या सामूहिक जीवन के किसी विशेष पक्ष से नहीं वरन् प्राय: सभी पक्षों से सम्बन्धित होते हैं। लोक-गीतों के निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

लोक-गीत के उदाहरण
(Examples of Folk-songs)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लोक-गीत का विषय-क्षेत्र मानव का सम्पूर्ण जीवन है। इसकी अभिव्यक्ति कितने विभिन्न रूपों में हो सकती है, इसकी कुछ झलक हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

अंधेरी रात थी
धीरे-धीरे चन्द्रमा निकला,
प्रतीक्षा और कष्ट के बाद
घर पुत्र का जन्म हुआ,
गाओ भाई ! गाओ !
नाचो भाई ! नाचो !

उपरोक्त गीत मध्य प्रदेश के आदिवासियों का लोक-गीत है जो कि परिवार में पुत्र के जन्म होने के अवसर पर हृदय में उठने वाली सामान्य भावनाओं को सरल किन्तु सरस ढंग से व्यक्त करता है। यह गीत बच्चा उत्पन्न होने के ठीक बाद ही गाया जाता है। बच्चे का आगमन परिवार के लिए अनेक शुभ सम्भावनाओं को लेकर होता है। इस बच्चे के सम्बन्ध में उसकी विवाहिता बुआ का विशेष स्थान तथा महत्त्व होता है। इसलिए बच्चे के जन्म से सम्बन्धित लोक-गीत में बुआ का भी विशेष रूप से उल्लेख होता है, जैसे—

जीओ जीओ रे लाला
पेट में से बच्चा बोले
बुआ रे बुआ।

उसी प्रकार पारिवारिक जीवन के अन्य पक्षों को भी लोक-गीत अपने अन्दर समेट लेता है। उदाहरणार्थ, "जब तक माँ-बाप जीवित रहते हैं, अविवाहित लड़कियों को अपने भरण-पोषण के लिए विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती; किन्तु जब उन्हें अपने विवाहित भाइयों के साथ रहना पड़ता है तो ननद-भौजाई के झगड़े उठ खड़े होते हैं जिससे आपस में पर्याप्त कटुता बढ़ती है और सम्मिलित रूप से रहना दूभर हो जाता है। मुण्डा जनजातियों के सैंकड़ों लोक-गीतों में व्यस्का कुमारियों के कष्टों, भौजाइयों द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों और दुर्व्यवहारों तथा नवयुवकों की उनके प्रति उपेक्षा का विस्तृत [illegible] दिया गया है। कुमारियों द्वारा समस्त मुण्डा देश में गाये जाने वाले गीतों में [illegible] और सौत की डाह का उल्लेख आता है। लोक-गीत की निम्न पंक्तियों में यही

भाव व्यक्त किया गया है—

भौजाई की डाह,
सौतेली-माँ की डाह,
जब वह झगड़ती है तो बादल कांपते हैं,
पेट, पेट, मैं भूखी हूँ,
पानी, पानी, मैं प्यासी हूँ,
कहाँ, हे ! हिली (भाभी) पानी मिल सकता है ?
राजा के तालाब पर, रानी के तालाब पर
जा वहाँ मिलेगा।

भौजाई और सौतेली-माँ उसे एक बूंद पीने का पानी भी नहीं देतीं और उस कुमारी मुण्डा कन्या को प्यास बुझाने के लिए गाँव के तालाब का रास्ता दिखाती हैं।"

विवाह के पश्चात् बेटी की विदा एक और सामान्य पारिवारिक घटना है। इस अवसर पर अनेक तरह से गीत गाये जाते हैं जिनमे कि घर वालों या बेटी की हृदय-वेदना मूर्त्त हो उठती है। एक गुजराती गीत है—

अमे रे लीलुड़ा वननी चल कलड़ी
उड़ी जाशुं परदेश जी
आजा रे दादा जी ना देश मां,
काले जाशु परदेश जी।

इसका अर्थ यह है कि "मैं तो हरे-भरे वन की चिड़िया हूँ, उड़कर परदेश चली जाऊँगी। आज दादाजी के देश में हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।"

लोक-गीत में प्रेमिका अथवा प्रेमी के हृदय के उद्‌गारों को भी आकर्षक ढग से प्रस्तुत किया जाता है जो कि अपनी सरलता के कारण ही रोचक व मोहक हो जाता है। एक तामिल लोक-गीत का हिन्दी अनुवाद निम्नवत् है। सेलम के मेले के बाद जब एक युवक अपनी प्रेयसी से मिला तो कहने लगा—

जानती हो !
मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साड़ी तुम्हारे लिए।
अपने हाथों से
हाथों से पहनाऊँगा तुम्हें
दुलहन सजाऊँगा तुम्हे
अपने हाथों से।
तुम मेरी हो
तुम घर की रानी हो
रानी की तरह सजाऊंगा तुम्हे
दुलहन बनाऊंगा तुम्हें
अपने हाथो से।

मेले से लाया हूँ
लाया हूँ एक साड़ी तुम्हारे लिए।

लोक-गीत में प्रेम और परिहास, मिलन व विरह ही नहीं, वीर-रस भी मूर्त होता है, जैसे—

मेरा रंग दे केसरिया चोला रे
जिस चोले में रंग केसरिया भगतसिंह ने घोला रे,
मेरा रंग दे केसरिया चोला रे।

इतना ही नहीं, जैसा कि डा० दुबे ने लिखा है, "लोक-गीतों में कभी-कभी तत्त्व-ज्ञान की गम्भीरता से जीवन पर दृष्टिक्षेप करने के प्रयत्न भी मिलते हैं। एक छत्तीसगढ़ी लोक-गीत है —

जीयत जन्म लेवो,
हंसि लेवो खेल लेवो;
मरे ले दूलभ संसार !
जिनगी के नई है भरोसा !

अर्थात् "जन्म लिया है तो जी ले, हँस ले और खेल ले; मरने से संसार दुर्लभ हो जाएगा; जीवन का कोई भरोसा नहीं।"

भक्ति-मूलक लोक-गीत का एक सरल व सुन्दर रूप बंगाल का 'बाउल-गीत' है। बाउल (एक प्रकार का भिखारी) बंगाल के देहाती-पथ पर अपना एकतारा लेकर उदात्त मधुर कण्ठ से गाता हुआ सम्पूर्ण वातावरण को सरल संगीतमय करता फिरता है। अवसाद व दुविधा-वेदना से जीवन जब व्यर्थ, विकल, अर्थशून्य जान पड़ता है, तभी बाउल के कण्ठ से व्याकुल प्रार्थना ध्वनित होती है—

दीप मेरा चाहता तुम्हारी ही शिखा,
मौन वीणा मेरी ध्यान करती
तुम्हारी उंगलियों का ही स्पर्श;
तृष्णा से आतुर मेरा अन्धकार
ताराओं में ढूंढता संगसुधारस !

फिर भी भगवान् की ओर से जब कोई उत्तर नहीं मिलता है तब गम्भीर वेदना के आघात से आहत बाउल के रुद्ध कण्ठ से आवेग से छलछल गीत निकलता है—

जीवन भर ढूंढा
जीवन भर सोचा
कहाँ है मेरे वेदना का धन
विश्वभुवन में वह व्याप्त है
पर, जीवन में उसे नहीं पाया।

एक अज्ञात हताशा से गायक बाउल का प्राण हाहाकार कर उठता है; वह रोता, [illegible]कुल होकर केवल रोता जाता है। उसकी विरही आत्मा कहती है—

आ मिलो, अब तो आ मिलो
दीनबन्धु ! दीनानाथ।
तुम्हें ढूंढता-ढूंढता मैं थक गया हूँ
तुम्हारी राह ताकता-ताकता मैंने आँखें गँवा दिया है
अब तो आ मिलो निठुर
अब तो दर्शन दो ठाकुर !

लोक-गीत का महत्त्व
(Importance of Folk-song)

लोक-गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही मोहक होता है। इसमें अलंकार, छन्द, शब्द-चयन आदि का आडम्बर तो निश्चय ही नहीं होता है, परन्तु इसके माध्यम में जो लोक-परम्परा झांकती है उसकी तुलना शायद किसी से भी नहीं की जा सकती और इसीलिए लोक-गीत का महत्त्व भी असीम हो जाता है। लोक-गीत समाज की धरोहर ही नहीं, लोक-जीवन का दर्पण भी है। लोक-गीतों का अध्ययन करके हम समस्त समाज के व्यक्तित्व का, अर्थात् एक समाज-विशेष की विशिष्टताओं का परिचय पा सकते हैं। इन गीतों के साथ जन-मानस की आत्मा अंकित होती है और उन्हें बड़े रस के साथ लोग गाते हैं। उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह तथा पर्व-समारोह के अवसरों पर इनके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं। उसी प्रकार मनोविनोद तथा उमंग के समय गाये जाने वाले लोक-गीतों का अपना महत्त्व है। ये गीत विशिष्ट जनों के मनपसंद होते हैं और मौज, मजे, आनन्द, उल्लास और विनोद के क्षणों में तो गाये जाते ही हैं परन्तु ऋतुओं के सौन्दर्य के साथ भी इनका सौन्दर्य जुड़ा हुआ होता है जो कि मन को एक अनिर्वचनीय आनन्द और तृप्ति से भर देता है और जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने की अनन्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। उसी प्रकार धार्मिक तथा सांस्कारिक लोक-गीतों को लीजिए। "इन गीतों में मानव-जीवन के उच्च आदर्शों तथा भगवान् की अपार शक्ति की ओर संकेत होता है। सांस्कारिक गीतों से यदि मनुष्य की वंशपरम्परा और उसके जीवन की अत्यधिक चिन्ता व्यक्त होती है तो भजन-कीर्तनों में उसे इन चिन्ताओं से मुक्त करने की चेष्टा होती है। मनुष्य जब जीवन के संताप और उसकी सीमाओं से कुंठित हो जाता है, तो वह सांस्कारिक लोक-गीतों की शरण लेता है। परन्तु भजन-कीर्तनों में मनुष्य-जीवन का निराश पक्ष अवश्य प्रधान रहता है, फिर भी इनमें जीवन के संतापों से व्यथित तथा भयभीत होने की प्रेरणा नहीं है। भजन-कीर्तनों से मनुष्य को एक आध्यात्मिक आनन्द मिलता है और उसे जीवन के संतापों को झेलने की ताकत मिलती है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों में पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में अनेक निराशाओं का समावेश होने के कारण इन गीतों का महत्त्व और भी बढ़ गया है।"

अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोक-गीतों में जितनी मिलती है उतनी और किसी में नहीं। श्री

सच ही कहा है, "भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना कि लोक-गीत कर सकते हैं।" इसीलिए अगर हम भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों की विशेषताओं से परिचित होना चाहते हैं तो उनके लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है। लोक-गीतों के इस महत्त्व की अवहेलना सामाजिक मानवशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आम जनता की स्वाभाविक व्यवहार-प्रणाली किस भाँति है, उनकी प्रथा व परम्परा की अनिवार्य दिशा क्या है या रही है, उनके विश्वासों तथा विचारों की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, इन सब मानवशास्त्रीय विषयों का विश्लेषण तथा निरूपण लोक-गीतों के अध्ययन के बिना असम्भव है। डा० दुबे ने लिखा है, "वेद और स्मृतियाँ भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के सम्बन्ध में मौन हैं, लोक-गीत अंशतः उनके सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं। आर्येत्तर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोक-गीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अँधेरे पृष्ठों को भी लोक-गीत और लोक-कथाओं से यदा-कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक-गीत में किसी घटना का वर्णन होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी लोक-गीतों की दिशा-संकेत के आधार पर इतिहास-अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है।"

नृत्य
(Dance)

शरीर की गतियों द्वारा उत्पन्न 'सुन्दर अभिव्यक्ति' को नृत्य कहते हैं। यह गति हाथ, पैर, आँख, शरीर के किसी अन्य अंग या सारे शरीर की हो सकती है। परन्तु केवल हाथ-पैर हिलाने से ही वह नृत्य नहीं हो जाता है जब तक वह गति, ताल और लय के नियमों के अनुसार अर्थपूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हो। नृत्य में शरीर या उसके किसी अंग की प्रत्येक गति नृत्य देखने वाले तक एक विशिष्ट भाव को पहुंचा देती है। इसे नृत्य की 'मुद्रा' कहा जाता है। नृत्य की एक मुद्रा देखकर एक दर्शक कह सकता है कि उससे क्रोध का भाव अथवा उल्लास का भाव प्रगट हो रहा है।

नृत्य में शरीर की एक 'विशिष्ट' गति होती है। विशिष्ट इस अर्थ में कि नृत्य में शरीर की गति मनमाने ढंग से नहीं होती। इन गतियों में संगीत की भांति ताल (rhythm) होती है। यह ताल या तो केवल शरीर की गति द्वारा होती है या ढोल, तबला, मृदंग आदि किसी एक वाद्य-यंत्र या एकाधिक वाद्य-यंत्रों का स्वर इसके साथ मिला रहता है। नृत्य के साथ-साथ संगीत गाया जा सकता है और नहीं भी गाया जा सकता है। आधुनिक नृत्य में विशुद्ध शरीर-मुद्राओं द्वारा समस्त भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु फिल्मी नृत्यों में बहुधा नृत्य के साथ संगीत का भी समन्वय किया जाता है। आदिवासी लोग भी नाच और गाने दोनों को ही सुन्दर ढंग से मिला देते हैं।

नृत्य संसार के सभी देशों व हर काल में पाया जाता है। मानव जब उल्लसित हो उठता है तो वह अपने उल्लास को नाना प्रकार से प्रगट करना चाहता है। नृत्य भी उस उल्लास को प्रगट करने का एक साधन है। केवल उल्लास ही नही अन्य प्रकार के मनोभाव को भी नृत्य के माध्यम से प्रगट किया जा सकता है। आदिवासियो मे नृत्य की लोकप्रियता सभ्य समाज से कही अधिक है। वहां तो बच्चा-बच्चा नृत्य का शौकीन होता है। जनजातीय समाजों की परम्परा के अनुसार उनके प्रत्येक उत्सव, त्योहार, शादी-विवाह, पर्व-समारोह, मनोविनोद तथा उमंग के समय तथा धार्मिक एवं सांस्कारिक समारोह का नृत्य एक अनिवार्य अंग है। इसके बिना सभी आनन्द-क्षण फीके होते हैं।

जनजातीय समाजो मे उत्सव, त्योहार आदि के अवसर पर स्त्री-पुरुष सब मिलकर नाचते-गाते हैं। नाचते समय वे लोग प्राय: घेरा बनाकर नाचते है। दो पंक्तियों में आमने-सामने खड़े होकर भी नाचा जाता है। इन पंक्तियों में किसी-किसी समाज मे स्त्री-पुरुष मिल-जुलकर नाचते हैं। ऐसी दशा मे प्रत्येक पंक्ति में स्त्री और पुरुष दोनो ही होते हैं। पर किसी-किसी जनजातीय समाज में एक पंक्ति केवल पुरुषों की होती है और दूसरी केवल स्त्रियो की। जोड़े में नाचने की रीति भी अनेक जनजातीय समाजों मे लोकप्रिय है। अण्डमानी-लोगो में स्त्रियाँ नृत्य मे सम्मिलित नही होतीं। पॉलीनेशिया, अफ्रीका आदि में नाचते हुए घेरा बनाने की रीति है। वे लोग नाचते हुए बहुधा दो घेरे बना लेते हैं—*स्त्रियां अन्दर के घेरे मे और पुरुष बाहर के घेरे मे आ जाते हैं।*

वास्तव मे प्रत्येक जनजाति मे नृत्य का अपना-अपना तरीका होता है, फिर भी इन समाजो मे सामूहिक नृत्य का अधिक प्रचलन है। सामूहिक नृत्य भी अनेक प्रकार से किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पॉलीनेशिया के लोग बैठे-बैठे शरीर की गतियाँ करते हैं; उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन प्रत्येक ताल पर घुटने झुकाकर, हथेली सामने कर और शिरोभाग को कम्पन देते हुए नाचते है।[1] कहीं-कहीं पर एक-दूसरे की कमर पकड़कर नाचा जाता है और किसी-किसी समाज मे नाचने के दौरान में उछल-कूद का बोलबाला होता है।

जनजातियों मे 'अनुकरण-नृत्य' (mimetic dancing) का अधिक प्रचलन है। वे तरह-तरह के चेहरे लगाकर अपने को शिकारी, जादूगर, राजा अथवा कोई जानवर के रूप मे प्रस्तुत करते हैं और फिर उसी के अनुसार नृत्य करते हैं। अगर वह राजा के रूप मे अपने को प्रस्तुत करता है तो राजा के प्रमुख व्यवहारों की नकल वह करता है और नाचते हुए नाना-प्रकार की अंग-भंगिमा के द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अगर वह शिकारी के रूप मे नृत्य करता है तो वह नृत्य के द्वारा शिकार करने, शिकार फँसाने तथा उसे मारने की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत करता है। बुशमेन, आस्ट्रेलिया, कैलीफोर्निया तथा भारत की कुछ जनजातियाँ इस प्रकार के नृत्य में बहुत कुशल होती हैं।

1. *Ibid.*, p. 605.

भारत में लोक-नृत्य
(Folk-dance in India)

भारत के विभिन्न राज्यों में लोक-नृत्य के असंख्य रूप देखने को मिलते हैं। इनमें नृत्य-भंगिमा, छन्द, गीत, वाद्य-यंत्र व साज-पोशाक में जो विलक्षणता और अन्तर देखने को मिलता है उस आधार पर किसी भी राज्य या प्रदेश के लोक-नृत्य की श्रेष्ठता का विचार करना वास्तव में कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ, काठियावाड़ के रास-नृत्य की तुलना अगर उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के नागा सम्प्रदाय के नृत्यों के साथ की जाय तो हम यह देखेंगे कि इन दोनों प्रकार के नृत्यों में बहुत अधिक अन्तर है। साधारण दर्शक रास-नृत्य को ही अधिक उत्तम मान लेंगे परन्तु नागा लोगों के नृत्य में जो सहज और सरल छन्दमय एक माधुर्य है उसकी उपेक्षा भी शायद ही की जा सकती है। वास्तव में बाहरी भेद होते हुए भी सभी भारतीय लोक-नृत्यों की कुछ सामान्य **विशेषताएँ** हैं जिन्हें कि निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) अधिकतर भारतीय लोक-नृत्य दलबद्ध सामाजिक नृत्य हैं। ये नृत्य व्यावसायिक नृत्य नहीं हैं। व्यावसायिक-नृत्य में थोड़ा-बहुत चामत्कारिक या तड़क-भड़क होनी स्वाभाविक है, ताकि दर्शकों का ध्यान आकर्षित हो। लोक-नृत्य में यह नहीं होता। अन्य शिल्प-कलाओं की भाँति लोक-नृत्य का उद्देश्य भी समाज के सामूहिक जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। इस कारण इसका कलाकार नृत्य में अंश ग्रहण करता है दूसरों का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका-पालन करने के लिए नहीं बल्कि आत्म-सन्तोष तथा आत्म-विनोद के लिए।

(2) दलबद्ध लोक-नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। यह है एक साथ, एक छन्द में सबका नृत्य। इसीलिए नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र में बँध जाता है। नृत्य में जो लोग भाग लेते हैं वे विभिन्न आयु, विचार तथा मनोवृत्ति के आदमी होते हैं। परन्तु नाचने के समय मन तथा शरीर की ये सब भिन्नताएँ स्वतः ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद-भाव को भूलकर एक तन और एक मन होकर नृत्य में भाग लेते हैं। एकता का वातावरण लोक-नृत्य की ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की एक अमूल्य सम्पदा है क्योंकि सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(3) छन्द की गति लोक-नृत्य की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है। नृत्य का प्रारम्भ किसी भी लय से क्यों न हो, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे छन्द की गति बढ़ती रहती है। किन्तु यह परिवर्तन इतने सहज व स्वाभाविक ढंग से होता है कि नृत्य में भाग लेने वाले लोग उसे अनुभव ही नहीं करते। द्रुत छन्द की गति के समय नाचने वालों को काफी शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है परन्तु उस समय वे लोग नृत्य के आनन्द-सागर में इस भाँति डूबे रहते हैं कि शारीरिक परिश्रम का प्रश्न ही उनके मन में नहीं उठता है। छन्द की गति बढ़ने का भी यही कारण है। लोगों में धीरे-धीरे आनन्द की धारा जोश के रूप में एकत्रित होती रहती है जिसकी बाहरी अभिव्यक्ति छन्द की गति में वृद्धि

के रूप में होती है। नृत्य का उन्मादक आनन्द नाचने वाले के छन्द मे गति ला देता है जो कि धीरे-धीरे बढता ही चला जाता है। भरपूर आनन्द मे शिल्पी झूमता रहता है। लोक-नृत्य की यही सार्थकता है।

(4) भारतवर्ष का अधिकतर लोक-नृत्य गीत तथा ताल देने वाले वाद्य-यंत्रों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। और केवल ताल देने वाले वाद्य-यंत्र (जैसे, ढोल, ढोलक, मृदंग आदि) ही नही, बल्कि अन्य प्रकार के वाद्य-यन्त्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, तुरही आदि का भी सम्मिलन बहुधा होता है। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य होते हैं जिनमें कि किसी भी प्रकार के वाद्य-यंत्र का प्रयोग नही किया जाता; केवल नाचने वाले मुँह से या ताली बजाकर ताल देते रहते हैं। भिन्न-भिन्न तरह के नृत्यों के साथ अलग-अलग तरह के गीत गाये जाते हैं। इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन गीतों के भाव के साथ दलबद्ध लोक-नृत्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् गीत के शब्दों से जो अर्थ प्रगट होता था उसी अर्थ को नृत्य की मुद्राओं या अंग-भंगिमाओ के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न नही किया जाता।

(5) लोक-नृत्य में प्रयोग की जाने वाली पोशाक में जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएँ अवश्य ही होती हैं। ऐसे भी भारत के प्रत्येक प्रदेश मे वेश-भूषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। नृत्य के समय भी शिल्पी अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश-भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप में पहनते हैं। नृत्य के समय शिल्पी अपनी सामर्थ्य के अनुसार नाना रंग की तथा नाना प्रकार की बेल-बूटेदार वेश-भूषा को व्यवहार करते हैं। ये पोशाकें दैनिक जीवन में नही पहनी जाती।

(6) भारतीय लोक-नृत्य बहुधा गोल घेरा बनाकर नाचा जाता है; परन्तु कभी-कभी एक या एकाधिक पंक्ति बनाकर भी नाचा जाता है।

(7) लोक-नृत्य के साथ जो लोग वाद्य-यंत्रों को बजाते हैं वे आधुनिक नृत्य में बाजा बजाने वालों की भाँति एक कोने में या पर्दे की ओट मे बैठकर वाद्य-यंत्र को नही बजाया करते। उनका इससे कहीं अधिक सक्रिय भाग नृत्य में होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नृत्य मे वे एक अभिन्न अंग के रूप मे क्रियाशील रहते हैं। वे नाचने वालों के बीच, सामने, बगल या उनके चारो ओर उपस्थित रहकर वाद्य-यंत्रों को बजाते हुए अपने शरीर के विभिन्न अंगों को प्राय. उसी प्रकार हिलाते रहते हैं जैसा कि नाचने वाले कर रहे हैं।

उपरोक्त विशेषताओं को और भी स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण के रूप मे हम 'कुमायूँ के उल्लासमय लोक-नृत्य'[1] का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

कुमायूँ के लोक-नृत्य—कुमायूँ के लोक-नृत्य भी अपने ढंग के निराले ही हैं। इन लोक-नृत्यों मे कुमायूँ के जन-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ अभिव्यक्त है। साधारण त्योहार, मेल-मिलाप और मेले के अवसरों पर कुमायूँ के युवक और युवतियाँ मिल-जुलकर अपने लोक-नृत्यों मे मस्त दिखाई देते हैं।

1. Exclusively based on Shree Umashanker Satish's article in 'Dharmyug', July 12, 1959, p. 25.

भारत में लोक-नृत्य
(Folk-dance in India)

भारत के विभिन्न राज्यों में लोक-नृत्य के असंख्य रूप देखने को मिलते हैं। इनमें नृत्य-भंगिमा, छन्द, गीत, वाद्य-यंत्र व साज-पोशाक में जो विलक्षणता और अन्तर देखने को मिलता है उस आधार पर किसी भी राज्य या प्रदेश के लोक-नृत्य की श्रेष्ठता का विचार करना वास्तव में कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ, काठियावाड़ के रास-नृत्य की तुलना अगर उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के नागा सम्प्रदाय के नृत्यों के साथ की जाय तो हम यह देखेंगे कि इन दोनों प्रकार के नृत्यों में बहुत अधिक अन्तर है। साधारण दर्शक रास-नृत्य को ही अधिक उत्तम मान लेंगे परन्तु नागा लोगों के नृत्य में जो सहज और सरल छन्दमय एक माधुर्य है उसकी उपेक्षा भी शायद ही की जा सकती है। वास्तव में बाहरी भेद होते हुए भी सभी भारतीय लोक-नृत्यों की कुछ सामान्य **विशेषताएँ** हैं जिन्हें कि निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) अधिकतर भारतीय लोक-नृत्य दलबद्ध सामाजिक नृत्य हैं। ये नृत्य व्यावसायिक नृत्य नहीं हैं। व्यावसायिक-नृत्य में थोड़ा-बहुत चामत्कारिक या तड़क-भड़क होनी स्वाभाविक है, ताकि दर्शकों का ध्यान आकर्षित हो। लोक-नृत्य में यह नहीं होता। अन्य शिल्प-कलाओं की भाँति लोक-नृत्य का उद्देश्य भी समाज के सामूहिक जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। इस कारण इसका कलाकार नृत्य में अंश ग्रहण करता है दूसरों का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका-पालन करने के लिए नहीं बल्कि आत्म-सन्तोष तथा आत्म-विनोद के लिए।

(2) दलबद्ध लोक-नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। यह है एक साथ, एक छन्द में सबका नृत्य। इसीलिए नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र में बँध जाता है। नृत्य में जो लोग भाग लेते हैं वे विभिन्न आयु, विचार तथा मनोवृत्ति के आदमी होते हैं। परन्तु नाचने के समय मन तथा शरीर की ये सब भिन्नताएँ स्वतः ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद-भाव को भूलकर एक तन और एक मन होकर नृत्य में भाग लेते हैं। एकता का वातावरण लोक-नृत्य की ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की एक अमूल्य सम्पदा है क्योंकि सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(3) छन्द की गति लोक-नृत्य की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है। नृत्य का प्रारम्भ किसी भी लय से क्यों न हो, परन्तु उसके बाद धीरे-धीरे छन्द की गति बढ़ती रहती है। किन्तु यह परिवर्तन इतने सहज व स्वाभाविक ढंग से होता है कि नृत्य में भाग लेने वाले लोग उसे अनुभव ही नहीं करते। द्रुत छन्द की गति के समय नाचने वालों को काफी शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है परन्तु उस समय वे लोग नृत्य के आनन्द-सागर में इस भाँति डूबे रहते हैं कि शारीरिक परिश्रम का प्रश्न ही उनके मन में नहीं उठता है। छन्द की गति बढ़ने का भी यही कारण है। लोगों में धीरे-धीरे आनन्द की धारा जोश के रूप में एकत्रित होती रहती है जिसकी बाहरी अभिव्यक्ति छन्द की गति में वृद्धि

के रूप में होती है। नृत्य का उन्मादक आनन्द नाचने वाले के छन्द में गति ला देता है जो कि धीरे-धीरे बढ़ता ही चला जाता है। भरपूर आनन्द में शिल्पी झूमता रहता है। लोक-नृत्य की यही सार्थकता है।

(4) भारतवर्ष का अधिकतर लोक-नृत्य गीत तथा ताल देने वाले वाद्य-यंत्रों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। और केवल ताल देने वाले वाद्य-यंत्र (जैसे, ढोल, ढोलक, मृदंग आदि) ही नहीं, बल्कि अन्य प्रकार के वाद्य-यंत्र, जैसे बाँसुरी, शहनाई, तुरही आदि का भी सम्मिलन बहुधा होता है। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य होते हैं जिनमे कि किसी भी प्रकार के वाद्य-यंत्र का प्रयोग नही किया जाता; केवल नाचने वाले मुंह से या ताली बजाकर ताल देते रहते हैं। भिन्न-भिन्न तरह के नृत्यों के साथ अलग-अलग तरह के गीत गाये जाते हैं। इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन गीतो के भाव के साथ दलबद्ध लोक-नृत्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् गीत के शब्दों से जो अर्थ प्रगट होता था उसी अर्थ को नृत्य की मुद्राओं या अग-भंगिमाओ के माध्यम से प्रकाशित करने का प्रयत्न नही किया जाता।

(5) लोक-नृत्य में प्रयोग की जाने वाली पोशाक मे जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएँ अवश्य ही होती हैं। ऐसे भी भारत के प्रत्येक प्रदेश मे वेश-भूषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। नृत्य के समय भी शिल्पी अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश-भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप मे पहनते हैं। नृत्य के समय शिल्पी अपनी सामर्थ्य के अनुसार नाना रंग की तथा नाना प्रकार की बेल-बूटेदार वेश-भूषा को व्यवहार करते हैं। ये पोशाकें दैनिक जीवन में नही पहनी जाती।

(6) भारतीय लोक-नृत्य बहुघा गोल घेरा बनाकर नाचा जाता है; परन्तु कभी-कभी एक या एकाधिक पक्ति बनाकर भी नाचा जाता है।

(7) लोक-नृत्य के साथ जो लोग वाद्य-यंत्रों को बजाते हैं वे आधुनिक नृत्य में बाजा बजाने वालों की भाँति एक कोने मे या पर्दे की ओट मे बैठकर वाद्य-यंत्र को नही बजाया करते। उनका इससे कही अधिक सक्रिय भाग नृत्य मे होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नृत्य मे वे एक अभिन्न अंग के रूप मे क्रियाशील रहते हैं। वे नाचने वालों के बीच, सामने, बगल या उनके चारों ओर उपस्थित रहकर वाद्य-यंत्रों को बजाते हुए अपने शरीर के विभिन्न अंगों को प्रायः उसी प्रकार हिलाते रहते हैं जैसा कि नाचने वाले कर रहे हैं।

उपरोक्त विशेषताओं को और भी स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण के रूप में हम 'कुमायूं के उल्लासमय लोक-नृत्य'[1] का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

कुमायूं के लोक-नृत्य—*कुमायूं के लोक-नृत्य भी अपने ढंग के निराले ही हैं।* इन लोक-नृत्यो में कुमायूं के जन-जीवन का हास-उल्लास सभी कुछ अभिव्यक्त है। साधारण त्योहार, मेल-मिलाप और मेले के अवसरों पर कुमायूं के युवक और युवतियाँ मिल-जुलकर अपने लोक-नृत्यों में मस्त दिखाई देते हैं।

1. Exclusively based on Shree Umashanker Satish's article in 'Dharmyug', July 12, 1959, p. 25.

SELECTED READINGS

1. Boas and Others : *General Anthropology*, D. C. Heath & Co., New York, 1938.

2. Dubey, S. C. : *Manava aur Sanskriti*, Raj Kamal Prakashan Delhi, 1960.

3. Herskovits, M. J. : *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956.

कुमायूँ के लोक-नृत्यों में 'चांचरी' और 'छपेली' अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और यही यहाँ के लोकप्रिय नृत्य माने जाते हैं। 'चांचरी' लोक-नृत्य सर्वाधिक लोकप्रिय है। एक वृत्ताकार मण्डल में स्त्री-पुरुष एकत्र होकर चांचरी नृत्य शुरू करते हैं। इसमें भाग लेने वाले नाना रंग की वेश-भूषा तथा नाना प्रकार के आभूषणों से अपने को सजाकर आते हैं। ऊँचे पर्वतों की गोद में मस्त छिटकी हुई चाँदनी के मोहक प्रकाश में कुमायूँ के तरुण और तरुणियाँ भी चांचरी नृत्य करते हुए मस्ती में झूम उठते हैं। अपना हुड़का (एक प्रकार का छोटा ढोलक जैसा बाजा) लेकर हुड़किया वृत्त के बीच में हुड़का बजाता हुआ, गीत के अलाप लेता हुआ, स्वयं भी नाचता है; और उसकी हुड़की की ताल के साथ-साथ वृत्त में बाजू-से-बाजू मिलाये हुए स्त्री-पुरुष गीत गाते हुए मस्ती से नाचते और झूमते रहते हैं।

दो तारों से बना हुआ 'दोतारा' कितना मधुर संगीत देता है। चांचरी नृत्य के साथ गाये जाने वाला गीत भी यही कहता है—

दो तारी को तार तिलका दो तारी को तार,
ऊनी रौ यो दिनमाशा हो उन रौं बहार।

अर्थात् मेरा-तेरा मिलन उस जीवन-संगीत की सर्जना करेगा जिसकी सर्जना दोतारे का संगीत करता है। यह दिन और यह मास इसी प्रकार आते रहें और आती रहे ऐसी ही वहार भी।

इस प्रकार की गीत की लड़ियों के साथ चांचरी नृत्य चलता रहता है। हुड़किया वदलते हैं, गायक वदलते हैं—आराम लेते हैं और नये-नये कलाकार नाचने के हेतु वृत्त में प्रवेश करते हैं। घेरे कभी-कभी दो वन बाते हैं—स्त्रियाँ अन्दर के घेरे में और पुरुष वाहर के घेरे में आ जाते हैं। चाँदनी बेचारी थककर सो जाती है, पर चांचली में चंचल चरण मानो रुकना ही नहीं जानते।

कुमायूँ का दूसरा लोकप्रिय नृत्य 'छपेली' है। हुड़किया अपनी हुड़की के लिए, अपनी आकर्षक वेश-भूपा में नाचता है और कुमायूँ की रूपसी अपने रंग-बिरंगे घाघरा और सदरी, मोतियों की माला, सोने-चांदी के जेवरों से लदी हुई और शीश-रूमाल के साथ युवक के नयनों से कटाक्ष करती हुई झूम-झूमकर नाचती है। एक ओर मस्ती से गाते, तालियाँ वजाते तरुण-तरुणियाँ खड़े दोनों का नृत्य देखते रहते हैं। गीत और उसके भाव इस प्रकार हैं—

वेडु पाको वारमाशा हो नारैण काफल पाको चैता मेरी छैला।
खड़ा-भूड़ा दिन आया हो नारैण पूजा मेरा मैता मेरी छैला।
तेरा खूटा कानो वूड़ो हो नारैण मेरा खोटा पीड़ा मेरी छैला।
मेरो हियो भरी ऊंछ हो नारैण जसो नैनीताल मेरी छैला।

अर्थात् गूलर बारह महीने पकता रहता है; और काफल केवल चैत में ही। समय चूक गया तो फिर हाथ नहीं आता। लो, गर्मी के उदासीन दिन भी लौट आये। मायके की स्मृति में रूपसी का हृदय भर आता है जैसे नैनीताल का ताल; और तब प्रेमी प्रेम-भरे स्वरों में कहता है, ओह! मेरी छैला, उस पहाड़ की चोटी पर तुम कौन हो, भोर के तारे के समान आओ, शान्ति के प्रीति-गीत गायें।

SELECTED READINGS

1. Boas and Others : *General Anthropology*, D. C Heath & Co., New York, 1938.

2. Dubey, S. C. : *Manava aur Sanskriti*, Raj Kamal Prakashan Delhi, 1960.

3. Herskovits, M. J. : *Man and His Works*, Alfred A. Knopf, New York, 1956.

16 पौराणिक कथाएँ तथा लोक-गाथाएँ (Mythology and Folk-Tales)

'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव धरती को छोड़कर स्वर्ग या नरक तक घूम आता है, आकाश की सैर करता है। कल्पना की लम्बी उड़ान उसे कहीं भी ले जा सकती है और एक वैचित्र्यपूर्ण नव-लोक की सृष्टि कर सकती है। सौन्दर्य-वृद्धि और सौन्दर्य-सृष्टि दोनों के लिए ही कुछ-न-कुछ कल्पना की आवश्यकता होती है और ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव में नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती हैं और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, पौराणिक कथा तथा लोक-गाथा के रूप में होती है। पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में कल्पना की सहायता सर्वाधिक ली जाती है और उससे एक कथा, गाथा या कहानी खड़ी की जाती है जिसे कि दूसरों को सुनाकर अपनी कल्पना को सार्थक किया जाता है। डा० दुबे ने लिखा है कि "मानवीय कलाओं में कहानी कहने की कला अत्यन्त प्राचीन है। लेखक के आविष्कार के सहस्रों वर्ष पूर्व ही मानवीय मस्तिष्क ने अपनी वैचित्र्यपूर्ण अनुभूतियों को कथा का रूप देना आरम्भ कर दिया था, और इन कहानियों के माध्यम से उसके अपरिपक्व, अस्पष्ट जीवन-दर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।

पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं में अन्तर (Distinction between Myths and Folk-tales)

श्री बोआस (Boas) का मत है कि पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना प्राय: असम्भव है। इसका कारण यह है कि एक ही कहानी पौराणिक कथा और लोक-गाथा दोनों ही रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है। अगर हम पौराणिक कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) से सम्बन्धित मानें तो भी कठिनाई यह है कि लोक-गाथाओं का सम्बन्ध भी प्राकृतिक घटनाओं से हो या नहीं हो सकता है। धार्मिक आधारों पर भी इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों में ही धर्म के तत्त्व मौजूद हो सकते हैं।[1] फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम इन दोनों में निम्नलिखित भेद को आधार मान सकते हैं—

पहला अन्तर तो यह है कि पौराणिक कथा प्राचीन काल से ही अधिकतर सम्बन्धित होती है जबकि लोक-गाथाएँ अधिक-से-अधिक 'बहुत दिन पहले की बात' होती हैं।

---

1. Franz Boas, 'Mythology and Flolkore', *General Anthropology*, D.C. Heath and Co., New York, 1938, p. 609.

दूसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु में सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन, प्राकृतिक घटनाओं (natural phenomena) जैसे जल, पृथ्वी, आकाश, वायु आदि के रहस्यों का विश्लेषण तथा निरूपण होता है। इसके विपरीत लोक-गाथाओं की विषय-वस्तु मानव स्वयं—या तो सुख-दुख का साधारण मानव या राजा, रानी, राजकुमार और राजकुमारी के रूप में मानव—होता है। बहुधा मानव को छोड़-कर लोक-गाथाएँ अपने अन्दर भूत, प्रेत, चुड़ैल, दानव आदि को भी समेट लेती हैं। तीसरा अन्तर यह है कि पौराणिक कथाओं का उद्देश्य सृष्टि, प्रकृति या देवी-देवताओं से सम्बन्धित गहन तत्त्वों की गहराई में जाने का प्रयत्न करना और उनके रहस्यों को उद्‌घाटित करके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ज्ञान-वर्धन करना होता है। पौराणिक कथाओं में धार्मिक हितोपदेश के तत्त्व भी कभी-कभी छिपे होते हैं। इसके विपरीत लोक-गाथाओं का उद्देश्य मुख्यतः मन बहलाना या मनोरंजन करना ही होता है, यद्यपि इनके माध्यम से भी किसी-न-किसी प्रकार के उपदेश, आदर्श या सामाजिक मूल्य को प्रस्तुत करने का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रयत्न किया जाता है।

पौराणिक कथा
(Mythology)

पौराणिक कथा का अर्थ
(Meaning of Mythology)

उपरोक्त विवेचना से ही पौराणिक कथा की प्रकृति तथा अर्थ बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया है। यहाँ पर संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पौराणिक युग से सम्ब-न्धित वे कथाएँ, जिनमें सृष्टि या संसार की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन और प्राकृतिक घटनाओं के तत्त्वों का निरूपण हो उन्हें पौराणिक कथाएँ कहते है। एक विद्वान ने पौराणिक कथा को 'बालक-सुलभ दर्शन' कहकर परिभाषित किया है। कुछ लोगों का मत है कि केवल उन कथाओं को ही पौराणिक कथाओं के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिए जिनके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का वर्णन किया जाय। परन्तु पौराणिक कथाओं का वह एक संकुचित अर्थ होगा। इन कथाओं में केवल सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का ही वर्णन नहीं होता, वरन् अन्य अनेक दैवीय घटनाओं का वर्णन भी होता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की जनजातियाँ अपने पूर्वजों के भूत-प्रेतों के साथ युद्ध, जादू-गरनियों और डायनों के साथ उनकी मुठभेड़ आदि के सम्बन्ध में भी अनेक दैवीय घटनाओं का उल्लेख पौराणिक कथाओं में करती हैं। उसी प्रकार कोरयक (Koryak) जनजाति के पुजारी की दुष्ट प्रेतात्मा के साथ हाथापाई या ईसाइयों के सन्त-महन्तों का शैतान के साथ युद्ध का जो वर्णन मिलता है, वे सभी पौराणिक कथाएँ हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि वे कथाएँ जो कि मानव तथा विश्व की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत, मानव-शरीर, जीवन तथा संस्थाओं से सम्बन्धित हैं, उन्हें पौराणिक कथा कहते हैं।

पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति
(Origin of Mythology)

अज्ञात के विषय में जानने की इच्छा मानव की एक निरन्तर इच्छा है जो कि शायद उतनी ही पुरानी है जितना कि स्वयं मानव और उसका समाज। आदिमानव अपने को देखता है, अपने आस-पास के 'जगत्' को देखता है, प्रकृति की अनेक घटनाएँ—जल, पृथ्वी, वायु, आकाश, नदी, समुद्र, पहाड़, आँधी, वर्षा आदि को देखता और चकित होता है। ये सब कब बने, कैसे बने और किसने बनाये— ऐसे ही अनेक प्रश्न आदिमानव के मन और मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार आघात कर जाते हैं और उसे इन विषयों पर सोचने-विचारने के लिए बाध्य करते हैं। आदिमानव सोचता है और सोचकर अपनी योग्यता व अनुभव के अनुसार वह एक सम्भावित उत्तर ढूंढ़ भी निकालता है और उसे दूसरों को कहकर सुनाता है। यहीं से पौराणिक कथा का बीजारोपण होता है। चूंकि मानव को हर चीज की व्याख्या के लिए किसी-न-किसी आधार की आवश्यकता होती है, इसलिए वह कभी देव-देवी को, तो कभी साधु-सन्त को, तो कभी सूर्य-चन्द्र या पशु-पक्षी को व्यक्ति के रूप में मानकर अपनी कथा को विश्वासयोग्य बनाने का प्रयत्न करता है। इसी रूप में मानव अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही नहीं, वल्कि अपनी आशा, आकांक्षा, आदर्श तथा इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का भी एक साधन ढूंढ़ लेता है। यहीं से पौराणिक कथाओं का इतिहास प्रारम्भ होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि पौराणिक कथा केवल कल्पना की लघु उड़ान मात्र (light play of imagination) है। परन्तु ऐसा नहीं है। श्री बोआस (Boas) का कथन है कि पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु का महत्त्व तथा जिस गम्भीरता से इस विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है उसे देखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि पौराणिक कथाएँ संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, सांस्कृतिक कृतियों तथा पवित्र संस्कारों के सम्बन्ध में मानव के सुचिन्तन का ही परिणाम है।[1]

श्री हैडले के अनुसार, "वस्तुओं की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पना-शक्ति ने समय-समय पर जो उत्तर दिया है, पौराणिक कथाएँ उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।" लार्ड रेगलेन ने इस विचार का विरोध करते हुए लिखा है कि श्री हैडले का यह कहना गलत है कि पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति केवल कल्पना व कौतूहल के फल-स्वरूप हुई है। वास्तव में पौराणिक कथाएँ वस्तु-स्थिति का यथार्थ चित्र हैं क्योंकि आदि-मानव को ऐसी किसी वस्तु में रुचि नहीं होती जो उसकी चेतना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभा-वित न करती हो। इस कारण, लार्ड रेगलेन के अनुसार, पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति में कौतूहल को आधार मानना अनुचित है क्योंकि कौतूहल का न केवल आदिकालीन समाज में सर्वथा अभाव है, वरन् वह अपेक्षाकृत सभ्य समाजों में भी बहुत कम पाया

1. "The importance of the subject-matter and the seriousness with which they are treated suggest that they are the result of thought about the origin of the world and of wonder about cultural achievements and the meaning of sacred rites."—*Ibid.*, p. 616.

जाता है। लार्ड रेगलेन के इस मत से ये सभी विद्वान असहमत हैं जिन्हें आदि समाजों और आदिवासियों को अधिक निकट से देखने तथा जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin) ने लार्ड रेगलेन के उपरोक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है, "मैं केवल यही कल्पना कर सकता हूँ कि आदिवासियों के सम्बन्ध मे लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना कि किसी अज्ञात कुत्ते का पशुओ के एक झुण्ड के विषय मे होता है। व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी प्राय. कभी भी उतने जड़ नही होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होते है। कौतूहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमे से अनेक अपना बहुत-सा समय अतिशय असाधारण विचारों और कल्पनाओ मे व्यतीत करते हैं।"

अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति, प्राकृतिक जगत् की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं तथा मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के सम्बन्ध मे जिज्ञासा आदिमानव के मन मे होती है जिसके फलस्वरूप वह उन विषयो के सम्बन्ध मे सोचता-विचारता या कल्पना करता है और अपने अनुभव या पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। पौराणिक कथाओ की उत्पत्ति का यही आधार है।

पौराणिक कथाओं की विशेषताएँ
(Characteristics of Mythology)

(1) व्यक्तिकरण (Personification)—पौराणिक कथाओं की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमे पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, यहाँ तक कि पेड़-पौधे तक को व्यक्ति का रूप दे दिया जाता है और इसीलिए पौराणिक कथाओ मे पेड़-पौधे से लेकर पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र तक सभी व्यक्ति की भाँति व्यवहार कर सकते हैं, बोल सकते हैं, यहाँ तक कि मानव-शिशु को भी जन्म दे सकते हैं। कुछ विद्वान इसका कारण यह बताते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पेड़ आदि की शक्ति से आदिमानव बहुत ज्यादा प्रभावित था। इन्हें व्यक्ति के रूप मे मान लेने से कथा कहने मे भी सरलता होती थी।

(2) कल्पना और दर्शन का मिश्रण—पौराणिक कथाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमे कल्पना और दर्शन का एक अपूर्व मिश्रण होता है। आदिमानव किसी विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचता है। परन्तु इस सोचने की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण उसे कल्पना की सहायता लेनी ही पड़ती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि पौराणिक कथाओं को कोरी कल्पना की उड़ान मान लिया जाय। वास्तव मे, सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति, गुण आदि गम्भीर विषय हैं। इनके विषय मे मानव को सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नहीं मिल सकता जब तक वह उनके विषय मे गम्भीर चिन्तन न करे। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि मानव दार्शनिक के रूप मे, कल्पना की सहायता लेते हुए, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों के सम्बन्ध मे जिस निष्कर्ष पर आता है वही पौराणिक कथाओ के रूप में विकसित हुआ है।

(3) प्राचीनता—पौराणिक कथा वर्तमान युग की कथा नहीं होती है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक काल से ही होता है। प्रायः पौराणिक कथा एक ऐसे

देती है।" इस अर्थ मे सामाजिक निरन्तरता को बनाये रखने के लिए आवश्यक सामाजिक अन्तःक्रियाओं मे जो-जो चीजें महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं, उनमे पौराणिक कथाएँ भी एक हैं। पौराणिक कथाओं के माध्यम से मानव अपने समाज के अतीत (past) की झाकी देखता है और उस 'आदर्श रूप' को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न करता है।

(ग) व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी पौराणिक कथाओं का महत्त्व कम नही है। यद्यपि इन कथाओं को मनोरंजन का साधन मात्र ही मानना उचित न होगा, फिर भी इन कथाओं को सुनते समय इन पर विश्वास करने वाले सासारिक कष्ट को भूल जाते हैं और सब भूलकर एक आनन्द का अनुभव करते हैं—कभी हँसते हैं तो कभी भक्ति और आनन्द में विभोर होकर रो पडते हैं। जीवन के संघर्ष मे रत मानव इन कथाओं मे बहुत-कुछ देखता और पाता है। मानव-जीवन मे इनका अपना एक महत्त्व है। विपदाओं के समय मे मनुष्य कोई सहारा चाहता है। पौराणिक कथाएँ युगो से उसे सहारा देती आयी हैं और मानव को मानसिक सतोष प्राप्त हो सका है।

(घ) सामाजिक दृष्टि से पौराणिक कथाओ का एक महत्त्वपूर्ण कार्य मानव के व्यवहार को नियमित व निर्देशित करके सामाजिक नियन्त्रण मे योगदान करना है। अनेक पौराणिक कथाओं को लोग सामान्य कहानी या किस्सा कदापि नही मानते, बल्कि उनका दृढ विश्वास होता है कि वे कथाएँ बीते हुए युगो की वास्तविक व सत्य घटनाएँ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मानव-मस्तिष्क पर उन कथाओं का गहरा तथा निश्चित प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव मानव को स्वाभाविक ढग से अपने वश मे कर लेता है। फलतः ये कथाएँ बहुत सीमा तक मानव-व्यवहार की दशा को निर्धारित करती है और मानव अपने जीवन को पौराणिक कथाओ में प्रस्तुत आदर्शों के अनुरूप निश्चित करता है। सामाजिक नियन्त्रण का काम पौराणिक कथाएँ बहुत सरलता से इस कारण भी कर सकती हैं क्योंकि इन कथाओ मे लोक-समुदाय का धार्मिक विश्वास तथा जादू-टोने का तत्त्व भी बहुधा स्पष्ट रूप से सम्मिलित होता है। धार्मिक क्रियाओ से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण इन कथाओ का प्रभाव व्यक्ति पर और भी गहरा तथा वास्तविक होता है। सामाजिक नियन्त्रण मे, या व्यक्ति के व्यवहार को नियमित तथा नियन्त्रित करने मे इन सब तत्त्वों का अत्यधिक महत्त्व होता है।

(ङ) मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ये पौराणिक कथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनका अध्ययन करके हम एक समाज की परम्परा, आदर्श व सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ अनुमान कर सकते हैं। लोक-मस्तिष्क की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति व गुण के विषय मे भी स्पष्ट ज्ञान हमे पौराणिक कथाओ के माध्यम से हो सकता है। पौराणिक कथाओं के अध्ययन से आदि-मस्तिष्क की साहसपूर्ण कल्पना का भी आभास हमें हो सकता है।

पौराणिक कथाओं के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Mythology)

पौराणिक कथाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। परन्तु डा०

प्रमुख भागों में बाँटा है—(1) मानव तथा विश्व की उत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ, (2) प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित, (3) मानव-शरीर तथा जीवन से सम्बन्धित और (4) मानवीय संस्थानों से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ। इनमें से प्रत्येक प्रकार की पौराणिक कथाओं के एक-दो उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा बाइबल की है और वह यह कि मानव की सृष्टि करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम परमात्मा ने मिट्टी का पुतला बनाया और उसमें फूंक मार दी तो जिन्दा इन्सान पैदा हो गया। फिर परमात्मा ने उसकी पसली की एक हड्डी को लेकर स्त्री को बनाया। उसी प्रकार कैथोलिक धर्म में प्रचलित एक कथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग में ज्ञान के वृक्ष के फलों को खा लिया था। इस अपराध के दण्डस्वरूप ईश्वर ने उन दोनों का स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ा। उनको बहिष्कार करते समय ईश्वर ने उन्हें वह दण्ड दिया कि अब से ईव और उसकी कन्याएँ कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी और आदम व उसके पुत्रों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमानी होगी।

विभिन्न मानव-प्रजातियों का जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में अति रोचक पौराणिक कथा ग्रेट स्मोकी पहाड़ के चेरोकी इण्डियनों में प्रचलित है। इस कथा के अनुसार सृष्टि के निर्माता ने एक तन्दूर गर्म किया, आटा साना और इस सने आटे की तीन मूर्तियाँ बनायीं। इन्हें पकाकर मनुष्य बनाने के लिए उस सृष्टिकर्त्ता ने इन तीनों मूर्तियों को तन्दूर की आग में रख दिया। उसे यह जानने की बड़ी उत्सुकता थी कि उसका बनाया हुआ मनुष्य कैसा होगा। उसी उत्सुकता के कारण सृष्टिकर्ता ने झट से एक मूर्ति को बाहर निकाल लिया। मनुष्य की यह मूर्ति अधपकी थी। इस कारण इसका रंग सफेद था। परन्तु अब उसे फिर आग में रखा भी नहीं जा सकता था क्योंकि तन्दूर में से निकालते ही वह जीवित हो गई थी। इससे श्वेत प्रजाति की उत्पत्ति हुई। परन्तु सृष्टिकर्ता इससे संतुष्ट न हुआ। इसके कुछ बाद उसने दूसरी मूर्ति को निकाला। यह पक चुकी थी, इस कारण इसका रंग लाल था। इस मूर्ति से रेड इण्डियन (Red Indian) लोगों की उत्पत्ति हुई। अपनी इस अति सुन्दर सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्त्ता आनन्द में इतना विभोर हो गया कि वह भूल गया कि तन्दूर में अभी एक मूर्ति और पड़ी है। पर जब वह मूर्ति जलने लगी और उसमें धुआं निकलने लगा तो सृष्टिकर्ता का ध्यान उस पर गया। उसने झट उस मूर्ति को तन्दूर में से निकाला। पर तब तक वह मूर्ति जलकर काली हो चुकी थी। इससे नीग्रो प्रजाति का जन्म हुआ।

कमार जनजाति में पृथ्वी की उत्पत्ति व निर्माण के सम्बन्ध में एक रोचक पौरा-णिक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक बार महादेवजी ने इस संसार को नये तौर पर बनाने के लिए सब-कुछ का विनाश करने का निश्चय किया। एक बुढ़ा को इस बात का पता चला। वह भागकर पति के पास गई और उससे सब-कुछ कहा। पति भागकर जंगल गया और एक विशाल नौका बनायी। इस नाव में उसने खाने-पीने का सामान भर दिया और फिर उसने अपने लड़के और लड़की को उस नाव के एक कमरे में बन्द कर दिया। इसके बाद बिजली, वर्षा और तूफान ने पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

जब महादेवजी का यह विनाशकारी रूप शान्त हुआ, तब पृथ्वी का रूप भी बदल चुका था। एक भी प्राणी जीवित न बचा था। चारों तरफ पानी-ही-पानी भरा था। उसके बीच केवल वह भाई-बहन की नाव तैर रही थी। इसके बाद महादेवजी ने अपने विश्वस्त सहचर बलिया को फिर से सृष्टि-निर्माण के लिए पृथ्वी और मनुष्य का बीज ढूंढ़ने के लिए भेजा। उन्हें किश्ती में ये भाई-बहन मिले। बलिया ने यह संवाद महादेवजी को आकर दिया। फिर महादेवजी ने केकड़े को आज्ञा दी कि वह शीघ्र ही धरती का बीज खोजकर लाये। समुद्रतल से वह एक केंचुआ लाया, जिसकी दाढ़ को दुहकर धरती का बीज निकाला गया। इससे महादेवजी ने पृथ्वी का निर्माण किया। पृथ्वी तो बन गई, पर अभी तक आकाश नहीं बना था। महादेवजी ने चार कोनों में चार विशाल खम्भों का निर्माण किया; और उस पर काली गुरही गाय का चमड़ा इस तरह लगाया कि वह पूरी तरह पृथ्वी को ढक ले। यह चमड़ा फिर भी कुछ ढीला-ढाला-सा लग रहा था। इसे कसा हुआ और स्थायी बनाने के लिए महादेवजी ने उसे विभिन्न प्रकार की कीलों से जड़ दिया। आकाश उसी काली गाय का चर्म है और तारे हैं वही कीलें। इस प्रकार पृथ्वी-आकाश तारों आदि का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् मनुष्य को बनाने के लिए उस नाव पर के भाई-बहन को लाया गया। महादेवजी ने इन भाई-बहनों में यौन-सम्बन्ध स्थापित करवाने के लिए कई चालें चलीं, अन्त में वे इनका यौन-सम्बन्ध कराने में सफल हुए। प्रातःकाल उस कन्या ने अपने-आपको गर्भवती पाया। गर्भ में बच्चा बनने की जिस क्रिया में सामान्यतः नौ माह का समय लगता है, वह नौ कदम चलने में ही पूरा हो गया। कन्या थोड़े ही समय में सहस्रों पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर मर गई। महादेव और पार्वती के आश्रय में शिशु पलने लगे। इसके बाद महादेवजी ने नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, यन्त्र-उपकरण आदि बनाये, फिर उन्हें नदी में बहा दिया। जिन्हें हल मिला वे खेती करने वाले गोंड या दूसरी जनजाति हो गये। करघा पाने वाला कोष्टी हुआ। नाई को उस्तरा मिला। इस प्रकार प्रत्येक जनजाति को जीवन-धारण के लिए आवश्यक उपकरण मिल गये। एक व्यक्ति को केवल खीरा की टोकरी मिली। वह धूल में पड़ा रो रहा था। महादेव-जी ने उसे धनुष-बाण देकर कहा, "तुम जंगल में शिकार करो, तुम्हारी स्त्रियाँ बाँस के बर्तन बना सकती हैं।" इसी से कमार जनजाति की उत्पत्ति हुई।

प्राकृतिक जगत् की विभिन्न चीजों के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न जनजातीय समाजों में अनेक पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं। आकाश के सम्बन्ध में कुछ गोंडों में निम्न कथा प्रचलित है : "पहले आकाश बहुत नीचा था। एक बुढ़िया रोज सवेरे के समय अपने घर का आंगन झाड़ती थी। एक दिन जब वह आंगन साफ कर रही थी तो उसकी पीठ आकाश से टकरा गई। बुढ़िया ने नाराज होकर उसी झाड़ू से आकाश को ठेलना शुरू किया। आकाश बुढ़िया से डरकर भागा और भागकर वहाँ तक गया जहाँ आज वह है।"

अनेक जनजातियों में टोटम, निषेध (taboo) आदि सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित अनेक पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं। श्री राय (Roy) ने अपने अध्य[illegible] ओरांव जनजाति के कुजुर कुल के टोटम के सम्बन्ध में प्रचलित पौराणि[illegible] किया है। कहा जाता है कि एक ओरांव कुजुर के पेड़ के नीचे सो गया।

टहनियों ने उसके शरीर के चारों ओर लिपटकर उसकी रक्षा की। परिणामस्वरूप उस मनुष्य ने कुजुर के पौधों को अपना टोटम स्वीकार किया और अब उसके वंशज कुजुर कुल के कहलाते हैं। ऐसी टोटम-सम्बन्धी एक और पौराणिक कथा तमटियाओं में प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक तमटिया स्त्री नदी पर पानी भरने गई। घर पर कोई उस बच्चे की देखभाल करने वाला न था। माँ ने नहाकर नदी से अपना घड़ा भरा और उसे सिर पर रखकर घर लौटी। वहाँ उसने आश्चर्यचकित होकर देखा कि एक काला साँप बच्चे के सिर पर अपना फन फैलाये उसकी रक्षा कर रहा था। माँ को देखकर साँप धीरे-से खिसक गया। इस बच्चे के समस्त वंशज अब नाग को ही अपना टोटम मानते हैं।

लोक-गाथाएँ
(Folk-tales)

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है, 'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव बहुत-कुछ सोचता और कहता आया है। लोक-गाथाएँ या लोक-कथाएँ इसी का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप हैं। और भी स्पष्ट रूप में, लोक-कथाएँ 'मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क की वैचित्र्यपूर्ण स्वप्न सृष्टि' हैं। अर्थात् लोक-कथा में कल्पना का तत्त्व (element of imaginatian) अधिक होता है, वास्तविक बहुत कम। इसकी विषय-वस्तु की कोई सीमा नहीं है। लोक-कथा हमारे आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बन्धित हो सकती है और ऐसी भी लोक-कथाएँ हो सकती हैं जिनका कि इनमें से किसी से कोई सम्बन्ध न हो।

लोक-गाथाओं की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
(Origin and Characteristics of Folk-tales)

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने उचित ही लिखा है कि लोक-गाथाओं की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई, इस विषय पर सम्भवतः कोई सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।[1] श्री बोआस का मत है कि लोक-कथाएँ दैनन्दिन जीवन के अनुभवों के आधार पर कल्पना की उड़ानों का परिणाम हैं।[2] लोक-कथाओं के विश्लेषण से इसी बात का पता चलता है कि लोक-कथाओं के अन्तर्गत प्रायः ऐसी सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कुछ भी मानव-जीवन व समाज में घटित होती हैं। ये घटनाएँ ही लोक-कथाओं का आधार होती हैं। इसे आधार मानकर जब मानव अपनी कल्पना द्वारा एक नवीन घटना को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है तो वही लोक-कथा बन जाती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि मानव ऐसा करता ही क्यों है ? इसका उत्तर भी सरल है। मानव के मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसका मस्तिष्क प्रारम्भिक काल से ही कल्पनाशील है। इस कल्पनाशील मस्तिष्क को अपनी खूराक चाहिए। यह खूराक मानव को

1. *Ibid.*, p. 417.
2. Franz Boas, *op. cit.*, p. 610.

जुटानी पड़ती है और तभी मस्तिष्क रोचक कुछ रचता है। तभी लोक-कथा की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य में अनेक इच्छाएँ, आशाएँ या अभिलाषाएँ अज्ञात मन या मस्तिष्क में दबी हुई होती हैं। वास्तविक जीवन में इन इच्छाओं व आशाओं की पूर्ति सम्भव नहीं होती है। तब मनुष्य कल्पित नायक और नायिका की शरण लेता है और उनके माध्यम से अपनी उन इच्छाओं और आशाओं को अभिव्यक्त करता है एवं उन नायक-नायिका के जीवन में उन इच्छाओं की पूर्ति करवा देता है। कभी-कभी समाज में ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं जिनमे कि मानव अपनी उन अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होते देखता है। बस, उसी घटना को लेकर उस पर कल्पना की तूलिका से रग भरकर वह एक कथा को तैयार करता है जो कि अपनी रोचकता के कारण लोक-कथा हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि लोक-कथा और साहित्यिक कहानी-किस्सों मे अन्तर है और वह इस अर्थ में कि लोक-कथाओं का समाज मे कहानी-किस्सों से कहीं अधिक प्रचलन या लोकप्रियता होती है। लोक-कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों में इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी सस्कृति का एक आवश्यक अग हो जाती हैं। आदि समाज मे जहाँ किताब या छपी हुई पत्रिकाओ का प्रचलन नही है या जिन समाजों में लोग लिखना नही जानते हैं वहाँ भी मौखिक रूप से एक से दो, दो से चार और इसी भाँति पूरे समाज में इन लोक-कथाओ का प्रचलन हो जाता है; लोग इन्हे बड़े चाव से सुनते और याद रखते हैं।

लोक-कथाओं की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लोक-कथाओं मे भी पशु-पक्षी, वायु, सूर्य आदि को व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इनको व्यक्ति मानने के कारण वे भी मनुष्य की भाँति बात कर सकते हैं, दौड़ सकते हैं और अन्य प्रकार से भी व्यवहार कर सकते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि इससे लोक कथा कहने वाला अपने भावों को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है और साथ ही, कथा की रोचकता भी बढ़ जाती है। हाथी को बन्दर से बातचीत करते सुनकर हम स्वतः ही कथा कहने वाले की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

(ख) लोक-कथाओं को प्रस्तुत करने की शैली साधारणतः सरल और स्वाभाविक होती है। इसका कारण यह है कि लोक-कथाओ के नाम को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अधिक-से-अधिक लोग—बच्चों से बूढ़े तक सहज ही समझ सकें। सरल और स्वाभाविक शैली का यह अर्थ नही है कि उसमे साहित्यिक सौंदर्य का एकदम अभाव ही होता है। बहुत-सी लोक-कथाओं मे साहित्यिक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में होता है, पर ऐसी भी लोक-कथाएँ होती हैं जिनमे साहित्यिक सौन्दर्य का नितान्त अभा होता है।

(ग) लोक-कथाएँ जिस समाज में पनपती हैं, उस समाज की संस्कृति-विशे का प्रभाव उन कथाओं पर स्पष्ट होता है। एक-संस्कृति विशेष में कुछ विशिष्ट प्रका की लोक-कथाओ का प्रचलन होता है। साथ ही, इन लोक-कथाओं में एक सम्कृनि दूसरी संस्कृति मे फैलने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता एक लोक-कथा एकाधिक संस्कृतियों द्वारा प्रभावित हो सकती है।

टहनियों ने उसके शरीर के चारों ओर लिपटकर उसकी रक्षा की। परिणामस्वरूप उस मनुष्य ने कुजुर के पौधों को अपना टोटम स्वीकार किया और अब उसके वंशज कुजुर कुल के कहलाते हैं। ऐसी टोटम-सम्बन्धी एक और पौराणिक कथा तमटियाओं में प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है—एक तमटिया स्त्री नदी पर पानी भरने गई। घर पर कोई उस बच्चे की देखभाल करने वाला न था। माँ ने नहाकर नदी से अपना घड़ा भरा और उसे सिर पर रखकर घर लौटी। वहाँ उसने आश्चर्यचकित होकर देखा कि एक काला साँप बच्चे के सिर पर अपना फन फैलाये उसकी रक्षा कर रहा था। माँ को देखकर साँप धीरे-से खिसक गया। इस बच्चे के समस्त वंशज अब नाग को ही अपना टोटम मानते हैं।

लोक-गाथाएँ
(Folk-tales)

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है, 'कल्पना' मानव का आदि-सहचर है। कल्पना की सहायता से आदिकाल से ही मानव बहुत-कुछ सोचता और कहता आया है। लोक-गाथाएँ या लोक-कथाएँ इसी का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप हैं। और भी स्पष्ट रूप में, लोक-कथाएँ 'मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क की वैचित्र्यपूर्ण स्वप्न सृष्टि' हैं। अर्थात् लोक-कथा में कल्पना का तत्त्व (element of imaginatian) अधिक होता है, वास्तविक बहुत कम। इसकी विषय-वस्तु की कोई सीमा नहीं है। लोक-कथा हमारे आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बन्धित हो सकती है और ऐसी भी लोक-कथाएँ हो सकती हैं जिनका कि इनमें से किसी से कोई सम्बन्ध न हो।

लोक-गाथाओं की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
(Origin and Characteristics of Folk-tales)

श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने उचित ही लिखा है कि लोक-गाथाओं की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई, इस विषय पर सम्भवत: कोई सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।[1] श्री बोआस का मत है कि लोक-कथाएँ दैनन्दिन जीवन के अनुभवों के आधार पर कल्पना की उड़ानों का परिणाम हैं।[2] लोक-कथाओं के विश्लेषण से इसी बात का पता चलता है कि लोक-कथाओं के अन्तर्गत प्राय: ऐसी सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कुछ भी मानव-जीवन व समाज में घटित होती हैं। ये घटनाएँ ही लोक-कथाओं का आधार होती हैं। इसे आधार मानकर जब मानव अपनी कल्पना द्वारा एक नवीन घटना को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है तो वही लोक-कथा बन जाती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि मानव ऐसा करता ही क्यों है ? इसका उत्तर भी सरल है। मानव के मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसका मस्तिष्क प्रारम्भिक काल से ही कल्पना-शील है। इस कल्पनाशील मस्तिष्क को अपनी खूराक चाहिए। यह खूराक मानव को

1. *Ibid.*, p. 417.
2. Franz Boas, *op. cit.*, p. 610.

जुटानी पड़ती है और तभी मस्तिष्क रोचक बुद्ध रखता है। तभी लोक-कथा की उत्पत्ति होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य में अनेक इच्छाएँ, आशाएँ या अभिलाषाएँ अज्ञात मन या मस्तिष्क में दबी हुई होती हैं। वास्तविक जीवन में इन इच्छाओं व आशाओं की पूर्ति सम्भव नहीं होती है। तब मनुष्य कल्पित नायक और नायिका की शरण लेता है और उनके माध्यम से अपनी उन इच्छाओं और आशाओं को अभिव्यक्त करता है एवं उन नायक-नायिका के जीवन में उन इच्छाओं की पूर्ति करवा देता है। कभी-कभी समाज में ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं जिनमें कि मानव अपनी उन अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होते देखता है। बस, उसी घटना को लेकर उस पर कल्पना की तूलिका से रंग भरकर वह एक कथा को तैयार करता है जो कि अपनी रोचकता के कारण लोक-कथा हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि लोक-कथा और साहित्यिक कहानी-किस्सों में अन्तर है और वह इस अर्थ में कि लोक-कथाओं का समाज में कहानी-किस्सों में कहीं अधिक प्रचलन या लोकप्रियता होती है। लोक-कथाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों में इस प्रकार फैल जाती हैं कि वे उनकी संस्कृति का एक आवश्यक अंग हो जाती हैं। आदि समाज में जहाँ किताब या छपी हुई पत्रिकाओं का प्रचलन नहीं है या जिन समाजों में लोग लिखना नहीं जानते हैं वहाँ भी मौखिक रूप से एक से दो, दो से चार और इसी भाँति पूरे समाज में इन लोक-कथाओं का प्रचलन हो जाता है; लोग इन्हें बड़े चाव से सुनते और याद रखते हैं।

लोक-कथाओं की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लोक-कथाओं में भी पशु-पक्षी, वायु, सूर्य आदि को व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इनको व्यक्ति मानने के कारण वे भी मनुष्य की भाँति बात कर सकते हैं, दौड़ सकते हैं और अन्य प्रकार से भी व्यवहार कर सकते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि इससे लोक कथा कहने वाला अपने भावों को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है और साथ ही, कथा की रोचकता भी बढ़ जाती है। हाथी को बन्दर से बातचीत करते सुनकर हम स्वतः ही कथा कहने वाले की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

(ख) लोक-कथाओं को प्रस्तुत करने की शैली साधारणतः सरल और स्वाभाविक होती है। इसका कारण यह है कि लोक-कथाओं के नाम को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अधिक-से-अधिक लोग—बच्चों से बूढ़े तक सहज ही समझ सकें। सरल और स्वाभाविक शैली का यह अर्थ नहीं है कि उसमें साहित्यिक सौंदर्य का एकदम अभाव ही होता है। बहुत-सी लोक-कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में होता है, पर ऐसी भी लोक-कथाएँ होती हैं जिनमें साहित्यिक सौन्दर्य का नितान्त अभाव होता है।

(ग) लोक-कथाएँ जिस समाज में पनपती हैं, उस समाज की संस्कृति-विशेष का प्रभाव उन कथाओं पर स्पष्ट होता है। एक-संस्कृति विशेष में कुछ विशिष्ट प्रकार की लोक-कथाओं का प्रचलन होता है। साथ ही, इन लोक-कथाओं में एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में फैलने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक लोक-कथा एकाधिक संस्कृतियों द्वारा प्रभावित हो सकती है जिससे कि उसके मूल

रूप में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि उससे उसकी मूल संस्कृति का कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं हो सकता है।

(घ) लोक-कथा की विशेषता का उल्लेख करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि वे "शिशुवत् मस्तिष्कों द्वारा रचित लघु उपन्यासों के समान होती हैं।" उनमें कथा के तीन तत्त्वों—चरित्र, घटना तथा कथानक—का समावेश होता है। ये तीनों तत्त्व वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी; मनुष्य भी हो सकते हैं और चूहा, बिल्ली व हाथी भी। साथ ही, इन कथाओं में हँसी-मजाक, आनन्द-अश्रु, विरह-मिलन, प्रेम-प्रीति, घृणा-द्वेष, कलह-क्लेष, भय-आतंक, रोमांच आदि सब-कुछ होता है या हो सकता है।

(ङ) लोक-कथाओं के प्रचलन की कोई निश्चित सीमा या क्षेत्र नहीं होता है। अनेक लोक-कथाएँ ऐसी हैं जो कि संसार की प्रत्येक भाषा तथा संस्कृति में प्रचलित हैं, यद्यपि प्रत्येक समाज में इनका थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। साथ ही, ऐसी भी अनेक लोक-कथाएँ हैं जिनका प्रचलन सीमित क्षेत्रों में ही पाया जाता है।

(च) लोक-कथाओं में जादू का तत्त्व भी आश्चर्यजनक रूप में मिला होता है। जादू का उड़नखटोला अनेक लोक-कथाओं की एक प्रमुख विषय-वस्तु होती है। उसी प्रकार रस्सी से साँप बनना, मनुष्य का पशु रूप धारण करना, जादू के दर्पण में संसार का दर्शन होना आदि लोक-कथाओं की रोचक सामग्री है। इतना ही नहीं डायन, भूत-प्रेत, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी आदि का उल्लेख भी लोक-कथाओं में बहुत ज्यादा मिलता है, विशेषत: भारतीय लोक-कथाओं में।

लोक-कथाओं का महत्त्व
(Importance of Folk-tales)

(1) लोक-कथाओं का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इनके द्वारा श्रोताओं का मनोरंजन होता है। दिन-भर के नीरस जीवन में लोक-कथाएँ रस का आस्वादन करवाती हैं। केवल इतना ही नहीं, इनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ज्ञान की भी वृद्धि होती है।

(2) लोक-कथाओं के माध्यम से लोग अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत-सी नयी बातों को सीखते हैं। जनजातीय समाजों में लोक-कथाएँ तो बच्चों को शिक्षा देने का सर्वमान्य साधन हैं। इन समाजों में लोक-गाथाओं के माध्यम से युवागृह में युवक-युवतियों को जनजातीय अनुशासन, सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाती है। अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यों का परिणाम आदि के विषय में भी कथाओं द्वारा सदस्यों को बताया जाता है।

(3) अत: स्पष्ट है कि लोक-कथाएँ सामाजिक नियन्त्रण में भी सहायक सिद्ध होती हैं क्योंकि इन कथाओं का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर, विशेषकर बच्चों पर बहुत ज़्यादा पड़ता है और वे लोग कथाओं में प्रस्तुत आदर्शों का अनुसरण करते हैं।

(4) लोक-कथाओं का एक और महत्त्व यह है कि इनके अध्ययन से हमें जन-जातीय समाजों के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्री हर्षकॉविट्स (Herskovits) ने लिखा है कि श्री बोआस ने प्रशान्त महासागर के उत्तर-

पूर्व में बसने वाले मिमिमयन इण्डियन समूह की केवल लोक-कथाओं का अध्ययन व विश्लेषण करके ही उक्त जनजाति के सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास, अर्थ-व्यवस्था निर्माण-कला तथा भौतिक संस्कृति के अन्य पक्षों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।[1]

लोक-गाथाओं के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Folk-tales)

डा० मजूमदार तथा मदान (Majumdar and Madan) ने 'हो' जनजाति में प्रचलित एक लोक-कथा का उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है[2]—

"बुड्ढ-चूरा नाम का एक किसान अपने खेत में एक चूहे को देखकर मारने को दौड़ा। चूहे ने किसान से प्रार्थना की कि तुम मुझे न मारो, इसके बदले में, मैं आजीवन तुम्हारी सेवा करता रहूँगा। किसान ने उसकी बात मान ली और उसे घर ले आया। लोमड़ियाँ आकर उस किसान की वस्तुओं तथा बगीचे की उपज को रोज खा जाती थीं। चूहे ने लोमड़ियों के बीच घबरा कर मारना शुरू किया और उनकी सब चालों का पता लगाता रहा। इन बातों को वह किसान को बताकर उसे सावधान कर देता था। पर लोमड़ियों को जब यह पता चला कि उनकी चालाकियाँ खुल गई हैं तो उन्होंने नयी योजनाएँ बनायीं। इससे किसान तंग आ गया। अन्त में चूहे ने एक अति चामत्कारिक योजना बनायी और किसान की स्त्री की सहायता से सब लोमड़ियों का सफाया कर दिया। इसके बाद से चूहा, किसान व उसकी स्त्री आराम और शान्ति से रहने लगे।"

गोंड जाति में सामाजिक सहयोग के महत्त्व को बताने के लिए गिलहरी और कौए की निम्नलिखित लोक-कथा प्रायः कही जाती है- —

"एक पेड़ पर गिलहरी और एक कौआ रहते थे। एक दिन कौए ने गिलहरी से कहा, "चलो हम खेती करें। जो पैदा होगा उसको आधा-आधा बाँट लेंगे।" गिलहरी बोली, "ठीक है। चलो खेत जोत आयें।" कौए ने कहा, "तू चल, मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत जोत आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, "चलो भाई, अपने खेत में बीज बो आयें।" कौआ फिर बोला, "तू चल मैं आता हूँ।" गिलहरी खेत में बीज भी बो आयी। कौआ बैठा ही रहा। गिलहरी ने कहा, "पौधे बड़े हो गये है। घास उग आयी है। चलो, निराई कर आयें।" कौए ने फिर वही उत्तर दिया। गिलहरी खेत भी निरा आयी। फसल पक गई। गिलहरी अकेले फसल भी काट लायी। कौआ बैठा ही रहा। जब अनाज तैयार हो गया, तो कौआ हिस्सा बँटाने पहुँच गया। गिलहरी अपना अनाज घर ले आयी। कौए का हिस्सा वहीं पड़ा रहा। दूसरे दिन बड़े जोर से पानी बरसा। कौए का सारा अनाज बह गया। कौआ पेड़ की डाल पर बैठा काँव-काँव ही करता रह गया।"

उक्त गाथा को सुनने वालों ने उसीसे बहुत-कुछ सीख लिया।

---

1. See M. J. Herskovits, *op. cit.*, p. 418.
2. Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1956, p. 185.

17 भाषा (Language)

अभौतिक संस्कृति के क्षेत्र में भाषा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि मानव के पास वाणी अथवा भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारों का विस्तार एवं प्रसार अत्यन्त सीमित हो जाता। मानव की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक उन्नति का प्रमुख कारण आविष्कार है और उस आविष्कार को प्रसारित करने का सबसे अधिक श्रेय मनुष्य की भाषा-शक्ति को है। यह शक्ति वास्तव में वह शक्ति है जो कि मानव को पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् करती है। पशु कई प्रकार की आवाजों द्वारा अपने मन के भाव को व्यक्त करते हैं, परन्तु भाषा का अधिकारी तो केवल मानव ही है। इस भाषा के द्वारा मानव अपने मन के भाव प्रकट करता है, सामाजिक आदान-प्रदान या अन्तःक्रिया में भाग लेता है, संगीत-रचना करता और गाता है, साहित्य की सृष्टि करता है, और आविष्कारों का प्रसार मानवीय धरातल में करता है। भाषा मानव की वह शक्ति है जिसके माध्यम से वह दुनिया को सबसे कटु आघात कर सकता है और अमरत्व का सन्देश भी सुना सकता है। भाषा के माध्यम से ही मानव की मानवता महान है, अमर है। भाषा के कारण ही मनुष्य पशु नहीं है।

भाषा की परिभाषा
(Definition of Language)

श्री स्टर्टीवेण्ट (Sturtevant) के अनुसार, "भाषा मुँह से उच्चारण किये जाने वाले संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्तःक्रिया करते हैं।"[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि संगठन की दृष्टि से भाषा असम्बद्ध नहीं बल्कि नियमबद्ध है—अर्थात् यह एक व्यवस्था है। साथ ही, इस व्यवस्था में जिन संकेतों (symbols) का समावेश होता है उनके अर्थों को भी उसी प्रकार सीखना पड़ता है जैसा कि संस्कृति की अन्य चीजों को। उक्त परिभाषा में भाषा के सामाजिक कार्यों या महत्त्व पर बल दिया गया है। इसी कारण श्री हर्षकोविट्स (Herskovits) ने उपरोक्त परिभाषा के अन्त में केवल कुछ शब्दों को जोड़कर उस परिभाषा को स्वीकार कर लिया है। उन शब्दों को जोड़ने के पश्चात् भाषा की सम्पूर्ण परिभाषा इस प्रकार

---

1. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact."—E.H. Sturtevant, *An Introduction to Linguistic Science*, New Haven, 1947.

है—"भाषा मुंह से उच्चारण किये जाने वाले संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग तथा अन्तःक्रिया करते हैं, और जिसके माध्यम से सीखने की प्रक्रिया को सफल बनाया जाता है एवं जीवन की एक निधि-विशेष को निरन्तरता तथा परिवर्तनशीलता दोनों ही प्राप्त होती हैं।"[1]

भाषा की प्राचीनता
(The Antiquity of Language)

आधुनिक भाषाओं में पाई जाने वाली भिन्नताओं तथा सभी आदिम व आधुनिक मानव की भाषाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भाषा अति प्राचीन है क्योंकि ऐसा कोई मानव-समाज आज नहीं है जहाँ कि भाषा नहीं है। इसलिए शायद यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा भी उतनी ही प्राचीन है जितने कि मानव-संस्कृति के दूसरे पक्ष। सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने लिखा है कि सम्भवतः और शायद निश्चय ही मानव उसी समय बोलना भी सीख गया था जबकि लाखों वर्ष पूर्व एक सांस्कृतिक परम्परा का संचय करने में कुछ कदम आगे बढ़ चुका था।[2] तो क्या मानव-भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी कि उसकी संस्कृति ? इसके उत्तर में श्री क्रोबर (Kroeber) का कथन है कि इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योंकि विश्वासों तथा संस्थाओं की भाँति शब्दों का भी विनाश हो जाता है अर्थात् उनका स्थायित्व उस भाँति नहीं है जैसा कि पत्थर के औज़ार। फिर भी यह प्रतीत होता है कि भाषा, चाहे वह अविकसित भाषा ही क्यों न हो, उतनी ही पुरानी है जितनी कि संस्कृति की प्रथम अभिव्यक्तियाँ, क्योंकि ये दोनों ही एक-दूसरे से अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।[3] प्रस्तरित मानव (fossil man) की खोपड़ी के भीतरी भाग की परीक्षा करके विशेषज्ञों ने यह मत प्रकट किया है कि उस युग के मानव का मस्तिष्क इतना विकसित था कि उसमें भाषा की शक्ति अवश्य रही होगी। हो सकता है कि इस निष्कर्ष में पूर्ण सत्यता न हो, फिर भी आधुनिक मानवशास्त्री आज यह स्वीकार करते हैं कि भाषा का विकास अगर संस्कृति के विकास के पहले नहीं तो उसके साथ-साथ अवश्य ही हुआ है। वास्तव में भाषा के बिना सांस्कृतिक क्रिया सम्भव नहीं, इस कारण जहाँ भी सांस्कृतिक क्रिया है, चाहे वह कितनी ही सरल क्यों न हो, भाषा के होने की आशा भी की जा सकती है। उसी प्रकार संस्कृति का विकास भी मानवीय अन्तः-

---

1. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of a social group co-operate and interact, and by means of which the learning process is effectuated and a given way of life achieves both continuity and change."—See M.J. Herskovits, *Man and His Works*, New York, 1965, p. 440.

2. "It is wholly probable, and indeed quite likely, that man learned to speak at the same time, some million or more years ago, that he took his first few steps in accumulating a cultural tradition,"—Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, New York, 1959, p. 573.

3. Kroeber, *Anthropology*, New York, 1948, p. 225.

क्रियाओं पर आधारित है और मानवीय अन्तःक्रिया भाषा के बिना प्रायः असम्भव ही है। इस कारण, श्री क्रोबर (Kroeber) के अनुसार, "संस्कृति का प्रारम्भ तब ही हुआ जब भाषा मौजूद थी; और फिर उसके बाद से उनमें से किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास हुआ।"[1]

भाषा की उत्पत्ति
(The Origin of Language)

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भाषा की उत्पत्ति उन परिस्थितियों का परिणाम है जिनमे कि प्रारम्भिक काल में मानव निवास करता था। उस समय वह पूर्णतया जंगली तथा अज्ञात था। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि प्रकृति की वस्तुओं और घटनाओं को देखकर मानव आश्चर्य-चकित हो उठता था। इस प्रकार के अनेक अवसर उसके दैनन्दिक जीवन में आते थे, जब कि प्राकृतिक वस्तुएँ और घटनाएँ उसे अचम्भे में डाल देती थीं। उस प्रकार की आश्चर्य-चकित अवस्था में उसके मुख से स्वतः ही आवाजें निकल पड़ती थीं। उदाहरणार्थ, बादल के गरजने की आवाज सुनकर वह चौंक उठता था और उसके मुख से एक विशेष प्रकार की आवाज निकलती थी जिससे कि वह दूसरों को यह संकेत करता था कि वह डर गया है। इसी प्रकार मुँह से विभिन्न प्रकार की आवाजें निकालकर वह अपने मन के भावों को दूसरों तक पहुंचाने लगा। एक-एक विशिष्ट आवाज एक-एक विशेष प्रकार के संकेत के रूप में क्रियाशील हुई। इन्हीं संकेतों के क्रमिक विकास से भाषा की उत्पत्ति हुई।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त यह है कि मानव को बोलने की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। प्रारम्भिक काल में मानव पूर्णतया प्रकृति की गोद में ही पलता था। उस अवस्था में प्रकृति से उसका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ था। इस कारण प्रकृति से सम्बन्धित सब-कुछ को वह बहुत पास से देखता और सुनता था। प्रकृति में कुछ आवाजें अपने-आप हुआ करती हैं। इन आवाजों की नकल सर्वप्रथम मानव ने खेल-खेल में ही की, पर बाद को उन्हीं से विभिन्न संकेतों का जन्म हुआ और भाषा की उत्पत्ति सम्भव हुई। उदाहरणार्थ, पेड़ से जब पत्ता झड़ता है, तब 'पत-पत' की आवाज होती है। इससे 'पत' के अनुकरण में एक शब्द 'पत्र' की उत्पत्ति हुई।

परन्तु उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि किसी भी भाषा का निर्माण, चाहे वह कितनी ही सरल भाषा क्यों न हो, दो-चार या दस शब्दों से कदापि नहीं होता। प्राकृतिक घटनाओं को देखकर अचम्भे में या प्राकृतिक आवाजों की नकल करके कुछ ही शब्दों की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है जो कि किसी भी भाषा को जन्म नहीं दे सकती।

---

1. "Culture, then, began when speech was present; and from then on, the enrichment of either meant the further development of the other."—*Ibid*, p. 225.

इस सम्बन्ध में तीसरा सिद्धान्त बहुत-कुछ प्राणीशास्त्रीय आधारों पर आधारित है। मनुष्य में कुछ इस प्रकार की प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं पाई जाती हैं जिनके कारण वाणी अर्थात् भाषा की उत्पत्ति स्वाभाविक ही थी। शब्दों का उच्चारण करने के लिए जीभ या जबान की बनावट जिस प्रकार की होनी चाहिए, मानव में वह उसी रूप में पाई जाती है। मनुष्य अपनी जीभ को जिस आसानी से और स्वतन्त्रतापूर्वक हिला-डुला सकता है, उतनी आसानी से यह काम पशु नहीं कर सकते। मानव अपनी इस विशेषता के कारण मुंह से नाना प्रकार की आवाजें निकाल सकता है। इन आवाजों को उसने विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग तरह से उच्चारण करके प्रयोग किया और उससे अपने मनोभाव को दूसरों तक पहुंचाया। इसी से शब्द संकेतों की और अन्त में भाषा की उत्पत्ति हुई।

भाषा की संरचना
(The Structure of Language)

किसी भी भाषा का यदि हम अध्ययन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि उस भाषा में एक व्यवस्था है और वह इस अर्थ में कि इसके विभिन्न अंग एक नियमित ढंग से एक-दूसरे के साथ संयुक्त या सम्बद्ध हैं। इन विभिन्न अंगों को मिलाकर ही भाषा की संरचना तैयार होती है। भाषा के ये मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) **वर्णमाला या ध्वनि** (Phonemes)—ध्वनि ही भाषा में व्यवहार होने वाली सबसे छोटी इकाई है। बिना किसी ध्वनि के भाषा का निर्माण हो ही नहीं सकता क्योंकि अगर हम बिना कोई ध्वनि मुख से उच्चारण किये हुए मन-ही-मन सात राज्यों के बारे में भी सोचते रहें तो भी उसे भाषा नहीं कहा जा सकता है। भाषा में तो मन के भावों को मुख से उच्चारण करना पड़ता है और उच्चारण करने से ध्वनि निकलती ही है। बिना ध्वनि के वाणी या भाषा कुछ भी नहीं हो सकती है। इन वर्णमाला-ध्वनियों की संख्या 20 से 30 तक मानी जाती है। इन वर्णों को दो आधारभूत श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—'स्वर' (Vowels) तथा 'व्यंजन' (Consonants)। स्वर वह ध्वनि है जो कि मुंह के खुले रहने पर निकलती है और जब मुंह से साँस बाहर निकलती है तो ध्वनि बिना किसी रुकावट के उच्चारण की जा सकती है। अ, आ, इ, ई आदि ऐसी ही ध्वनियाँ या 'स्वर' हैं। परन्तु कुछ ऐसी ही ध्वनियां भी हैं जो कि मुंह से सांस के बाहर निकलने पर कभी तालु से, कभी दांतों से, तो कभी होंठों से टकराती हैं। ऐसी ध्वनि को व्यंजन कहते हैं, क, ख, ग, त, थ, द, प, फ, ब आदि।

प्रत्येक भाषा में वर्णमाला अवश्य ही होती है परन्तु वे हर-एक भाषा में एक-से नहीं होते हैं। साथ-ही-साथ, इन वर्णों का उच्चारण करने का ढंग भी प्रत्येक भाषा समान नहीं हुआ करता है। किसी भाषा में ध्वनि को खींचकर उच्चारण किया जाता , और किसी भाषा में बहुत थोड़ा समय लेकर। अर्थात् दीर्घ-ह्रस्व का भेद प्रत्येक भाषा में ही होता है। परन्तु इस भेद का कोई प्राणीशास्त्रीय आधार नहीं है। दूसरे शब्दों में, बंगाली लोग हिन्दी शब्दों का या उत्तर प्रदेश के लोग बंगला शब्दों का उच्चारण

अगर ठीक-ठीक नहीं कर पाते हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि उनके मुँह की या जीभ की या होंठ की या अन्य किसी अंग की बनावट एक विशेष प्रकार की होने के कारण ही उनके मुँह से एक विशेष प्रकार की ध्वनि ठीक-ठीक निकलती है। ध्वनि उच्चारण करने की क्षमता प्रशिक्षण (training) पर निर्भर है।

(2) शब्दावली (Morphemes)—कई ध्वनियों को मिलाकर एक शब्द बनता है जैसे, स, त, और ह, इन तीन ध्वनियों को मिलाकर एक शब्द 'सतह' बना है। एक शब्द सरल शब्द (simple word) भी हो सकता है और एक जटिल शब्द (complex word) भी। सरल शब्द में उस शब्द को विभाजित करने पर उसका कोई खास माने नहीं रह जाता है जैसे 'हम' शब्द को दो भागों में—'ह' और 'म' में बाँट देने पर इनमें से प्रत्येक का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं निकलता है, पर दोनों को मिलाकर 'हम' शब्द का एक अर्थ है। इसके विपरीत जटिल शब्द में उस शब्द को एकाधिक भागों में विभक्त किया जा सकता है और इस प्रकार से टुकड़ा हो जाने पर भी उनमें से प्रत्येक टुकड़े का एक अर्थ होता है जैसे 'हमराही' शब्द को 'हम' और 'राही' दो टुकड़ों में बाँट देने पर भी प्रत्येक टुकड़े का एक अर्थ निकलता है।

भाषा के निर्माण में शब्दावली के महत्त्व को शायद कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कोई भी भाषा, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, शब्दों के बिना बन ही नहीं सकती है। ये शब्द अर्थयुक्त होते हैं, इस कारण इनके द्वारा ही हम अपने मन के भाव को प्रकट करते हैं।

(3) वाक्य (Sentence)—इन्हीं शब्दों के आधार पर हम पदों का निर्माण करते हैं। जैसे संस्कृत भाषा में 'राम' शब्द से रामः, रामौ, रामाः आदि पद बन जाते हैं; उसी प्रकार अनेक शब्दों को नियमानुसार जोड़कर वाक्य (sentence) को बनाया जाता है। जैसे, 'राम घर गया' यह वाक्य तीन शब्दों से मिलकर बना है। वाक्य का कार्य भाव को पूर्णतया स्पष्ट या प्रकट करना है। 'राम', 'घर', 'गया', इनमें से एक शब्द का एक पृथक् अर्थ होते हुए भी पृथक् रूप से इनमें से किसी शब्द से सम्पूर्ण भाव प्रकट नहीं होता है परन्तु जब इन्हें जोड़कर एक वाक्य बनाया जाता है तो उससे सम्पूर्ण भाव हमारे लिए स्पष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी भाषा के तीन आधारभूत तत्त्व वर्ण, शब्द और वाक्य हैं। वर्ण के सम्मिलन से शब्द बनता है और शब्दों के सम्मिलन से वाक्य। परन्तु वाक्यों का निर्माण मनमाने ढंग से नहीं होता है; उसके लिए भी प्रत्येक भाषा में कुछ आधारभूत नियम होते हैं। भाषा की संरचना में इन नियमों का भी अपना महत्त्व है। अतः उनको भी भाषा का एक आवश्यक अंग माना जाता है। अब हम उसी अंग के विषय में विवेचना करेंगे।

(4) व्याकरण (Grammar)—उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट कि प्रत्येक भाषा में अनेक शब्द होते हैं। इन शब्दों को मनमाने ढंग से जोड़ने पर वे अर्थहीन हो जायेंगे अर्थात् उनसे किसी शुद्ध व अर्थपूर्ण वाक्य का निर्माण न हो सकेगा। उदाहरणार्थ, अगर हम निम्नलिखित सात शब्दों को मनमाने ढंग से इस प्रकार जोड़ें—'घर

वह जाने आया बाद'—तो यह एक अर्थपूर्ण वाक्य कभी भी नहीं होगा क्योंकि इससे कोई भाव स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होता है। परन्तु अगर इन्हीं सात शब्दों को नियमानुसार जोड़ें तो सम्पूर्ण भाव सरलता से ही स्पष्ट हो सकते हैं जैसे, 'तुम्हारे जाने के बाद वह घर आया।' उसी प्रकार अगर हमें भूतकाल के विषय में कोई बात कहनी है तो उसी के अनुसार शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा और अगर वर्तमान काल के विषय में कुछ कहना है तो उसी प्रकार के शब्दों को जोड़ना पड़ेगा। उसी प्रकार अगर हम किसी स्त्री के विषय में कह रहे हैं तो स्त्रीलिंग वाले शब्दों का व्यवहार आवश्यक है और यदि पुरुष के बारे में तो पुँलिग वाले शब्दों का। इसी प्रकार लिंग, काल, वचन आदि के विषय में अनेक नियम प्रत्येक भाषा में होते हैं जिसे कि उस भाषा का व्याकरण कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शब्दों के शुद्ध रूप तथा प्रयोग के नियमों का निरूपण करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। और भी स्पष्ट रूप से, जिससे शुद्ध भाषा पढ़ने, बोलने और लिखने का ज्ञान होता है, उसे व्याकरण कहते हैं। इसके तीन विचार होते हैं—अक्षर-विचार, शब्द-बिचार और वाक्य-विचार। जब हम व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्दों को जोड़ते हैं तो भाषा का शुद्ध रूप प्रकट होता है; अन्यथा नहीं। यह व्याकरण प्रत्येक भाषा में होता तो है, पर हर-एक भाषा में एक समान नहीं होता। उदाहरणार्थ, हिन्दी-भाषा में कर्त्ता के लिंग के अनुसार क्रिया के लिंग में भी परिवर्तन आवश्यक है, जैसे राम जाता है और सीता जाती है। पर बंगला भाषा में यह नियम नहीं है। कई भाषाओं में काल, लिंग, वचन आदि का झमेला बहुत ज्यादा होता है और कई भाषाओं में बहुत कम। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में लिंग, काल, वचन किसी का झगड़ा नहीं है। इसके विपरीत हिन्दी भाषा में लिंग, क्रिया, सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय समास आदि का बहुत ज्यादा झमेला है।

(5) लिपि (Script)—यह तत्त्व केवल उन लोगों की भाषाओं में ही पाया जाता है जिन्हें कि लिखने की कला का ज्ञान है। इस प्रकार की प्रत्येक भाषा में अक्षरों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। जिस रूप में अक्षर अंकित होते हैं या लिखे जाते हैं उसे लिपि कहते हैं। अंग्रेजी भाषा के अक्षर जिस प्रकार लिखे जाते हैं उस प्रकार बंगला भाषा के अक्षर नहीं लिखे जाते हैं। उसी प्रकार हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि में भी बहुत अन्तर है।

भाषा-परिवार
(Linguistic Families)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान की भाषा एक समान नहीं होती है। वर्ण, शब्द, वाक्य, लिपि, व्याकरण आदि के आधार पर अनेक भेद भाषा में पाये जाते हैं। ऐसा भी होता है कि एक भाषा एक स्थान पर पनपती है, फिर प्रसार (diffusion) के द्वारा वह दूसरे स्थान को भी फैल जाती है और उस प्रसार के दौरान में उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी हो जाता है। परन्तु इन परिवर्तनों के होने पर भी हम उसकी मूल भाषा का पता लगा सकते हैं, अर्थात् यह जान सकते हैं कि एक भाषा की उत्पत्ति

किस मूल भाषा-विशेष से हुई है। एक ही मूल भाषा मे जितनी भी भाषाएं पनपेंगी, वे सब एक भाषा-परिवार कहलायेंगी। उदाहरणार्थ, भाषा-परिवार की दृष्टि से अंग्रेजी, संस्कृत, रशियन आदि भाषाएँ एक ही परिवार मे रखी जाती है। ये तीनो भाषाएँ एक ही मूल भाषा से प्रकट हुई हैं जिसे इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मनिक या आर्यन परिवार कहा जाता है।

एशिया और यूरोप में 25 से भी अधिक भाषा-परिवार पाये जाते हैं। इनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण इण्डो-यूरोपियन या इण्डो जर्मनिक या आर्यन (Aryan) परिवार है। इस परिवार का फैलाव दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा यूरोप का अधिकतर भाग है। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण (जनसंख्या की दृष्टि से) भाषाएँ इण्डिक (Indic), स्लॉविक (Slavic), जर्मनिक (Germanic) और रोमन या लैटिन (Latin) हैं। इस परिवार की अन्य भाषाएँ परसियन या इरानिक (Iranic), आर्मेनियन (Armenian), ग्रीक, अलबानियन (Albanian), बाल्टिक और केलटिक (Keltic) हैं। यूरोप से विभिन्न इण्डो-यूरोपियन भाषाएँ जैसे अंग्रेजी, स्पेनिश, फ्रेंच, रशियन आदि दूसरे देशों, जैसे अमेरिका और आस्ट्रेलिया, मे फैल गई हैं।

एक दूसरा भाषा-परिवार सिनिटिक (Sinitic) परिवार है। इस भाषा-परिवार के सदस्यों की संख्या प्राय: उतनी ही है जितनी कि इण्डो-यूरोपियन भाषा-परिवार की। इसके अन्तर्गत चाइनिस, टिबेटो-बर्मन तथा शान-सियामिस (Shan Siamese) भाषाएँ सम्मिलित हैं।

एक तीसरा भाषा-परिवार आल्टाइक (Altaic) परिवार है। जिसमें तीन प्रमुख भाषाएँ—टर्किस (Turkish), मंगोलियन (Mongolian) तथा टुंगस-मानचू (Tungus-Manchu) हैं। इस परिवार का फैलाव उत्तरी तथा केन्द्रीय एशिया तथा यूरोप का कुछ भाग है।

एक चौथा भाषा-परिवार सेमिटिक (Semitic) परिवार है। अराबिक (Arabic) भाषा इस परिवार की प्रमुख सदस्य है।

अफ्रीका का सर्वप्रमुख भाषा-परिवार हामिटिक (Hamitic) परिवार है। इसके अतिरिक्त बांटू (Bantu) भाषा-परिवार भी महत्त्वपूर्ण अफ्रीका-परिवार है।

भारत और उसकी जनजातियों की भाषाएँ
(Languages of India and of Its Tribes)

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत की भाषाओं को चार प्रमुख परिवारों मे बाँटा जा सकता है। वे निम्नवत् हैं—

(1) इण्डो-यूरोपियन अथवा आर्यन भाषा-परिवार जिसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाएँ आती हैं; जैसे हिन्दी, बंगाली, पंजाबी गुजराती और उड़िया।

(2) द्राविड़ियन(Dravidian) भाषा-परिवार जिसके कि सदस्य मध्य और दक्षिणी भारत में रहते हैं। इसके अन्तर्गत चार प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ आती हैं और वे हैं—कन्नड़, तामिल, तेलगू और मलयालम। इसके अतिरिक्त भी इस परिवार के

अन्तर्गत कुछ अन्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और दक्षिणी भारत तथा मध्य व पूर्वी भारत में निवास करने वाले जनजातीय समूहों में प्रचलित हैं।

अन्य दो भाषा-परिवारों का, एक-दो उदाहरणों को छोड़कर, भारत में अधिक विकास नहीं हुआ है और वे बहुत अधिक पिछड़े हुए जनजातीय समूहों में प्रचलित हैं। ये दो भाषा-परिवार निम्नलिखित हैं—

(3) **आस्ट्रिक भाषा-परिवार** की दो शाखाएँ हैं—एक तो आस्ट्रो-ऐशियाटिक शाखा जिसके अन्तर्गत मध्य और पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा बोलियाँ, निकोबार द्वीप-निवासियों की बोली तथा स्याम और इण्डोचीन (वियतनाम) में प्रचलित भाषाएँ आती हैं। आस्ट्रिक भाषा-परिवार की दूसरी शाखा आस्ट्रोनेशियन (Austronesian) शाखा है, जिसके अन्तर्गत इण्डोनेशिया की राष्ट्र-भाषा तथा मलाया, माइक्रोनेशिया, मेलानेशिया तथा पॉलीनेशिया की भाषाएँ आती हैं।

(4) **चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार** में हिमालय के दक्षिणी ढालों, उत्तरी पंजाब से भूटान, उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल और आसाम में पाई जाने वाली इण्डो-मंगोलॉयड प्रजाति के लोगों में प्रचलित जनजातीय भाषाएँ आती हैं।

भाषा-परिवार के आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण निम्न ढंग से किया जाता है—

(अ) आस्ट्रिक भाषा-परिवार (Austric speech family)—इसमें मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुण्डा समूह की भाषाएँ और बोलियाँ आती हैं। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में प्रचलित संथाली, मुन्दारी, हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं। कोर्कू भाषा मध्यप्रदेश और बरार के जनजातीय समूहों में बोली जाती है तथा साथरा और गाडवा भाषा उड़ीसा की जनजातियों में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त आसाम के खासियों तथा निकोबार द्वीप-निवासियों की भाषा भी इसी परिवार में आती है।

(ब) द्राविड़ भाषा-परिवार (Dravidian speech family)—इन्हें बोलने वाली जनजातियाँ मध्य तथा दक्षिणी भारत में पाई जाती हैं। इस भाषा-परिवार के अन्तर्गत तेलगू, कन्नड़, तामिल और मलयालम के अतिरिक्त दो अन्य भाषाएँ भी आती हैं जो अधिक विकसित नहीं हैं, पर इनको बोलने वाले सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत हैं। ये लोग तूलूस तथा कुर्ग निवासी कोटाग हैं। इनको जनजातियों में नहीं रखा गया है। गोंड जनजाति मध्यप्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र राज्यों में फैली हुई है तथा द्राविड़ भाषा बोलती है। उड़ीसा की कुन्ध जनजाति के लोग, बिहार और उड़ीसा के कुरुख और ओरांव तथा बिहार की राजमहल पहाड़ियों के माल्टो कुई भाषा बोलते हैं जो कि इसी भाषा-परिवार के अन्तर्गत आती है। टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरूला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड़ भाषा बोलती हैं।

(स) चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार (Sino-Tibetan speech family)—

इसके अन्तर्गत नेपाल, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, मणिपुर आदि स्थानों में रहने वाली जन-जातियाँ आती हैं।

परन्तु उपरोक्त वर्गीकरण थोड़ा-बहुत सैद्धान्तिक ही कहा जा सकता है क्योंकि अनेक भारतीय जनजातियाँ ऐसी हैं जो कि अपनी मूल-भाषा के अतिरिक्त एक-दो अन्य भाषाओं को भी बोल लेती हैं। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी और दूसरी हिन्दुस्तानी या उड़िया या बंगाली भाषा बोलती हैं इस प्रकार ओरॉव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती हैं। और संथाली बंगाली भाषा समझते हैं।

भाषा व संस्कृति : भाषा का महत्त्व
(Language and Culture : Importance of Language)

इसके अन्तर्गत हम तीन प्रमुख समस्याओं को सुलझाने या तीन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। वे प्रश्न हैं—क्या भाषा और प्रजाति में कोई सम्बन्ध है? भाषा व संस्कृति का वास्तविक सम्बन्ध क्या है? मानवीय जीवन में और मानवशास्त्रीय अध्ययन में भाषा का क्या महत्त्व है?

भाषा के महत्त्व एवं भाषा व संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध का संक्षिप्त परिचय हम इस अध्ययन के आरम्भ में ही दे चुके हैं। उनमें से श्री क्रोबर (Kroeber) के एक वाक्य को ही यहाँ दोहराना अनुचित न होगा। आपने लिखा है कि "संस्कृति का प्रारम्भ तभी हुआ जब भाषा उपस्थित थी और फिर उसके बाद से उनमें से किसी की भी समृद्धि का अर्थ दूसरे का विकास हुआ।" इसी एक वाक्य से ही भाषा का महत्त्व, भाषा व संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। फिर भी इस विषय में हम थोड़ी और विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

कुछ विद्वानों ने भाषा व संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को अनावश्यक रूप से अस्पष्ट कर दिया है। किसी भी व्यवस्थित विचारधारा का विकास शब्दों से प्राप्त संकेतों या स्वयं शब्दों के बिना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार धर्म तथा सामाजिक संगठन के अन्य पक्ष जैसे जाति-प्रथा, विवाह सम्बन्धी नियम, नाते-रिश्तेदार का परिचय, कानून आदि भाषा पर ही निर्भर हैं। दूसरी ओर, सरल प्रकार के आविष्कार और व्यावहारिक कला का विकास भाषारहित समाज में भी अनुकरण के आधार पर सम्भव हो सकता है।[1] फिर भी यह केवल प्रारम्भ की बात है; जैसे ही संस्कृति के विकास या प्रसार का प्रश्न आता है वैसे ही भाषा का महत्त्व हमारे लिए स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्येक भाषा ही संस्कृति का एक अंग है और यह भी सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour) का ही एक रूप है। कोई भी व्यक्ति 'भाषा की मूलप्रवृत्ति' (instinct of language) को लेकर जन्म नहीं लेता और न इस प्रकार की कोई मूल-प्रवृत्ति होनी ही है। प्रत्येक को भाषा सीखनी होती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भाषा

---

1. Kroeber, *op. cit*, pp. 223-224.

का कुछ भी मानव या मानव-समूह-विशेष की शारीरिक विशेषताओं द्वारा निर्धारित नहीं होता है। चूंकि भाषा का कोई सम्बन्ध शारीरिक विशेषताओं से नहीं है, इसलिए भाषा और प्रजाति के बीच भी कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। कुछ भाषा-विशेष कुछ प्रजातियों के सदस्यों द्वारा बोली जाती है, इसका एक मात्र कारण यह है कि विभिन्न प्रजातियों में पृथकता है। एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण एक प्रजाति-विशेष बोलने का अपना एक विशिष्ट तरीका विकसित कर लेती है। परन्तु जैसे ही यह पृथकता दूर हो जाती है वैसे ही परिस्थिति भी बदल जाती है। एक अंग्रेज अगर हिन्दी भाषा को ठीक से बोल नहीं पाता है तो उसका कारण यह नहीं है कि प्रजातीय दृष्टिकोण से वह हिन्दी भाषा बोलने के लिए उपयुक्त नहीं है। वह हिन्दी ठीक से इसलिए नहीं बोल पाता है कि हिन्दी बोलने या सीखने की प्रचेष्टा वह गम्भीरतापूर्वक नहीं करता है। अगर वह ऐसा करे तो उसके लिए हिन्दी ही नहीं, दुनिया की किसी भी भाषा को बोलना और लिखना सम्भव है। अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रजाति और भाषा में कोई सम्बन्ध नहीं है जब कि भाषा और संस्कृति का सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ है।[1]

श्री सापिर (Sapir) ने भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध पर अत्यधिक बल दिया है। उनका कहना है कि अगर हमें किसी समाज के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समाज की भाषा का ज्ञान पहले प्राप्त करना होगा क्योंकि जब तक भाषा का ज्ञान न होगा तब तक उस समाज के लोगों के मूल विचारों तथा भावनाओं, विश्वासों, लोक-कथाओं, पौराणिक गाथाओं आदि के सम्बन्ध में भी हमें कोई भी जानकारी प्राप्त न हो सकेगी। इसका कारण यह है कि लोक-जीवन के इन पक्षों का परिचय हमें भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इन्हें जानने और वैज्ञानिक रूप से जानने का और कोई रास्ता नहीं है। श्री सापिर ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को या सांस्कृतिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होती है। इस अर्थ में प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को अपने में छिपाये या सुरक्षित रखती है। इस कारण अगर संस्कृति के रहस्य को जानना है तो भाषा के द्वार को पहले खोलना होगा। भाषा के माध्यम से ही विश्व-दर्शन या किसी समाज-विशेष का दर्शन सम्भव है। श्री सापिर ने इसी कारण स्पष्ट ही लिखा है कि भाषा और हमारी विचार-धारा इस प्रकार एक-दूसरे से घुली-मिली हुई हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है; एक अर्थ में वे दोनों एक ही हैं।[2]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय अध्ययन, और विशेषकर आदिकालीन समाज के अध्ययन में भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। इस अति उत्तम उदाहरण में ईसाई मिशनरी के लोग आते हैं। इनका प्रमुख कार्य जनजातीय समाजों में जाना और उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना था। परन्तु इस काम में सर्व-

1. E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 565.

2. "Language and our thought-grooves are in extricably inter-woven. re, in a sense, one and the same."—Edward Sapir, *Language*, New York, . 232.

प्रथम उन्हें उनकी भाषा सीखनी पड़ती थी तब कहीं वे उनके आधारभूत धार्मिक विश्वासों को समझ पाते थे और फिर उसी के अनुसार अपनी योजना बनाकर उनको धर्म-परिवर्तन करने के लिए कहते थे।

श्री बोआस ने लिखा है कि "हमारे लिए यह कहना ही उचित होगा कि भाषा संस्कृति की अवस्था की एक प्रतिच्छाया है और अपने विकास में संस्कृति की मांगों का अनुसरण करती है।"[1] परन्तु साथ ही, श्री बोआस ने यह भी लिखा है कि संस्कृति पर भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः पड़ता है। शब्द और वाक्य भी सांस्कृतिक प्रतीक हैं और उनमें उतना ही उद्वेग छिपा हुआ है जितना कि संस्कृति के अन्य प्रतीकों में। एक देवता का नाम उच्चारण करने में जो उद्वेग प्रकाश पाता है, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसका महत्त्व कम नहीं है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातंत्र' या 'स्वतन्त्रता' या 'वन्देमातरम्' या जयहिन्द' शब्द हमें किसी भी सीमा तक प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, इसके अनेक उज्ज्वल दृष्टांत मानव-इतिहास में बिखरे पड़े हुए हैं। यह सब-कुछ ही भाषा के प्रभावों का परिणाम नहीं है, फिर भी इनसे भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामाजिक जीवन में भाषा के महत्त्व का पता चलता है।

भाषा का सर्वप्रथम महत्त्व यह है कि इसके माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान सम्भव होता है। अर्थात् भाषा ही सामाजिक अन्तःक्रिया का आधार है। सामाजिक उन्नति या विकास के लिए तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक अन्तःक्रिया का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा बालक में जो अन्तःक्रिया होती रहती है उसी के परिणामस्वरूप एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है अर्थात् बालक का समाजीकरण सम्भव होता है। अतः स्पष्ट है कि मानव सभ्य भाषा के कारण है।

भाषा के माध्यम से विभिन्न समाजों के बीच केवल विचारों का ही आदान-प्रदान नहीं होता है बल्कि आविष्कारों का भी प्रसार सम्भव होता है। इससे सामाजिक उन्नति की प्रक्रिया सरल हो जाती है। यद्यपि अब भी भाषा की भिन्नताओं के कारण विभिन्न समाजों के बीच अन्तःक्रिया या आदान-प्रदान पूर्ण मात्रा में नहीं हो पाता है, फिर भी एक 'विश्व-राज्य' का जो सपना आज भी हम लोग देख रहे हैं, वह एक-भाषा के आधार पर ही सम्भव है।

डा० दुबे ने लिखा है कि "भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएँ विस्तार पाने के अतिरिक्त मौलिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती हैं।" जैसा कि हम पिछले एक अध्याय में बता चुके हैं, मौखिक परम्परा के रूप में प्रथा, पौराणिक कथा, लोक-गीत, लोक-गाथा आदि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है और इनकी अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता है। भाषा के आधार पर अनेक सांस्कृतिक तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित

---

1. "We should rather say that language is a reflection of the state of culture and follows in its development the demand of culture."—Franz Boas, *General Anthropology*, New York, 1938, p. 142.

का कुछ भी मानव या मानव-समूह-विशेष की शारीरिक विशेषताओं द्वारा निर्धारित नहीं होता है। चूंकि भाषा का कोई सम्बन्ध शारीरिक विशेषताओं से नहीं है, इसलिए भाषा और प्रजाति के बीच भी कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। कुछ भाषा-विशेष कुछ प्रजातियों के सदस्यों द्वारा बोली जाती है, इसका एक मात्र कारण यह है कि विभिन्न प्रजातियों में पृथकता है। एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण एक प्रजाति-विशेष बोलने का अपना एक विशिष्ट तरीका विकसित कर लेती है। परन्तु जैसे ही यह पृथकता दूर हो जाती है वैसे ही परिस्थिति भी बदल जाती है। एक अंग्रेज अगर हिन्दी भाषा को ठीक से बोल नहीं पाता है तो उसका कारण यह नहीं है कि प्रजातीय दृष्टिकोण से वह हिन्दी भाषा बोलने के लिए उपयुक्त नहीं है। वह हिन्दी ठीक से इसलिए नहीं बोल पाता है कि हिन्दी बोलने या सीखने की प्रचेष्टा वह गम्भीरतापूर्वक नहीं करता है। अगर वह ऐसा करे तो उसके लिए हिन्दी ही नहीं, दुनिया की किसी भी भाषा को बोलना और लिखना सम्भव है। अत: हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रजाति और भाषा में कोई सम्बन्ध नहीं है जब कि भाषा और संस्कृति का सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ है।[1]

श्री सापिर (Sapir) ने भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध पर अत्यधिक बल दिया है। उनका कहना है कि अगर हमें किसी समाज के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समाज की भाषा का ज्ञान पहले प्राप्त करना होगा क्योंकि जब तक भाषा का ज्ञान न होगा तब तक उस समाज के लोगों के मूल विचारों तथा भावनाओं, विश्वासों, लोक-कथाओं, पौराणिक गाथाओं आदि के सम्बन्ध में भी हमें कोई भी जानकारी प्राप्त न हो सकेगी। इसका कारण यह है कि लोक-जीवन के इन पक्षों का परिचय हमें भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इन्हें जानने और वैज्ञानिक रूप से जानने का और कोई रास्ता नहीं है। श्री सापिर ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को या सांस्कृतिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होती है। इस अर्थ में प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को अपने में छिपाये या सुरक्षित रखती है। इस कारण अगर संस्कृति के रहस्य को जानना है तो भाषा के द्वार को पहले खोलना होगा। भाषा के माध्यम से ही विश्व-दर्शन या किसी समाज-विशेष का दर्शन सम्भव है। श्री सापिर ने इसी कारण स्पष्ट ही लिखा है कि भाषा और हमारी विचार-धारा इस प्रकार एक-दूसरे से घुली-मिली हुई हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है; एक अर्थ में वे दोनों एक ही हैं।[2]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानवशास्त्रीय अध्ययन, और विशेषकर आदिकालीन समाज के अध्ययन में भाषा का महत्त्व अत्यधिक है। इस अति उत्तम उदाहरण में ईसाई मिशनरी के लोग आते हैं। इनका प्रमुख कार्य जनजातीय समाजों में जाना और उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना था। परन्तु इस काम में सर्व-

---

1. E. A. Hoebel, *op. cit.*, p. 565.

2. "Language and our thought-grooves are in extricably inter-woven, are, in a sense, one and the same."—Edward Sapir, *Language*, New York, p. 232.

यम उन्हें उनकी भाषा सीखनी पड़ती थी तब कहीं वे उनके आधारभूत धार्मिक विश्वासों
ो समझ पाते थे और फिर उसी के अनुसार अपनी योजना बनाकर उनको धर्म-परिवर्तन
रने के लिए कहते थे।

श्री बोआस ने लिखा है कि "हमारे लिए यह कहना ही उचित होगा कि भाषा
स्कृति की अवस्था की एक प्रतिच्छाया है और अपने विकास में संस्कृति की माँगो का
नुसरण करती है।"[1] परन्तु साथ ही, श्री बोआस ने यह भी लिखा है कि संस्कृति पर
षा का प्रभाव भी स्पष्टत: पड़ता है। शब्द और वाक्य भी सांस्कृतिक प्रतीक हैं और
में उतना ही उद्वेग छिपा हुआ है जितना कि संस्कृति के अन्य प्रतीकों में। एक देवता
नाम उच्चारण करने में जो उद्वेग प्रकाश पाता है, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसका
हत्व कम नहीं है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातंत्र' या 'स्वतन्त्रता' या 'वन्देमातरम्' या जयहिन्द'
द हमें किसी भी सीमा तक प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, इसके अनेक उज्ज्वल दृष्टांत
नव-इतिहास में बिखरे पड़े हुए हैं। यह सब-कुछ ही भाषा के प्रभावों का परिणाम नहीं
फिर भी इनसे भाषा तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामाजिक जीवन
भाषा के महत्त्व का पता चलता है।

भाषा का सर्वप्रथम महत्त्व यह है कि इसके माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान
मव होता है। अर्थात् भाषा ही सामाजिक अन्त:क्रिया का आधार है। सामाजिक
नति या विकास के लिए तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक अन्त:क्रिया
महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा
क में जो अन्त.क्रिया होती रहती है उसी के परिणामस्वरूप एक प्राणीशास्त्रीय
गी एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है अर्थात् बालक का समाजीकरण सम्भव
ता है। अत. स्पष्ट है कि मानव सभ्य भाषा के कारण है।

भाषा के माध्यम से विभिन्न समाजों के बीच केवल विचारों का ही आदान-
न नहीं होता है बल्कि आविष्कारों का भी प्रसार सम्भव होता है। इससे सामजिक
ति की प्रक्रिया सरल हो जाती है। यद्यपि अब भी भाषा की भिन्नताओं के कारण
भिन्न समाजों के बीच अन्त.क्रिया या आदान-प्रदान पूर्ण मात्रा में नहीं हो पाता है,
र भी एक 'विश्व-राज्य' का जो सपना आज भी हम लोग देख रहे हैं, वह एक-भाषा
आधार पर ही सम्भव है।

डा० दुबे ने लिखा है कि "भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएँ
तार पाने के अतिरिक्त मौलिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती हैं।"
ा कि हम पिछले एक अध्याय मे बता चुके हैं, मौखिक परम्परा के रूप मे प्रथा,
णिक कथा, लोक-गीत, लोक-गाथा आदि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही
व है और इनकी अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता
भाषा के आधार पर अनेक सांस्कृतिक तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित

1. "We should rather say that language is a reflection of the state of
ture and follows in its development the demand of culture."—Franz Boas,
eral Anthropology, New York, 1938, p. 142.

18 आदिकालीन कानून, न्याय तथा सरकार
(Primitive Law, Justice and Government)

समाज एकज अखण्ड व्यवस्था नहीं है। इसके अन्तर्गत अनेक भाग तथा उपभाग क्रियाशील रहते हैं। इनमे से प्रत्येक भाग तथा उपभाग के अनेक सदस्य होते हैं जो कि अपने-अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। अगर इनमे से प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार या मनमाने ढंग से काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज की संरचना एक दिन में ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक समाज को सदा ही यह डर होता है कि कहीं बाहर का कोई समूह उस पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन न कर ले। इसीलिए बाहरी तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के आक्रमणों से सामाजिक संरचना शान्ति एवं सुव्यवस्था की रक्षा के लिए प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिकालीन हो या आधुनिक, में कानून, न्याय तथा सरकार की व्यवस्था होती है। सार रूप मे, प्रत्येक समाज में कानून अपने समाज के सदस्यों के लिए व्यवहार के कुछ निश्चित नियमों को प्रतिपादित करता है; न्याय उन नियमों (कानूनों) को तोडने वाले को दण्ड देता है और उनका पालन करने वाले के हितों की रक्षा करता है, और सरकार देश के अन्दर शान्ति और सुव्यवस्था को बनाये रखने या शासन-प्रबन्ध करने तथा बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने का काम करती है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज को कानून, न्याय तथा सरकार की आवश्यकता होती है, चाहे इनका स्वरूप कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो। इन तीनों को एकसाथ मिलाकर जो संगठन बनता है, उसे राजनैतिक व्यवस्था कहते हैं। आदिम समाज के सन्दर्भ में सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर (Beals and Hoijer) ने राजनैतिक संगठन को तीन श्रेणियों मे बांटा है जो कि निम्नवत् है[1]—

(1) प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे राजनैतिक संगठन आते हैं जिनमें कि कानून, न्याय तथा सरकार का रूप इतना अस्पष्ट है कि उन्हें वास्तव मे राजनैतिक सगठन कहना उचित न होगा। इन समाजों में नेताओं का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता, इस कारण इनका स्थानीय समूह या परिवारों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। ऐसे समाजों के अन्तर्गत छोटे-छोटे समूह होते हैं जो कि अत्यधिक छिटके होते हैं। जनसंख्या भी बहुत कम होती है। इस कारण राजनैतिक व्यवस्था का संगठित रूप भी विकसित नहीं हो पाता है।

(2) द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत राजनैतिक आधार पर कुछ संगठित जनजातियाँ, झुण्ड (band) आदि आते हैं। इनमे प्रथम श्रेणी के समूहों की अपेक्षा जनसंख्या और

---

1. Beals and Hoijer, *An Introduction to Anthropology*, The Macmillan Co., New York, 1959 p. 503.

आर्थिक उत्पादन की मात्रा कुछ अधिक होती है। एक समूह अपने पास-पड़ोस के समूहों पर कभी कभी आक्रमण भी करता है; परन्तु इन आक्रमणों का उद्देश्य दूसरे समूहों पर शासन करना नहीं होता, वरन् केवल कुछ आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना या दूसरे समूह को हराकर वहाँ से निकाल देना होता है।

(3) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे समाज आते हैं जो कि जनसंख्या तथा आर्थिक उत्पादन की दृष्टि से उपरोक्त दो श्रेणियों से कहीं अधिक उन्नत अवस्था में हैं। इन समाजों में राजनैतिक संगठन इतना व्यवस्थित होता है कि ये दूसरे समूहों को पराजित करके या तो उनसे हर्जाना वसूल करते हैं या उन्हें निम्न वर्ग के रूप में अपने में मिला लेते हैं। ऐसे समाजों में शासन की बागडोर एक वंशपरम्परागत कुलीन समूह के हाथ में रहती है।

आदिम समाजों की राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इन समाजों में राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप इतना संगठित नहीं होता जितना कि आधुनिक समाजों में। इनका शासन-प्रबन्ध प्रायः स्थानीय समूहों में बँटकर वंशपरम्परागत मुखिया के द्वारा ही होता है, जो कि प्रथा, धर्म और अन्य अनेक अन्धविश्वासों के आधार पर शासन करता है और समूह में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखने का प्रयत्न करता है। आदिम समाजों के राजनैतिक संगठन के इस पक्ष को ध्यान में रखते हुए हम अब इन समाजों में पाये जाने वाले कानून, न्याय तथा सरकार की प्रकृति तथा स्वरूप की विवेचना करेंगे।

आदिम कानून
(Primitive Law)

कानून क्या है ?
(What is Law ?)

प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार व्यवहार या क्रिया करने नहीं दिया जाता। मानवीय क्रिया और अन्तःक्रिया के दौरान में व्यवहार करने के अनेक सामान्य रूप प्रचलित हो जाते हैं जिन्हें उस समाज के सब या अधिकतर लोग मानते हैं। जनता कि इन रीतियों को जनरीति (folk ways) कहते हैं। यह जनरीति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इस हस्तान्तरित होने के दौरान में इसे अधिकाधिक समूहों की अभिमति प्राप्त होती जाती है, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी का सफल अनुभव इसे और भी दृढ़ बना देता है। समाज में मान्यताप्राप्त वह जनरीति, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है, प्रथा कहलाती है। प्रथा को सामाजिक जीवन में अधिक दृढ़तापूर्वक लागू किया जाता है और इसकी अवहेलना करने पर निन्दा और पालन करने पर प्रशंसा होती है। परन्तु प्रथा को प्रतिपादित करने, लागू करने तथा उसके उल्लंघन करने पर अपराधी को दण्ड देने के लिए कोई संगठित शक्ति नहीं हुआ करती है। प्रथा तो सामाजिक क्रिया, अन्तःक्रिया और प्रतिक्रिया के दौरान में स्वतः क्रियाशील रहती है। इसके विपरीत जब कोई संगठित शक्ति मानव-व्यवहार से सम्बन्धित किसी नियम को प्रतिपादित करती, उसे

लागू करती तथा उसका उल्लंघन करने वाले को दण्ड देती है, तो उस शक्ति के द्वारा प्रतिपादित उस नियम को कानून कहते हैं। दूसरे शब्दों में, कानून मानव-व्यवहार से सम्बन्धित वह नियम है जिसे प्रतिपादित करने, उसे लागू करने तथा उसके उल्लंघन करने वाले को दण्ड देने का उत्तरदायित्व एक संगठित शक्ति पर हो।

श्री कारडोजो ने कानून की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों मे की है, "कानून आचरण का वह सार नियम है जिसे कि इस निश्चितता से प्रतिपादित किया जाता है कि अगर भविष्य में उसकी सत्ता को चुनौती दी गई तो उसे अदालतो के द्वारा लागू किया जायगा।"[1] श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "कानून एक सामाजिक नियम है जिसका उल्लंघन होने पर धमकी देने या वास्तव मे शारीरिक बल का प्रयोग करने का अधिकार एक ऐसे समूह को होता है जिसे ऐसा करने का समाज द्वारा मान्य विशेषाधिकार प्राप्त है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि कानून का आधार समाज की शक्ति है। यह शक्ति समाज अपने एक समूह को दे देता है जिसे कि आधुनिक भाषा में सरकार कहते हैं। सरकार कुछ नियमों को बनाती है, और यह नियम उस क्षेत्र मे रहने वाले सभी व्यक्तियों या समूहों पर समान रूप से बिना किसी अपवाद के लागू होते हैं। इन नियमों का निर्माण राजनैतिक तथा सामाजिक संगठन या सुव्यवस्था तथा प्रत्येक के अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। इसीलिए इनका पालन अनिवार्य होता है। आधुनिक समाज में सरकार, इन नियमों अर्थात् कानूनों का पालन हो रहा है या नहीं, यह देखने के लिए तथा इनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए पुलिस, कोर्ट आदि को नियुक्त करती है। इस प्रकार कानून को बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर और उसे लागू और पालन करवाने तथा अपराधी को दण्ड देने का भार पुलिस व कोर्ट पर होता है। परन्तु आदिम समाजों में कानून बनाने, उसे लागू करने तथा दण्ड देने के सम्बन्ध मे उतना सुव्यवस्थित और स्पष्ट संगठन नहीं मिलता है जितना कि आधुनिक समाजों मे। इस कारण आदिम समाजों में कानून की वास्तविक प्रकृति क्या होती है, यह जान लेना आवश्यक होगा।

आदिकालीन कानून की प्रकृति
(Nature of Primitive Law)

आधुनिक दृष्टिकोण से जब हम कानून की परिभाषा को आदिम समाजों पर प्रयुक्त करते हैं तो हम यह पाते हैं कि वह परिभाषा आदिम समाजों मे ठीक-ठीक नहीं बैठती है। दुनिया के अनेक आदिम समाजों में हम यह पाते हैं कि इन समाजो में न कोई अदालत

1. "Law is a principle rule of conduct so established as to justify a prediction with reasonable certainty that it will be enforced by the courts if its authority is challenged."—B.N. Cardozo, *The Growth of the Law*, 1924, p. 52. cf H. Cairns [illegible]

or in [illegible]
reco[illegible]
New [illegible], 1958, p. 471.

है और न ही पुलिस-संगठन। अनेक आदिम समाजों में तो कानून का उल्लंघन होने पर उसका विचार परिवार या नातेदारों के द्वारा ही हो जाता है। दण्ड का स्वरूप भी आधुनिक समाज से काफी भिन्न होता है। 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त लागू किया जाता है और उसे उसी कार्य के अनुरूप सज़ा दी जाती है, या मार डाला जाता है या मार-पीटकर छोड़ दिया जाता है। परन्तु इस अन्तर के अलावा भी आदिम समाजों तथा आधुनिक समाजों के कानून में तीन और प्रमुख अन्तरों का उल्लेख श्री लोई (Lowie) ने किया है[1]—

(1) नातेदारी (Kinship)—अगर हम आधुनिक समाजों का विश्लेषण करें तो यह पायेंगे कि यहाँ कानून का विस्तार एक क्षेत्र के अन्तर्गत होता है। भारतवर्ष में क्षेत्र (territory) के आधार दो हैं—एक दो राज्य-सरकार और दूसरा केन्द्रीय सरकार। बहुत से कानून हैं जो कि राज्य-सरकार पास करती है और ये कानून उस राज्य के क्षेत्र के अन्दर ही लागू होते हैं। इसके विपरीत केन्द्र ऐसे कानून को भी पास कर सकता है जो कि सारे देश में लागू होता है। दोनों प्रकार के कानूनों का ही एक निश्चित क्षेत्र होता है और ये कानून उस क्षेत्र में रहने वालों पर लागू होते हैं। परन्तु आदिकालीन कानूनों का यह पक्ष अत्यन्त ही दुर्बल प्रतीत होता है। आदिम समाजों में कानूनों का प्रतिपादन किसी क्षेत्र के आधार पर नहीं होता, बल्कि नातेदारी के आधार पर होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन समाजों में भूमि या क्षेत्र का महत्त्व उतना नहीं है जितना कि नातेदारी या रक्त-सम्बन्ध का। नातेदारी के महत्त्व की एक सामान्य अभिव्यक्ति यह है कि इन समाजों में मुखिया, शासक या राजा प्रायः वंशानुगत होता है और पिता की मृत्यु के बाद उसका लड़का स्वतः ही शासक या मुखिया मान लिया जाता है। रक्त-सम्बन्ध के आधार पर समाज में संगठन और सुव्यवस्था कायम रखना इन समाजों में काफी सरल भी होता है क्योंकि इससे दृढ़ अन्य किसी भी बन्धन का आविष्कार आदिम लोग कर नहीं पाये हैं। रक्त-सम्बन्ध को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, इस कारण रक्त-सम्बन्धियों के द्वारा जो कानून बनाया जाता है उसे लागू करना तथा उसका पालन करवाना सरल हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि आदिम समाजों में प्रत्येक गोत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण राजनैतिक कार्य होते हैं। एक गोत्र का मुखिया अपने गोत्र के लिए कानून बनाता है और उसका पालन करवाता है। यूगण्डा में एक गोत्र के मुखिया से यह आशा की जाती है कि वह इस प्रकार के कानूनों को बनायेगा जिससे कि उस गोत्र के सदस्यों के हितों की रक्षा हो सके।

(2) आचार तथा जनमत (Ethics and Public Opinion)—आदिकालीन कानून की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इन कानूनों की विवेचना आचार के सामान्य नियमों तथा जनमत से पृथक् करके नहीं की जा सकती। एक अर्थ में आदिम समाजों में कानून प्रथा, आचार, धर्म आदि के साथ इतना अधिक घुला-मिला होता है कि इनको एक-दूसरे से अलग करना बहुत कठिन होता है। वास्तव में प्रथा, आचार, धर्म आदि

1. See R.H. Lowie, *Social Organization*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1956, Chapter VII.

से पृथक् आदिकालीन कानूनों का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने आदिकालीन कानून के इस पक्ष पर बल देते हुए लिखा है कि जनजातीय समाजों में कानून मुख्यत: कर्त्तव्यों और अधिकारों का एक योग है जिसे कि परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा तथा प्रचार के आधार पर क्रियाशील रखा जाता है।[1] आदिम समाजों के कानूनों पर प्रथा, आचार और धर्म का ही केवल प्रभाव नहीं होता है, बल्कि जनमत का भी बहुत प्रभाव हुआ करता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आदिम समाजों का आकार आधुनिक समाजों की भाँति विशाल नहीं होता है। सरल तथा छोटे होने के कारण इन समाजों में सामाजिक अन्त:क्रिया का क्षेत्र बहुत ही कम होता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानता और पहचानता है और साथ ही अनेक आर्थिक तथा सामाजिक विषयों में वे एक-दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। इन आदिम समाजों के विषय में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि एक समाज के सदस्यों की प्रमुख समस्याएँ प्राय: एकसमान होती हैं क्योंकि हर एक समाज में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ प्राय: सबके लिए एक समान ही होती हैं। समस्याएँ प्राय: एक-सी होने के कारण जनमत के विभिन्न रूप भी विकसित नहीं हो पाते। एक-सा होने पर भी यह जनमत बहुत प्रभावशाली होता है। आदिम समाज के सदस्यों की पारस्परिक अन्योन्याश्रितता के कारण जनमत का यह प्रभाव और भी अधिक होता है। इसी कारण आदिम समाजों के जनमत में वह सत्ता निहित होती है जो कि व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण और शासन करती है। इस जनमत का डर प्रत्येक सदस्य को होता है। जनमत जो व्यवहार उचित मान ले, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेना ही ठीक है अन्यथा समूह से बहिष्कृत हो जाने का डर सदैव रहता है। प्रत्येक सदस्य इस विषय में सचेत है और यह देखता है कि दूसरे लोग जनमत के निर्देश के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक 'पुलिसमैन' के रूप में इस अर्थ में कार्य करता रहता है कि वह अन्य लोगों के व्यवहार पर कड़ी निगरानी रखता है। इस कारण इन 'पुलिसमैनों' की निगाह बचाकर कुछ भी करना असम्भव है और किसी भी रूप में किसी नियम को तोड़ने पर उस अपराध से रक्षा पाने की सम्भावना भी उतनी ही कम है। इन समाजों में एक व्यक्ति समूह की परवाह किए बिना जीवित रहने का सपना नहीं देख सकता, इसलिए जनमत के सामने उसे झुकना पड़ता है; और जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ठ रूप से जानता-पहचानता है वहाँ सामाजिक नियम को तोड़कर व्यक्ति कैसे बचकर या छिपकर रह सकता है। एकसमान जनमत एकसमान नियमों को जन्म देता है जो कि समान रूप से सब पर लागू होते हैं। इन नियमों को, जो कि धर्म, परम्परा तथा आचार पर आधारित होते हैं, आधुनिक अर्थ में कानून कहा जा सकता है या नहीं यह दूसरी बात है, परन्तु यदि कानून को समाज द्वारा मान्यताप्राप्त समूह के सदस्यों के व्यवहारों के नियंत्रण के रूप में मान लिया जाय तो आदिम समाज के ये नियम भी कानून ही हैं, विशेषकर इस अर्थ में कि इनके पीछे समूह की स्वीकृति है, वे

1. See B. Malinowski, *Crime and Custom in Savage Society*, New York., 1926.

समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा लागू किये जाते हैं तथा इनको तोड़ने पर व्यक्ति को सज़ा मिलती है।

(3) अपराध और टार्ट (Crime and Tort)—सामान्यत: अपराध वह कार्य है जो कि समूह के हित के लिए घातक है। राज्य या समुदाय अपने हितों की रक्षा के लिए कुछ नियमों को प्रतिपादित करता है; इन नियमों को तोड़ना या इनके विरुद्ध काम करना ही अपराध है। इनके विपरीत एक व्यक्ति के व्यक्तिगत हितों के विरुद्ध काम करने को 'टॉर्ट' (tort) कहते हैं। इससे समुदाय, राज्य या जनता को नहीं, बल्कि एक व्यक्ति को हानि पहुँचती है। आधुनिक समाजों में इन दो प्रकार के अपराधों के बीच स्पष्ट भेद माना जाता है। अपराध के मामलों में राज्य अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही करता है और उसे सजा देता है। परन्तु टॉर्ट के मामलों में राज्य से कोई मतलब नहीं होता है। जिस व्यक्ति के विरुद्ध 'टॉर्ट' किया गया है वह व्यक्ति (न कि राज्य) अपराधी के विरुद्ध अदालत में कार्यवाही करता है और उससे हर्जाना वसूल करता है या उसे सजा दिलवाता है। परन्तु आदिम समाज में अपराध और टॉर्ट में विशेष अन्तर नहीं माना जाता। अधिकतर व्यक्ति, नातेदारों या गोत्र के विरुद्ध अपराध होता है। अगर कोई एक व्यक्ति को हानि पहुंचाता है तो वह व्यक्ति या उसके रिश्तेदार हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति या उसके रिश्तेदारों से बदला लेते हैं। उसी प्रकार अगर एक गोत्र के किसी सदस्य को दूसरे गोत्र के किसी सदस्य ने हानि पहुँचाई है तो दूसरा गोत्र पहले गोत्र से बदला लेता है। दोनों ही क्षेत्र में अपराध करने वाला और उसे सजा देने वाला या वाले दो व्यक्ति या उनके नाते-रिश्तेदार ही होते हैं। समाज समग्र रूप में अपराध के मामले में सामान्यत: दखल नहीं देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आदिम समाजों में अपराध के विरुद्ध समाज की कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं है। ऐसे अनेक अवसर होते हैं जबकि किसी सामाजिक नियम को तोड़ने पर समग्र समाज उसका विरोध करता है। परन्तु यह तभी किया जाता है जबकि समाज को यह डर होता है कि उस अपराधी-कार्य-विशेष से पूरे समाज को नुकसान पहुंच सकता है। उदाहरणार्थ, एस्कीमो के समाज में किसी व्यक्ति को मार डालना एक व्यक्तिगत अपराध या 'टॉर्ट' मात्र है और इसलिए इस विषय में समग्र समाज कोई कार्यवाही नहीं करता। परन्तु यदि यह शक हो जाय कि कोई जादू-टोना कर रहा है, अथवा कोई व्यक्ति भूत-प्रेत या डाइन के प्रभाव से प्रभावित होकर कार्य कर रहा है तो उसके विरुद्ध सारा समाज तुरन्त जाग उठता है और आवश्यक कार्यवाही करके उसे दबा देता है या सजा देता है। श्री लोई (Lowie) का कथन है कि क्रो इण्डियन (Crow Indian) इस नियम का भी पालन नहीं करते। वहाँ यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति पर जादू-टोना करता है तो इस विषय में समग्र समूह कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता है। जिस पर जादू किया जाता है वह स्वयं ही उसका उत्तर देता है अर्थात् उसके विरोध में जादुई प्रतिक्रिया करता है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, आदिम समाजों में कानून का आधार आचार, धर्म आदि होता है, जिसके फलस्वरूप अधिकतर अपराध को 'पाप' कहकर ही परिभाषित किया जाता है। 'पाप' ईश्वरीय नियमों का उल्लघंन है, इसलिए यह विश्वास

किया जाता है कि अगर कोई सामाजिक नियम को तोड़ता है तो उसे ईश्वर ही सजा देगा। यह विश्वास अपराध को रोकने या अपराधी को दण्ड देने के विषय में समूह या समाज के उत्तरदायित्व को घटा देता है; अधिक उत्तरदायित्व अलौकिक शक्ति (supernatural power) का होता है।

कानून के पीछे अभिमति
(Sanction behind the Law)

आदिम समाजों में पाये जाने वाले कानून के अध्ययन से यह पता चलता है कि इन समाजों में कानून के पीछे दो प्रकार की अभिमति होती है—पहली तो सकारात्मक अभिमति (positive sanction) और दूसरी नकारात्मक अभिमति (negative sanction)। इन दोनों प्रकार की अभिमतियों के नाम से ही स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे अभिमति आती हैं जो कि कुछ कार्यों को करने का आदेश देती हैं। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यों को करवाया जाता है जो कि उस समूह की दृष्टि में अच्छे कार्य हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इन कार्यों द्वारा समूह के हितों की रक्षा होगी और इस कारण ये कल्याणकारी हैं। अतः जो इनसे सम्बन्धित नियमों का पालन करते हैं, समाज उनकी प्रशंसा करता है या अन्य रूप में उनको पुरस्कार (reward) देता है। इसके विपरीत नकारात्मक अभिमति के अन्तर्गत वे नियम आते हैं जोकि कुछ कार्यों को करने का निषेध करते हैं। इस प्रकार की अभिमति के द्वारा उन कार्यों को करने से रोका जाता है जो कि समूह के हित के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इस कारण जो ऐसे कार्यों को करते हैं उनकी समाज द्वारा निन्दा की जाती है या अन्य प्रकार से उनको दण्ड मिलता है।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि आदिम समाजों में कानून के पीछे वास्तविक अभिमति जनमत (public opinion) है, जिसका कि महत्त्व इन समाजों में अत्यधिक है। आदिम समाज छोटा, सरल तथा एक आमने-सामने का (face to face) समाज होता है और प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबको व्यक्तिगत रूप से जानता-पहचानता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक को अन्य सबकी परवाह करनी पड़ती है। एक कार्य के विषय में दूसरे क्या सोचते हैं या उस कार्य को करने पर दूसरे क्या सोचेंगे, इस सम्बन्ध में एक प्रकार की जागरूकता आदिम लोगों में सदैव होती है। जनमत का भय आदिम मानव पर सदा ही छाया होता है, क्योंकि समाज से बहिष्कार उसके लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है, यह बात वह जानता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने इसका एक अति उत्तम तथा स्पष्ट कारण बताया है। आपके मतानुसार आदिवासी कानूनों का पालन अन्धों की भाँति या गुलामों की भाँति नहीं करते और न ही बिना किसी कारण के आप-से-आप नियमों का पालन किया जाता है। आदिम समाजों में पारस्परिक अन्योन्याश्रितता (inter-dependence) तथा एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य-बोध ऐसे तत्त्व हैं जो कि

कारणों से, जिनमें प्रथाएँ भी सम्मिलित हैं, होता है; परन्तु कोई भी सामाजिक नियम कानून तभी बनता है जबकि राज्य इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है और इसे अपने नागरिकों पर एक अनिवार्य नियम के रूप में लागू करता है। कानून के पीछे राज्य की अभिमति (sanction) होती है। यदि कोई कानून को तोड़ता है तो उसे न्यायालय दण्ड देता है।

अगर हम कानून के उपरोक्त स्वरूप को स्वीकार करें तो स्पष्ट है कि आदिकालीन समाजों में कानून का कोई स्पष्ट रूप न था। इसका कारण यह था कि कानून बहुत-कुछ प्रथा-संहिता (code of customs) तथा सामाजिक नियमों के साथ घुला-मिला था। यह सच है कि प्राचीनकाल में कुछ ऐसे सामाजिक नियम या प्रथाएँ होती थीं जो वही कार्य करती थीं जो आज कानून करता है। फिर भी इन्हें कानून नहीं कहा जा सकता। प्रथाएँ कानून नहीं हैं क्योंकि प्रथाओं की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। जबकि कानून राज्य द्वारा बनाये जाते और लागू किये जाते हैं, प्रथाएँ सामाजिक कार्य-विधि हैं जो कि सामाजिक अन्तःक्रिया के दौरान में धीरे-धीरे स्पष्ट और प्रगटित होती हैं। ये किसी विशेष समिति या संस्था द्वारा न बनायी जाती हैं, न लागू की जाती हैं और न उनकी रक्षा ही की जाती है। ये सामान्य स्वीकृति से बनी रहती हैं। ऐसी कोई विशेष शक्ति नहीं है जो हमें इस बात का आदेश देती है कि हम बड़ों का अभिवादन करें, त्योहारों पर फुलझड़ियाँ जलाएँ, घर को सजाएँ या विशेष अवसरों पर नए वस्त्र पहनें। फिर भी प्रथाएँ, बड़ी शक्तिशाली होती हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि हम सबके जीवन के सभी अवसरों पर उनका प्रभाव है। ये सुबह से रात तक, युवावस्था से वृद्धावस्था तक हमारे कार्यों को संचालित करती हैं।

प्रथाओं और कानूनों में अन्तर होते हुए भी ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। सामाजिक व्यवहार को एक उचित मान (standard) पर लाने के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही कुछ प्रथाएँ बन जाती हैं और बाद में सरकार द्वारा मान्य हो जाने पर ही वे कानून बन जाती हैं। सब कानून लिखित ही होंगे, ऐसी कोई बात नहीं है—परम्परा या प्रथा को ही सरकार मौखिक रूप से एक कानून का रूप दे सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले यह प्रथा थी कि राष्ट्रपति तीन बार (term) से अधिक चुनाव नहीं लड़ेगा। बाद में इसे कानून का रूप दे दिया गया। इंगलैंड में अलिखित संविधान (unwritten constitution) तो सम्पूर्ण रूप से प्रथाओं पर ही आधारित है। प्रथा और कानून का यह सम्बन्ध आदिम समाजों में तो और भी घनिष्ठ है। इन समाजों में कानून अलिखित होते हैं और अधिकांशतः मौखिक परम्परा के रूप में प्रथा के साथ ही घुल-मिलकर जीवित रहते हैं। आदिम समाज का एक व्यक्ति चारों ओर से प्रथाओं द्वारा घिरा होता है। उसका सामाजिक जीवन, धर्म, अर्थ-व्यवस्था, कला, आमोद-प्रमोद आदि सब-कुछ प्रथाओं से प्रभावित और निर्देशित होता है। इन्हें वह उसी रूप में स्वीकार कर लेता है जैसे कि वे हैं। इनमें से कुछ प्रथाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और जनजातीय समूह का नेता या मुखिया उन्हें अधिक निश्चित रूप से सामाजिक परिस्थितियों में सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए लागू करता है और उन्हें तोड़ने वालों को दण्ड देता है। ये ही

आदिम समाजों के अलिखित कानून का रूप धारण कर लेती हैं। ये अलिखित होने पर भी इनसे सम्बन्धित धारणाएँ पर्याप्त स्पष्ट होती हैं क्योंकि कानूनों के उल्लंघन की घटनाएँ तथा उनके लिए दिये गए दण्ड समाज को (अर्थात् समूह के मुखिया को) स्मरण रहते हैं, और उन्हीं के आधार पर अलिखित कानून-संहिता (legal code) के साथ-साथ अलिखित दण्ड-संहिता (penal code) भी विकसित हो जाती है। अत: स्पष्ट है कि आदिम समाजों में कानून और प्रथा एक-दूसरे से इतना अधिक घुले-मिले हुए हैं कि इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा स्पष्ट नहीं है। आदिम समाजों में व्यक्ति के अधिकतर व्यवहारों पर नियंत्रण प्रथा के द्वारा ही होता रहता है।

आदिम समाजों में न्याय
(Justice in Primitive Societies)

आदिम समाजों में आधुनिक समाजों की भांति न्याय-व्यवस्था—अदालत, न्यायाधीश, वकील आदि नहीं होते। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि इन समाजों में राजनैतिक संगठन का स्वरूप बहुत अस्पष्ट है। इन समाजों में आधुनिक अर्थ में राज्य, सरकार, न्यायालय आदि बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। फलत: सामाजिक नियमों को तोड़ने वालों को दण्ड और कानून का पालन करने वालों के हितों की रक्षा व उनके लिए न्याय की व्यवस्था करने के लिए अन्य संगठन अपनाया जाता है और वह है रक्त-सम्बन्धी समूह (kin groups) अपराधी को दण्ड देने या न्याय की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व इसी रक्त-सम्बन्धी समूह पर होता है जिसके सदस्य अपने को इस विषय में सम्मिलित रूप से उत्तरदायी समझते हैं। अधिकतर जनजातियों का अपना एक वंशानुगत मुखिया होता है जो कि उस समूह की न्याय-व्यवस्था को परिचालित करता है। इस न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े-बूढ़ों की एक समीति (a council of elders) होती है जिसमें कि उस जनजाति के अन्तर्गत पाये जाने वाले रक्त-सम्बन्धी समूहों के प्रतिनिधि होते हैं। इनका कार्य मुखिया को न्याय करने के काम में परामर्श देना तथा अपराधी को सजा देने के विषय में सहायता करना है। आदिम समाजों में न्याय-व्यवस्था का यह स्वरूप अनेक कारणों से है जैसे, समाज का सरल और छोटा रूप, रक्त-सम्बन्धों की प्रधानता, आमने-सामने का सम्बन्ध, बाहरी जगत् से कम या न के समान सम्पर्क आदि। साथ ही यह बात भी है कि मौखिक परम्परा के रूप में अलिखित कानूनों या नियमों का पालन आदिम समाजों में लोग जनमत के डर से ही करते हैं। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति के लोग सामाजिक नियमों को इस कारण नहीं तोड़ते कि वैसा करने पर उसके नाते-रिश्तेदार उसकी हँसी उड़ायेंगे और उसकी सामाजिक स्थिति गिर जायगी। जहाँ कि प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को घनिष्ठ रूप से जानता-पहचानता है और जहाँ रोज ही प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के सम्पर्क में आना होता है, वहाँ किसी सामाजिक नियम को तोड़कर सबके लिए हँसी-
क की एक वस्तु बन जाना सबसे बड़ी सजा है। आदिम समाजों की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था इसी एक तत्त्व के कारण बहुत सरल हो जाती है। सामान्यत: इन समाजों की न्याय-व्यवस्था के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

सम्मिलित उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility)

चूंकि आदिम समाजों में समूह से पृथक् एक व्यक्ति का कोई अस्तित्व हो ही नहीं सकता, इस कारण उसके समूह के लोग ही सम्मिलित रूप से उसके अपराध के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। यह भावना रक्त-सम्बन्धी समूहों में और भी दृढ़ है। उदाहरणार्थ, आदिम समाजों में पाये जाने वाले गोत्र-संगठन (clan organization) को ही लीजिए। एक गोत्र के सदस्य स्वयं को रक्त-सम्बन्धी मानते हैं; इस कारण यदि गोत्र के किसी सदस्य के प्रति कोई दुर्व्यवहार करता है, उसे मारता, पीटता या अन्य किसी भी प्रकार से उसके प्रति कोई अन्याय करता है, तो उस गोत्र के सभी सदस्य उसका विरोध करने को तैयार हो जाते हैं और वास्तव में अन्याय या अत्याचार करने वाले व्यक्ति से ही नहीं, अपितु उसके समूह से बदला लेते हैं क्योंकि गोत्र के सभी सदस्य समग्र या सम्मिलित रूप से अपने प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा प्रदान करने के सम्बन्ध में उत्तरदायी मानते हैं। इस सम्मिलित उत्तरदायित्व का एक दूसरा पक्ष भी है और वह यह कि गोत्र के किसी सदस्य के हीन कार्यों का उत्तरदायित्व और बदनामी सारे गोत्र के सदस्यों पर आती है। यह बात केवल गोत्र-समूहों के सम्बन्ध में ही नहीं, बल्कि उन समूहों के सम्बन्ध में भी सच है जिनमें कि गोत्र-व्यवस्था नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ, गोत्रविहीन हूपा (Hupa) जनजाति में अगर कोई इसके किसी सदस्य को मार डालता है तो ये लोग बदले में हत्यारे के परिवार के किसी-न-किसी सदस्य को जरूर मार डालते हैं। इस सिद्धान्त को लागू करने का परिणाम यह होता है कि किसी भी व्यक्ति के द्वारा दूसरे समूह के किसी व्यक्ति के प्रति किये गये अपराध को एक समूह के द्वारा दूसरे समूह के प्रति अत्याचार या अपराध माना जाता है। इसी सिद्धान्त का दूसरा रूप यह है कि अपने ही समूह के अन्दर कोई व्यक्ति अपराध करता है तो उसे दण्ड देने का उत्तरदायित्व उसके ही रक्त-सम्बन्धी समूह को है; समग्र समाज को इस विषय में परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। इफुगाओ (Ifugao) जनजाति में इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष के कुछ रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक बार इस समाज में दो हत्यारों (murderers) को कोई भी सजा नहीं दी गई और वह इसलिए कि उन्होंने अपने ही परिवार के दो व्यक्तियों की हत्या कुछ ऐसे कारणों से की थी जो कारण कि उस परिवार के अन्य जीवित सदस्यों के विचारों में उचित ही था। ये लोग अपने आपस के लोगों के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही इससे भी अधिक घृणित कार्यों तक के लिए नहीं करते। जैसे, अगर कोई पिता अपनी कन्या के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अपराध करे, तो उसे उस कन्या की माता के परिवार के लोग इस आधार पर दण्ड दे सकते हैं कि उस पिता ने उनके विरुद्ध अपराध किया है, परन्तु उस व्यक्ति के अपने परिवार के लोग उसके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नहीं करेंगे।

जनजातीय संगठन के दृष्टिकोण से सम्मिलित उत्तरदायित्व का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है और इस कारण इस सिद्धान्त को सामान्य रूप से लागू भी किया जाता है। सामूहिक संगठन को बनाये रखने के लिए ही अगर एक व्यक्ति 'अ' दूसरे किसी समूह

के एक सदस्य 'ब' को नुकसान पहुँचाता है तो 'अ' का समूह उस अपराध को दबाने का प्रयत्न करता है अर्थात् 'अ' के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करता, जबकि 'ब' का समूह 'अ' से या 'अ' के समूह से बदला लेने का या 'ब' को हर्जाना दिलवाने का प्रयत्न करेगा। इसका परिणाम कभी-कभी युद्ध-रक्तपात होता है। चुकची (Chukchi) जनजाति केवल एक बार बदला लेकर ही शान्त हो जाती है; परन्तु इफूगाओ में तो संघर्ष तब तक निरन्तर चलता रहता है जब तक दोनों पक्षों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। आदिम समाजों के गहन अध्ययन से पता चलता है कि इस प्रकार का सम्मिलित उत्तरदायित्व एक अर्थ में उनके अस्तित्व (survival) के लिए भी आवश्यक है।

अपराध का निर्धारण
(Determination of Crime)

आदिम समाजों में अपराध का निर्धारण कई तरीकों से होता है। कोई व्यक्ति अपराधी है या नहीं, यह तय करने के लिए प्रत्यक्षदर्शियों की गवाहियों की आवश्यकता सदैव नहीं होती। कुछ इस प्रकार के अपराधी होते हैं जिनके अपराध का निर्धारण अदृश्य जगत् की दैवी शक्तियों पर इस विश्वास पर छोड़ दिया जाता है कि वे शक्तियाँ ही यह स्पष्ट करेंगी कि एक व्यक्ति वास्तव में अपराधी है या नहीं। कई स्थितियों में इस सम्बन्ध में व्यक्ति को कठिन परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। यदि वह उन परीक्षाओं में से सन्तोषजनक रूप से निकल जाता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, वरना उसे दण्ड भुगतना पड़ता है। ये परीक्षाएँ कितनी कठोर होती हैं, इस बात का आभास दो-एक उदाहरणों के द्वारा हो सकता है। अफ्रीका की कुछ जनजातियों में अगर लोगों को यह सन्देह हो जाय कि किसी स्त्री ने यौन-सम्बन्धी कोई अपराध किया है, पर वह स्त्री अपने अपराध को स्वीकार नहीं कर रही है तो वह अपराधी है या नहीं, इसे निर्धारित करने के लिए उस स्त्री को किसी ऊँची जगह, या पहाड़ी के ऊपर ले जाकर लुढ़का दिया जाता है। वह स्त्री लुढ़कती हुई नीचे आकर गिरती है; अगर इसपर भी उसे किसी प्रकार की चोट नहीं लगती है और उसका शरीर बिना किसी आघात के पूर्ववत् बना रहता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, अन्यथा वह दण्डित की जाती है। उसी प्रकार कुछ जनजातियों में एक व्यक्ति को अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिए जलती हुई आग में या उबलते हुए पानी में अपना हाथ डाल देना पड़ता है। प्राचीन हिन्दू समाज में भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। सीताजी को अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी थी। यह सब एक अर्थ में दण्ड का प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है, जो ... में नैतिक न्याय की पूर्ति (fulfilment of moral justice) पर आधारित है, ... विश्वास किया जाता है कि बुरे काम का परिणाम सदैव बुरा ही होता है, चाहे ... उसे कानून के अनुसार दण्ड मिले या न मिले। आदिम समाजों में लोगों को ... की परीक्षा इसीलिए देनी होती है कि वहाँ लोग यह विश्वास करते हैं कि ... प्रतिकार-देवी (*Nemesis*) के द्वारा प्रत्येक अपराधी को उसके बुरे काम ... ही मिलेगा।

कई समाजों में व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा लेने का कार्य जादू और धर्म के अधिकर्त्ताओं पर छोड़ दिया जाता है। वे अपने परम्परागत तरीकों से उनकी परीक्षा करते हैं और फिर यह निर्णय देते हैं कि वे अपराधी हैं या नहीं। कई आदिम समाजों मे अपराध-निर्धारण करने की यह व्यवस्था है कि जिस व्यक्ति के विषय में यह संदेह होता है कि वह अपराधी है, उससे नाना प्रकार की कसमे खिलायी जाती हैं और अगर वह व्यक्ति उन कसमों को खाकर यह कह देता है कि उसने अपराध नही किया तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है; पर यदि वह कसम नही खाता है या वैसा करने मे हिच-किचाता है तो उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है। हमारे अपने भारतवर्ष मे भी पहले गाँव-पंचायत के पंच लोग शपथों द्वारा सम्भावित अपराधी से उनके अपराध के सम्बन्ध मे या किसी घटना-विशेष के सत्य को जानने का प्रयत्न करते थे। यह कसम प्रायः ईश्वर की कसम, या बाल-बच्चों की कसम या गंगाजल हाथ में लेकर कसम होती थी। शपथ के द्वारा अपराध का निर्धारण उस समाज मे ही सम्भव है जहाँ पर कि धार्मिक विश्वास या कसमों के पीछे अलौकिक शक्ति के प्रभाव के सम्बन्ध मे विश्वास प्रबल होता है। जो लोग इस शैली से एक व्यक्ति-विशेष के अपराधी होने या न होने के सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करते हैं, उन्हे भी यह विश्वास होता है कि अगर अपराधी झूठी कसम खाता है तो उसे केवल अपने अपराध का ही नहीं, वरन् झूठी कसम खाने का भी दण्ड उस अलौकिक शक्ति के द्वारा मिल जायगा जिससे कि कोई भी अपराध, चाहे वह कितने ही गुप्त रूप से क्यो न किया जाय, छिपाया नहीं जा सकता।

प्रमाण
(Evidence)

न्याय करने के लिए अपराधी के सम्बन्ध में कोई-न-कोई प्रमाण अवश्य ही होना चाहिए। प्रोफेसर हॉबहाउस का मत है कि समाजों मे अपराध के सम्बन्ध मे प्रमाणों को एकत्रित एक व्यक्ति के दोषी या निर्दोष होने की परीक्षा करने के लिए उतना नहीं किया जाता जितना कि समूह के अन्दर होने वाले झगड़े तथा बदला लेने की भावना को रोकने के लिए। फिर भी सभी समाजों मे घटनाओं के सत्य को जानने और अपराध को प्रमा-णित करने के लिए कोई-न-कोई तरीका अवश्य ही अपनाया जाता है। आदिम समाजों मे यह प्रमाण अधिकतर धर्म तथा जादू सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर इकट्ठा किया जाता है। इसी कारण इन समाजो में अपराध का प्रत्यक्षदर्शियो की गवाहियों द्वारा प्रमाणित करना अनिवार्य नही होता है। 'अपराध के निर्धारण' के सम्बन्ध मे जो विवेचना ऊपर की गई है उससे यह स्पष्ट है कि प्रमाण कई तरीको से इकट्ठा किया जाता है। परन्तु उनमें दो तरीके प्रमुख हैं—पहला तो शपथ (oath) ग्रहण करके और दूसरा कठिन परीक्षा (ordeal) देकर।

पहले तरीके मे अपराध को प्रामाणित करने के लिए सम्भावित अपराधी से लेने को कहा जाता है। वह अपने निर्दोष होने की शपथ लेता है। शपथ लेने की अलग-अलग समाज मे भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, क्रो (Crow) जनजाति मे एक

चाकू को मुंह में रखकर सूर्य को साक्षी मानकर परम्परा-स्वीकृत कुछ शब्दों का उच्चारण करते हुए शपथ ग्रहण करने की रीति है। सामोयद (Samoyed) जनजाति में सूअर की नाक पर हाथ रखकर कसम खायी जाती है। अफ्रीका के कुछ आदिम-समूहों में अपने समूह के प्रधान या मुखिया के मस्तक पर हाथ रखकर शपथ ली जाती है। किरगिज (Kirgiz) जनजाति में शपथ ग्रहण करने का एक रोचक तरीका पाया जाता है। इस समाज में सम्भावित अपराधी को अपने निर्दोष होने की शपथ नहीं लेनी पड़ती है, बल्कि उसके बदले में कोई दूसरा व्यक्ति जो कि अपराधी-व्यक्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, शपथ ग्रहण करता है। यह इसलिए किया जाता है कि एक व्यक्ति अपनी जान को खतरे में डाल सकता है, परन्तु उन लोगों के जीवन को वह कभी भी खतरे में डालना नहीं चाहेगा जिनसे कि वह प्रेम करता है या जिनसे वह स्नेह करता है। शपथ लेने का तरीका कुछ भी हो, पर शपथ लेने वाले को अलौकिक शक्ति (Super-natural power) का भय रहता है। वह यह विश्वास करता है कि अगर वह झूठी कसम खा रहा है तो उसे उस अलौकिक शक्ति से दण्ड प्राप्त होगा।

अपराध को प्रमाणित करने का दूसरा तरीका कठिन परीक्षा (ordeal) है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कठिन परीक्षा लेने की भी अनेक रीतियां आदिम समाजों में प्रचलित हैं। कुछ उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं; यहां पर एक-दो उदाहरण और दिये जा सकते हैं। चुकची (Chukchi) जनजाति में अगर दो व्यक्तियों में कोई झगड़ा होता है तो उस झगड़े के लिए कौन उत्तरदायी है, यह निर्णय करने के लिए दोनों पक्षों में मल्लयुद्ध करवा दिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि गलती करने वाला या अपराधी ही उसमें विजय पायेगा। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति में उबलते हुए पानी में वादी और प्रतिवादी दोनों ही पक्षों को धीरे-धीरे अपने-अपने हाथ को डालना पड़ता है; अगर इस काम में किसी ने जल्दी की, या उसके हाथ में छाले पड़ गये तो उसे दोषी समझा जाता है। अफ्रीका की ईवी (Ewe) जनजाति में सम्भावित अपराधी के सिर पर से उबलता हुआ पानी डाला जाता है अगर वह व्यक्ति इस क्रिया को बगैर किसी चूं-चां के सहन कर लेता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, वरना उसे दोषी मानकर दण्डित किया जाता है।

अपराधी-संकल्प या इरादा
(Criminal Intent or Motive)

आधुनिक दण्ड-विधान में एक क्रिया विशेष अपराध है या नहीं, इसको तय करने में अपराधी संकल्प या इरादा बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अपराध में अपराधी-इरादा होना आवश्यक है, अर्थात् जान-बूझकर दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से अगर कोई कार्य किया गया है तो वह अपराध है। भूल से दूसरे के छाते को उठाकर चल देना अपराध नहीं; या मकान में डाका पड़ने पर आत्मरक्षा के लिए गोली चलाना भी अपराध नहीं। किन्तु आदिम समाजों में आधुनिक समाजों की भांति अपराधी-इरादे को बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जाता, क्योंकि आदिवासियों में यह विश्वास प्रबल है कि

अलौकिक शक्ति के नाराज होने पर सम्पूर्ण समूह या समुदाय को दण्ड भुगतना पड़ता है और अलौकिक शक्ति नाराज तब होती है जबकि अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता, क्योंकि किसी भी नियम को तोड़ना पाप है। पापी को दण्ड न देना अलौकिक शक्ति के प्रति अन्याय करना है और इस अन्याय का बदला अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण समूह से लेती है। इस डर से ही अपराधी-इरादे को कुछ भी ध्यान दिये बिना अपराधी को दण्ड दिया जाता है। अपराधी-इरादे को कुछ भी महत्व न देते हुए दण्ड देने का एक अति उत्तम उदाहरण श्री गोड्डार्ड (Goddard) ने हूपा (Hupa) जनजाति से दिया है। "एक स्त्री ने कपड़ा धोने के लिए पानी गर्म करने के हेतु अपने घर के बाहर आग जलाई थी। उस आग में किसी प्रकार एक बच्चा जलकर मर गया। यद्यपि इसमें उस स्त्री का कुछ भी दोष किसी भी अर्थ में नहीं था, फिर भी उस स्त्री को उसके बदले में अपने लड़के के प्राण देने पड़े।" जग्गा (Jagga) जनजाति में हत्या के मामले में अपराधी-इरादा अर्थहीन है और इसलिए खून के बदले खून बहाना आवश्यक है क्योंकि इन लोगों में यह विश्वास दृढ़ है कि जिसकी हत्या की गई है उस व्यक्ति की आत्मा प्रतिशोध की प्यासी है, अतः हत्या करने वाले को भी मृत्युदण्ड देना आवश्यक है, नहीं तो खून या प्रतिशोध की प्यासी यह आत्मा सम्पूर्ण समूह से बदला लेगी।

यह सच है कि आदिकालीन समाजों में दण्ड देते समय अपराधी-इरादे को अधिक ध्यान में नहीं रखा जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सभी समाजों में अपराधी-इरादा अर्थहीन है। इफूगाओं जनजाति में दण्ड देते समय जान-बूझकर और अनजाने कार्यों के बीच तथा आकस्मिक (accidental) और लापरवाही से होने वाले कार्यों के बीच बहुत सावधानी से भेद किया जाता है। अगर किसी ने जान-बूझकर या लापरवाही से कोई कार्य किया है और उससे दूसरे को नुकसान पहुँचा है तो ऐसा करने वाले को अवश्य ही दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत अनजाने में या आकस्मिक रूप में कोई कार्य हो जाने पर उसके लिए कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता, भले ही उस कार्य से दूसरे को कुछ नुकसान पहुँचा हो। उदाहरणार्थ, अगर एक व्यक्ति के हाथ की छूरी इत्तफाक से छूट जाय और उसमें किसी दूसरे व्यक्ति की आँखें फूट जायें, तो इसके लिए किसी भी प्रकार के हर्जाने की माँग नहीं की जाती है, क्योंकि यह एक आकस्मिक घटना है और उस व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अनजाने में नुकसान पहुँचा है। इसके विपरीत अगर, एक व्यक्ति धनुष से अपने शिकार पर तीर चलाता है या उस पर भाला फेंकता है, और उस तीर या भाले से रास्ते पर दौड़ता हुआ कोई लड़का मर जाता है तो उसे एक व्यक्ति की हत्या करने पर जितना जुर्माना सामान्यतः देना होता है उसका आधा जुर्माना देना पड़ता है, क्योंकि इसमें उस शिकारी की लापरवाही के कारण ही लड़के की मृत्यु हुई। उसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति किसी दूसरे पड़ोसी व्यक्ति की हत्या उसे गलती से दुश्मन-पक्ष का आदमी समझकर कर डालता है तो हत्या करने वाले को और अधिक जुर्माना देना पड़ता है क्योंकि यह काम उसकी लापरवाही का प्रमाण है। इस इफूगाओ जनजाति में दण्ड देते समय अपराधी-इरादे पर कुछ भी ध्यान केवल एक अवसर पर नहीं दिया जाता है। अगर किसी विशाल भोज में कोई दुर्घटना हो जाती है तो हर हालत में उसके लिए भोज देने

वाले को तथा पुरोहित को दोषी ठहराया जाता है। भोज देने वाला व्यक्ति दोषी इस कारण होता है कि अगर वह भोज न देता तो वह दुर्घटना कभी हो ही नहीं सकती थी। और उस भोज में उपस्थित पुरोहित को दोषी इस कारण ठहराया जाता है कि उसने निश्चय ही अपने धार्मिक कार्यों का पालन उचित ढंग से नहीं किया; इसीलिए उस पाप के फलस्वरूप वह दुर्घटना घटित हुई है।

दण्ड
(Punishment)

आदिकालीन समाजों में दण्ड के स्वरूप भी अनेक हैं। इन समाजों में यह विचार अधिक लोकप्रिय है कि न्याय तब ही कायम रह सकता है जबकि 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त अपनाया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार अगर एक आदमी ने किसी की आँखें फोड़ दीं तो न्याय करने वाला राजा या मुखिया या अन्य कोई व्यक्ति उस आदमी की आँखों को भी फोड़ देने की आज्ञा देगा। उसी प्रकार खून के बदले में खून करने की व्यवस्था भी आदिम समाजों में बहुत पाई जाती है। दण्ड का सामान्य रूप प्रतिकारात्मक सिद्धान्त अर्थात् प्रतिशोध या बदला लेने की भावना पर आश्रित है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि इन समाजों में अधिकांशत: व्यक्ति द्वारा कोई अपराध करना ईश्वरीय व्यवस्था या नियमों का उल्लंघन माना जाता है। इसलिए यह विश्वास किया जाता है कि अपराधी में शैतान का वास होता है और उस शैतान को 'पत्थर का जवाब पत्थर से' देकर अर्थात् उचित दण्ड देकर समाज को उसके प्रभाव से विमुक्त करना सबका कर्त्तव्य है। पापात्माओं से प्रतिकार या प्रतिशोध या बदला लेना ही उचित है। आदिम समाज में दण्ड का एक दूसरा रूप दूसरे का नुकसान पूरा कर देना होता है। इस उद्देश्य से अपराधी से जुर्माना वसूल किया जाता है या अन्य किसी तरीके से दूसरे की क्षति पूरी करा दी जाती है। आदिकालीन समाजों में दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध में सबसे रोचक बात यह है कि इस क्षेत्र में भी सम्मिलित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त (principle of collective responsibility) को लागू किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह जरूरी नहीं है कि एक अपराध-विशेष के लिए दण्ड का भागीदार केवल वही व्यक्ति हो जिसने वास्तव में अपराध किया है, बल्कि उसके बदले में या उसके साथ ही उसके परिवार, गोत्र, स्थानीय समूह आदि भी दण्डित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कत्ल का बदला कत्ल से लिया जाता है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि जिसने कत्ल किया है, उसी का कत्ल किया जाय; उसके बदले में उसके परिवार, गोत्र, या समुदाय के अन्य किसी व्यक्ति का भी कत्ल किया जा सकता है क्योंकि किसी भी अपराध का उत्तरदायित्व उस समूह के समस्त सदस्यों पर होता है जिसका कि अपराधी भी एक सदस्य है। इस कारण ० के भागीदार भी सब लोग हैं। अत: बदला लेने के लिए उस समूह के किसी भी व्यक्ति चुना जा सकता है।

आदिकालीन समाजों में अपराधी को अनेक प्रकार से दण्डित करने की रीति प्रचलित है। अपराधी को कोड़े लगाये जाते हैं, अंग-च्छेद भी किया जाता है। किसी अपराध

के लिए समाज से बहिष्कृत कर देने, अपराधी से प्रायश्चित कराने और हर्जाना लेने का नियम भी इन समाजों में बहुत प्रचलित है। कहीं-कहीं अपराधी को सामाजिक भोज देकर अपराध के कलंक से छुटकारा पाना होता है। अपराधी को नाना प्रकार से शारीरिक दण्ड देने की योजना विभिन्न आदिम समाजों में देखने को मिलती है। उन पर जुर्माना भी किया जा सकता है। कई समाजों में इस प्रकार का भी नियम है कि अपराधी के चेहरे पर कालिख पोतकर उसे गधे या ऐसे ही अन्य किसी निकृष्ट जानवर की सवारी करवाकर सारे समूह में घुमाया जाता है या ऐसे ही अन्य किसी दूसरे उपाय से सार्वजनिक रूप से लज्जित किया जाय। अमेरिका की एक जनजाति में यह दण्ड-व्यवस्था प्रचलित है कि अगर एक स्त्री अपने पति के प्रति वफादार नहीं है तो उसे पानी में डुबोकर मार डाला जाता है। युगेण्डा (Uganda) जनजाति को छोड़कर जेल में रखकर दण्ड देने की प्रथा अन्य किसी भी जनजातीय समाज में प्रचलित नहीं है। युगेण्डा जनजाति में राजा, मुखिया या परिवार का कर्ता (Head) एक अपराधी को बंदगाने में बन्द रखने की आज्ञा दे सकता है; किन्तु सन्तरी उसे रात-भर के लिए छोड़ सकता है। गम्भीर अपराधों में अपराधी व्यक्ति के हाथ-पैर एक भारी कुन्दे में छेदकर उसमें डाल दिये जाते हैं और अपराधी इसी प्रकार पड़ा-पड़ा मर जाता है। कत्ल की सजा अधिकतर प्राणदण्ड ही होती है; परन्तु फांसी द्वारा प्राणदण्ड देने की रीति आदि-समाजों में नहीं पाई जाती।

दण्ड निर्धारित करने में अपराधी की सामाजिक स्थिति, स्त्री-पुरुष का भेद आदि का ध्यान भी रखा जाता है। उदाहरणार्थ, गारो जनजाति में यदि पुरुष व्यभिचार करे, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता है; पर अगर स्त्री व्यभिचारिणी हो तो पहले-पहल उसके कान छेद दिये जाते हैं और कपड़े फाड़ दिये जाते हैं। किन्तु अगर स्त्री इस अपराध-कार्य को बार-बार दोहराती है तो उसे भी प्राणदण्ड दिया जाता है। उसी प्रकार कुछ आदिम समाजों में कतिपय अपराध ऐसे भी हैं जो कि यदि उस समूह के प्रधान करते हैं तो उसे अपराध के रूप में माना नहीं जाता है, पर यदि दूसरा कोई करता है तो उसे उसके लिए दण्ड भुगतना पड़ता है। इतना ही नहीं, जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया है उसकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भी दण्ड की मात्रा कम या ज्यादा हो सकती है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की कुछ जनजातियों में एक साधारण स्त्री के साथ व्यभिचार (adultery) करने पर उसे एक व्यक्तिगत तथा सामान्य गलती समझी जाती है, परन्तु वही कार्य राजा या मुखिया की स्त्री के साथ करने पर अपराधी को मृत्युदण्ड देने की व्यवस्था है। कुछ जनजातियों में अपराधी को व्यक्तिगत रूप से दण्ड दिया ही नहीं जाता। इन समाजों में तो अपराधी-व्यक्ति के परिवार, गोत्र या गाँव के लोगों को मार-पीटकर तथा उनके सामान को लूट-पाटकर उसके अपराधों का दण्ड दिया जाता है क्योंकि इन समाजों में दण्ड का यह सिद्धान्त है कि अपराधी के कार्य से किसी एक व्यक्ति का नुकसान नहीं होता है, वरन् एक परिवार, गोत्र या गाँव का नुकसान होता है। इस कारण नुकसान-प्राप्त वह परिवार, गोत्र या गाँव अपराधी के भी परिवार, गोत्र या गाँव से बदला लेता है और उनके सभी सदस्यों को नुकसान पहुँचाता है।

क्षतिपूर्ति
(Compensation or Weregild)

आदिम समाजों में नुकसान-प्राप्त तथा नुकसान करने वाले के बीच के झगड़े को क्षतिपूर्ति कराकर शान्त करने की रीति भी पाई जाती है। कुछ समाजों में तो किस अपराध पर कितना हर्जाना लिया जा सकता है या अपराधी को देना पड़ता है, यह परंपरा द्वारा पहले से ही निश्चित रहता है। परन्तु इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि किन अपराधों में हर्जाना-दावा किया जा सकता है, इसकी सूची प्रत्येक आदिम समाज में अलग-अलग है। इफूगाओ (Ifugao) जनजाति में अधिकांश झगड़ों या अपराधों का निपटारा क्षतिपूर्ति कर देने से हो जाता है, पर जान-बूझकर हत्या करने पर उसकी क्षतिपूर्ति तो एक मात्र खून से ही हो सकती है; अर्थात् खून के बदले में खून बहना आवश्यक है। इस जनजाति में सम्पत्ति के आधार पर तीन स्पष्ट वर्ग हैं। जुर्माने की मात्रा आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग निश्चित की जाती है। उसी प्रकार किरगिज जनजाति में भी वर्ग-स्थिति के अनुसार हर्जाना देने की रीति है। अमेरिका की कुछ इण्डियन जनजातियों में हर्जाना पाने के लिए इन्तजार न करके नुकसान-प्राप्त व्यक्ति अपराधी के कुछ घोड़ों को मारकर या उसकी अन्य कोई कीमती वस्तु नष्ट करके सन्तोष कर लेता है। व्यभिचार के रूप में होने वाले अपराधों में तो इस नीति को विशेषकर प्रयोग किया जाता है। समोआं जनजाति में अपराधी नुकसान-प्राप्त पक्ष को कीमती चटाई तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भेंट करता है और साथ ही उनके लिए जलाने वाली लकड़ी, पत्थर तथा पत्ते लाता है। इस प्रकार वह परम्परा-स्वीकृत शैली से यह जताना चाहता है कि वह अब उनकी ही शरण में है और अगर वे चाहें तो उसे मार-काट सकते और खा सकते हैं। इस प्रकार के उपहार तथा आत्मसमर्पण अधिकांशतः बेकार नहीं जाते और वह अपराधी नुकसान-प्राप्त पक्ष के गुस्से को शान्त करने में सफल हो जाता है। अन्य आदिम समाजों में क्षति की पूर्ति दूसरे तरीकों से भी की जाती है। उनमें से एक यह है कि अपराधी-व्यक्ति को सम्पूर्ण गाँव को एक सामाजिक भोज देना पड़ता है, तब कहीं उसे अपराध से मुक्ति दी जाती है। किन्हीं जनजातियों में क्षतिपूर्ति पर इतना बल दिया जाता है कि अगर अपराधी हर्जाना देने में बिल्कुल ही असमर्थ है तो उस समूह का मुखिया अपने पास से नुकसान-प्राप्त व्यक्ति को हर्जाना दे देता है।

अदालती कार्यवाही
(Trial)

न्याय की यह माँग है कि अपराधी को दण्डित करने से पहले उसको अपनी सफाई ने का अवसर दिया जाय। ऐसा इसलिए किया जाता है कि कहीं निर्दोष को तो दण्ड ों मिल रहा है। इस कार्यवाही में वादी तथा प्रतिवादी अर्थात् सम्भावित अपराधी तथा नुकसान-प्राप्त व्यक्ति दोनों को ही उपस्थित होना पड़ता है और दोनों पक्षों की बातों को ध्यान से सुना जाता है। प्रायः सभी जनजातियों में किसी-न-किसी रूप में यह व्यवस्था

पाई जाती है। मैक्सिको की एजटक्स, पीरू की इन्कास तथा गिनी की सूडान जनजातियों में व्यवस्थित ढंग से अदालती कार्यवाही करने की प्रणाली पाई जाती है। भारतीय जनजातियों में भी ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं।

आदिम समाजों में सरकार
(Government in Primitive Societies)

एक निश्चित भू-भाग में बसे हुए मनुष्यों के एक प्रभुता-सम्पन्न राजनैतिक संगठन को राज्य (State) कहते हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य मनुष्यों का वह राजनैतिक संगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग में प्रभुता सम्पन्न है। इसी राज्य के संस्थात्मक (institutional) अंग को सरकार कहते हैं। सरकार राज्य के नाम पर कार्य करती है और राज्य के शासन-प्रबन्ध को चलाती है। यह सरकार किसी-न-किसी रूप में तीन प्रकार के कार्यों को करने के लिए होती है—एक तो कानून बनाने का काम, दूसरे शासन-प्रबन्ध करने और कानूनों को लागू करने का काम, और तीसरे न्याय करने का काम। आदिम समाजों में किसी-न-किसी रूप में सरकार का अस्तित्व होता तो है, परन्तु सरकार के उक्त तीनों कार्य स्पष्ट नहीं होते। इन समाजों में बहुधा सरकार के कानून-सम्बन्धी, कार्यकारिणी तथा न्याय सम्बन्धी पक्ष आधुनिक समाजों की भाँति एक-दूसरे से पृथक् न होकर एकसाथ घुले-मिले होते हैं। आस्ट्रेलिया की जनजातीय परिषद् (council) कानून को बनाती है, उसे लागू करती है और अपराधी को दण्डित भी करती है। प्रायः यही अवस्था अन्य जनजातीय समाजों में है। इसके अतिरिक्त श्री लोई (Lowie) के अनुसार, एक और विशेषता आदिम समाजों की सरकार की होती है और वह यह कि अधिक सभ्य या विकसित समाजों की तुलना में आदिम समाजों की सरकार कानून बनाने का काम बहुत ही कम करती है।[1] इसका प्रमुख कारण यह है कि आदिम समाजों में सामाजिक या राजनैतिक या आर्थिक जीवन के अधिकतर व्यवहारों का निर्धारण तथा नियमन या नियन्त्रण प्रथागत कानूनों (customary law) के द्वारा ही होता है। इस कारण सरकार का काम नए कानूनों को बनाना नहीं, बल्कि अधिकांशतः यह देखना होता है कि व्यक्ति परम्परागत नियमों या प्रथाओं का पालन कर रहे हैं या नहीं। दूसरी बात यह है कि आदिम समाजों में जीवन सादा और सरल होता है जिसके फलस्वरूप उसे नियंत्रित करने के लिए असंख्य कानूनों की आवश्यकता भी नहीं होती; कुछ प्रथागत कानूनों से ही काम चल जाता है। यही कारण है कि इन समाजों में सरकार को कानून पास करने से सम्बन्धित कार्य बहुत कम करने पड़ते हैं। यह हो सकता है कि अफ्रीका के जनजातीय समाज में जहाँ निरंकुश शासक राज्य करता है, यह नियम लागू न होता हो, क्योंकि वहाँ की शासक अपने मनमाने ढंग से शासन करता है और दण्ड देता है। वह जो कुछ भी कहता है, वही कानून होता है। इस कारण उसे परम्परा या प्रथागत नियमों की कुछ परवाह नहीं हुआ करती है। पर कुछ भी हो, इन कतिपय अपवादों को छोड़कर, अधिकतर

---

1. Robert H. Lowie, *Primitive Society*, London, 1953, pp. 344-345.

ोई तौर पर सरकारों का वर्गीकरण उपरोक्त आधारों पर किया जा सकता है, ी भी सरकार को इनमें से किसी भी श्रेणी में रखने से पहले काफी सावधानी आवश्यकता होती है। ऐसा न करने पर यह हो सकता है कि एक समाज की ा स्वरूप सदा के लिए ही हमारे लिए अस्पष्ट बना रहे। उदाहरणार्थ, ऊपर । अफ्रीका के अनेक जनजातीय समाजों में हमें एकतंत्र (Monarchy) दिखायी ैं कि हर तरह से निरंकुश शासन पाया जाता है। परन्तु अगर इन्हीं समाजों राजकीय व्यवस्था का हम सावधानी से गहन अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट ा कि वहाँ अल्पजन-शासित सरकार है। साथ ही, 'जनता की आवाज' (voice eople) को भी शासक-वर्ग कभी भी अवहेलना नहीं करते हैं जिससे कि इस सरकार में प्रजातंत्र स्पर्श भी स्पष्ट प्रतीत होता है।[1]

ादि-जगत् का अध्ययन करने पर उपरोक्त पाँचों प्रकार की सरकारों का दर्शन उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया की अनेक जनजातियों में वृद्धतंत्र (Gerontocracy) ः रूप पाया जाता है। यहाँ पर लोग अपने समाज के वृद्ध तथा अनुभवी पुरुषों के ाजकीय शासन-व्यवस्था का काम सौंप देते हैं और उनकी आज्ञाओं का पालन बड़े-बूढ़ों का यह वर्ग समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तर- ्त्व करता है। उत्तरी अमेरिका की अनेक जनजातियों में सरकार का प्रजा- ्प देखने को मिलता है। इन समाजों में शासन-व्यवस्था बहुमत के द्वारा संचा- ी है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि इन समाजों में प्रजातंत्र (Demo- पाया जाता है। ईश्वरतंत्र (Theocracy) का दर्शन अफ्रीका तथा ओसि- (Oceania) की कुछ जनजातियों में होता है। ट्रोब्रियंड निवासियों में भी इस ी सरकार की कुछ झलक देखने को मिलती है। पूर्वी अफ्रीका के यूगेण्डा में जनजातियाँ एक राजा के शासन में रहती हैं। प्रत्येक जनजाति का इस एकतंत्र rchy) शासन के प्रति कुछ कर्तव्य रहता है जिसे कि पूरा करना पड़ता है। या तथा भारत की कुछ जनजातियों में अल्पजन-शासित सरकार (Oligarchy) ी है। आदिम समाजों में पाई जाने वाली सरकारों का यह वर्गीकरण राजकीय आधार पर है।

आदिम समाजों की सरकारों का वर्गीकरण अन्य आधारों पर भी किया जा सकता ुये के अनुसार आदि-जगत् की राजकीय शासन-व्यवस्थाएँ तीन मुख्य सिद्धान्तों रत रहती हैं। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत ऐसी सरकार आती है जिसका मूल आधार प्रथा होती है। दूसरी श्रेणी की सरकार स्थानीयता के सिद्धान्त पर आधारित और तीसरी श्रेणी में हम उस प्रकार की सरकार को रख सकते हैं जो विशेष संगठन पर आश्रित रहती है। पहले प्रकार की व्यवस्था में रक्त और विवाह या संक्षेप में नाते-रिश्तेदार अपने विस्तारित रूप में सामाजिक नियन्त्रण का ायित्व पूरा करते हैं। दूसरे प्रकार की व्यवस्था में राजकीय संगठन स्थानीय समूह

---

[1] E.A. Hoebel, *op. cit.*, p. 489.

मुखिया
(The Headman)

राजकीय व्यवस्था का स्वरूप कुछ भी हो, शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व शासकों और अधिकारियों पर रहता है। सर्वप्राचीन तथा अति आदिम शासकीय अधिकारी मुखिया होता था। यह मुखिया प्रायः जन्मगत रूप से अपने पद को प्राप्त करता है और ...पर उसके समुदाय के सभी सदस्यों का अत्यधिक विश्वास होता है। अतः दूसरों पर ...प्रभाव भी खूब होता है। यह मुखिया अपने समूह से सम्बन्धित सभी विषयों की ...रेख करता है और सभी अवसरों पर उपस्थित रहकर अन्य व्यक्तियों को आवश्यक ...श देता रहता है। कुछ समाजों में तो इसी मुखिया के निरीक्षण में लोग शिकार आदि

करने को जाते हैं। यह मुखिया ही आपसी झगड़ों का निपटारा करता है और उसके निर्णय को ही सब लोग मान लेते हैं क्योंकि सब पर उसका रौब होता है। कुछ भी हो, पर मुखिया एक प्रजातांत्रिक शासक ही होता है, निरंकुश शासक नहीं।

प्रधान
(Chieftain)

उन समाजों में, जहाँ कि राजनैतिक संगठन अधिक विकसित है, शासकीय अधिकारी प्रधान होता है। प्रधान मुखिया से सत्ता तथा सामाजिक सम्मान में भिन्न है क्योंकि इन विषयों में प्रधान की स्थिति मुखिया से ऊँची होती है। यह प्रधान वंशानुगत हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। अर्थात् पिता से पुत्र को प्रधान का अधिकार मिल सकता है या विशेष योग्यताओं और प्रवृत्तियों के आधार पर उसका निर्वाचन अथवा नियुक्ति भी हो सकती है। प्रधान की शक्ति या सत्ता तथा कार्य भी विभिन्न समाजों में अलग-अलग होता है। उत्तरी अमेरिका की जनजातियों में प्रधान को अत्यधिक अधिकार नहीं प्राप्त होता है। इन समाजों में बहुधा दो प्रकार के प्रधान पाये जाते हैं—एक तो शान्ति के प्रधान (peace chiefs) और दूसरे युद्ध के प्रधान (war chiefs)। शान्ति-प्रधान जनजातीय परिषद् (tribal council) का मुखिया होता है तथा अन्दरूनी सम्बन्धों को नियमित करता है। कुछ विशेष अपराधों के विषय में न्याय करना भी इसका काम होता है। चीईनी, ओमाह, इरोकूई आदि जनजातियों में शान्ति-प्रधान का चुनाव एक निश्चित समय के लिए ही होता है। युद्ध-प्रधान सभी जनजातियों में युद्धों का संचालन करते हैं। यह पद किसी भी व्यक्ति को मिल सकता है जो भी युद्ध के विषय में विशेष योग्यता रखता है।

आदि-समाजों में ट्रोब्रियंड आदिवासियों के प्रधान की स्थिति बहुत ऊँची होती है और इसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु उसका प्रमुख कार्य सांस्कारिक उत्सवों में प्रधान का काम करना होता है, न कि राजनैतिक विषयों में।

वंशानुगत एकतंत्र या राजा
(Hereditary Monarchies)

कतिपय संस्कृतियों में शासकीय अधिकारी वंशानुगत राजा होता है। इन्हें वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त के आधार पर पिता से पुत्र को अपने अधिकार और पद प्राप्त होता है। राजकीय शासन-व्यवस्था को दृढ़ तथा सुनिश्चित बनाने के लिए ही ऐसा किया जाता है। शक्तिशाली जनजातियों में परस्पर लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं जिसमें कि 'खून का बदला खून' इस सिद्धान्त पर अमल किया जाता है। इसके लिए निश्चित अर्थात् वंशानुगत राजा की आवश्यकता होती है। साथ ही, यह हो सकता है कि एक जनजाति के सदस्यों में ही समाज के इस सर्वोच्च पद को प्राप्त करने के लिए कटु प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जिससे कि सम्पूर्ण जनजातीय संगठन को खतरा हो सकता है। इस स्थिति से बचने के लिए ही वंशानुगत राजा को ही शासकीय अधिकार तथा पद देने की प्रथा का प्रचलन

है। परन्तु कभी-कभी ये राजा बिल्कुल ही निकम्मे निकल जाते हैं और सम्पूर्ण राजकीय शासन-व्यवस्था एक असंगठित स्थिति में हो जाती है। फिर भी अधिकतर विकसित आदिम समाजों में वंशानुगत राजा ही पाये जाते हैं। पॉलीनेशिया तथा अफ्रीका की जनजातियों में पिता की मृत्यु के बाद राजा का पद सबसे बड़े लड़के को प्राप्त होता है। परन्तु अधिकतर जनजातियों में यह चुनाव शाही परिषद् (royal council) के द्वारा होता है जोकि राजा के सबसे योग्य पुत्र को राजा का पद प्रदान करती है। जब बड़े लड़के को यह पद नहीं मिलता है तो कभी-कभी वह विद्रोह कर देता है जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए गृह-युद्ध और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बांटू जनजाति में ऐसा ही होता है।

कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जहां कि शासकीय अधिकार धार्मिक नेताओं या पुजारियों को दिये जाते हैं और कुछ समाजों में जादूगरों को भी विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु अधिकतर जनजातियों में यह देखा जाता है कि वहां का राजा या शासक अपने शासन-कार्य में धार्मिक अधिकर्त्ताओं तथा जादूगरों की सहायता लेता है। ऐसे भी अनेक जनजातीय समाज हैं जिनमें कि सार्वजनिक जीवन के इन दोनों पक्षों (शासकीय तथा धार्मिक या जादुई पक्षों) को एक-दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है, फिर भी अधिकतर आदि-संस्कृतियों में इन दोनों का एक अनोखा समन्वय देखने को मिलता है।

परिषद्
(The Council)

सभी आदि-समाजों में शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए एक परिषद् हुआ करती है। शायद कोई भी जनजाति या राष्ट्र ऐसा नहीं है जहाँ कि परिषद् का अस्तित्व ही न हो। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति अकेले ही शासन-प्रबन्ध का सब काम न तो कर सकता है और न ही उसे ऐसा करने दिया जाता है। निरंकुश राजाओं के भी कुछ परामर्शदाता (advisors) तथा अन्य रूप से सहायता करने वाले कुछ लोग होते ही हैं। इनका कहना शासक को मानना ही पड़ता है। आदिम समाजों में बहुधा यह परिषद् बड़े-बूढ़ों की परिषद् (the council of the elders) होती है जो कि प्रजातांत्रिक आधारों पर संगठित होती है। कतिपय संस्कृतियों में व्यस्क पुरुष इस परिषद् के सदस्य होते हैं, परन्तु आस्ट्रेलिया तथा भारत की जनजातियों में यह अधिकार केवल समुदाय के बड़े-बूढ़ों को ही प्राप्त होता है। अधिकतर जनजातियों में परिषद् अपना निर्णय बहुमत के आधार पर देती है, परन्तु अमेरिकन इण्डियनों में परिषद् का कोई भी निर्णय केवल सर्व-सम्मति से ही हो सकता है। इसका प्रमुख कार्य शासक को शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी विषयों में सलाह देना तथा कुछ गम्भीर विषयों पर विचार-विमर्श करके निर्णय लेना होता है। इस परिषद् का निर्माण गाँव के आधार पर, या ग्राम-समूह या पूरी जनजाति के आधार पर होता है। जब ग्राम-समूह या पूर्ण जनजाति के आधार पर परिषद् का निर्माण होता है तो उसमें प्रत्येक ग्राम के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं जो कि शासन-व्यवस्था बहुमत के

द्वारा स्थापित करते हैं। कतिपय जनजातियों में गुप्त समितियाँ भी होती हैं जो अपने प्रतिनिधि का चुनाव करती हैं। अफ्रीका की अनेक जनजातियों में निरंकुश शासक या राजा राज्य करते हैं, पर वे भी शाही बड़े-बूढ़ों (royal elders) के मत के विरुद्ध कार्य नहीं करते हैं। जो राजा इस प्रकार कार्य नहीं करता है और तानाशाही शासन-व्यवस्था को चलाने का प्रयत्न करता है उसे राजा के पद से बलपूर्वक या तो हटा दिया जाता है या उसे मार दिया जाता है।

भारतीय जनजातियों का कानून और सरकार
(Law and Government of Indian Tribes)

भारतीय जनजातियों के कानून और सरकार की भी सामान्य विशेषताएँ प्रायः वही हैं जो कि संसार की अन्य जातियों में देखने को मिलती हैं और जिनके विषय में हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। फिर भी भारत की विभिन्न जनजातियाँ विभिन्न परिस्थितियों में निवास करती हैं; इस कारण उनकी शासन-व्यवस्थाओं में भी कुछ भिन्नताएँ हमें देखने को मिलती हैं। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह उचित होगा कि हम दो-एक जनजातियों का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करें।

कमार जनजाति[1]
(The Kamar Tribe)

यह मध्य प्रदेश में निवास करने वाली जनजाति है। इसका आर्थिक तथा सामाजिक जीवन अधिक विकसित नहीं है। इस जनजाति पर भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) लागू होता है। परन्तु ये लोग अपने परम्परा-स्वीकृत नियमों को अधिक मानते हैं। इस कारण सभ्य समाज की अदालत का नहीं, बल्कि अपने ही समाज की पंचायतों का प्रयोग ये अधिक करते हैं। ये कानून विभिन्न प्रकार के अपराधों से सम्बन्धित हैं और आवश्यक दण्ड की व्यवस्था करते हैं। कत्ल के अपराध को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है, और यदि कभी दिया भी गया तो अगर कातिल सामाजिक भोज दे देता है तो उसे माफ कर दिया जाता है। उसी प्रकार दूसरी जनजातियों की फसल काट लाना या सरकारी नियंत्रण में जो जंगल हैं उनसे कोई चीज़ चुरा लाना या गैर-कानूनी तौर पर शराब बनाना इनके यहाँ अपराध नहीं माना जाता है। व्यक्तिगत झगड़ों का फैसला मुक्केबाजी के द्वारा तय किया जाता है।

जनजातीय नियमों का उल्लंघन करने वालों को सामूहिक रूप में पंचायत के द्वारा दण्डित किया जाता है। परन्तु जिन अपराधों के विषय में लोगों को यह विश्वास होता है कि उनका उचित दण्ड अपराधी को अलौकिक शक्ति से प्राप्त होगा, उन अपराधों के लिए पंचायत भी दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं करती है। यह भी विश्वास किया जाता है कि अगर किसी कारणवश अपराधी को दण्ड उसके जीवनकाल में अलौकिक शक्ति द्वारा नहीं

---

1. Majumdar and Madan, *Social Anthropology*, 1956, pp. 212-215.

है। परन्तु कभी-कभी ये राजा बिल्कुल ही निकम्मे निकल जाते हैं और सम्पूर्ण राजकीय शासन-व्यवस्था एक असंगठित स्थिति में हो जाती है। फिर भी अधिकतर विकसित आदिम समाजों में वंशानुगत राजा ही पाये जाते हैं। पॉलीनेशिया तथा अफ्रीका की जनजातियों में पिता की मृत्यु के बाद राजा का पद सबसे बड़े लड़के को प्राप्त होता है। परन्तु अधिकतर जनजातियों में यह चुनाव शाही परिषद् (royal council) के द्वारा होता है जोकि राजा के सबसे योग्य पुत्र को राजा का पद प्रदान करती है। जब बड़े लड़के को यह पद नहीं मिलता है तो कभी-कभी वह विद्रोह कर देता है जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए गृह-युद्ध और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बांटू जनजाति में ऐसा ही होता है।

कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जहां कि शासकीय अधिकार धार्मिक नेताओं या पुजारियों को दिये जाते हैं और कुछ समाजों में जादूगरों को भी विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु अधिकतर जनजातियों में यह देखा जाता है कि वहाँ का राजा या शासक अपने शासन-कार्य में धार्मिक अधिकर्त्ताओं तथा जादूगरों की सहायता लेता है। ऐसे भी अनेक जनजातीय समाज हैं जिनमें कि सार्वजनिक जीवन के इन दोनों पक्षों (शासकीय तथा धार्मिक या जादुई पक्षों) को एक-दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है, फिर भी अधिकतर आदि-संस्कृतियों में इन दोनों का एक अनोखा समन्वय देखने को मिलता है।

परिषद्
(The Council)

सभी आदि-समाजों में शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए एक परिषद् हुआ करती है। शायद कोई भी जनजाति या राष्ट्र ऐसा नहीं है जहाँ कि परिषद् का अस्तित्व ही न हो। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति अकेले ही शासन-प्रबन्ध का सब काम न तो कर सकता है और न ही उसे ऐसा करने दिया जाता है। निरंकुश राजाओं के भी कुछ परामर्शदाता (advisors) तथा अन्य रूप से सहायता करने वाले कुछ लोग होते ही हैं। इनका कहना शासक को मानना ही पड़ता है। आदिम समाजों में बहुधा यह परिषद् बड़े-बूढ़ों की परिषद् (the council of the elders) होती है जो कि प्रजातांत्रिक आधारों पर संगठित होती है। कतिपय संस्कृतियों में व्यस्क पुरुष इस परिषद् के सदस्य होते हैं, परन्तु आस्ट्रेलिया तथा भारत की जनजातियों में यह अधिकार केवल समुदाय के बड़े-बूढ़ों को ही प्राप्त होता है। अधिकतर जनजातियों में परिषद् अपना निर्णय बहुमत के आधार पर देती है, परन्तु अमेरिकन इण्डियनों में परिषद् का कोई भी निर्णय केवल सर्व-सम्मति से ही हो सकता है। इसका प्रमुख कार्य शासक को शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी विषयों में सलाह देना तथा कुछ गम्भीर विषयों पर विचार-विमर्श करके निर्णय लेना होता है। इस परिषद् का निर्माण गाँव के आधार पर, या ग्राम-समूह या पूरी जनजाति के आधार पर होता है। जब ग्राम-समूह या पूर्ण जनजाति के आधार पर परिषद् का निर्माण होता है तो उसमें प्रत्येक ग्राम के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं जो कि शासन-व्यवस्था बहुमत के

द्वारा संचालित करते हैं। कतिपय संस्कृतियों में गुप्त समितियाँ भी होती हैं जो अपने प्रतिनिधि का चुनाव करती हैं। अफ्रीका की अनेक जनजातियों में निरंकुश शासक या राजा राज्य करते हैं, पर वे भी शाही बड़े-बूढ़ों (royal elders) के मत के विरुद्ध कार्य नहीं करते हैं। जो राजा इस प्रकार कार्य नहीं करता है और तानाशाही शासन-व्यवस्था को चलाने का प्रयत्न करता है उसे राजा के पद से बलपूर्वक या तो हटा दिया जाता है या उसे मार दिया जाता है।

भारतीय जनजातियों का कानून और सरकार
(Law and Government of Indian Tribes)

भारतीय जनजातियों के कानून और सरकार की भी सामान्य विशेषताएँ प्रायः वही हैं जो कि संसार की अन्य जातियों में देखने को मिलती हैं और जिनके विषय में हम ऊपर विवेचना कर चुके हैं। फिर भी भारत की विभिन्न जनजातियाँ विभिन्न परिस्थितियों में निवास करती हैं; इस कारण उनकी शासन-व्यवस्थाओं में भी कुछ भिन्नताएँ हमें देखने को मिलती हैं। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह उचित होगा कि हम दो-एक जनजातियों का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करें।

कमार जनजाति[1]
(The Kamar Tribe)

यह मध्य प्रदेश में निवास करने वाली जनजाति है। इसका आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन अधिक विकसित नहीं है। इस जनजाति पर भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) लागू होता है। परन्तु ये लोग अपने परम्परा-स्वीकृत नियमों को अधिक मानते हैं। इस कारण सभ्य समाज की अदालत का नहीं, बल्कि अपने ही समाज की पंचायतों का प्रयोग ये अधिक करते हैं। ये कानून विभिन्न प्रकार के अपराधों से सम्बन्धित हैं और आवश्यक दण्ड की व्यवस्था करते हैं। कत्ल के अपराध को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है, और यदि कभी दिया भी गया तो अगर कातिल सामाजिक भोज दे देता है तो उसे माफ कर दिया जाता है। उसी प्रकार दूसरी जनजातियों की फसल काट लाना या सरकारी नियंत्रण में जो जंगल हैं उनसे कोई चीज़ चुरा लाना या गैर-कानूनी तौर पर शराब बनाना इनके यहाँ अपराध नहीं माना जाता है। व्यक्तिगत झगड़ों का फैसला मुक्केबाजी के द्वारा तय किया जाता है।

जनजातीय नियमों का उल्लंघन करने वालों को सामूहिक रूप में पंचायत के द्वारा दण्डित किया जाता है। परन्तु जिन अपराधों के विषय में लोगों को यह विश्वास होता है कि उनका उचित दण्ड अपराधी को अलौकिक शक्ति से प्राप्त होगा, उन अपराधों के लिए पंचायत भी दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं करती है। यह भी विश्वास किया जाता है कि अगर किसी कारणवश अपराधी को दण्ड उसके जीवनकाल में अलौकिक शक्ति द्वारा नहीं

मिला, तो मरने के बाद वह अपराधी जहाँ जायगा वहाँ उसकी खबर ली जायगी अर्थात् उसे दण्ड मिलेगा। भाई-बहन या अन्य निकट के सम्बन्धियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना बहुत बड़ा अपराध है जिसका कि दण्ड अलौकिक शक्ति अवश्य ही देती है। फिर भी जनजातीय विधि के अनुसार ऐसे अपराधियों को या तो पूर्णतया अलग कर दिया जाता है या गाँव से ही निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक सामाजिक निषेधों को तोड़ने पर भी दण्ड देने का काम अलौकिक शक्ति पर ही छोड़कर लोग चुप बैठे रहते हैं।

प्रत्येक छोटे-मोटे अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था करने के हेतु पंचायत को बुलाया नहीं जाता है। पंचायत के सम्मुख तो केवल अधिक गम्भीर प्रकार के अपराधों को पेश किया जाता है। छोटे-मोटे मामलों में तो बड़े-बूढ़ों के मत को काफी प्रधानता दी जाती है।

कमार जनजाति की शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है। राजकीय संगठन या शासन-व्यवस्था स्थानीय समूह अर्थात् ग्राम में और ग्राम-समूह में निहित और विभाजित रहती है। आस-पास के ग्राम-समूह अपनी पंचायत बना लेते हैं। इस पंचायत को उसके क्षेत्र में रहने वाले लोगों के सामाजिक-धार्मिक विषयों में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष शासन का उत्तरदायित्व 'कुरहा' (समस्त गाँवों का प्रधान), 'सरपंच' (पंचायत का मुखिया) आदि कुछ शासकों और अधिकारियों पर होता है। जब पंचायत की बैठक होनी होती है, तो पंचायत का एक चपरासी बैठक की तारीख, स्थान तथा उद्देश्य आदि की सूचना सबको देता है। बच्चे, युवक लोग तथा सभी आयु की स्त्रियाँ पंचायत की सदस्य नहीं हो सकतीं। यह अधिकार समुदाय के केवल वृद्ध-जनों (elders) को ही प्राप्त होता है। पंचायत का निर्णय या तो सर्वसम्मति से या बहुमत से होता है। केवल सरपंच या कुरहा पंचायत के निर्णय को बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं। केवल पंचायत को ही यह अधिकार प्राप्त है कि वह परिवार के बड़े-बूढ़ों के निर्णय को बदल सके।

डा० दुबे, जिन्होंने कि कमार जनजाति का अति विस्तृत अध्ययन किया है, ने लिखा है कि इस जनजाति में अदालती कार्यवाही (trial) उचित ढंग से की जाती है जिसमें कि दोनों पक्षों की बात सुनी जाती है, अपराध में प्रत्यक्षदर्शियों की गवाही ली जाती है और अपराधी को अपनी सफाई पेश करने का पूरा मौका दिया जाता है। अपराध करने वाले के इरादे (intention) की छान-बीन नहीं की जाती है। अगर अपराध हुआ है, चाहे अनजाने में या अचानक या बिना किसी इरादे के ही क्यों न हो गया हो, उसका दण्ड अवश्य दिया जाता है। अनेक अपराध सामाजिक भोज देने से माफ कर दिये जाते हैं। इस भोज के हेतु रुपया इकट्ठा करने के लिए अपराधी को कुछ समय भी दिया जा सकता है। कमार जनजाति में जो कार्य अपराध या जनजातीय नियमों का उल्लंघन माने जाते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—व्यभिचार, जादू-टोना करना, गाय या बैल की हत्या करना, काला-जादू, घोड़े को छूना या घोड़े पर चढ़ना, नीच जात के यहाँ खाना खा लेना, नीच जात वाले से मार खा जाना, चार पति बदलकर पांचवाँ पति करना, बिना विवाह

के किसी के साथ भाग जाना, बहिर्विवाह (exogamy) सम्बन्धी नियमों को तोड़ना आदि। डा० दुबे ने लिखा है कि चूंकि इस जनजाति में 'अपराध' को एक तरह से 'पाप' माना जाता है, इसलिए कोई भी व्यक्ति इन्हें छिपाने का प्रयत्न नहीं करता है और हर कोई अपने-आप पंचायत को जुर्माना या भोज देकर इन पापों का प्रायश्चित करना चाहता है। जनजाति के बड़े-बूढ़े ही जनजातीय कानून तथा व्यवस्था के संरक्षक होते हैं। वे ही कानून को परिभाषित करते तथा झगड़ों का निपटारा करते हैं।[1]

रेंगमा नागा
(The Rengma Naga)

रेंगमा नागा जनजाति एक बहिर्विवाही समूह है और बहिर्विवाह के नियमों का पालन करना सबके लिए अनिवार्य है। ब्रिटिश शासन की स्थापना से पहले इस जनजाति में समस्त शासन का उत्तरदायित्व प्रधान (chieftain) पर होता था। इस प्रधान की सहायता के लिए विभिन्न गोत्रों के प्रमुख व्यक्ति होते थे। फिर भी प्रधान की सत्ता सर्वोपरि होती थी। एक अर्थ में यह प्रधान अपने मनमाने ढंग से शासन करता था। पर ऐसे भी उदाहरण हैं कि बहुत ही निर्दयी प्रधान को लोगों ने जबरदस्ती उसके पद से हटा दिया है। सामान्य रूप से प्रधान के प्रति प्रत्येक व्यक्ति आज्ञाकारी बना रहता और उसे भय और आदर की दृष्टि से देखता था। अगर कोई प्रधान के आदेशों की अवहेलना करता था तो उसका घर जलाकर या नष्ट करके उसे दण्डित किया जाता था; परन्तु ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की स्थापना के बाद ये सभी परिस्थितियाँ बहुत-कुछ बदल गई हैं। अब स्थानीय प्रधानों की शक्ति बहुत कुछ छिन गई है और प्रत्येक प्रकार के झगड़े तथा जनजातीय नियमों के उल्लंघन के मामले अदालत के द्वारा तय होते हैं।

रेंगमा नागा जनजाति की शासन-व्यवस्था बहुत-कुछ परम्परा-स्वीकृत नियमों के आधार पर ही होती है। समुदाय के बड़े-बूढ़ों को वे कोई विशेष अधिकार नहीं देते हैं। फिर भी वे बड़े-बूढ़े आपसी झगड़ों का निपटारा करने में प्रायः सफल ही होते हैं। ये अपना निर्णय गाँव के सामान्य जनमत के अनुरूप ही देते हैं और इसीलिए इनकी बातों को लोग मान लेते हैं। सामान्य अपराधों में पारस्परिक समझौते से ही काम चल जाता है। परन्तु गम्भीर प्रकार के अपराध करने वालों को उचित दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ, कत्ल करने या दूसरे की सम्पत्ति को नष्ट करने वाले को गाँव से निकाल दिया जाता है और उसके घर में आग लगा दी जाती है। पर अपराधी को कुछ समय के बाद फिर गाँव में लौट आने की छूट होती है। अपराधी-इरादे पर भी ध्यान दिया जाता है। अगर अनजाने में हत्या हो गई है, तो अपराधी को माफ कर दिया जाता है। जंगल में आग लगा देना भी एक गम्भीर अपराध है क्योंकि इससे वह जंगल बहुत वर्षों के लिए बेकार हो जाता है और सारे समुदाय को हानि पहुँचती है। इसलिए ऐसे अपराध के लिए सारा गाँव अपराधी को कोसता और बद्दुआ देता है। चोरी करने या किसी अविवाहित लड़की से

उसकी इच्छा के विरुद्ध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने पर अपराधी को जुर्माना देना पड़ता है। व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा शपथ ग्रहण करवाकर की जाती है। रेंगमा नागा लोगों की शासन-व्यवस्था में दास-प्रथा को मान्यता नहीं दी जाती है तथा जनजाति के सभी स्त्री-पुरुषों को समान मर्यादा और पद प्रदान किया जाता है।

SELECTED READINGS

1. Calverton, V.F. : *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931.

2. Malinowski : Crime and Custom in Savage Society, London, 1919

3. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World,* McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Lowie, R. H. : *Social Organization,* Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1956.

5. Maine H. : *Ancient Law,* London, 1861

19 आदिकालीन विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा आविष्कार (Primitive Science, Technology and Invention)

भूमिका—विज्ञान क्या है ?
(Introduction—What is Science ?)

साधारणत: विज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध में लोगों के दिल में गलत धारणाएँ हैं। प्राय: विज्ञान से कुछ विशेष प्रकार की अध्ययन-वस्तु समझी जाती है। जैसे, विज्ञान को केवल रसायन या भौतिक पदार्थ और जीवित प्राणी या पौधों के अध्ययन तक ही सीमित मान लिया जाता है, जो कि सर्वथा गलत है। विज्ञान किसी विशेष अध्ययन-वस्तु का एकाधिकार नहीं है। कोई भी अध्ययन-वस्तु विज्ञान हो सकती है अगर उससे प्राप्त ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त हुआ है। विज्ञान का आधार अध्ययन-वस्तु नहीं, वैज्ञानिक पद्धति है। अत: हम विज्ञान को निम्न शब्दों में परिभाषित कर सकते हैं—**"किसी भी घटना (phenomenon) के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त ज्ञान के क्रमबद्ध या नियमबद्ध संग्रह को विज्ञान कहते हैं।"**[1] इस प्रकार विज्ञान का सम्बन्ध ज्ञान (knowledge) के संग्रह से तथा वैज्ञानिक पद्धति से होता है, अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति से ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं। एक वैज्ञानिक केवल तथ्यों (facts) का अध्ययन करके ज्ञान को प्राप्त ही नहीं करता है, बल्कि उसे क्रमबद्ध रूप में उपस्थित भी करता है ताकि तथ्य स्वयं स्पष्ट हो सके। इसीलिए विज्ञान का अर्थ वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान का क्रमबद्ध संग्रह है। श्री पॉइनकेयर (Poincare) ने ठीक ही कहा है कि "विज्ञान तथ्यों से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान बना होता है; परन्तु केवल तथ्यों के एकत्रीकरण को उसी प्रकार विज्ञान नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार पत्थरों के ढेर को मकान नहीं कह सकते।" इन पत्थरों के ढेर से मकान बनाने का एक तरीका या पद्धति होती है। इसी पद्धति से मकान बनता है, चाहे पत्थर या ईंट किसी प्रकार का क्यों न हो; उसी प्रकार कोई भी अध्ययन-वस्तु विज्ञान हो सकती है, अगर वह वैज्ञानिक पद्धति को अपनाती है।

सर्वश्री मार्टिनडाल तथा मोनाचेसी (Martindale and Monachesi) ने बड़े ही सुन्दर ढंग से विज्ञान के आवश्यक तत्वों को समझाया है। उसके अनुसार,

---

1. "Science is a systematised body of knowledge concerning any [illegible] menon and acquired through scientific method."—R.N. Mukherjee, [illegible] *shastra*, Part I, Hindusthan Book House, Kanpur, 1961, p. 53.

उसकी इच्छा के विरुद्ध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने पर अपराधी को जुर्माना देना पड़ता है। व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा शपथ ग्रहण करवाकर की जाती है। रेंगमा नागा लोगों की शासन-व्यवस्था में दास-प्रथा को मान्यता नहीं दी जाती है तथा जनजाति के सभी स्त्री-पुरुषों को समान मर्यादा और पद प्रदान किया जाता है।

SELECTED READINGS

1. Calverton, V.F. : *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931.

2. Malinowski : Crime and Custom in Savage Society, London, 1919

3. Hoebel, E. A. : *Man in the Primitive World*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1958.

4. Lowie, R. H. : *Social Organization*, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1956.

5. Maine H. : *Ancient Law*, London, 1861

वह किसी अलौकिक शक्ति से मानता है। आदिमानव के विचार में यह अलौकिक शक्ति है जो सब-कुछ करती है। दूसरे शब्दों में, आदिमानव ने समस्त चीजों को ईश्वर के प्रतिरूप के रूप में या किन्हीं अलौकिक शक्ति की तात्कालिक क्रियाओं के परिणाम के रूप में देखा, माना या समझा। धारणा यह होती है कि समस्त घटनाओं (phenomena) का कारण अलौकिक शक्ति (देव-देवी या आत्मा) है जो कि समस्त चीजों में व्याप्त है। पेड़-पौधे, जल-प्रवाह, पत्थर आदि सभी में यही शक्ति क्रियाशील है। प्राकृतिक घटनाओं के घटित होने में आदिमानव को केवल एक ही कारण दिखाई देता है और वह कारण है देवी-देवता या ऐसी ही अन्य अलौकिक शक्ति। यह विचार ठीक है या गलत, यह दूसरी बात है परन्तु आदिमानव इसी रूप में अपने आस-पास के विषय में सोचता है और मानव तथा पशु में इसी चिन्तन करने की शक्ति के आधार पर एक महान अन्तर हो जाता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आदिवासियों को किसी विषय में कोई ज्ञान (knowledge) होता ही नहीं है। ऐसा नहीं है, फिर भी उनका ज्ञान अधिकतर व्यावहारिक ज्ञान होता है। व्यावहारिक ज्ञान में वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति न तो कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और न ही किसी घटना के सम्बन्ध में बिल्कुल ठीक-ठीक भविष्यवाणी करने की योग्यता होती है। इसका कारण यह है कि आदिमानव का ज्ञान सामान्य चीजों को देखने या जीवन में होने वाले अनुभवों पर अधिक निर्भर रहता है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए वे व्यवस्थित ढंग से सोच-विचार कर निश्चित वैज्ञानिक पद्धतियों को व्यवहार में नहीं लाते और न ही ऐसा करना जानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिमानव का व्यावहारिक ज्ञान यथार्थ वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है फिर भी यह मानना होगा कि वैज्ञानिक ज्ञान की नींव व्यावहारिक ज्ञान से ही पड़ती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति व्यावहारिक ज्ञान से नाव बनाता है और बादल व हवा के एक विशेष रूप व दिशा को देखकर तूफान आने का अनुमान करता है और नाव की यात्रा को स्थगित कर देता है, वह वैज्ञानिक ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ है; अर्थात् उसका यह कार्य विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत बिल्कुल ही नहीं आता। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि आदिमानव के लिए एक नाव को बनाना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे अनेक वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान न हो। उसे पता होना चाहिए कि नाव का पानी पर तैरना किन-किन बातों पर निर्भर है, लीवर का नियम कैसे काम करता है, जल में नाव को किस भाँति नियंत्रण में रखा जा सकता है, इत्यादि। ये वैज्ञानिक नियम हैं: इनका नाव बनाने वाले को व्यावहारिक तथा क्रियात्मक ज्ञान होना ही चाहिए, तभी वह नाव बना सकेगा और तभी उसकी यह नाव पानी पर तैरेगी।

केवल नाव के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि अन्य अनेक चीजों के विषय में आदिमानव को व्यावहारिक ज्ञान या सामान्य ज्ञान होता है। आदिमानव को भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ चीजों की आवश्यकता होती है। इन चीजों का उसे उत्पादन करना होता है या इन चीजों को वह बनाता है। इन चीजों को बनाने के लिए उसे कुछ कच्चे माल तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन उपकरणों आदि को बनाने

वह किसी अलौकिक शक्ति से मानता है। आदिमानव के विचार में यह अलौकिक शक्ति है जो सब-कुछ करती है। दूसरे शब्दों में, आदिमानव ने समस्त चीजों को ईश्वर के प्रतिरूप के रूप में या किसी अलौकिक शक्ति की तात्कालिक क्रियाओं के परिणाम के रूप में देखा, माना या समझा। धारणा यह होती है कि समस्त घटनाओं (phenomena) का कारण अलौकिक शक्ति (देव-देवी या आत्मा) है जो कि समस्त चीजों में व्याप्त है। पेड़-पौधे, जल-प्रवाह, घर-अम्बर आदि सभी में यही शक्ति क्रियाशील है। प्राकृतिक घटनाओं के घटित होने में आदिमानव को केवल एक ही कारण दिखाई देता है और वह कारण है देवी-देवता या ऐसी ही अन्य अलौकिक शक्ति। यह विचार ठीक है या गलत, यह दूसरी बात है परन्तु आदिमानव इसी रूप में अपने आस-पास के विषय में सोचता है और मानव तथा पशु में इसी चिन्तन करने की शक्ति के आधार पर एक महान अन्तर हो जाता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आदिवासियों को किसी विषय में कोई ज्ञान (knowledge) होता ही नहीं है। ऐसा नहीं है, फिर भी उनका ज्ञान अधिकतर व्यावहारिक ज्ञान होता है। व्यावहारिक ज्ञान में वैज्ञानिक ज्ञान की भांति न तो कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और न ही किसी घटना के सम्बन्ध में बिल्कुल ठीक-ठीक भविष्यवाणी करने की योग्यता होती है। इसका कारण यह है कि आदिमानव का ज्ञान सामान्य चीजों को देखने या जीवन में होने वाले अनुभवों पर अधिक निर्भर रहता है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए वे व्यवस्थित ढंग से सोच-विचार कर निश्चित वैज्ञानिक पद्धतियों को व्यवहार में नहीं लाते और न ही ऐसा करना जानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिमानव का व्यावहारिक ज्ञान यथार्थ वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है फिर भी यह मानना होगा कि वैज्ञानिक ज्ञान की नींव व्यावहारिक ज्ञान से ही पड़ती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति व्यावहारिक ज्ञान से नाव बनाता है और बादल व हवा के एक विशेष रूप व दिशा को देखकर तूफान आने का अनुमान करता है और नाव की यात्रा को स्थगित कर देता है, वह वैज्ञानिक ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ है; अर्थात् उसका यह कार्य विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत बिल्कुल ही नहीं आता। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) का कथन है कि आदिमानव के लिए एक नाव को बनाना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे अनेक वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान न हो। उसे पता होना चाहिए कि नाव का पानी पर तैरना किन-किन बातों पर निर्भर है, लीवर का नियम कैसे काम करता है, जल में नाव को किस भांति नियंत्रण में रखा जा सकता है, इत्यादि। ये वैज्ञानिक नियम हैं: इनका नाव बनाने वाले को व्यावहारिक तथा क्रियात्मक ज्ञान होना ही चाहिए, तभी वह नाव बना सकेगा और तभी उसकी यह नाव पानी पर तैरेगी।

केवल नाव के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि अन्य अनेक चीजों के विषय में आदिमानव को व्यावहारिक ज्ञान या सामान्य ज्ञान होता है। आदिमानव को भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ चीजों की आवश्यकता होती है। इन चीजों का उसे उत्पादन करना होता है या इन चीजों को वह बनाता है। इन चीजों को बनाने के लिए उसे कुछ कच्चे माल तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन उपकरणों आदि को बनाने

के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों तथा उनके गुणों का ज्ञान आवश्यक है। आदिकालीन समाज के लोग भी जानते हैं कि लकड़ी, घास, जड़, खाल आदि चीज़ों से कुछ चीज़ें वनायी जा सकती हैं। इन चीज़ों से न केवल उनके रोज के काम में आने वाली चीज़ें वन सकती हैं, अपितु अनेक उपकरणों का निर्माण भी सम्भव है। आदिकालीन समाजों के लोगों को यह भी ज्ञान है कि एक ही चीज़ कई प्रकार की होती है; उनमें से प्रत्येक प्रकार को एक खास चीज़ बनाने के लिए व्यवहार में लाना ही उचित है, उदाहरणार्थ, धनुष-वाण वनाने के लिए जिस लकड़ी को काम में लाया जा सकता है, झोंपड़ी के लिए आवश्यक खम्भों को बनाने के लिए वह लकड़ी बेकार प्रमाणित होगी। पेड़ों की छाल भी अनेक कामों में आती है। आदिम समाज के लोगों को यह ज्ञान है कि किस छाल से रस्से वनते हैं और किस छाल को कपड़े के रूप में काम में लाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न वनस्पतियों के विषय में ज्ञान भोजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, जंगलों में अनेक प्रकार के कन्द, मूल आदि पाये जाते हैं। आदिम समाज का मानव यह जानता है कि उनमें से कौन-कौन से कन्द-मूल स्वादिष्ट और मीठे तथा कौन-कौनसे कन्द-मूल स्वादहीन, कड़वे या विषैले होते हैं। भोजन के रूप में मीठे स्वादिष्ट कन्दों का तो वे सदा ही स्वागत करते हैं, किन्तु स्वादहीन कन्दों को भी शहद, मीठे फल, महुआ आदि से मिलाकर स्वादिष्ट बनाने का ज्ञान उन्हें होता है। साथ ही उन्हें यह ज्ञान भी होता है कि कड़वे कन्दों की कड़वाहट किस प्रकार दूर करके उन्हें भोजन के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कौन-कौनसे कन्द औषधि के रूप में उपयोगी हैं, इसका ज्ञान भी आदिम समाजों के लोगों को होता है।

आदिकालीन मानव को गणित-सम्बन्धी कुछ ज्ञान भी होता है। वे लोग 3 से 4-5 तक की गिनती सरलता से कर लेते हैं। यूकेटन के माया लोगों (The Maya of Yucatan) ने घटाने और जोड़ने की विधि को भी जान लिया है। कुछ जनजातियाँ विभिन्न संख्याओं को बताने के लिए विभिन्न प्रकार के चिन्हों (signs) या प्रतीकों (symbols) का प्रयोग करती हैं। उदाहरणार्थ अज़टेस (Aztecs) जनजाति में उंगली 1 का प्रतीक है, झन्डा 20 का और केश 400 का।[1] प्रशान्त महासागर के उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन जनजाति में हजारों तक की संख्या गिनी जाती है। इसका कारण यह है कि इस समाज में वस्तुओं को खरीदने व बेचने, व्यापार करने तथा अपराधी से जुर्माना वसूल करने की प्रथा का प्रचलन है। इसीलिए यहाँ के लोगों को गिनती की आवश्यकता होती है।

आदिमानव को नक्षत्र तथा ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान भी है। प्रायः सभी आदिवासियों की वर्ष-गणना चन्द्रमा के आधार पर बनी है। थाम्पसन इण्डियन (Thompson Indians) चन्द्रमा के आधार पर पूरे साल को विभिन्न कालों में इस प्रकार बाँटते हैं— (1) हरिणों का संभोग काल, (2) शरद् का चांद, जब घर के भीतर रहना उचित है, (3) हरिणों के सींग छूटने का चांद, (4) वसन्त-वायु का काल, (5) सर्दी के बाद

1. Franz Boas, *General Anthropology*, D. C. Heath and Co., New York, 1938, p. 276.

पर से निकलने का काल, (6) मछलियों के पकड़ने का काल, (7) कन्द खोदने का काल, (8) बेरी पकने का काल, (9) ग्रीष्म काल, (10) सालमन मछली पकडने का काल, (11) मछली के नदी के स्रोत पर पहुँचने का काल। साल के बारहवें हिस्से का इनके यहाँ कोई नाम नहीं है; अर्थात् इनके ज्ञान के अनुसार ये साल मे ग्यारह माह ही गिनते हैं।[1] कोरयक (Koryak) जनजाति में साल के बारह महीने गिने जाते हैं, परन्तु इनमें से अधिकतर महीनों का हरिण के जीवन के किसी-न-किसी पहलू के साथ सम्बन्ध होता है।[2] हॉट्टेनटॉट (Hottentot) तथा दक्षिण अमेरिका के इण्डियन एक माह का प्रारम्भ कृत्तिका-नक्षत्र (Pleiades) के उदय से गिनते हैं। इस प्रकार नक्षत्र सम्बन्धी अन्य ज्ञान भी जनजातियों को होता है। माइक्रोनेशियन (Micronesian) लोग समुद्र में नाव चलाने के लिए नक्षत्रों के आधार पर ऐसे चार्ट बनाते हैं जिनको देखकर नाव चलाते हुए वे अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।[3]

आदिकालीन मानव को जंगली जड़ी-बूटियों को औषधि के रूप मे प्रयोग करने का भी पर्याप्त ज्ञान होता है। इन जड़ी-बूटियों की सहायता से वे लोग घाव को ठीक करते, दस्त को बन्द करते, शरीर के बुखार को बाहर निकालते, तथा गन्दे फोड़े को दाग-कर जला देते हैं। अफ्रीका की जनजातियाँ चेचक की बीमारी से बचने के लिए कई उपायों को अपनाती हैं। कोका के पत्तो को दर्द कम करने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। कुनीन का प्रयोग आदिवासियों में ही सर्वप्रथम किया गया। टूटी हुई हड्डी को बैठाने तथा उसमें मालिश करने की विधियों से भी जनजातीय समाज के लोग खूब परिचित होते हैं।

आदिकालीन आविष्कार
(Primitive Invention)

मानव को, चाहे वह आदिकालीन मानव हो या आधुनिक, अपनी जीविका-पालन के हेतु अनेक प्रकार की चीजों की आवश्यकता होती है। इनमें से सभी चीजें उसे प्रकृति से प्राप्त नहीं होतीं। अधिक-से-अधिक उसके लिए आवश्यक कच्चा माल उसे प्रकृति से मिल जाता है, परन्तु उस कच्चे माल से विविध चीजों को बनाने का काम स्वयं मानव को करना पड़ता है। यह आविष्कार के द्वारा सम्भव होता है। आदिमानव प्रकृति की गोद में पलता है, उसी में घूमता-फिरता है। इस घूमने-फिरने के दौरान में वह अनेक चीजों को देखता है, अनेक अनुभवो को प्राप्त करता है तथा अनेक नवीन परिस्थितियों का सामना करता है। इन सबसे उसे ज्ञान प्राप्त होता है जो कि आविष्कार का पथ-प्रशस्त करता है। हम यहाँ आदिकालीन आविष्कार की कुछ झलक प्रस्तुत करेंगे।

(1) आग जलाना—आग जलाने की कला का आविष्कार मानव-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। इसके पहले मनुष्य और पशु में अधिक अन्तर नहीं था। मनुष्य भी पशुओं की भाँति कच्चा भोजन, मांस आदि खाता था। श्री बोआस (Boas)

1. *Ibid*, p. 274.
2. *Ibid.*, p. 274.
3. [illegible]

के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों तथा उनके गुणों का ज्ञान आवश्यक है। आदिकालीन समाज के लोग भी जानते हैं कि लकड़ी, घास, जड़, खाल आदि चीज़ों से कुछ चीज़ें बनायी जा सकती हैं। इन चीजों से न केवल उनके रोज के काम में आने वाली चीजें बन सकती हैं, अपितु अनेक उपकरणों का निर्माण भी सम्भव है। आदिकालीन समाजों के लोगों को यह भी ज्ञान है कि एक ही चीज़ कई प्रकार की होती है; उनमें से प्रत्येक प्रकार को एक खास चीज़ बनाने के लिए व्यवहार में लाना ही उचित है, उदाहरणार्थ, धनुष-बाण बनाने के लिए जिस लकड़ी को काम में लाया जा सकता है, झोंपड़ी के लिए आवश्यक खम्भों को बनाने के लिए वह लकड़ी बेकार प्रमाणित होगी। पेड़ों की छाल भी अनेक कामों में आती है। आदिम समाज के लोगों को यह ज्ञान है कि किस छाल से रस्से बनते हैं और किस छाल को कपड़े के रूप में काम में लाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न वनस्पतियों के विषय में ज्ञान भोजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, जंगलों में अनेक प्रकार के कन्द, मूल आदि पाये जाते हैं। आदिम समाज का मानव यह जानता है कि उनमें से कौन-कौन से कन्द-मूल स्वादिष्ट और मीठे तथा कौन-कौनसे कन्द-मूल स्वादहीन, कड़वे या विषैले होते हैं। भोजन के रूप में मीठे स्वादिष्ट कन्दों का तो वे सदा ही स्वागत करते हैं, किन्तु स्वादहीन कन्दों को भी शहद, मीठे फल, महुआ आदि से मिलाकर स्वादिष्ट बनाने का ज्ञान उन्हें होता है। साथ ही उन्हें यह ज्ञान भी होता है कि कड़वे कन्दों की कड़वाहट किस प्रकार दूर करके उन्हें भोजन के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कौन-कौनसे कन्द औषधि के रूप में उपयोगी हैं, इसका ज्ञान भी आदिम समाजों के लोगों को होता है।

आदिकालीन मानव को गणित-सम्बन्धी कुछ ज्ञान भी होता है। वे लोग 3 से 4-5 तक की गिनती सरलता से कर लेते हैं। यूकेटन के माया लोगों (The Maya of Yucatan) ने घटाने और जोड़ने की विधि को भी जान लिया है। कुछ जनजातियाँ विभिन्न संख्याओं को बताने के लिए विभिन्न प्रकार के चिन्हों (signs) या प्रतीकों (symbols) का प्रयोग करती हैं। उदाहरणार्थ अज़टेस (Aztecs) जनजाति में उंगली 1 का प्रतीक है, झन्डा 20 का और केश 400 का।[1] प्रशान्त महासागर के उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इण्डियन जनजाति में हजारों तक की संख्या गिनी जाती है। इसका कारण यह है कि इस समाज में वस्तुओं को खरीदने व बेचने, व्यापार करने तथा अपराधी से जु[illegible] वसूल करने की प्रथा का प्रचलन है। इसीलिए यहाँ के लोगों [illegible] की आव[illegible] होती है।

आदिमानव को नक्षत्र तथा ऋतु-सम्ब[illegible]
की वर्ष-गणना चन्द्रमा के आधार पर बनी [illegible]
Indians) चन्द्रमा के आधार पर पूरे [illegible]
हैं— (1) हरिणों का संभोग काल, (2 [illegible]
है, (3) हरिणों के सींग छूटने का [illegible]

1. Franz Boas [illegible]
1938, p. 276.

तरीके आदिकालीन समाजों में पाये जाते थे। कहीं-कहीं एक गड्ढा खोदकर पत्थर को लाल गर्म करके उसमे डाल दिया जाता है। इस पत्थर के ऊपर कुछ हरी टहनियों को रखकर उसपर उस मांस या भोजन को रख दिया जाता है जिसे कि पकाना है। अनेक जनजातियाँ मांस या भोजन को राख और मिट्टी से बचाने के लिए पहले उसे पत्तों से लपेट लेती हैं और फिर उसे आग पर डालती हैं। इससे एक ओर भोजन में राख या मिट्टी नहीं भरती और दूसरी ओर पत्तों से निकली भाप से भोजन भी जल्दी पक जाता है। आस्ट्रेलिया की अधिकतर जनजातियाँ इसी प्रकार से भोजन पकाती हैं।

(3) मकान (Shelter or House)—पेट भरने के लिए भोजन की आवश्यकता मनुष्य की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख आवश्यकता है। उसके बाद ही दूसरी आवश्यकता एक आश्रय या मकान की है। सर्वप्रथम इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था मानव-जीवन में नहीं थी और वह जंगलों में मारा-मारा फिरता था और पेड़ के नीचे सो जाया करता था। पर वर्षा आदि के समय मे पेड़ उसकी रक्षा नहीं कर पाते थे। उस समय उसे दौड़कर आस-पास की किसी गुफा में जाना पड़ता था। गुफा मे सर्वप्रथम उसने यह अनुभव किया कि गुफा के अन्दर रहकर वह आँधी, पानी तथा जंगली जानवरों से अपनी रक्षा अधिक सरलता से कर सकता है। कहा जाता है कि गुफा को या ऐसे ही किसी स्थान को रहने के लिए व्यवहार करने का विचार सर्वप्रथम स्त्रियों के दिमाग मे ही आया था। अर्थात् आदिम मकानों का आविष्कार पुरुषों ने नहीं बल्कि स्त्रियों ने किया था। इसका कारण भी स्पष्ट है। पुरुष लोग तो शिकार करने के लिए दूर जंगल मे चले जाते थे। स्त्रियों को बच्चों की देख-भाल करनी पड़ती थी। साथ ही, आस-पास के जंगल से फल-मूल भी इकट्ठा करना पड़ता था। इस काम के दौरान मे बच्चों का बोझ लादना या साथ ले जाना कष्टदायक था और उससे असुविधा भी काफी होती थी। साथ ही, बच्चों को पेड़ के नीचे असुरक्षित छोड़कर जाया भी नहीं जा सकता था क्योंकि ऐसा करने पर जंगली जानवर उन्हें मार डालते या उठा ले जाते थे। ऐसी परिस्थिति में स्त्रियों ने अपने अनुभव से ही बच्चों को गुफा के अन्दर रखना उचित समझा। इतना ही नहीं, कहीं बाहर जाने से पूर्व उस गुफा के मुँह को किसी बड़े पत्थर से बन्द करके जाती थीं जिससे कि कोई जंगली जानवर उसमे प्रवेश न पा सके। बाद मे पत्थर के स्थान में वृक्षों की टहनियों को आड़ा-बेड़ा बाँधकर गुफा के मुँह को बन्द करने के काम में लाना ही अधिक सुविधाजनक समझा गया। इसीसे दरवाजे का आविष्कार हुआ। इसके बाद मानव गुफा मे रहना छोड़कर बाहर आया। गुफा के बाहर कुछ जमीन को साफ और समतल बनाकर उसमें झोंपड़ी बनाना उसे आ गया। कहा जाता है कि यह विचार आदिमानव के मन में बहुत घने उगे हुए पेड़ों को देखकर उदय हुआ था। उसने देखा कि पेड़ों के बीच अनेक पत्ते और टहनियाँ पेड़ से अलग होने पर भी नीचे नहीं गिरती हैं क्योंकि दूसरी टहनियाँ और पत्ते उन्हें गिरने से रोक लेते हैं। ये जितने ही घने होते हैं, वर्षा, धूप आदि से इसके नीचे की भूमि उतनी ही सुरक्षित रहती है। इसीसे आदिमानव पेड़ की चार मोटी टहनियों को जमीन में गाड़ देता था और उस पर अन्य टहनियों को आड़ा बेड़ा बाँधकर उसे पत्तों से ढक देता था। किन्हीं-किन्हीं आदिम समाजों में अब भी इन टहनियों के ऊपर

चमड़ा सुखाकर इस प्रकार फैला दिया जाता है कि वर्षा, धूप व हवा से रक्षा हो सके। टुण्ड्रा प्रदेश के निवासी बर्फ का मकान बनाते हैं जो कि बर्फ के टुकड़ों को इकट्ठा करके बनाया जाता है। इसमें भीतर घुसने के लिए केवल एक छोटा-सा रास्ता होता है जिसमें से रेंगकर अन्दर जाना पड़ता है। उसकी आवश्यकता बर्फ की आँधी से अपनी रक्षा करने के लिए हुई होगी और इसी आवश्यकता के कारण इस प्रकार के मकान को बनाने की कला का आविष्कार हुआ होगा।

(4) वस्त्र (Clothing)—मकान के बाद वस्त्र की आवश्यकता आती है। पर आदिमानव के लिए यह आवश्यकता विशेष महत्त्व की नहीं थी और न ही अब है। केवल उन जनजातियों को छोड़कर जो कि सभ्य समाजों के सम्पर्क में आयी हैं अन्य जनजातियों में वस्त्रों का न्यूनतम प्रयोग ही होता है। फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्रों का आविष्कार किस प्रकार हुआ। ऐसा लगता है कि कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण ही वस्त्रों का आविष्कार सम्भव हुआ था। प्रकृति की गोद में पलने वाले आदिमानव ने यह अनुभव किया कि अगर वस्त्रों का प्रयोग किया जाय तो उससे सर्दी कम लगती है या सूर्य की किरणें भी शरीर में अधिक चुभती नहीं हैं। वह आदिमानव जब पेड़ के नीचे खड़ा होता था तो धूप से उसकी रक्षा होती थी, पर जैसे ही वह पेड़ की छाँव से बाहर जाता था वैसे ही शरीर धूप में तपने लगता था। इसलिए वह पत्तों की छाँव को सदा अपने साथ लेकर चलना चाहता था। इसीसे उसने सर्वप्रथम बड़े-बड़े पत्तों से और फिर पेड़ की छाल से शरीर ढाँकना शुरू किया। यही मानव का सर्व-प्राचीन वस्त्र था। इसके पश्चात् जानवरों की खाल को सुखाकर शरीर को ढँकने का काम लिया जाने लगा। कहा जाता है कि प्रारम्भ में इस काम के लिए केवल उन जानवरों की खालों को ही प्रयोग किया जाता था जो कि सरलता से धूप में सूख जाती थीं। बाद में हरिण, शेर, चीते की खालों को रगड़कर और सुखाकर उपयोग में लाया जाता था।

का और बाद मे धातु (विशेषकर लोहा) और लकड़ी से बनाया गया। उसी प्रकार लकड़ी या बाँस में लचीलापन होता है; यह आविष्कार होने के बाद ही धनुष-बाण का आविष्कार सम्भव हुआ होगा। लकड़ी के लचीलेपन का आविष्कार भी आदिमानव के रोज के अनुभव से हुआ होगा। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, दो व्यक्ति 'अ' और 'ब' जगल के रास्ते से गुजर रहे हैं। 'अ' आगे-आगे और 'ब' पीछे-पीछे चल रहा है। पेड़ की टहनी, जो कि उनके रास्ते पर झुक गई है, 'अ' के शरीर के किसी अंग में अटक जाती है और 'अ' के आगे बढने पर तनकर छूट जाती है और फिर जोर से आकर पीछे चलने वाले 'ब' को आघात करती है। यह अनुभव दो-चार बार दोहराने से ही आदिमानव यह जान जाता है कि टहनी आदि मे लचीलापन होता है और उस लचीलेपन में चीजों को छिटककर फेंकने की शक्ति भी होती है। इसी के आधार पर धनुष-बाण का आविष्कार किसी एक स्थान मे हुआ होगा जहाँ से कि वह अन्य जनजातियों में भी फैला होगा।

(6) खेती के उपकरण—खेती का सर्वप्राचीन उपकरण कुदाल (digging stick) ही है। इसका आविष्कार भी रोज के अनुभव के आधार पर हुआ होगा। फल-मूल इकट्ठा करने की स्थिति में ही आदिमानव कन्द-मूल को भी एकत्रित करता था। हाथों या उँगलियों से मिट्टी खोदकर कन्द-मूल को निकालना कष्टकर था और उसमें देर भी काफी लगती थी। इसीलिए किसी पत्थर या लकड़ी से मिट्टी खोदने का काम लिया जाने लगा। परन्तु रोज के अनुभव से आदिमानव ने शीघ्र ही यह आविष्कार किया कि अगर उस पत्थर या लकड़ी को नोकीला बना लिया जाय तो उससे मिट्टी खोदना और सरल हो जाता है। कतिपय जनजातियों में आज भी एक लकड़ी की छड़ी के साथ कोई नोकिला पत्थर बाँधकर, उससे जमीन खोदने व वृक्षारोपण का काम लेते हैं। कुदाल इसी नोकीली छड़ी का ही विकसित रूप है। हल का विकास भी इसी नोकीली छडी से हुआ है क्योंकि हल में भी मिट्टी आगे की तरफ धकेलकर खोदी जाती है। कुदाली की नोक को चौड़ा कर देने से फावड़ा बन गया होगा।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आदिमानव के पास आविष्कार करने के उद्देश्य से कोई संगठित प्रयोगशाला (laboratory) नहीं थी,जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिकों के पास होती है। उनकी तो प्रयोगशाला उनका सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन या जिसमें कि उन्हें नित्य नये प्रयोग करने पड़ते थे। उनका यह व्यावहारिक जीवन उन्हे अनेक नये अनुभव प्रदान करता है, ये अनुभव आविष्कार के पथ को प्रशस्त करते हैं।

आदिकालीन प्रौद्योगिकी
(Primitive Technology)

अगर हम किसी अजायबघर (museum) मे जाएँ तो हमे वहाँ विभिन्न प्रजातियो या जनजातियों द्वारा बनाये गये कपड़े, टोकरियाँ, औज़ार, उपकरण आदि देखने को मिलेंगे। इन चीजों से मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है अर्थात् मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन (means) के रूप मे प्रयोग करता है। इसीको

प्रौद्योगिकी कहते हैं। श्री विसलर (Wissler) के शब्दों में, "प्रौद्योगिकी एक सामान्य शब्द है जिसके अन्तर्गत उपकरणों के प्रयोग द्वारा वस्तुओं को बनाने की सम्पूर्ण यांत्रिक प्रक्रियाएँ (mechanical processes) आ जाती हैं।"[1] प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा जो कुछ बनता है या बनाया जाता है उसे समाज की भौतिक संस्कृति (material culture) कहा जाता है। आदिम समाजों में लोग मशीनों का प्रयोग करना नहीं जानते, फिर भी विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में नाना प्रकार के औज़ारों व उपकरणों का प्रयोग अवश्य ही करते हैं।

भौतिक चीज़ों के उत्पादन में सर्वप्रथम स्थान **खाद्य सामग्री** का है। खाद्य सामग्री दो प्रकार की होती है—एक तो पशुओं से मिलने वाले खाद्य और दूसरे पौधों से प्राप्त होने वाले खाद्य। आदिम मानव अपनी खाद्य सामग्री को इन्हीं दो साधनों से प्राप्त करता है—या तो वह फल, मूल आदि इकट्ठा करता है और भोजन देने वाले वृक्षों व पौधों का आरोपण करता है या पशु-पक्षियों को मारता और मछली पकड़ता है। इन सबके लिए उसे किसी-न-किसी प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। शिकार करने के लिए आदिमानव भाले, तीर-धनुष, फन्दों आदि का उपयोग करते हैं। ये उपकरण अनेक प्रकार के होते हैं। संसार के विभिन्न जनजातीय समाजों का अध्ययन करने पर हमें इन सब उपकरणों के अनेक विचित्र व विविध रूप देखने को मिलते हैं। मछलियों को मारने के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग होता है उनके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। मछलियाँ भाले या तीर से मारी जा सकती हैं, जाल और फन्दों से पकड़ी जा सकती हैं और हलके प्रकार के विषों के प्रभाव से मछलियों को अर्ध-चेतन अथवा अचेतन अवस्था में भी पकड़ा जा सकता है।

वृक्षारोपण के कार्य में सर्वप्रथम तथा सर्वप्राचीन उपकरण कुदाल है, क्योंकि बाद में आविष्कृत 'हो' और फावड़ा इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित नहीं हुए। कुदाल, हो और फावड़ा के अतिरिक्त खेती के काम में हल का प्रयोग भी किया जाता है। क्रमशः कृषि करने की प्रविधियों में कुछ उन्नति होती गई और वह तब सम्भव हुई जबकि इस कार्य में पशु-शक्ति का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। पशु-शक्ति के प्रयोग के साथ ही नये और अधिक कुशल औज़ारों का आविष्कार और विकास होता गया।

मकानों को बनाने के लिए भी अनेक प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता होती है। मकान के निर्माण में लकड़ी एक आवश्यक अंग है। लकड़ी को काटने के लिए कुल्हाड़ी का प्रयोग प्रायः सभी जनजातियाँ करती हैं। लकड़ी काटकर खम्भों के रूप में उसे जमीन में गाड़ने के लिए कुदाल या फावड़ा को काम में लाया जाता है। अनेक जनजातियाँ तम्बू की तरह मकान बनाती हैं। इसके लिए जानवरों के चमड़े को काम में लाया जाता है। पेड़ की टहनियों या मोटे बांसों की दो कैंचियाँ बनाकर आमने-सामने गाड़ दी जाती हैं

1. "Technology is a general term covering all mechanical processes involving the use of tools and the shaping of materials."—Clark Wissler, 'Technology', *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931, pp. 463–464.

और उनको मिलाने के लिए उनके ऊपर एक लम्बी टहनी या बाँस फिर जानवरों की खालो को एकसाथ जोड़कर उस पर फैला तैयार हो जाता है। अनेक जनजातियां लकड़ी व धातु की कील का जिनसे कि चमड़े आदि को खम्भों के साथ अटका दिया जाता है न जाय।

मानव को विभिन्न चीज़ों को रखने के लिए किसी-न-किसी आवश्यकता होती है। टोकरी ही इनमे सबसे सामान्य पात्र है। बाँस, बनाई जाती है। साधारणतया मोटी-मोटी छड़ों के साथ पतली छड़ें बाने की तरह बुन दिया जाता है। इस प्रक्रिया से अनेक आकार व प्रकार की बनाई जाती हैं। इस प्रकार से चटाई भी बुनी जाती है।

जिस प्रक्रिया से टोकरी बनाई जाती है प्रायः वही प्रक्रिया कपड़ा होती है। कताई और बुनाई मे भी ताने-बाने का सिद्धान्त कार्य करता है। भेड़ों तथा पेड़ के रेशों को हाथ से कातकर और फिर बुनकर आदिमानव कम्बल आदि लेता था। पहले-पहल कातने का काम हाथ से ही होता था। फिर तकली का हो जाने पर कताई का काम उसी से लिया जाने लगा। हाथ से कातने की से कताई अधिक सरलता से तथा जल्दी होती है इसके पश्चात् चर्खे का आविष्कार हुआ। सूत या ऊन कातकर ताने-बाने के आधार पर वस्त्र बुनने का काम किया जाता था। धीरे-धीरे करघे का भी आविष्कार हुआ। तब तो बुनाई का काम पहले से कहीं सरल हो गया। न्यू गिनी मे कई पेड़ों की छाल को लम्बा उतारकर उसका रेशा निकाला जाता है और फिर उसे बटकर रस्सी बनाई जाती है। दक्षिणी अमेरिका के इण्डियन तथा दूसरी कई जनजातियों ने रुई तथा ऊन के वस्त्र बुनने के लिए एक प्रकार के करघे का आविष्कार कर लिया है।

प्रारम्भ में आदिमानव किसी भी प्रकार के बर्तन के प्रयोग से परिचित नहीं था। परन्तु बाद में उन्हे यह ज्ञान हुआ कि मिट्टी आग मे पककर बहुत सख्त हो जाती है। इसके बाद आदिमानव ने हाथ से बर्तन बनाना प्रारम्भ किया और उन्हे आग में डालकर पका लिया करता था। बहुत दिन इसी प्रक्रिया से मिट्टी के बर्तन बनाये गये। उसके बाद चाक का आविष्कार हुआ जिससे चाक को घुमाकर बर्तन बनाये जाने लगे। इसके बहुत बाद धातु का प्रयोग हुआ। धातु-शोधन का कार्य ईसा से ४००० वर्ष पूर्व मिस्र तथा बैबिलोनिया में होने लगा था। धातु को गर्म करके पीटकर उससे नाना प्रकार के बर्तन बनाये जाते थे। इस प्रक्रिया मे हथौड़ा या हथौड़ी सबसे प्रमुख उपकरण हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि आदिकालीन प्रौद्योगिकी बहुत ही सरल और सीधी होती है। उसका प्रमुख कारण यह है कि आदिकालीन समाजों मे मानव के ज्ञान तथा आविष्कार की गति बहुत ही सीमित है जिसके कारण जटिल प्रकार की प्रौद्योगिकी का विकास संभव नहीं है। आदिकालीन सरल समाज के लिए यही स्वाभाविक है।

SELECTED READINGS

1. Boas and Others : *General Anthropology*, D.C. Heath and Co., New York, 1938.

2. Calverton V.F. : *The Making of Man*, The Modern Library, New York, 1931.

3. Herskovits, M.J. : *Man and His Works*, Alfred A. Knopf New York, 1956.

20 जनजातीय भारत
(Tribal India)

पिछले एक अध्याय में वर्णित भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास से एक उल्लेखनीय बात यह ज्ञात होती है कि इस देश में अति प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रजातीय तत्त्वों की लहरें आती रही और इस बहु-प्रजातीय महासागर (multiracial ocean) में विलीन होती रहीं। इस देश की एक और विशेषता यह है कि यह कुछ विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में भी बँटा हुआ है और प्रत्येक की अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनका प्रभाव उस क्षेत्र के निवासियों पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार भारतवर्ष में एक ओर विभिन्न प्रजातीय तत्त्वों का समावेश है और दूसरी ओर विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का। भारत के इन विभिन्न क्षेत्रों में अनेक ऐसे मानव-समूह निवास करते हैं जो कि आज भी सभ्यता के आदिम स्तर पर हैं। ये प्रायः सभ्य समाज से दूर जंगली, पहाड़ी या पठारी क्षेत्रों में रहते हैं और प्रत्येक अर्थ में अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। इन्हें वन्य-जाति, आदिवासी (aboriginals) जनजाति आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संविधान में ऐसे लोगों को 'अनुसूचित जनजातियाँ' (Scheduled Tribes) कहा गया है। परन्तु इनके सम्बन्ध में कुछ भी अध्ययन करने से पहले 'जनजाति' की परिभाषा और विशेषताओं को समझ लेना परमावश्यक है।

जनजाति की परिभाषा
(Definition of Tribe)

सर्वश्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के मतानुसार, "स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"[1]

डाक्टर रिवर्स (Dr. Rivers) ने सामान्य निवास-स्थान को महत्त्व न देते हुए जनजाति को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से

---

1. "Any collection of preliterate local groups which occupies a common general territory, speaks a common language, and practices a common culture is a tribe."—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, The Macmillan Co., New York, 1950, p. 282.

कार्य करते हों।[1] डा० रिवर्स ने सामान्य निवास-स्थान को इसलिए महत्त्व नहीं दिया क्योंकि जनजातियां प्राय: घुमन्तू या खानाबदोश (nomadic) होती हैं। परन्तु डा० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जनजातियों का अपना एक सामान्य क्षेत्र नहीं होता। घुमन्तू प्रकृति के होते हुए भी उनका एक विशिष्ट निवास-स्थान होता ही है।[2]

डा० मजूमदार ने अपनी परिभाषा में एक जनजाति की सभी विशेषताओं को स्पष्ट किया है। आपके मतानुसार, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं उपयोगी परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि **"एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव-समूह है जो भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यता के सूत्र में बँधा होता है।"**[4]

जनजाति की विशेषताएँ
(Characteristics of Tribe)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि (1) एक जनजाति अनेक परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है। (2) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक सामान्य भाषा होती है जिससे विचारों का आदान-प्रदान और पारस्परिक एकता व सामाजिक संगठन का विकास सरलता से हो सके। (3) इनका एक सामान्य नाम होता है। (4) जनजाति की एक और विशेषता यह है कि यह एक निश्चित भू-भाग पर रहती है। सामान्य भू-भाग के आधार पर सामुदायिक भावना भी दृढ़ हो जाती है। (5) एक जन-जाति प्राय: एक अन्तर्विवाही समूह होता है। प्रारम्भ में सब जनजातियाँ अपनी ही जनजाति में विवाह करती थीं। परन्तु आधुनिक युग में यातायात के साधनों की उन्नति के साथ एक जनजाति का पड़ोसी जनजातियों से सम्पर्क बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप

---

1. "A tribe is a social group of a simple kind, the members of which speak a common dialect and act together in such common purposes as warfare."—Dr. Rivers, Quoted by D.N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958, p. 356.
2. *Ibid.*, p. 356.
3. "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same [illegible] and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupa-on and have developed a well assessed system of reciprocity and mutuality of bligations."—*Ibid.*, p. 355.
4. "A tribe is that territorial human group which is bound together by commonness in respect to locality, language, social codes and economic [illegible]its."—R. N. Mukherjee, *People and Institutions of India*, Saraswati Sadan, ussoorie, 1960, p. 43.

अनेक जनजातियाँ अपने जनजातीय समूह से बाहर भी शादी कर लेती हैं। (6) एक जनजाति के सदस्यों में पारस्परिक आदान-प्रदान के कुछ सामान्य नियम और निषेध होते हैं जिनको प्रत्येक सदस्य को मानना पड़ता है और जिनके आधार पर इनके व्यवहार नियन्त्रित होते हैं। (7) एक जनजाति की एक सामान्य संस्कृति होती है और बाहर के समूहों के विरुद्ध इसके सदस्यों में एकता की भावना भी होती है। (8) जनजाति की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जनजाति का एक राजनैतिक संगठन होता है।

जनजातीय संगठन
(Tribal Organization)

डा० मजूमदार के अनुसार जनजाति एक राजनैतिक इकाई इस अर्थ में है कि प्रत्येक जनजातीय समूह का एक राजनैतिक संगठन होता है।[1] प्रत्येक जनजाति का बहुधा अपना एक वंशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा होता है जो कि जनजाति के समाज से सम्बन्धित समस्त विषयों का निरीक्षक और शासक होता है। इस संगठन के अन्तर्गत बड़े-बूढ़ों की एक समिति (a council of elders) होती है जो मुखिया को जनजाति-सम्बन्धी विषयों में और उसकी एकता एवं संगठन को बनाये रखने के विषय में परामर्श देती है। प्रत्येक सदस्य मुखिया के प्रति आज्ञाकारी और निष्ठावान होता है।

भारतीय जनजातियाँ
(Indian Tribes)

भारतीय संविधान में कुल 14 राज्यों में 212 जनजातियों को 'अनुसूचित जनजाति' घोषित किया गया है और सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में उनकी जनसंख्या लगभग 1 करोड़ 91 लाख है। परन्तु सन् 1956 में राज्यों के पुनःगठन के बाद भारत की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या प्रायः 2 करोड़ 25 लाख बतायी गई है। जबकि सन् 1961 की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या 2 करोड़ 99 लाख थी। इसके बाद सन् 1971 की जनगणना की रिपोर्ट हाल में ही प्रकाशित हुई है। उसके अनुसार उपरोक्त सभी पिछले आँकड़ों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जायेगा।

भारत में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या
(Population of Scheduled Tribes in India)

सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या 3,80,15,162 अर्थात् सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का प्रायः 7 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों का है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश में सर्वाधिक संख्या

---

1. *Ibid.*, p. 355.

में, अर्थात् 83,87,403 लोग अनुसूचित जनजातियों के हैं। इसके बाद इनकी कुल जनसंख्या के आधार पर क्रमश: उड़ीसा (50,71,937), बिहार (49,32,767), गुजरात (37,34,422) राजस्थान (31,25,506), महाराष्ट्र (29,54,249), पश्चिमी बंगाल (25,32,969), आन्ध्र प्रदेश (16,57,657) तथा असम (16,06,648) आदि का स्थान आता है। उत्तर प्रदेश में इनकी जनसंख्या केवल 1,98,565 है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत में जनजातीय लोगों की एक बड़ी संख्या निवास करती है। इनमें से कुछ जनजातियाँ उन्नत सांस्कृतिक समूहों के सम्पर्क में आई हैं, पर अनेक जनजातियाँ आज भी सभ्यता से दूर ही निवास कर रही हैं। इन दोनों प्रकार की जनजातियों के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक जानकारी आवश्यक है।[1]

सभ्यता के सम्पर्क में आयी हुई जनजातियाँ
(Tribes Who live in contact of Civilization)

सभ्यता के सम्पर्क में आने वाली जनजातियों में संथाल जनजाति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अभी हाल तक भी वे शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने की स्थिति में थे। परन्तु अब उनमें से अनेक लोग सभ्यता के सम्पर्क में आते जाते हैं। ये लोग बिहार प्रान्त के संथाल परगने तथा उत्तरी बंगाल में बसे हुए हैं। ये द्राविड़ प्रजाति के हैं, मुण्डा भाषा बोलते हैं और संख्या में प्राय: तीन लाख हैं। इनका एक भाग सभ्यता के सम्पर्क में आ गया है और वह आस-पास के औद्योगिक क्षेत्रों में आकर बस गया है। डाक्टर मजूमदार के शब्दों में, "वे नागरिक वातावरण में रहते हैं, बाज़ारों में पाये जाने वाले भोजन को खाते हैं, आभूषणों और जेवरों पर धन खर्च करते हैं जैसा कि वे पहले कभी नहीं करते थे और इससे भी अधिक, वे प्रदर्शनों में भाग लेते हैं, नारा लगाते हैं, हड़ताल करते हैं और अपने में से नेताओं को भी उन्होंने जन्म दिया है।[2] दूसरी ओर इनके देश में ऐसे समूह भी हैं जो परदेशियों को देखकर भी भयभीत होते हैं; कीड़े, मकोड़े और मेंढक आदि खाते हैं। और प्राय: नंगे रहते हैं और वन-देवियों को प्रसन्न करने के लिए मुर्गियों, कबूतरों और बकरियों की बलि देते हैं।[3]

संथाली लोग 'पिलचु हराम' और 'पिलचु बुरही' को अपना पूर्वज मानते हैं। ये लोग बारह बहिर्विवाही गोत्रों में बँटे हुए हैं। गोत्र के अन्दर विवाह नहीं हो सकता, बहुपत्नी-विवाह (polygamy) अच्छा नहीं समझा जाता, जब तक कि प्रथम पत्नी नि:सन्तान न हो या ऐसी ही कोई अन्य विशेष परिस्थिति न हो। बहुपति-प्रथा (polyandry) संथालियों में प्रचलित है। सब भाई मिलकर बहुधा एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं। विवाह-विच्छेद भी पति या पत्नी की इच्छा या सहमति से ही हो सकता

1. For detailed discussion see Dr. Majumdar, *op. cit.*, Chapter V.
2. "They live in urban surroundings, eat food available from the markets, spend money on jewellery and trinkets which they never did before and what is more, join in demonstrations, shout slogans, strike work and have produced leaders from among themselves."—*Ibid.*, p. 110.
3. *Ibid.*, p. 110.

है। सम्पत्ति पर लड़को का समान अधिकार होता है, पर लड़कियो को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही है। इनके देवी-देवताओं मे 'मरंग', 'बारू', 'मोरेको' आदि उल्लेखनीय हैं। संथालियों के उत्सवों में 'सोहराई' (Sohrai : November-December) और बाह पूजा (Baha Puja : February-March) प्रमुख हैं। सामाजिक संगठन और व्यवस्था 'परगनायक' के हाथ मे होती है। और गाँव का संगठन 'मांझी' के हाथ मे। मांझी का पद वंशानुगत होता है। गांव के अन्य अधिकारी 'परमानिक', 'जगमांझी' और 'जगपरमानिक', 'नायकी', 'कुदुम-नायकी' और 'गोरैट' होते हैं।

सभ्यता से दूर रहने वाली जनजातियाँ
(Tribes living isolated from Civilization)

सरिया, कूकी, नागा आदि जनजातियां सभ्यता के सम्पर्क से प्रायः दूर ही हैं। इनमें कूकी जनजाति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनके जीवन के अध्ययन से मानव-समाज पर प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावों का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। कूकी मंगोल प्रजाति से सम्बन्धित हैं और आसाम में लुशाई पर्वत पर बसे हुए हैं। ये लोग अनेक गोत्रों में बँटे हुए हैं। इनमें एक ओर थाइटी कूकी और खेलमा कूकी है। और दूसरी ओर थादन कूकी और प्राचीन कूकी आदि। इनमे से अधिकतर गोत्र लुशाई लोगों के प्रभाव में आ गये हैं और उन्होंने उनकी प्रथा, रीति आदि को अपना लिया है।

कूकी लोगों के गाँव जंगलों में बाँस और बेंत की बनी चार-पाँच झोपड़ियों को लेकर बनाते हैं। ये स्वभाव से घुमन्तू होते हैं, जिसके कारण इनकी बस्तियाँ अत्यधिक छिपी होती हैं, विशेषकर मणिपुर पहाड़ की बस्तियां। गाँव की व्यवस्था और संगठन वंशानुगत मुखिया के द्वारा होता है। विवाह के पश्चात् उसका पुत्र एक स्वतन्त्र मुखिया के रूप में कार्य करता है। कूकी अपनी आर्थिक आवश्यकताओ के विषय मे आत्म-निर्भर होते हैं। उनकी पोशाक भी अत्यधिक सादी होती है। लड़कियाँ भी कोई विशेष वस्त्रो का प्रयोग नहीं करतीं। लड़कों और लड़कियों के आभूषण प्रायः एक-से होते हैं। धूम्र-पान इनमें अत्यधिक जनप्रिय है और स्त्री-पुरुष दोनो ही धूम्रपान करते हैं। उनकी औद्योगिक आवश्यकताएँ अधिकतर बाँस से पूरी होती हैं और बाँस से ही वे अनेक प्रकार की चीज़ों को बनाते है। वे जंगली भालू और अन्य पशुओं का शिकार करते हैं। कुत्ते के मांस मे भी उन्हें विशेष परहेज नही होता। बकरी, मुर्गी आदि को वे खाने के लिए और देवी-देवताओ के सम्मुख बलि देने के लिए भी पालते हैं। घने जंगलों मे रहने वाले कूकी तो विशेषकर सभ्यता के बिल्कुल ही सम्पर्क मे नहीं हैं।

सभ्यता के सम्पर्क से दूर रहने वाली एक अन्य जनजाति नागा है जो कि आसाम राज्य में मणिपुर रियासत के आस-पास की घाटियों और पहाड़ों मे पाई जाती है। ये शक्तिशाली और असभ्य होते हैं। ये प्रायः नंगे रहते हैं, स्त्रियाँ नीले रंग के बड़े वस्त्र मे अपना शरीर ढक लेती है। कौड़ियों के बने अनेक प्रकार के आभूषणों का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही करते है। इनमे से कुछ लोग खेती, बुनाई और पशु पालने का भी काम करते है, परन्तु इनका मुख्य व्यवसाय शिकार और युद्ध करना है। नागा बड़े हिंसक और

रक्त-पिपासु जनजाति है और मनुष्यों को मारने में भी वे नहीं हिचकिचाते। युवा-गृह उनकी सामाजिक शिक्षा-संस्था है, जहां युवकों को विवाह से पूर्व विविध प्रकार की शिक्षा दी जाती है। उनमें बहुपति (Polyandry) तथा विवाह-विच्छेद की प्रथा भी पाई जाती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय जनजातियों के मोटे तौर पर दो भेद हैं—प्रथम तो वे जो सभ्य समाज के सम्पर्क में आ गई हैं और दूसरी जो आज भी सभ्य समाज से दूर जीवन व्यतीत कर रही हैं। इनका वर्गीकरण दूसरे आधारों पर भी किया जा सकता है जो निम्नवत् है।

भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण
(Classification of Indian Tribes)

की खाल, सीधे बाल, चपटी नाक, लम्बे सिर, मध्यम कद और अध-खुली आँखें। ये लोग पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर-प्रदेश, आसाम, सिक्किम आदि प्रदेशों में बसे हुए हैं।

(2) आदि-आग्नेयाभ (Proto-Australoid)—यह प्रजातीय तत्त्व उपरोक्त द्वितीय क्षेत्र अर्थात् मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करने वाले जनजातीय लोगों में देखने को मिलता है। ये लोग आदि-आग्नेयाभ प्रजाति के हैं जिनकी कि शारीरिक विशेषताएँ हैं—छोटे से लेकर मध्यम कद, खाल का रंग काला, सिर लम्बा तथा बाल घुंघराले। इसके अतिरिक्त माथे का निचला हिस्सा उठा होना, छोटी और बहुत चौड़ी नाक का अन्दर की तरफ दबा हुआ होना इस समूह के जनजातीय लोगों के अन्य प्रजातीय लक्षण हैं। ये लोग बंगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर-प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य भारत आदि प्रदेशों में बसे हुए हैं।

(3) नीग्रिटो (Negrito)—यह प्रजातीय तत्त्व उपरोक्त तृतीय क्षेत्र अर्थात् दक्षिणी क्षेत्र में निवास करने वाले जनजातीय लोगों में देखने को मिलता है। दक्षिणी भारत में जो जनजातियाँ रहती हैं उनके कद छोटे से लेकर मध्यम तक के, खाल का रंग काला या गहरा चाकलेटी-भूरा, नाक चपटी और चौड़ी, होठ मोटे और सिर लम्बा होता है। ये लोग अपने रक्त की कुछ विशेषताओं में मेलानेशियन और पूर्वी अफ्रीकी नीग्रो जनजातियों से काफी मिलते-जुलते हैं। इनमे दक्षिण भारत के कादर, इरूला और पनियन जनजातियों के शारीरिक लक्षणों को नीग्रिटो प्रजाति का माना जाता है। पर इस सम्बन्ध मे जो प्रमाण दिये जाते हैं वे अधिक तर्कपूर्ण नही हैं। इस सम्बन्ध मे हम अध्याय 6 में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

डा० गुहा के विचारो का भी इस सम्बन्ध मे उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। उनके अनुसार भारतीय जनजातियों में निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते हैं—

(अ) नीग्रिटो (Negrito)—यह नीग्रो प्रजाति की एक शाखा है जिसकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएँ हैं बहुत नाटा कद, चौड़ा सिर, गहरा काला रंग, काले-ऊनी बाल, मोटे होंठ और चौड़ी नाक। डा० गुहा के अनुसार यह भारत का सबसे पुराना प्रजातीय तत्त्व है और इसके कुछ अवशेष कोचीन और ट्रावनकोर की पहाड़ियों मे रहने वाली कादर, इरूला और पलयन नामक जनजातियो मे, आसाम के अंगामी नागाओं में और पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियों मे निवास करने वाली जनजातियो मे मिलते है।

(ब) आदि-आग्नेयाभ (Proto-Australoid)—छोटा कद, लम्बा तथा कुछ ऊँचा सिर, चौड़ा और छोटा चेहरा, मुँह आगे की ओर उठा हुआ तथा छोटी चपटी नाक इस प्रजातीय तत्त्व के प्रमुख लक्षण हैं। मध्य भारत की अधिकांश जनजातियाँ इसी प्रजाति की हैं। दक्षिणी भारत में भी ये लोग पाये जाते हैं। भील तथा चेंचू जनजातियाँ इसी प्रजाति की मानी जाती हैं।

(स) मंगोल—इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाएँ भारतीय जनजातियों मे देखने को मिलती हैं। डा० गुहा के अनुसार वे शाखाएँ हैं—चौड़े सिर वाले मंगोल और लम्बे सिर वाले मंगोल। चौड़े सिर वाले प्रजातीय तत्त्व चटगाँव और बर्मा मे पाये जाते है

बसी हुई जनजातियाँ द्राविड़ भाषा-परिवार की हैं।[1] यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी—

(1) चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार (Sino-Tibetan speech family)—इसके अन्तर्गत पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, भूटान, उत्तर-पूर्वी बंगाल और आसाम तथा सिक्किम तक फैली हुई जनजातियाँ आती हैं। इनमें नेपाल, दार्जिलिंग त्रिपुरा, काचर, मणिपुर आदि स्थानों में रहने वाली जनजातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में मोन-ख्मेर (Mon-Khmer) भाषा (जो कि ऑस्ट्रिक भाषा-परिवार से सम्बन्धित है) का सम्मिश्रण देखने को मिलता है जैसे कि खासी जनजाति में। यह अनुमान है कि नागा पहाड़ की जनजातियों में 16 भाषाएँ बोली जाती हैं।[2]

(2) आग्नेय या ऑस्ट्रिक भाषा-परिवार (Austric speech family)—इसमें मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा भाषाएँ और बोलियाँ आती हैं: सन् 1961 की जनगणना के अनुसार इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में प्रचलित संथाली, मुन्दारी हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं। कार्कू भाषा मध्य प्रदेश और बरार में बोली जाती है तथा सावरा और गाडवा भाषा उड़ीसा में बोली जाती है। संक्षेप में, यद्यपि मध्यवर्ती क्षेत्र में ऑस्ट्रिक भाषा की ही प्रधानता है तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ, जैसे ओरांव, कोलाम, गोंड, ऐसी भाषायों को बोलती हैं जो कि द्राविड़ भाषा से मिलती-जुलती हैं।[3]

(3) द्राविड़ भाषा-परिवार (Dravidian speech family)—इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाली जनजातियाँ दक्षिणी क्षेत्र में बसी हुई हैं। इन भाषाओं के अन्तर्गत चार प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ—तेलगू, कन्नड, तामिल और मलयालम—आती हैं। गोंड मध्य भारत, हैदराबाद और आन्ध्र राज्यों में फैले हैं और द्राविड़ भाषा बोलते हैं। उड़ीसा की कुन्य जनजाति, बिहार व उड़ीसा में रहने वाली कुई और ओरांव जनजातियाँ तथा राजमहल पहाड़ियों की जनजातियों की माल्टो बोलियाँ भी इसी भाषा-परिवार की हैं। टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इरूला, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड़ भाषा बोलती हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि मोटे तौर पर भारतीय जनजातियों में चीनी-तिब्बती, ऑस्ट्रिक तथा द्राविड़ ये तीन भाषा-परिवारों के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं का प्रचलन है फिर भी उन्हें इसी आधार पर एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, मध्य क्षेत्र की अधिकतर जनजातियाँ दो भाषाएँ—एक तो अपनी भाषा और दूसरी हिन्दुस्तानी या उड़िया या बंगला भाषा बोलती हैं। उसी प्रकार ओरांव और मुण्डा जनजातियाँ हिन्दुस्तानी भाषा बोल लेती हैं और संथाल जनजाति बंगला भाषा समझती है।[4] यही कारण है कि भारतीय जनजातियों के वर्गीकरण में भाषा को

1. *Ibid*, pp. 255-256.
2. *Ibid*, p. 255.
3. *Ibid*, p. 255.
4. *Ibid.*, p. 255.

एक महत्त्वपूर्ण आधार नहीं माना जाता है, केवल आधारों के साथ इसे एक सहायक आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[1]

भौगोलिक या प्रादेशिक वर्गीकरण
(Geographical or Regional Classification)

प्रजाति तथा भाषा के आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण करते समय हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि इन जनजातियों को तीन भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर बांटा जा सकता है। यह विचार डाक्टर गुहा का है।

डा० बी० एस० गुहा के मतानुसार भारत की जनजातियों को तीन बड़े भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा जा सकता है जो कि निम्नवत् हैं।[2]

(क) उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (North and North-Eastern Zone)—यह उत्तर में लेह (Leh) और शिमला के पूर्व में लुशाई पर्वतों तक फैला हुआ है। इसमें पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर-प्रदेश और आसाम के पहाड़ी प्रदेश सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ गद्दी, गुज्जर, लम्बा, खम्पा, कनोटा, लाहौला, जौनसारी, भूटिया, थारू, नागा, कूकी, खासी, कचाटी, राभा आदि हैं।

(ख) मध्यवर्ती क्षेत्र (Central Zone)—यह उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से पृथक् करने वाली तथा गंगा नदी के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर में विद्यमान विन्ध्याचल, सतपुड़ा आदि पुराने पहाड़ों और पठारों की पट्टी का प्रदेश है। इसमें बंगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर-प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तरी बम्बई और उड़ीसा सम्मिलित हैं। क्षेत्रफल तथा जनजातियों की आबादी की दृष्टि से यह सबसे बड़ा प्रदेश है। इस क्षेत्र में रहने वाले केवल संथालों की संख्या ही 25 लाख है। इस क्षेत्र की *अन्य* जनजातियाँ भुंज, ओराँव, हो, खड़िया, बिरहोर, भुइयाँ, गोंड, बैगा, कांड, कोटा, चेंचू, बेहिरा, कोरवा, मुण्ड, कोल, भील आदि हैं।

(ग) दक्षिण क्षेत्र (Southern Zone)—यह क्षेत्र सामान्य रूप से कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस क्षेत्र में जनजातियों की सबसे अधिक संख्या पश्चिमी घाट के पहाड़ों में वाइनाड से कन्याकुमारी तक पाई जाती है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर-कोचीन, आन्ध्र और मद्रास आते हैं। अण्डमान और निकोबार के द्वीपसमूह में भी अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ चेंचू, कोटा, कुरम्भा, बड़गा, टोडा, कादर, मलायन, पलैयन, उराली, इरूला, पुलयन आदि हैं।

डा० श्यामाचरण दुबे ने एक दूसरे तरह से अपने वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत के मानचित्र को निम्नलिखित चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. *Ibid.*, p. 255.
2. B. S. Guha, *op. cit.*

(1) उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र
(2) मध्य क्षेत्र
(3) पश्चिम क्षेत्र
(4) दक्षिण क्षेत्र

उत्तर या उत्तर-पूर्व क्षेत्र के मुख्य जनजातीय समूह हैं—भोटिया, थारू, लेप्चा, नागा, गारो, खासी, डाफला, कूकी, आबोर, मिकिर, गुरुंग आदि। इनमें से प्रथम दो उत्तर प्रदेश के हिमालय से लगे क्षेत्र में वास करते हैं। लेप्चा सिक्किम और समवर्ती भारतीय क्षेत्र के निवासी हैं। शेष जनजातीय समूह आसाम, उत्तर-पूर्वी सीमान्त क्षेत्र तथा कमेंग नागा पर्वत क्षेत्र में पाये जाते हैं।

मध्य क्षेत्र में जनजातियों की सबसे अधिक संख्या निवास करती है। बिहार के सन्थाल, मुण्डा, ओरांव और बिरहोर, उत्कल के बोंदो, खोंड, सौरा तथा जुआंग, मध्य-प्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोर्कू, कमार, भुंजिया आदि। राजस्थान के भील तथा दक्षिण पठार के चेंचू, कोलाम, कोआ, राजगोंड समूह आदि इस विस्तृत जनजातीय क्षेत्र के निवासी हैं।

पश्चिम क्षेत्र में सह्याद्रि के जनजातीय समूह जैसे वार्ली, कटकरी, महादेव, कोली तथा भीलों के कतिपय समूह आते हैं।

दक्षिण क्षेत्र में अनेक अल्प-संख्यक जातीय समूह निवास करते हैं। इनमें टोडा, बडागा, कोटा, इरूला, काडुर, कुरुंबा आदि उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक वर्गीकरण
(Cultural Classification)

सांस्कृतिक स्तरों के आधार पर भी भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण हो सकता है और उनके सम्बन्धों में किसी भी प्रकार की जानकारी के लिए यह वर्गीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रायः सोलह वर्ष पूर्व श्री वैरियर एलविन (Verrier Elwin) ने सांस्कृतिक स्तर के आधार पर भारतीय जनजातियों को चार वर्गों में बाँटा था जो निम्नवत् हैं[1]—

(1) प्रथम वर्ग में आदिमतम जीवन बिताने वाली जनजातियाँ हैं जो प्रमुख रूप से मध्य भारत में बस्तर की पहाड़ी माड़िया, उड़ीसा के जुआंग, गादबा और बोंदो हैं। ये अत्यन्त दुर्गम और गहन वन-पर्वतों में रहते हैं। ये सामाजिक और आर्थिक मामले में संयुक्त सामूहिक जीवन (joint communal life) व्यतीत करते हैं और 'झूम' खेती करते हैं। इनका जीवन अत्यन्त सरल तथा आदिम होता है और सभ्य समाज के लोगों को देखकर ये भाग जाते हैं या पेड़ों पर चढ़ जाते हैं।

(2) जनजातियों का दूसरा वर्ग है जिसके आदिम जीवन में कुछ परिवर्तन शुरू

---

1. V. Elwin, *The Aboriginals*, Oxford University Press, Bombay, 1943, pp. 7-11.

जंगलों से फलों, कन्दमूलों और शहद को इकट्ठा करते हैं तथा शिकार करके और मछली पकड़कर अपना पेट पालते हैं।

(2) पशुपालक जनजातियाँ (Tribes on Pastoral stage)—इस श्रेणी मे विशेष रूप से हिमाचल प्रदेश के गुज्जर और दक्षिण नीलगिरि की टोडा जनजाति उल्लेखनीय हैं। इनका आर्थिक जीवन पशुओं के पालन और उनके दूध व दूध से बनी चीज़ों को बेचने पर निर्भर है।

(3) खेती करने वाली जनजातियाँ (Tribes on Agricultural stage)—उत्तरी-पूर्वी तथा मध्य भारत की अधिकाश जनजातियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।

(4) उद्योग में लगी हुई जनजातियाँ (Tribes engaged in Industries—) कुछ जनजातियाँ अपने क्षेत्र के खानों, चाय-बगीचों और अन्य उद्योगो मे श्रमिक के रूप में काम करती हैं। विहार, बंगाल और आसाम की कुछ जनजातियाँ इस श्रेणी मे आती हैं।

उपरोक्त चारों श्रेणियों के विषय में हम अध्याय 12 में 'भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं।

भारतीय जनजातियों के विषय में और भी स्पष्ट धारणा बनाने के लिए हम यहाँ थारू जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक भारतीय जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन : थारू जनजाति
(Anthropological Study of An Indian Tribe : Tharu Tribe)

भारत के उत्तरीय क्षेत्र जिला पीलीभीत से 25 मील उत्तर में थारू जनजाति नैनीताल के तराई क्षेत्र मे फैली हुई है, जिसकी जनसंख्या अनुमानित रूप से लगभग 28 हजार है। पहाड़ी क्षेत्र टकनपुर से मैदानी क्षेत्रों तक सभी ओर इस जनजाति का विस्तार है, इस कारण किसी स्थान पर तो थारू पहाड़ की तलहटी मे बसे प्रतीत होते हैं, और किसी स्थान की दूरी पहाड़ियों से 10 या 15 मील तक पाई जाती है। यद्यपि अधिकतर थारू-ग्राम तराई क्षेत्रों में ही स्थित हैं, लेकिन कुछ गाँव पर्वतीय क्षेत्र व जंगली प्रदेशों से भी सम्बन्धित हैं जैसा कि ज्ञात है कि टकनपुर स्थान से नेपाल व भारत की सीमा पर बीहड़ जंगल पाये जाते हैं। जो भी हो, थारू वन्यजाति सभी वन्यजातियों के ही समान प्रकृति के रम्य दृश्यो मे हिलोरें लेती हुई-सी प्रतीत होती है। सम्पूर्ण थारुओं का क्षेत्र 'थरुआट' के नाम से प्रसिद्ध है।

थारू जनजाति की उत्पत्ति
(Origin of Tharu Tribe)

थारुओं की उत्पत्ति के विषय मे अनेक भ्रमात्मक सिद्धान्त व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। तार्किक रूप मे इनमे से केवल दो सिद्धान्तों को ही किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है। सर्वप्रथम अधिकतर थारू अपने को राना-वंश की उत्पत्ति कहते हैं। उनका

हो गये हैं फिर भी वे प्राय: प्रथम वर्ग की भाँति ही एकाकी और अपनी प्राचीन परम्पराओं को मानने वाले हैं। इनका जीवन सामूहिक न रहकर व्यक्तिवादी (individualistic) हो रहा है; अमीर-गरीब का अन्तर है। वे 'झूम' खेती को उतना नहीं अपनाते और न ही परदेशियों से अधिक डरते हैं।

(3) तीसरे वर्ग में सबसे अधिक जनजातियाँ, जनसंख्या में जो प्राय: दो करोड़ हैं, आती हैं। इनकी जनजातीय संस्कृति बाहरी संस्कृतियों के प्रभावों के कारण प्राय: मिटने वाली है। इन जनजातियों का बाहरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने का फल यह हुआ है कि धीरे-धीरे इनका जातीय जीवन नष्ट हो रहा है और ये अपने धर्म, परम्परा, प्रथा, कला, विश्वास, सामाजिक संगठन आदि से दूर होती जा रही हैं। इसके कारण उन्हें अनेक दुष्परिणाम भोगने पड़ रहे हैं और उनके जीवन में अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

(4) चौथा वर्ग उन जनजातियों का है जो, श्री एलविन के मतानुसार, देश के प्राचीन कुलीन वर्ग की प्रतिनिधि हैं। इसमें भील और नागा जनजातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने बाहरी सांस्कृतिक सम्पर्क में आने पर भी अपनी प्राचीन और मौलिक संस्कृति को वैसा ही बनाये रखा है।

श्री एलविन के वर्गीकरण में कुछ दोष हैं—(अ) श्री एलविन का यह कहना सत्य नहीं है कि सभ्य समाज के सम्पर्क में आना जनजातियों के लिए सदैव अहितकर ही है। (ब) चौथे वर्ग की जनजातियों की उन्नति का अन्तिम आदर्श मानना भी उचित नहीं है। और (स) श्री एलविन का वर्गीकरण स्थिर नहीं रह सकता। जैसे-जैसे नागरीकरण बढ़ता जायगा वैसे-वैसे श्री एलविन का वर्गीकरण भी दुर्बल होता जायगा।

सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) ने जनजातियों का वर्गीकरण निम्न ढंग से किया है—

(क) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायों से सांस्कृतिक मामलों में बहुत दूर हैं अर्थात् जो उन्नत समुदायों के सम्पर्क में नहीं आयी हैं।

(ख) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायों की संस्कृति के प्रभावों से प्रभावित हैं और जिनके कारण उनके जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

(ग) वे जनजातियाँ जो ग्रामीण-नागरिक समुदायों की संस्कृति के सम्पर्क में आने पर भी कोई असुविधा या समस्या का सामना नहीं कर रही हैं।

आर्थिक वर्गीकरण
(Economic Classification)

आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर भारतीय जनजातियों को मुख्य रूप से चार भागों में इस प्रकार बाँटा जा सकता है—

(1) **शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली जनजातियाँ** (Tribes on Hunting and Food gathering stage)—इस श्रेणी में कादर (कोचीन), मालापन्तरम (ट्रावनकोर), पलियन (मदुरा), पनियन आदि जनजातियाँ आती हैं जो कि

जंगलों से फलों, कन्दमूलों और शहद को इकट्ठा करते हैं तथा शिकार करके और मछली पकड़कर अपना पेट पालते हैं।

(2) पशुपालक जनजातियाँ (Tribes on Pastoral stage)—इस श्रेणी में विशेष रूप से हिमाचल प्रदेश के गुज्जर और दक्षिण नीलगिरि की टोडा जनजाति उल्लेखनीय हैं। इनका आर्थिक जीवन पशुओं के पालन और उनके दूध व दूध से बनी चीज़ों को बेचने पर निर्भर है।

(3) खेती करने वाली जनजातियाँ (Tribes on Agricultural stage)—उत्तरी-पूर्वी तथा मध्य भारत की अधिकांश जनजातियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।

(4) उद्योग में लगी हुई जनजातियाँ (Tribes engaged in Industries—) कुछ जनजातियाँ अपने क्षेत्र के खानों, चाय-बगीचों और अन्य उद्योगों में श्रमिक के रूप मे काम करती हैं। बिहार, बंगाल और आसाम की कुछ जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

उपरोक्त चारों श्रेणियों के विषय में हम अध्याय 12 मे 'भारतीय जनजातियों की अर्थ-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं।

भारतीय जनजातियों के विषय में और भी स्पष्ट धारणा बनाने के लिए हम यहाँ थारू जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक भारतीय जनजाति का मानवशास्त्रीय अध्ययन : थारू जनजाति
(Anthropological Study of An Indian Tribe : Tharu Tribe)

भारत के उत्तरीय क्षेत्र जिला पीलीभीत से 25 मील उत्तर में थारू जनजाति नैनीताल के तराई क्षेत्र में फैली हुई है, जिसकी जनसंख्या अनुमानित रूप से लगभग 28 हजार है। पहाड़ी क्षेत्र टनकपुर से मैदानी क्षेत्रों तक सभी ओर इस जनजाति का विस्तार है, इस कारण किसी स्थान पर तो थारू पहाड़ की तलहटी मे बसे प्रतीत होते हैं, और किसी स्थान की दूरी पहाड़ियों से 10 या 15 मील तक पाई जाती है। यद्यपि अधिकतर थारू-ग्राम तराई क्षेत्रों में ही स्थित हैं, लेकिन कुछ गाँव पर्वतीय क्षेत्र व जंगली प्रदेशों से भी सम्बन्धित हैं जैसा कि ज्ञात है कि टनकपुर स्थान से नेपाल व भारत की सीमा पर बीहड़ जंगल पाये जाते हैं। जो भी हो, थारू वन्यजाति सभी वन्यजातियों के ही समान प्रकृति के रम्य दृश्यों में हिलोरें लेती हुई-सी प्रतीत होती है। सम्पूर्ण थारुओं का क्षेत्र 'थरुआट' के नाम से प्रसिद्ध है।

थारू जनजाति की उत्पत्ति
(Origin of Tharu Tribe)

थारुओं की उत्पत्ति के विषय में अनेक भ्रमात्मक सिद्धान्त व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। तार्किक रूप से इनमें से केवल दो सिद्धान्तों को ही किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है। सर्वप्रथम अधिकतर थारू अपने को राणा-वंश की उत्पत्ति कहते हैं। इनका

विचार है कि मुसलमानों के अत्याचार व दमन-नीति के कारण राजपूताने से 12 राणा भागकर इस क्षेत्र में आये और धीरे-धीरे पहाड़ी स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित होने पर आज इतने विस्तृत रूप में फैल चुके हैं। दूसरा सिद्धान्त राजपूत स्त्रियों से उत्पत्ति पर बल देता है। इनका कहना है कि जौहर-व्रत की असहनीय पीड़ा से घबड़ाकर कुछ राजपूत स्त्रियाँ अपने थोड़े-से सेवकों के साथ जंगलों में छिपती हुई भागीं और समय के साथ-ही-साथ आन्तरिक वृत्तियों की संतुष्टि के हेतु इन्हीं सेवकों से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। इस प्रकार उत्पन्न सन्तान ही बाद में थारू कहलायी, और यही कारण स्त्रियों की उच्च स्थिति की भी पुष्टि करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यधिक कठिन है। यदि हम वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त का तनिक भी विश्वास करें, तो यह सिद्धान्त जरा भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। थारुओं की मानसिक, सामाजिक शारीरिक व बौद्धिक विशेषताएँ राणा व राजपूतों से बिल्कुल भिन्न होने पर भी हम किस प्रकार उनको राणा व राजपूतों से सम्बन्धित कर सकते हैं? सत्य तो यह है कि थारुओं की उत्पत्ति के विषय में अभी कुछ भी प्रमाणित नहीं, और जो कुछ कहा भी जाता है सभी कुछ कल्पनाओं के आधार पर ही। इस कारण इस पहेली को यहीं छोड़कर हम उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन पर ही विशेष रूप से अपने अध्ययनों को केन्द्रित करेंगे, जिसके लिए थारुओं की कुछ प्राथमिक विशेषताओं को जानना आवश्यक होगा।

थारू जनसंख्या की विशेषताएँ
(Main Characteristics of Tharu Population)

थारू जनसंख्या लगभग 28 हजार है, और साधारण समाज से भिन्न इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। **सर्वप्रथम** थारू जनजाति में स्त्री व पुरुषों के अनुपात में अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता, बल्कि किसी-किसी स्थान पर तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है; और फलस्वरूप थरुआर में स्त्रियों के प्रति कोई विशेष आकर्षण जैसी वस्तु नहीं मिलती। **द्वितीय,** यद्यपि स्त्रियाँ प्रत्येक कार्य के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हैं लेकिन उपर्युक्त कारण से थारूओं में यौन-सम्बन्धी अपराधों की संख्या बहुत कम है। **तृतीय** थारू जनसंख्या का अधिक भाग अशिक्षित है। वे परम्परागत रूप से शिक्षा को उचित नहीं समझते और दूसरी शिक्षा-संस्थाओं की कमी व अधिक दूरी होने के कारण भी बच्चे सरलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। आज बढ़ते हुए शिक्षा के प्रचार व प्रसार से भी थारुओं की रुचि इस ओर आकृष्ट नहीं हो सकती है। **अन्तिम** विशेषता जनसंख्या का परम्परावादी व अंधविश्वासी होना है। वर्तमान युग ने चाहे कितनी भी प्रगति कर ली हो लेकिन यह प्रगति थारुओं की परम्परावादिता व अंधविश्वासों को समाप्त नहीं कर सकी है। उनके सम्पूर्ण कार्यों में रूढ़ियों व सामाजिक रीतियों को प्रमुख स्थान दिया जाता है, तर्क या बुद्धि को तो बहुत कम या तनिक भी नहीं। रूढ़ियों का उल्लंघन करने पर सामाजिक दण्ड की व्यवस्था की गई है, जिसको मानने के लिए प्रत्येक थारू बाध्य है।

थारू जनजाति का आर्थिक जीवन
(Economic Life of Tharu Tribe)

अनेक अन्य जनजातियों की भाँति थारुओं का प्रमुख व्यवसाय व आय का स्रोत कृषि है, इसके अतिरिक्त मछली का शिकार दूसरा आवश्यक कार्य है, जो व्यवसाय तो नहीं कहा जा सकता, पर पारिवारिक व्यय को कम करने में अत्यधिक सहायक है। जंगली प्रदेशों से लगे हुए ग्रामों मे थारू शिकार के भी शौकीन हैं, जिसमें वे प्राय. पाड़ा, चीतल, शेर, सूअर व इसी प्रकार के दूसरे जंगली जानवरों का शिकार करते हैं। अधिकतर थारू स्वभाव के सुस्त व ढीले हैं। जितनी उर्वरा ज़मीन (fertile land) उनको खेती के लिए प्राप्त है, उसके अनुपात में उनकी उपज अत्यधिक कम है, जिसका कारण प्रमुख रूप से प्राचीन कृषि-यन्त्र व प्रविधियाँ हैं। फसल को बोने से लेकर बाजार में बेचने तक के सभी ढंग परम्परात्मक हैं और फलस्वरूप थारुओं की कृषि से प्राप्त आय उनको जीवित रखने-भर के लिए ही पर्याप्त होती है।

मछली मारना थारुओं का पारिवारिक कार्य व आवश्यकता के रूप में किया जाता है। गाँव के सभी स्त्री व पुरुष 20 या 30 के समूहों में दूर पर बहती हुई शारदा नदी या नहर में जाल व छपरियाँ (बेंत की बनी मछली मारने की टोकरियाँ) लेकर जाते हैं और दोपहर को 3 बजे तक मछलियाँ मारने के बाद घर की ओर लौटते हैं। यह स्थान अधिकतर ग्रामों से लगभग 5 मील से 10 मील तक के फासले पर होगा, इस कारण पास के गाँव में रहने वाले थारुओं को मछली मारने का समय अधिक मिलता है। स्त्री व पुरुष मछलियों का शिकार अलग-अलग करते हैं, और अपनी मछलियाँ अलग टोकरों में ही भरी जाती हैं, कारण यह कि स्त्रियाँ अपने द्वारा मारी हुई मछलियाँ ही खाती हैं; पुरुषों के स्पर्श मात्र से ही उसको अधिकतर नहीं खातीं। इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि यह मछलियाँ बेचने के कार्य में नहीं आतीं अपितु थारू केवल उतनी ही मछली मारते हैं, जितनी वे स्वयं उपभोग कर सकें। वर्षा के आरम्भ के साथ ही नदी व नहरों के तीव्र बहाव के कारण मछलियाँ यहाँ प्राप्त नहीं होतीं और वहाँ पहुँचने के मार्ग भी समाप्त हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति में थारू गाँव के आस-पास के तालाबों व पोखरों से ही मछली पकड़ते हैं। लेकिन यह मछलियाँ किस्म व आकार मे उतनी अच्छी नहीं होतीं।

अधिकतर थारू जनसंख्या निर्धन है। प्रथम तो उनको अकुशल व अपर्याप्त कृषि से पेट-भर भोजन प्राप्त नहीं हो पाता, और जो कुछ आय होती भी है उसका एक बड़ा भाग कच्ची शराब व दूसरे प्रकार के अपव्यय में समाप्त कर दिया जाता है। सामाजिक उत्सवों व कन्या-मूल्य (bride price) पर किये गये व्यय भी उनकी आय को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकतर थारू गहरे ऋण मे डूबे हुए हैं और अपनी ईमानदारी के कारण, जिसको वर्तमान सभ्यता व औद्योगीकरण भी समाप्त न कर सका, थारू सबसे पहले ब्याज का भुगतान व निश्चित बातों का पालन करते हैं, चाहे उनको इसमे कितना भी नुकसान क्यों न उठाना पड़े। यद्यपि थारुओं की आय साधारण ग्रामीणों की दशा देखते हुए अधिक कम नहीं, तो भी परिवार का आकार तुलनात्मक रूप से बड़ा होने के

विचार है कि मुसलमानों के अत्याचार व दमन-नीति के कारण राजपूताने से 12 राणा भागकर इस क्षेत्र में आये और धीरे-धीरे पहाड़ी स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित होने पर आज इतने विस्तृत रूप में फैल चुके हैं। दूसरा सिद्धान्त राजपूत स्त्रियों से उत्पत्ति पर बल देता है। इनका कहना है कि जौहर-व्रत की असहनीय पीड़ा से घबड़ाकर कुछ राजपूत स्त्रियाँ अपने थोड़े-से सेवकों के साथ जंगलों में छिपती हुई भागीं और समय के साथ-ही-साथ आन्तरिक वृत्तियों की संतुष्टि के हेतु इन्हीं सेवकों से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। इस प्रकार उत्पन्न सन्तान ही बाद में थारू कहलायी, और यही कारण स्त्रियों की उच्च स्थिति की भी पुष्टि करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यधिक कठिन है। यदि हम वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त का तनिक भी विश्वास करें, तो यह सिद्धान्त जरा भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। थारुओं की मानसिक, सामाजिक शारीरिक व बौद्धिक विशेषताएँ राणा व राजपूतों से बिल्कुल भिन्न होने पर भी हम किस प्रकार उनको राणा व राजपूतों से सम्बन्धित कर सकते हैं? सत्य तो यह है कि थारुओं की उत्पत्ति के विषय में अभी कुछ भी प्रमाणित नहीं, और जो कुछ कहा भी जाता है सभी कुछ कल्पनाओं के आधार पर ही। इस कारण इस पहेली को यहीं छोड़कर हम उनके सामाजिक व आर्थिक जीवन पर ही विशेष रूप से अपने अध्ययनों को केन्द्रित करेंगे, जिसके लिए थारुओं की कुछ प्राथमिक विशेषताओं को जानना आवश्यक होगा।

थारू जनसंख्या की विशेषताएँ
(Main Characteristics of Tharu Population)

थारू जनसंख्या लगभग 28 हज़ार है, और साधारण समाज से भिन्न इसकी कु[illegible]
अपनी विशेषताएँ हैं। **सर्वप्रथम** थारू जनजाति में [illegible] ों के अनुपात में अधि[illegible]
अन्तर प्रतीत नहीं होता, बल्कि किसी-किसी स्थान [illegible] की अपेक्षा स्त्रियों [illegible]
संख्या अधिक है; और फलस्वरूप थरुआर में स्त्रि[illegible] विशेष आकर्षण [illegible]
वस्तु नहीं मिलती। **द्वितीय,** यद्यपि स्त्रियाँ [illegible]
उपर्युक्त कारण से थारूओं में यौन-सम्बन्धी अप[illegible]
जनसंख्या का अधिक भाग अशिक्षित है। वे [illegible]
समझते और दूसरी शिक्षा-संस्थाओं की [illegible]
सरलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। [illegible]
भी थारुओं की रुचि इस ओर आकृष्ट न[illegible]
परम्परावादी व अंधविश्वासी होना है। [illegible]
हो लेकिन यह प्रगति थारुओं की [illegible]
सकी है। उनके सम्पूर्ण कार्यों में रूढ़ि[illegible]
है, तर्क या बुद्धि को तो बहुत कम [illegible]
सामाजिक दण्ड की व्यवस्था की [illegible]

वह अपनी इच्छानुसार पहले पति का ब्याह में किया गया खर्चा लौटाकर दूसरे व्यक्ति के पास जा सकती है। यह धन नये पति के द्वारा दिया जाता है। ऐसे विवाहों को थारू समाज द्वारा पूर्ण मान्यता प्रदान की गई है। इसमें पुरुष की इच्छा या अनिच्छा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। तृतीय अवस्था में यह खर्चा तय दिया जाता है जब स्त्री बिना किसी कारण अपने पहले पति को छोड़कर दूसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। ऐसी परिस्थिति में यदि नवीन पति खर्चा देने के अयोग्य है अथवा देना नहीं चाहता तो लड़की के पिता को खर्चे की राशि देनी पड़ती है। जो भी हो, इस प्रकार के विवाह काफी मात्रा में पाये जाते हैं। इसको लड़की का विक्रय तो कहना किसी प्रकार उपयुक्त न होगा क्योंकि ऐसे विवाह पूर्ण रूप से स्त्री की इच्छानुसार ही किये जाते हैं।

(3) चुटकुटा—यह प्रथा विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए ही प्रचलित है। यदि किसी लड़की के पति की मृत्यु हो जाय, तो लड़की नियमानुसार अपने श्वसुर के यहाँ ही रहती है, लेकिन यदि वह चाहे तो उसके यौन-सम्बन्धों की संतुष्टि के लिए श्वसुर के द्वारा किसी पुरुष का प्रबन्ध किया जा सकता है, जो फिर उसी घर में रहता है। ऐसे विवाहों में आयु के अन्तर को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। एक स्थान पर मुझे ऐसा उदाहरण मिला जबकि एक 35 वर्ष की स्त्री के लिये 20 वर्ष का नवयुवक रखा गया, क्योंकि यह लड़का वधू-मूल्य देने के अयोग्य था; पर इस विवाह से उसको वधू-मूल्य देने के स्थान पर कुछ वर-मूल्य भी प्राप्त हो गया। ऐसे विवाहों की विशेषता यह है कि विवाह के बाद लड़के की चोटी अधिकतर काट दी जाती है, और इसी कारण विवाह का नाम भी 'चुटकुटा' रखा गया है। थारू समाज में ऐसे विवाहों को भी सामाजिक मान्यता (social sanction) प्राप्त है।

(4) उधरा ब्याह या प्रेम विवाह—यद्यपि ऐसे विवाहों की संख्या कम है, लेकिन तो भी अवसर पाये जाते हैं। इसके अनुसार लड़का व लड़की अपनी इच्छानुसार कहीं भाग जाते हैं (Elopement), पर विशेष बात यह है कि ऐसा करने में लड़की आगे रहने वाली (initiator) होती है। यद्यपि ऐसे विवाहों को सामान्य मान्यता (general sanction) प्राप्त नहीं, लेकिन गाँव को एक मछली व दारू (wine) से दावत देने के बाद साधारण रूप से मान्यता प्राप्त हो जाती है।

(5) घुस विवाह—इस प्रकार का विवाह एक आश्चर्य-सा प्रतीत होता है। इसके अन्तर्गत कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के घर में बलपूर्वक घुसकर बैठ सकती है, और उस घर के किसी पुरुष को अपने साथ विवाह करने के लिए बाध्य कर सकती है, थारू जनजाति के अध्ययन में मेरा ऐसी ही एक घटना से सामना आरम्भ में ही हुआ। आपको आश्चर्य होगा कि एक लगभग 30 वर्ष की स्त्री 23 वर्षीय नवयुवक के घर में उसके साथ विवाह करने के लिए घुसकर बैठ गई, जो किसी भी प्रकार उससे विवाह करने को तैयार न था। फलस्वरूप उनकी प्रथा के अनुसार लड़के को उस स्त्री के दूसरे विवाह का खर्चा देना पड़ा, जो जुर्माना के रूप में देना पड़ता है।

(6) पति-भ्राता विवाह—इस रीति के अनुसार थारू पुरुष अपने बड़े भाई की विधवा स्त्री या छोटे भाई की विधवा स्त्री से विवाह कर सकता है। थारू स्त्रियों का

कारण उनकी आर्थिक स्थिति उनको निरन्तर भुखमरी व निर्धनता की ओर ले जाती है।

थारूओं का सामाजिक जीवन
(Social Life of Tharus)

थारू समाज परम्परावादी, रूढ़िवादी व अन्धविश्वासों से घिरा हुआ प्रतीत होता है। स्वभाव से ही ये व्यक्ति स्त्रियों के गुलाम हैं। उनकी संस्कृति व सभ्यता बिलकुल जनजातियों के समान तो नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह अधिक प्राचीन जाति नहीं है लेकिन आदिम समाजों की कुछ विशेषताएँ इनमें अवश्य पाई जाती हैं। विवाह का रूप स्त्रियों की स्थिति, पुरुषों का निम्न स्तर, विश्वासों व परम्पराओं का पालन और सामाजिक रीतियाँ—सभी कुछ जनजातियों के ही समान प्रतीत होता है। इनमें से थारुओं की वैवाहिक रीतियाँ अधिक अनोखी और साधारण समाज से भिन्न हैं।

विवाह के भेद (Types of Marriage)—थारुओं में विवाह केवल 'माह' के महीने में किया जाता है, और इसके बाद गौने की प्रथा प्रचलित है, जो केवल चैत और बैसाख में ही सम्पन्न की जाती है। विवाह विशेषकर सात प्रकार के होते हैं—

(1) **खासी व्याह या धर्म विवाह**—अधिकतर विवाह इसी रीति के अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं। वधू पक्ष को 'निनहरिया' व वर पक्ष को 'वरतिया' नाम से सम्बोधित किया जाता है। विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष की ओर से रक्खा जाता है और वधू पक्ष अपनी इच्छानुसार वर का चयन करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। सबसे पहले उत्सव को 'दिखनौरी' कहा जाता है, जिसमें लड़की का पिता लड़के के पिता के घर सवा रुपया व नारियल लेकर जाता है, लेकिन हमारे समाज के विपरीत, वर पक्ष वधू पक्ष के व्यक्तियों का स्वागत करता है कि कभी-कभी स्वागत में 2 या 3 पीपे शराब तक समाप्त कर दी जाती है। विवाह के एक सप्ताह पहले दूसरा उत्सव 'सगाई' का होता है जिसका दूसरा नाम 'सुगन को छूलो' है। यह वैवाहिक जीवन की भावी विपदाओं को दूर करने के विश्वास से सम्बन्धित है। विवाह के दिन वधू के घर पर एक अनोखी रीति को अपनाया जाता है, जो बिल्कुल जंगली ही कही जा सकती है। सबसे पहले वर के बहनोई को नग्न किया जाता है और तब वैवाहिक कार्य आरम्भ होते हैं। इस क्रिया को 'गाड खुछाछा' नाम दिया गया है। काफी प्रयत्न करने पर भी मैं यह न जान सका कि इसके पीछे कौनसा मनोविज्ञान कार्य करता है। इसके उपरान्त साधारण रीति से मिलाई आदि का कार्य करने के बाद चैत या वैसाख में गौने की रीति को पूर्ण किया जाता है।

(2) **खर्चा विवाह**—थारुओं में प्रचलित दूसरा महत्त्वपूर्ण वैवाहिक ढंग है जिसमें स्त्री के लिए कुछ धन देना आवश्यक है, इसको वधू-मूल्य (Bride Price) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यह वधू-मूल्य साधारण रूप से तीन परिस्थितियों के अन्तर्गत लिया जा सकता है। **प्रथम** तो जब लड़की का पिता अत्यधिक निर्धन हो, और ऐसी परिस्थिति में उसी के साथ लड़की का विवाह होता है जो अधिक मूल्य देता है। **दूसरी** अवस्था में यदि लड़की अपने पहले पति को छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो

वह अपनी इच्छानुसार पहले पति का ब्याह मे किया गया खर्चा लौटाकर दूसरे व्यक्ति के पास जा सकती है। यह धन नये पति के द्वारा दिया जाता है। ऐसे विवाहों को थारू समाज द्वारा पूर्ण मान्यता प्रदान की गई है। इसमें पुरुष की इच्छा या अनिच्छा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। तृतीय अवस्था में यह खर्चा तब दिया जाता है जब स्त्री बिना किसी कारण अपने पहले पति को छोड़कर दूसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। ऐसी परिस्थिति मे यदि नवीन पति खर्चा देने के अयोग्य है अथवा देना नही चाहता तो लड़की के पिता को खर्चे की राशि देनी पड़ती है। जो भी हो, इस प्रकार के विवाह काफी मात्रा मे पाये जाते हैं। इसको लड़की का विक्रय तो कहना किसी प्रकार उपयुक्त न होगा क्योंकि ऐसे विवाह पूर्ण रूप से स्त्री की इच्छानुसार ही किये जाते हैं।

(3) चुटकुटा—यह प्रथा विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए ही प्रचलित है। यदि किसी लड़की के पति की मृत्यु हो जाय, तो लड़की नियमानुसार अपने श्वसुर के यहाँ ही रहती है, लेकिन यदि वह चाहे तो उसके यौन-सम्बन्धों की संतुष्टि के लिए श्वसुर के द्वारा किसी पुरुष का प्रबन्ध किया जा सकता है, जो फिर उसी घर मे रहता है। ऐसे विवाहों में आयु के अन्तर को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। एक स्थान पर मुझे ऐसा उदाहरण मिला जबकि एक 35 वर्ष की स्त्री के लिये 20 वर्ष का नवयुवक रक्खा गया, क्योंकि यह लड़का वधू-मूल्य देने के अयोग्य था; पर इस विवाह से उसको वधू-मूल्य देने के स्थान पर कुछ वर-मूल्य भी प्राप्त हो गया। ऐसे विवाहों की विशेषता यह है कि विवाह के बाद लड़के की चोटी अधिकतर काट दी जाती है, और इसी कारण विवाह का नाम भी 'चुटकुटा' रक्खा गया है। थारू समाज मे ऐसे विवाहो को भी सामाजिक मान्यता (social sanction) प्राप्त है।

(4) उधरा ब्याह या प्रेम विवाह—यद्यपि ऐसे विवाहो की संख्या कम है, लेकिन तो भी अवसर पाये जाते हैं। इसके अनुसार लड़का व लड़की अपनी इच्छानुसार कही भाग जाते हैं (Elopement), पर विशेष बात यह है कि ऐसा करने मे लड़की आगे रहने वाली (initiator) होती है। यद्यपि ऐसे विवाहों को सामान्य मान्यता (general sanction) प्राप्त नहीं, लेकिन गाँव को एक मछली व दारू (wine) से दावत देने के बाद साधारण रूप से मान्यता प्राप्त हो जाती है।

(5) घुस विवाह—इस प्रकार का विवाह एक आश्चर्य-सा प्रतीत होता है। इसके अन्तर्गत कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के घर मे बलपूर्वक घुसकर बैठ सकती है, और उस घर के किसी पुरुष को अपने साथ विवाह करने के लिए बाध्य कर सकती है, थारू जनजाति के अध्ययन मे मेरा ऐसी ही एक घटना से सामना आरम्भ मे ही हुआ। आपको आश्चर्य होगा कि एक लगभग 30 वर्ष की स्त्री 23 वर्षीय नवयुवक के घर मे उसके साथ विवाह करने के लिए घुसकर बैठ गई, जो किसी भी प्रकार उससे विवाह करने को तैयार न था। फलस्वरूप उनकी प्रथा के अनुसार लड़के को उस स्त्री के दूसरे विवाह का खर्चा देना पड़ा, जो जुर्माना के रूप मे देना पड़ता है।

(6) पति-भ्राता विवाह—इस रीति के अनुसार थारू पुरुष अपने बड़े भाई की विधवा स्त्री या छोटे भाई की विधवा स्त्री से विवाह कर सकता है। थारू स्त्रियो का

परिवार की सम्पत्ति में हिस्सा रक्खा गया है, और इस कारण सम्पत्ति की रक्षा के लिए स्त्री को विधवा होने के बाद भी संरक्षण प्रदान किया जाता है, जिससे यौन-सम्बन्धों की संतुष्टि व सम्पत्ति की रक्षा, दोनों ही समान रूप से हो सकें।

(7) साली विवाह—साली विवाह भी थारुओं में प्रचलित है, जिसके अनुसार लड़के को अपनी पत्नी की जीवित या मृत, दोनों अवस्थाओं में अपनी सालियों से विवाह करने का अधिकार दिया गया है। ऐसा साधारण रूप से तभी देखा जाता है जब लड़का काफी अच्छे परिवार का सदस्य हो।

स्त्रियों की स्थिति
(The Position of Women)

थारू समाज की स्त्रियों को व्यावहारिक रूप से प्राथमिकता प्राप्त है। प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री की इच्छा को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है। फसल को बेचने के लिए बाज़ार जाने का कार्य भी स्त्रियों के अधिकार में ही है। स्त्रियों की प्राथमिकता इस सत्य से स्पष्ट प्रतीत होती है कि पुरुषों को रसोईघर (kitchen) में घुसने तक का अधिकार नहीं, और उनके भोजन को स्पर्श करने मात्र की भी उनको छूट नहीं। पुरुष रसोई के बाहर बैठकर खाना खाते हैं और स्त्रियाँ अन्दर। त्योहारों में अधिकतर कार्य स्त्रियों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है; पुरुष उनके कार्य में सहायता तो कर सकते हैं, पर किसी कार्य से स्त्री को रोक नहीं सकते।

नशा व शराब
(Drug and Drinks)

थारुओं का जीवन कच्ची शराब के अत्यधिक प्रयोग से एक अभिशाप-सा बन गया है। भूख से मरते हुए, निर्धनता व ऋण में डूबे हुए और जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं को भी कठिनता से पूर्ण करने वाले थारुओं की 'शराब' एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। केवल बोतलों व कुल्हड़ों का प्रयोग ही न होकर, शराब पीपों में भरकर आस-पास के गाँवों में 'खटीमा' केन्द्र से ले जायी जाती है। केवल पुरुष ही नहीं, बल्कि स्त्रियाँ व बच्चे तक शराब को साधारण वस्तु के समान लेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। स्वास्थ्य के लिए यह कितनी हानिकारक है, कहा नहीं जा सकता; पर हफ्तों की बासी जलेबियों के साथ शराब का अत्यधिक प्रयोग उनकी सुस्ती व बीमार शरीर के लिए एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है।

rus)

ोहारों में विश्वास नहीं करते, लेकिन तो भी चार त्योहारों का
। है। विशेष बात यह है कि थारू समाज में इन त्योहारों को

पूर्ण करने में ब्राह्मणों को कोई स्थान नहीं दिया जाता बल्कि कहीं-कहीं पर तो ब्राह्मणों से इतनी घृणा की जाती है कि उनके द्वारा छुए गये कच्चे बर्तनों को भी तोड़ डाला जाता है। इन त्योहारों में सर्वप्रथम महत्त्व 'चढ़ाई' को दिया जाता है जो वर्ष में दो बार चैत व बैसाख में मनाया जाता है। इस त्योहार को प्रमुख रूप से स्त्रियाँ गाँव के बाहर देवी की आराधना को केन्द्रित करके मनाती हैं। तीजों को दूसरा स्थान दिया गया है और साधारण रूप से यह त्योहार हमारे रीति-रिवाजों के अनुसार ही सावन में मनाया जाता है। मुडन व होली भी इनके प्रमुख त्योहार हैं, जिसमें शराब व मछली का उपभोग अपनी सीमा लाँघकर इनको बेहोश कर देता है। थारुओं के त्योहारों में एक विशेषता यह है कि दीपावली को मनाना इस क्षेत्र में अशुभ माना जाता है। इन दिनों थारू अपने पूर्वजों को भेंट आदि प्रदान करते हैं, जिसको 'रोटी' कहा जाता है। इसी कारण किसी प्रकार का आनन्द मनाना इनकी रीतियों व परम्परा के विरुद्ध है।

वास्तव में अशिक्षित व पिछड़े हुए थारुओं का जीवन अंधविश्वासों व परम्पराओं से पूर्णरूपेण घिरा हुआ है। चिकित्सा व धर्म में विश्वासों व जादू-टोने को प्रमुखता दी जाती है। रोगी के मृतप्राय: होने पर भी डाक्टरी सुविधाओं को छोड़कर टोने-टुटकों पर विश्वास किया जाता है, जिसका परिणाम समय से पूर्व रोगी की मृत्यु है। इस क्षेत्र में यौन-सम्बन्ध काफी ढीले हैं, पर क्योंकि इसको अधिक बुरा नहीं समझा जाता, इस कारण इससे उत्पन्न तनाव भी बहुत कम मात्रा में प्राप्त होते हैं।

आज थारू जनजाति शहर के प्रलोभनों व आकर्षणों से दूर तराई क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता का जीवन व्यतीत कर रही है, लेकिन औद्योगीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव ने इस पर भी अपना प्रभाव आरम्भ कर दिया है। थारुओं की सामाजिक रीतियों में इधर कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, विशेषकर स्त्रियों की पूर्ण स्वतन्त्रता को सीमित करने का काफी प्रयत्न किया जा रहा है, क्योंकि समय की गति को दृष्टि में रखते हुए उनका सरल जीवन अधिक स्वतन्त्रता के कारण भ्रष्ट होने की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है। अनेक योजनाओं को इस क्षेत्र पर कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिसके लिए सन् 1961 में सरकार ने 16 लाख रुपये की सहायक राशि इस जनजाति के विकास-कार्यों के हेतु प्रदान की है। आशा की जाती है कि भविष्य में थारू जनजाति के जीवन में पर्याप्त सुधार किया जा सकेगा, और यही राष्ट्र व समाज के विकास के लिए हितकर भी है।

सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूप
(Major Forms of Social Organization)

प्रत्येक समाज का अपना एक संगठन होता है और इस संगठन का आधार विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ और सम्बन्ध होते हैं। जनजातीय लोग कम-से-कम आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यधिक पिछड़े समझे जाते हैं परन्तु फिर भी इनमें एक सामाजिक संगठन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है और इस मामले में भारत में और दुनिया के अन्य भागों में निवास करने वाले जनजातीय समाजों में सामाजिक संगठन बहुत-कुछ एक-सा पाया

होता है और इस संगठन का प्रथम आधार या मूलभूत इकाई परिवार ही है। परिवार का विस्तृत रूप गोत्र और गोत्र-समूह है; परिवार और गोत्र से ही सम्बन्धित विवाह तथा नातेदारी व्यवस्था है जो कि सामाजिक संगठन के महत्त्वपूर्ण पक्ष कहे जा सकते हैं। सामाजिक संगठन के अन्य पक्ष हैं सामाजिक स्थिति तथा पद, आयु तथा यौन-आधार पर संगठन, वर्ग-व्यवस्था, युवा-संगठन आदि। इन सबको मिलाकर ही सामाजिक संगठन के विभिन्न स्वरूपों का निर्माण होता है और इनके विषय में जाने बिना भारत की जन-जातियों का परिचय सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अब हम उन्हीं के विषय में एक-एक करके वर्णन करेंगे।

परिवार
(Family)

भारत के जनजातीय समाजों में प्रायः प्रत्येक प्रकार के परिवार-संगठन पाये जाते हैं। परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है—**मूल या केन्द्रीय परिवार** (primary or nuclear family)। इस प्रकार के परिवार में एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे आते हैं। परिवार का दूसरा प्रकार **विवाह-सम्बन्धी परिवार** (conjugal family) है। ऐसे परिवारों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चों के अलावा विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। भारत में खरिया जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। परिवार का तीसरा रूप संयुक्त परिवार है। इस प्रकार का परिवार भारत की अनेक जनजातियों में देखने को मिलता है।

परिवार को पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर भी दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है—एक तो **मातृसत्तात्मक** या मातृवंशीय परिवार और दूसरा **पितृसत्तात्मक** या पितृवंशीय परिवार। इन दोनों प्रकार के परिवारों में पितृवंशीय परिवार अधिक संख्या में भारतीय जनजातीय समाज में पाये जाते हैं, परन्तु मातृवंशीय परिवार के भी अनेक उदाहरण भारत में सरलता से मिल जाते हैं।

विवाह संस्था के स्वरूप के आधार पर परिवारों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक-विवाही परिवार, बहुपत्नी-विवाही परिवार, बहुपति-विवाही परिवार तथा समूह-विवाही परिवार। भारत में खासी, संथाल और कादर जनजातियों में एक-विवाही परिवार; नागा, गोंड, बैंगा आदि जनजातियों में बहुपत्नी-विवाही परिवार और खस जनजाति में बहुपति-विवाही परिवार पाये जाते हैं। समूह-विवाही परिवार बहुत कम देखने को मिलते हैं। परिवार के प्रमुख स्वरूपों को और भी भली-भाँति समझने के लिए मातृवंशीय तथा पितृवंशीय समाजों के बारे में सामान्य ज्ञान होना परमावश्यक है—

मातृवंशीय समाज
(Matrilineal Societies)

इस प्रकार के समाजों में मातृसत्तात्मक (matriarchal), मातृवंशीय तथा

इसलिए उसी को अपनी माँ की सम्पत्ति का अधिकतर भाग मिलता है। कुछ दशाओं में स्त्रियाँ यहाँ के धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन में सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करती हैं। खिरिम राज्य का शासक तथा मुख्य पुरोहित स्त्री ही होती है। स्त्रियों का पारिवारिक जीवन में इतना अधिक महत्त्व होने के कारण ही परिवार में लड़की का होना आवश्यक समझा जाता है और न होने पर उस कमी को, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं, एक या एकाधिक लड़की गोद लेकर पूरा किया जाता है। परन्तु इन सबका यह अर्थ कदापि नहीं है कि खासी परिवार या समाज में पुरुषों की कोई स्थिति या सम्मान ही नहीं है। पति के रूप में और पिता के रूप में भी उनका आदर होता है और तलाक या विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है। खेती का काम पुरुष ही करते हैं और स्त्रियाँ घर पर कताई-बुनाई का काम करती हैं। स्त्रियाँ सम्मानसूचक शब्दों (जैसे 'स्वामी') से अपने पति को सम्बोधित करती हैं।

गारो—गारो जनजाति में भी मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। इनमें बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी मातृमूलक है; अर्थात्

सम्पत्ति पर अधिकार पुत्रों का नहीं, कन्याओं का होता है। परिवार की कन्याओं में से किसी को भी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी चुना जा सकता है परन्तु व्यवहारत. सबसे छोटी कन्या ही इसके लिए चुनी जाती है। यह एक विशिष्ट अधिकार है, इसलिए जिसे यह अधिकार (सम्पत्ति पर अधिकार) मिलता है उसके पति और जिन्हे नही मिलता है उनके पतियों में एक स्पष्ट भेद किया जाता है और इस उद्देश्य से उन्हे अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। जिस लड़की को सम्पत्ति मिलती है उसके पति को 'नोक्रोम' कहा जाता है और दूसरे सब पति 'चोवारि' कहलाते हैं। गारो जनजाति में यह परम्परागत नियम है कि जिस लड़की को सम्पत्ति मिलती है उसका विवाह पिता की बहन के लड़के से या उसके अभाव में पिता के ही मातृकुल के किसी अन्य अविवाहित सदस्य से होगा। पुत्र को सम्पत्ति इसलिए नहीं मिलती है कि ऐसा होने पर वह सम्पत्ति उस पुत्र से उसके पुत्रों को मिल जायेगी और ये पुत्र अपनी माँ के परिवार से सदस्य होंगे, न कि पिता के परिवार के। इस प्रकार सम्पत्ति दूसरे परिवार को चली जायेगी। इसे रोकने के लिए ही सम्पत्ति कन्या को दी जाती है और कन्या के पति को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'नोक्रोम' कहते हैं। इस जनजाति मे यह भी नियम है कि नोक्रोम के ससुर की मृत्यु होने पर विधवा सास का पुनर्विवाह नोक्रोम के साथ ही होगा। इस नियम का आधार भी वही है जो कि पुत्र को सम्पत्ति से वंचित करने का होता है। यदि इस विधवा सास का विवाह परिवार से बाहर होगा या होता है तो नोक्रोम दम्पति का सम्पत्ति पर अधिकार खत्म हो जाता है। इस परिस्थिति को रोकने के लिए ही नोक्रोम अपनी सास से विवाह कर लेता है, यद्यपि यह विवाह वास्तव मे एक प्रकार का 'खाना-पूरी' करने की तरह होता है क्योंकि सास और नोक्रोम की आयु मे काफी अन्तर रहता है। परन्तु कभी-कभी यह अन्तर बहुत कम होता है और नोक्रोम और सास मे यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पारिवारिक तनाव (tension) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और नोक्रोम और उसकी पत्नी (सास की लड़की) मे झगड़ा और मन-मुटाव चलता रहता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को होने पर भी पति अपने जीवनकाल मे पूरा फायदा उठा सकता है। पुरुष साधारणत. एक से अधिक विवाह नहीं करते हैं यद्यपि तीन स्त्रियों से विवाह की आज्ञा है और विवाह के समय कन्या-मूल्य या वर-मूल्य के रूप में किसी भी प्रकार का लेन-देन नही होता। विवाह का प्रस्ताव पुरुषों की ओर से नही, अपितु स्त्रियों की ओर से आता है। चूँकि सम्पत्ति के उत्तराधिकार का आधार स्त्रियाँ होती हैं, इसलिए विधवाओं को अनेक दिनों तक पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती। परन्तु पुनर्विवाह हो ही नहीं सकता, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। वैसे अविवाहित कन्याओं को विवाह के विषय में पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। गारो परिवारों में कन्या के प्रथम मासिकधर्म के समय अनेक प्रकार की जादू-धर्म की क्रियाएँ की जाती हैं और इसके बाद से ही कन्या को यौन-सम्बन्धी शिक्षा भी दी जा सकती है। पत्नी व्यभिचारिणी होने पर उसे तलाक दिया जा सकता है।

मलाबार का मातृसत्तात्मक परिवार—श्री थामस (Thomas) ने मलाबार के

नायरों में पाये जाने वाले मातृवंशीय परिवार का जो संक्षिप्त विवरण दिया है[1] वह इस प्रकार है। मलाबार में नम्बूदरी लोग जो कि ब्राह्मण जाति के हैं नायर लड़की से प्रायः विवाह कर लेते हैं। श्री थामस के अनुसार नायर परम्परागत दृष्टिकोण से शूद्र जाति के हैं, परन्तु साथ ही अत्यधिक सभ्य और धनी भी। इस कारण नम्बूदरी की सामाजिक स्थिति में कोई आँच नहीं आ पाती है। नायर स्त्री अपने घर या परिवार की मालकिन होती है और विवाह के बाद भी परिवार को छोड़कर पति के घर नहीं जाती। पति समय-समय पर उसके घर आया-जाया करता है। वंश और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार माता की ओर से निश्चित होते हैं और पिता को अपनी सन्तानों पर कोई अधिकार नहीं होता। बच्चों का परिचय अपनी माता के वंश से दिया जाता है। परन्तु जैसा कि साधारणतया सोचा जा सकता है, पुरुषों की स्थिति केवल स्त्री के अधीन बने रहना या आलसी जीवन व्यतीत करना नहीं होता। शासक, श्रमिक और सैनिक के रूप में जो कुछ भी काम पुरुषों का है या होना चाहिए, वे सभी कार्य पुरुष ही करते हैं। माता का अधिकार पारिवारिक मामलों में, आर्थिक अधिकारों में और वंशावली या वंशनाम के सम्बन्ध में सर्वोच्च होता है। उदाहरणार्थ राज-परिवारों में राज्यों का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं, बल्कि राजा की बहन का लड़का (भानजा) होता है। नायरों में विवाह-विच्छेद बहुत सरल और बिना किसी शर्त के होता है। एक पुरुष विवाह-विच्छेद की इच्छा प्रगट करके या केवल पत्नी के घर आना बन्द करके विवाह-बन्धन को विच्छिन्न कर सकता है। उसी प्रकार पत्नी भी अपने विवाह-बन्धन को तोड़ सकती है। परन्तु विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी इस असीमित अधिकार का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा ही बहुत कम होता है। अनुचित यौन-सम्बन्धी और अवैध सन्तान उत्पन्न होने के सम्बन्ध में सामाजिक दण्ड अधिक कठोर नहीं हैं। गरीब नायर स्त्रियाँ धन-प्राप्ति के लिए प्रायः व्यापारियों आदि के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं।

पितृवंशीय समाज
(Patrilineal Societies)

जनजातीय भारत में मातृवंशीय समाजों से पितृवंशीय समाजों का विस्तार कहीं अधिक है। भारत की अधिकतर जनजातियों में पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय तथा पितृ-स्थानीय परिवार पाये जाते हैं। परिवार और समाज में पुरुष का स्थान काफी ऊँचा माना जाता है। परिवार के विषयों में पिता या अन्य कोई वयस्क पुरुष की आज्ञा सर्वोच्च होती है। पुरुष अपने घर पर रहता है और विवाह के पश्चात् स्त्री को अपने पति के घर में जाकर रहना पड़ता है। पितृवंशीय समाज में परिवार का सबसे छोटा रूप पति-पत्नी तथा उनके नाबालिग बच्चे होते हैं। पुत्रियाँ विवाह के बाद अपने पति के घर चली जाती हैं, पर पुत्र विवाह करके वधू को अपने पिता के घर लाता है और उन्हीं के साथ रहता है और अगर पारिवारिक उलझन व कलहों के कारण साथ रहना सम्भव नहीं है तो पुत्र विवाह के बाद अपना अलग घर बसा लेता है। परन्तु उत्सवों

1. P. Thomas, *Women and Marriage in India*, 1939, pp. 17—19.

तथा संस्कारों के अवसर पर इस प्रकार से अलग हुए सभी पुत्र एकसाथ आ मिलते हैं और उस पारिवारिक उत्सव या विवाह आदि में भाग लेते हैं। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र को अधिकार होता है। पिता की मृत्यु के बाद या तो इस सम्पत्ति को सभी पुत्र आपस में बाँट लेते हैं, या संयुक्त रूप में सब भाई मिलकर उस सम्पत्ति को उपभोग करते हैं। किन्हीं-किन्ही जनजातीय समाजो में इस बात का सचेत प्रयत्न किया जाता है कि सम्पत्ति का विभाजन न होने पाये क्योंकि सम्पत्ति का विभाजन हो जाने से जमीन आदि का जो बँटवारा हो जाता है उससे फिर एक भाई के लिए पृथक् व स्वतन्त्र रूप से जीवन-निर्वाह करना सम्भव नहीं होता है। पितृवंशीय समाजो में एक-विवाह, बहुपति-विवाह या बहुपत्नी-विवाह पाये जा सकते हैं। जौनसार-बावर के खस लोगों मे बहुपति-विवाह का रिवाज है। उनमे संयुक्त परिवार प्रथा पाई जाती है और सब भाई अपनी एक या अधिक पत्नियों के साथ रहते हैं। परिवार की सम्पत्ति पर बड़े भाई का अधिकार होता है और परिवार से सम्बन्धित विषयों पर वही नियंत्रण रखता है। नीलगिरि की टोडा में भी बहुपति-विवाह प्रथा का प्रचलन है। इस समाज में भी वंश-परम्परा पिता के वंश के आधार पर चलती है। बच्चों का पितृत्व प्राप्त करने के लिए पतियों मे से किसी को एक विशेष प्रकार का सस्कार या रस्म पूरा करना पड़ता है और जो भी इस सस्कार को करता है वही बच्चे का पिता माना जाता है। यदि कोई पति उस रस्म को पूरा करने के लिए उपस्थित नही है या पूरा करने मे असमर्थ है तो कोई दूसरा पुरुष भी यह रस्म पूरी कर सकता है। एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार उन सब को ही मिलता है जो सामाजिक और कानूनी दृष्टिकोण से उसके पुत्र होते हैं।

पितृवंशीय समाज व परिवार की विशेषताओं को निम्नलिखित उदाहरणों की सहायता से और भी स्पष्टतः समझाया जा सकता है।

खरिया—भारत की अधिकांश जनजातियो मे पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय या पितृ-स्थानीय परिवार पाये जाते है। उदाहरणार्थ, उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश मे रहने वाली खरिया जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवारों का विशिष्ट विस्तार है। पिता का स्थान परिवार के अन्य सभी सदस्यों से महत्त्वपूर्ण होता है। वंश पिता के द्वारा ज्ञापित होता है, विवाह के बाद पत्नी को पति के साथ या पति के घर रहने के लिए आना पड़ता है। समस्त सम्पत्ति का मालिक पिता और उसकी मृत्यु के बाद उसके लड़के होते हैं। पिता या परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया होता है और परिवार की अच्छाई-बुराई का उत्तरदायित्व उन पर ही होता है। खरिया लोग सामान्यतः एक-विवाह ही करते है; परन्तु बहु-विवाह बिल्कुल ही नहीं होता, यह कहना भी गलत होगा। पिता या पति की सत्ता होने पर भी खरिया-परिवार में पति और पत्नी दोनों मे ही सह-योग पाया जाता है और परिवार से सम्बन्धित कामों को दोनों ही मिलकर करते हैं; यद्यपि इनमे श्रम-विभाजन भी पाया जाता है। पुरुष, घर पशुओं का शिकार, मछली पकड़ना आदि काम करता है, जबकि पत्नी कन्द-मूल इकट्ठा करना, लकड़ी लाना आदि कार्य करती है। मकान बनाने का काम भी पुरुषों का है, पर उसकी देख-रेख स्त्रियाँ ही करती हैं। बच्चों का पालन-पोषण करना, खाना पकाना, पानी लाना आदि काम भी

स्त्रियाँ करती हैं; परन्तु पालतू जानवरों की देख-रेख पुरुष ही करते हैं। जिस प्रकार वंशनाम, निवास, अधिकार तथा उत्तराधिकार के विषयों में पति की स्थिति सर्वोच्च है, उसी प्रकार परिवार को चलाने के मामले में या पारिवारिक जीवन के रोज के विषयों में स्त्रियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र पार्ट अदा करती हैं। परन्तु पारिवारिक मामलों को छोड़कर, अन्य विषयों में विशेषकर धार्मिक विषयों में स्त्रियों की अनेक निर्योग्यताएँ भी होती हैं। धार्मिक कृत्यों में स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकती हैं।

भील परिवार में भी पिता मुखिया होता है और उसके परिवार में पिता के वंश के ही लोग रहते हैं। पिता परिवार की आय को अपने पास रखता है और उसे जैसा उचित समझता है उसी रूप में खर्च करता है। परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखना पिता का ही काम होता है। धार्मिक काम-काज, कृत्यों या उत्सवों की व्यवस्था भी पिता के हाथ में रहती है, परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि भील परिवार में माँ या पत्नी की स्थिति बहुत गिरी हुई होती है। यद्यपि मां या पत्नी के हाथ में कोई अधिकार देना पुरुष पसन्द नहीं करते, फिर भी माँ अपनी चतुरता, बुद्धि, अनुभव तथा सेवा के आधार पर अपना प्रभाव बनाये रखती है।

गोत्र और गोत्र-समूह
(Clan and Phratry)

भारतीय जनजातीय सामाजिक संगठन का तीसरा और एक महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र और गोत्र-समूह है। "गोत्र एक-पक्षीय परिवारों का वह संकलन है जिसके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक सामान्य पूर्वज के वंशज मानते हैं। और जब एक या अन्य कारणवश एकाधिक गोत्र एकसाथ मिल जाते हैं तो इस मिलित समूह को गोत्र-समूह कहते हैं।" गोत्र और गोत्र-समूह दोनों ही जनजातियों की समाज-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। चूंकि गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक ही सामान्य पूर्वज के वंशज मानते हैं, इस कारण वे अपने को आपस में भाई-बहन या भाई-भाई समझते हैं। यह विचार दृढ़ सामुदायिक भावना को जन्म देने में बहुत महत्त्वपूर्ण होता है और इसी के कारण अपनी जान देकर भी गोत्र के अन्य सदस्यों की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है। इससे गोत्र में पारस्परिक सहायता और सुरक्षा की भावना पनपती है। गोत्र-संगठन में जो यह भाई-भाई या भाई-बहन की भावना होती है उसी के कारण एक गोत्र के सदस्य अपने गोत्र या गोत्र-समूह के किसी गोत्र के अन्दर विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते हैं। डा० दुबे ने लिखा है कि आदिलावाद के राज-गोंडों में चार गोत्र समूह इस प्रकार हैं—(1) येर वेन सगा (सात भाइयों का ०), (2) सार वेन सगा (छः भाइयों का गोत्र-समूह), (3) सिवेन सगा ाइयों का गोत्र-समूह) तथा नाल वेन सगा (चार भाइयों का गोत्र-समूह)। प्रत्येक गोत्र-समूह के अन्तर्गत एकाधिक गोत्र सम्मिलित हैं; जैसे येर वेन सगा त मुड़ावी, पुरका, कोरवेट्टा, मासेकोला, पाण्डेरा, वर्मा तथा मेश्राम गोत्र आते वेन सगा में युग्म संगठन (dual organization) पाया जाता है अर्थात् सभी

गोत्र केवल दो भागों में विभाजित होकर संगठित हैं। इनमें से एक है पाण्डवेन सगा और दूसरा है सर्वे सगा। पाण्डवेन सगा के अन्तर्गत अताम, गेड़ाम, सोडोसाम, कोट नाका, कोरेंग, अड़ाम, कोड़ाम, दानाम, दुगाम, काचीमूर, वेलाडी, कोवेरा, विका, पेण्डूर, काटेले, उसेन्ता, कुड़मेन्ता और बाड़े गोत्र सम्मिलित हैं, जबकि सर्वे सगा के अन्तर्गत तुमराम, कोडापा, राय-सिराम, वेटी, सबाम, मारापा, हेरे कुमरा और मण्डाड़ी गोत्र आते हैं।

डा० दुबे ने यह भी लिखा है कि अनेक जनजातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें अलग-अलग गोत्र तो हैं, पर गोत्रों को मिलाकर गोत्र-समूह का एक पृथक् संगठन नहीं है। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ के कमार जनजाति-समूह में निम्नलिखित गोत्र हैं—जगत, नेताम, मरकाम, सोरी (इसका दो विभाजन बाघ-सोरी तथा नाग-सोरी हैं), कुंजाम, मरई, और छेदइहा। उसी प्रकार संथालों में 100 से अधिक गोत्र हैं. 'हो' जनजाति में लगभग 50 और मुण्डा लोगों में 64 गोत्र पाये जाते हैं।

यह सच है कि अधिकांश जनजातियों में गोत्र-संगठन सामाजिक संगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होती है फिर भी इसका स्वरूप, आकार तथा महत्त्व प्रत्येक जनजाति—समाज मे एक-सा नही होता है। उदाहरणार्थ, हैदराबाद की कोलाम जनजाति मे स्थानीय संगठन (local organization) जैसे 'बड़े-बूढ़ों की समिति' (council of elders) तो थी, पर गोत्र के आधार पर कोई उल्लेखनीय संगठन नही था। परन्तु गोंड जनजाति के सम्पर्क व प्रभाव के कारण अब कोलाम जनजाति मे भी गोत्र-संगठन का विकास हो गया है। उसी प्रकार यद्यपि कमार जनजाति मे अब गोत्र-सगठन विकसित हो गया है, फिर भी गोंडों की तुलना मे कमारों मे गोत्र का महत्त्व कम है। डा० दुबे के अनुसार आदिलाबाद के राज-गोंडों में गोत्रों के अनेक विशेष देव तथा पौराणिक नायक होते हैं, जिनके सम्मान में वर्ष में एक या अधिक बार मेले, उत्सव अथवा विशेष प्रकार की पूजा का आयोजन किया जाता है।

टोटम
(Totem)

जनजातीय सामाजिक सगठन का एक और महत्त्वपूर्ण आधार टोटम (या गोत्र-चिन्ह) और उससे सम्बन्धित धारणाएँ व विश्वास हैं। अनेक जनजातियों में तो गोत्र और टोटम का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ होता है और टोटम को गोत्र-चिन्ह या प्रतीक के रूप मे प्रयोग किया जाता है। जनजातीय समूह अपने गोत्र का सम्बन्ध किसी भौतिक वस्तु, पशु, पेड़-पौधे या अन्य किसी प्राकृतिक चीज़ से मान लेते हैं; वही पेड़-पौधा, पशु या पक्षी उस गोत्र का टोटम कहलाता है। अतः स्पष्ट है कि गोत्र या गोत्र-समूह का टोटम-वस्तु के साथ एक गूढ़ या अलौकिक सम्बन्ध होता है, यह विश्वास या धारणा ही टोटमवाद का आधार है। यह आवश्यक नहीं है कि गोत्र अथवा गोत्र-समूह अपनी उत्पत्ति टोटम-वस्तु से ही माने; इन दोनों में कुछ विशिष्ट सम्बन्ध है, यह विश्वास ही पर्याप्त है। यह सम्बन्ध कुछ पवित्र व अलौकिक विश्वासों पर आधारित

पदार्थ या उनके अंग टोटम हो सकते हैं।

ओरांव जनजाति के टिरकी गोत्र का टोटम चूहे का बच्चा है। एक्का गोत्र का कछुआ, लकडा गोत्र का लकड़बग्घा, बाघ गोत्र का बाघ और चिर्रा गोत्र का टोटम गिलहरी है। उसी प्रकार संथाल जनजाति की अर्गो जनजाति का टोटम चूहा, मुर्मू का नीलगाय, बेसरा का बाज, संस का शंख और कारा गोत्र का टोटम भैंस है। श्री अनन्त कृष्ण अय्यर ने मैसूर राज्य की विविध जातियों में निम्नलिखित टोटमों का वर्णन किया है—आने (हाथी), आडू (बकरी), आरसिना (केसर), अरसु (वट वृक्ष), अट्टि (गूलर), बेडू, (नीम), हुरली (चना), और मेनसू (पीपल)। इसके अतिरिक्त कुत्ता, खरगोश, बकरा, भैंसा, बिच्छू, चींटी, चन्दन, पीपल, इमली, जीरा, कपास, मोती, शंख आदि भी टोटम हैं। श्री थार्सटन ने दक्षिण भारत की जनजातियों के जिन टोटमों की सूची दी है, उनमे लगभग सभी जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों के नाम आ गये हैं।

विवाह
(Marriage)

सामाजिक संगठन व संरचना का एक और महत्त्वपूर्ण स्वरूप या आधार *विवाह है। विवाह सामाजिक संगठन को न केवल स्थिरता और दृढता प्रदान करता है* बल्कि स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों को नियमित व नियंत्रित करके परिवार को स्थापित करने का एक सुदृढ़ साधन प्रस्तुत करता है। विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है, बच्चों का उत्पादन व लालन-पालन सम्भव होता है और उससे समाज की निरन्तरता बनी रहती है। भारतीय जनजातीय विवाह के सम्बन्ध मे भी यह बात कही जा सकती है। यह बात निम्नलिखित विवेचना के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझी जा सकती है।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

भारतीय जनजातियो मे बाल-विवाह का प्रचलन नही है। इतना अवश्य है कि उन जनजातियों में, जो कि हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क मे आ गई हैं, बाल-विवाह का प्रचलन हो गया है, नही तो अन्य जनजातियों मे विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओं और कूकियों मे पुरुषों का विवाह 18 और 25 वर्ष की आयु के बीच में तथा स्त्रियों का विवाह 15 और 20 की आयु के बीच में होता है। परन्तु हिन्दुओं के प्रभाव के कारण मुण्डा, ओरॉव आदि जनजातियों में विवाह की आयु लडकों के लिए बारह-तेरह वर्ष तथा लडकियों के लिए आठ-दस वर्ष है।

विवाह के स्वरूप
(Forms of Marriage)

भारतीय जनजातियों में विवाह के दो मुख्य स्वरूप या भेद पाये जाते हैं—

होता है। उनमें सबसे प्रमुख विश्वास तो यही है कि टोटम गोत्र के सदस्यों की रक्षा करता है, उन्हें विपदाओं के सम्बन्ध में चेतावनी देता है तथा भविष्य के कार्यों के सम्बन्ध में राह सुझाता है। इसीलिए टोटम के प्रति भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है; टोटम को मारना या खाना या उसे किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है, उसके मरने पर या मरने का समाचार पाकर उसी प्रकार से शोक मनाया जाता है और उसका दाह-संस्कार किया जाता है जैसा कि परिवार के किसी सदस्य के मरने पर किया जाता है। टोटम को गोत्र का चिन्ह माना जाता है और उसके चित्र को गुदाई शरीर पर करवाते हैं। कमार जनजाति में एक गोत्र सोरी नाम का है। ये सोरी गोत्र आपस में टोटम के आधार पर दो भागों में बँटे हुए हैं—एक भाग बाघ को अपना टोटम मानता है और दूसरा नाग को। सोरी गोत्र का जो भाग बाघ को टोटम मानता है उसका नाम बाघ-सोरी पड़ गया है और नाग को टोटम मानने वाले सोरी लोग नाग-सोरी के नाम से परिचित हैं। शेर के मरने का समाचार सुनकर बाघ-सोरी शोक प्रकट करते हैं, घर में पानी छिड़कते हैं और एक हांडी बाहर कर देते हैं। सर्प की मृत्यु पर नाग-सोरी भी वैसा ही करते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसी भी जनजातियां हैं जो कि अपने गोत्र का नाम किसी पेड़-पौधे, पशु या पक्षी के नाम पर ही रखते हैं, पर उनमें टोटमवाद का दर्शन नहीं होता है। बंगाल के बागदी, कोरा आदि जनजातियां इसके अच्छे उदाहरण हैं।

कुछ भी हो, भारतीय जनजातियों में टोटमवाद का काफी विस्तार है। सर हर्बर्ट रिजले के निर्देशन में हुए सर्वेक्षण (survey) के अन्तर्गत सर्वप्रथम भारतवर्ष में टोटमवाद के विस्तार के सम्बन्ध में तथ्य संग्रह किये गये थे। उसके बाद अनेक पृथक् अध्ययन हुए हैं। उन सबसे यही पता चलता है कि अधिकांश भारतीय जनजातियां टोटम पर विश्वास करती हैं। संथाल जनजाति में सौ से अधिक गोत्र हैं और इनमें से प्रत्येक गोत्र-समूह का अपना एक टोटम है और उसी के आधार पर उसके नाम पड़े हैं। इन टोटमों में पशु, पौधा और भौतिक वस्तु सब कुछ हैं। 'हो' जनजाति के पचास से अधिक गोत्र हैं और इनमें से प्रत्येक का एक टोटम भी। इनमें से अनेक के नाम संस्थालों से मिलते हैं। मुण्डा जनजाति तो 64 से भी अधिक बर्हिविवाही गोत्रों में बँटी है, जिनमें टोटमवाद पाया जाता है। इनमें से अधिकांश टोटम या तो खाद्य, कन्दमूल, फलों, पौधों या पशुओं के रूप में उपयोगी हैं या हानिकारक चिड़ियों और पशुओं के रूप में घातक हैं। उड़ीसा की कुर्मी, चमार, भूमिया आदि जनजातियों के, जिन्होंने कि हाल में ही कुछ प्रगति कर ली है, गोत्रों का नामकरण भी साँप, कुम्हड़े, गीदड़ आदि पर हुआ है। बम्बई की कटकरी तथा मध्य प्रदेश की गोंड जनजातियों के नाम भी उसके प्रदेशों में पाये जाने वाले पशु-पक्षियों और वनस्पतियों पर पड़े हैं। छोटा नागपुर पठार की खड़िया जनजाति का मुख्य वर्ग ढेलकी खड़िया जिन आठ टोटमी गोत्रों में विभाजित है, उनके नाम हैं : सोरेन (पत्थर), मूरू (कछुआ), समद (हिरण), बरलिहा (एक प्रकार का फल), घरड़ (चिड़िया), इंसडा (अबाबील), मैल (धूल) और टोपना (एक चिड़िया)। ये नाम इस बात की ओर संकेत करते हैं कि एक पशु, पौधा या भौतिक

पदार्थ या उनके अंग टोटम हो सकते हैं।

ओरॉव जनजाति के टिरकी गोत्र का टोटम चूहे का बच्चा है। एक्का गोत्र का कछुआ, लकड़ा गोत्र का लकड़बग्घा, बाघ गोत्र का बाघ और चिर्रा गोत्र का टोटम गिलहरी है। उसी प्रकार संथाल जनजाति की अर्गी जनजाति का टोटम चूहा, मुर्मू का नीलगाय, बेसरा का बाज, शंख का शंख और कारा गोत्र का टोटम भैंस है। श्री अनन्त कृष्ण अय्यर ने मैसूर राज्य की विविध जातियों मे निम्नलिखित टोटमों का वर्णन किया है—आने (हाथी), आडू (बकरी), आरसिना (केसर), अरसू (वट वृक्ष), अट्टि (गूलर), बेडू, (नीम), हुरली (चना), और मेनसू (पीपल)। इसके अतिरिक्त कुत्ता, खरगोश, बकरा, भैंसा, बिच्छु, चींटी, चन्दन, पीपल, इमली, जीरा, कपास, मोती, शंख आदि भी टोटम हैं। श्री थार्सटन ने दक्षिण भारत की जनजातियों के जिन टोटमों की सूची दी है, उनमें लगभग सभी जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों के नाम आ गये हैं।

विवाह
(Marriage)

सामाजिक संगठन व संरचना का एक और महत्त्वपूर्ण स्वरूप या आधार विवाह है। विवाह सामाजिक संगठन को न केवल स्थिरता और दृढ़ता प्रदान करता है बल्कि स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों को नियमित व नियंत्रित करके परिवार को स्थापित करने का एक सुदृढ़ साधन प्रस्तुत करता है। विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है, बच्चों का उत्पादन व लालन-पालन सम्भव होता है और उससे समाज की निरन्तरता बनी रहती है। भारतीय जनजातीय विवाह के सम्बन्ध मे भी यह बात कही जा सकती है। यह बात निम्नलिखित विवेचना के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझी जा सकती है।

विवाह की आयु
(Age of Marriage)

भारतीय जनजातियों मे बाल-विवाह का प्रचलन नहीं है। इतना अवश्य है कि उन जनजातियों मे, जो कि हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गई हैं, बाल-विवाह का प्रचलन हो गया है, नहीं तो अन्य जनजातियों मे विवाह किशोरावस्था या उसके बाद ही होता है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओं और कूकियों में पुरुषो का विवाह 18 और 25 वर्ष की आयु के बीच मे तथा स्त्रियों का विवाह 15 और 20 की आयु के बीच में होता है। परन्तु हिन्दुओं के प्रभाव के कारण मुण्डा, ओरॉव आदि जनजातियों मे विवाह की आयु लड़कों के लिए बारह-तेरह वर्ष तथा लड़कियों के लिए आठ-दस वर्ष है।

विवाह के स्वरूप
(Forms of Marriage)

भारतीय जनजातियों मे विवाह के दो मुख्य स्वरूप या भेद पाये जाते हैं—

होता है। इनमें सबसे प्रमुख विश्वास तो यही है कि टोटम गोत्र के सदस्यों की रक्षा करता है, उन्हें विपत्तियों के सम्बन्ध में चेतावनी देता है तथा भविष्य के कार्यों के सम्बन्ध में राह सुझाता है। इसीलिए टोटम के प्रति भय, श्रद्धा, भक्ति और आदर की भावना होती है; टोटम को मारना या खाना या उसे किसी प्रकार से चोट पहुँचाना निषिद्ध होता है, उसके मरने पर या मरने का समाचार पाकर उसी प्रकार से शोक मनाया जाता है और उसका दाह-संस्कार किया जाता है जैसा कि परिवार के किसी सदस्य के मरने पर किया जाता है। टोटम को गोत्र का मित्र माना जाता है और उसके चित्र की गुदाई शरीर पर करवाते हैं। कमार जनजाति में एक गोत्र सोरी नाम का है। ये सोरी गोत्र आपस में टोटम के आधार पर दो भागों में बँटे हुए हैं—एक भाग बाघ को अपना टोटम मानता है और दूसरा नाग को। सोरी गोत्र का जो भाग बाघ को टोटम मानता है उसका नाम बाघ-सोरी पड़ गया है और नाग को टोटम मानने वाले सोरी लोग नाग-सोरी के नाम से परिचित हैं। शेर के मरने का समाचार सुनकर बाघ-सोरी शोक प्रकट करते हैं, घर में पानी छिड़कते हैं और एक हांडी बाहर कर देते हैं। सर्प की मृत्यु पर नाग-सोरी भी वैसा ही करते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसी भी जनजातियां हैं जो कि अपने गोत्र का नाम किसी पेड़-पौधे, पशु या पक्षी के नाम पर ही रखते हैं, पर उनमें टोटमवाद का दर्शन नहीं होता है। बंगाल के बागदी, कोरा आदि जनजातियां इसके अच्छे उदाहरण हैं।

कुछ भी हो, भारतीय जनजातियों में टोटमवाद का काफी विस्तार है। सर हर्बर्ट रिजले के निर्देशन में हुए सर्वेक्षण (survey) के अन्तर्गत सर्वप्रथम भारतवर्ष में टोटमवाद के विस्तार के सम्बन्ध में तथ्य संग्रह किये गये थे। उसके बाद अनेक पृथक् अध्ययन हुए हैं। उन सबसे यही पता चलता है कि अधिकांश भारतीय जनजातियाँ टोटम पर विश्वास करती हैं। संथाल जनजाति में सौ से अधिक गोत्र हैं और इनमें से प्रत्येक गोत्र-समूह का अपना एक टोटम है और उसी के आधार पर उसके नाम पड़े हैं। इन टोटमों में पशु, पौधा और भौतिक वस्तु सब कुछ हैं। 'हो' जनजाति के पचास से अधिक गोत्र हैं और इनमें से प्रत्येक का एक टोटम भी। इनमें से अनेक के नाम संस्थालों से मिलते हैं। मुण्डा जनजाति तो 64 से भी अधिक बहिर्विवाही गोत्रों में बँटी है, जिनमें टोटमवाद पाया जाता है। इनमें से अधिकांश टोटम या तो खाद्य, कन्दमूल, फलों, पौधों या पशुओं के रूप में उपयोगी हैं या हानिकारक चिड़ियों और पशुओं के रूप में घातक हैं। उड़ीसा की कुर्मी, चमार, भूमिया आदि जनजातियों के, जिन्होंने कि हाल में ही कुछ प्रगति कर ली है, गोत्रों का नामकरण भी साँप, कुम्हड़े, गीदड़ आदि पर हुआ है। बम्बई की कटकरी तथा मध्य प्रदेश की गोंड जनजातियों के नाम भी उसके प्रदेशों में पाये जाने वाले पशु-पक्षियों और वनस्पतियों पर पड़े हैं। छोटा नागपुर पठार की खड़िया जनजाति का मुख्य वर्ग ढेलकी खड़िया जिन आठ टोटमी गोत्रों में विभाजित है उनके नाम हैं : सोरेन (पत्थर), मूरू (कछुआ), समद (हिरण), बरलिहा (एक का फल), घरड़ (चिड़िया), इंसडा (अबाबील), मैल (धूल) और चिड़िया)। ये नाम इस बात की ओर संकेत करते हैं कि

क परिवार के सभी पुरुष अलग-अलग विवाह करके घर नहीं बसा पाते हैं। इसलिए काधिक पुरुष एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

विस्तार—बहुपति-विवाह का प्रचलन भारत में बहुत ही सीमित क्षेत्र में है। ह विवाह-प्रथा केरल के टियान, कुसम्व, कोट, लद्दाखी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा गैर देहरादून जिले में जौनसार-बावर की खस जनजातियों मे पाई जाती है। काश्मीर । आसाम तक की कुछ जनजातियों मे भी यही प्रथा पाई जाती है। भारत के दक्षिणी ाग में रहने वाले नायरों में भी बहुपति-विवाह प्रथा पाई जाती थी और आज भी वहाँ स प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लद्दाख मे, पंजाब के पहाड़ी हिस्सों जैसे, कॉंगड़ा जिले के स्पीती तथा लाहौन परगनों में, चम्पा, कुल्लू और मण्डी के ऊँचे देशों की जनजातियों में भी बहुपति-विवाह पाया जाता है। श्री मार्टिन (Martin) ने ध्य भारत के ओरांव में तथा श्री मेन (Maine) ने संथालों मे भी इसके प्रचलन का र्णन किया है। परन्तु आज यह प्रथा विशेष और स्पष्ट रूप से दो जनजातियों—खस गैर टोडा—में पाई जाती है।

दो प्रमुख प्रकार—भारतवर्ष की जनजातियों में बहुपति-विवाह के दो प्रमुख कार पाये जाते हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(1) भ्रातृ बहुपति-विवाह (Adelphic or Fraternal Polyandry)—व एकाधिक भाई आपस मे मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृ बहुपति-विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह नीलगिरी की टोडा और जौनसार-बावर की खस नजातियों में पाये जाते है, इन दोनों जनजातियो का, इस सन्दर्भ में, सक्षिप्त परिचय इस कार है—

(अ) टोडा (Todas)[1]—टोडा लोगों में जब एक व्यक्ति का विवाह किसी एक ी से होता है तो उस व्यक्ति के सभी भाई, यहाँ तक कि जो बाद मे पैदा होते हैं ऐसे े भाई भी, उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। ये प्रायः सगे भाई और कभी-कभी गोत्र-ाई भी होते हैं। पहले समय में ये पति भिन्न गोत्रों के भी हुआ करते थे। इस कारण ो रिवर्स (Rivers) का कथन है कि कोई समय था जब टोडा लोग भ्रातृ-बहुपति-विवाह-था के नियमो को पूर्णतया नहीं मानते थे। जब पत्नी गर्भवती होती है तो सबसे बड़ा डा पति एक संस्कार, 'पुरसुतपिमि' (*pursutpimi*), तीर-धनुष के द्वारा करता है जिससे ामाजिक तौर पर उसे बच्चे का पिता समझा जाता है। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने र दूसरा पति उसी प्रकार के संस्कार के द्वारा दूसरी सन्तान का पिता बनता है और यह म चलता रहता है। सामाजिक तौर पर पिता बनने का अधिकार प्राप्त करने के लिए स संस्कार का इतना महत्त्व है कि अगर 'अ' पति ने इस संस्कार को किया है तो जब क 'ब' पति फिर यह संस्कार न करे तब तक तक जितनी भी सन्तानें उत्पन्न होंगी सब ' पति या पिता के ही बच्चे कहलायेंगे; यहाँ तक कि अगर 'अ' की मृत्यु पहले हो चुकी , अर्थात् 'अ' पति या पिता अपनी मृत्यु के बाद उत्पन्न होने वाली सन्तानों का भी पिता

1. W.H.R. Rivers, *The Todas*, 1906, pp. 515—564.

एक परिवार के सभी पुरुष अलग-अलग विवाह करके घर नही बसा पाते हैं। इसलिए एकाधिक पुरुष एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

विस्तार—बहुपति-विवाह का प्रचलन भारत मे बहुत ही सीमित क्षेत्र मे है। यह विवाह-प्रथा केरल के टियान, कुसम्ब, कोट, लद्दाखी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा और देहरादून जिले मे जौनसार-बावर की खस जनजातियों में पाई जाती है। काश्मीर से आसाम तक की कुछ जनजातियों मे भी यही प्रथा पाई जाती है। भारत के दक्षिणी भाग में रहने वाले नायरों मे भी बहुपति-विवाह प्रथा पाई जाती थी और आज भी वहाँ इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लद्दाख में, पंजाब के पहाड़ी हिस्सों में जैसे, काँगड़ा जिले के स्पीती तथा लाहौन परगनो मे, चम्पा, कुल्लू और मण्डी के ऊँचे प्रदेशों की जनजातियों में भी बहुपति-विवाह पाया जाता है। श्री मार्टिन (Martin) ने मध्य भारत के ओराँव मे तथा श्री मेन (Maine) ने संथालो मे भी इसके प्रचलन का वर्णन किया है। परन्तु आज यह प्रथा विशेष और स्पष्ट रूप से दो जनजातियो—खस और टोडा—में पाई जाती है।

दो प्रमुख प्रकार—भारतवर्ष की जनजातियों में बहुपति-विवाह के दो प्रमुख प्रकार पाये जाते हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(1) भ्रातृ बहुपति-विवाह (Adelphic or Fraternal Polyandry)—जब एकाधिक भाई आपस मे मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृ बहुपति-विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह नीलगिरी की टोडा और जौनसार-बावर की खस जनजातियों में पाये जाते है, इन दोनो जनजातियों का, इस सन्दर्भ मे, संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(अ) टोडा (Todas)[1]—टोडा लोगों में जब एक व्यक्ति का विवाह किसी एक स्त्री से होता है तो उस व्यक्ति के सभी भाई, यहाँ तक कि जो बाद मे पैदा होते हैं ऐसे सब भाई भी, उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। ये प्राय: सगे भाई और कभी-कभी गोत्र-भाई भी होते हैं। पहले समय मे ये पति भिन्न गोत्रों के भी हुआ करते थे। इस कारण श्री रिवर्स (Rivers) का कथन है कि कोई समय था जब टोडा लोग भ्रातृ-बहुपति-विवाह-प्रथा के नियमों को पूर्णतया नही मानते थे। जब पत्नी गर्भवती होती है तो सबसे बड़ा टोडा पति एक संस्कार, 'पुरसुतपिमि' (*pursutpimi*), तीर-धनुष के द्वारा करता है जिससे सामाजिक तौर पर उसे बच्चे का पिता समझा जाता है। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने पर दूसरा पति उसी प्रकार के संस्कार के द्वारा दूसरी सन्तान का पिता बनता है और यह क्रम चलता रहता है। सामाजिक तौर पर पिता बनने का अधिकार प्राप्त करने के लिए इस संस्कार का इतना महत्त्व है कि अगर 'अ' पति ने इस संस्कार को किया है तो जब तक 'ब' पति फिर यह संस्कार न करे तब तक तक जितनी भी सन्तानें उत्पन्न होंगी सब 'अ' पति या पिता के ही बच्चे कहलायेंगे; यहाँ तक कि अगर 'अ' की मृत्यु पहले हो चुकी हो, अर्थात् 'अ' पति या पिता अपनी मृत्यु के बाद उत्पन्न होने वाली सन्तानों का भी पिता

1. W.H.R. Rivers, *The Todas*, 1906, pp. 515—564.

चला जाता है, इसलिए बँटवारा लाभदायक नही होता। इस कारण भरसक प्रयत्न यही किया जाता है कि बँटवारा न हो सब भाई साथ-साथ रहे और परम्पराओ का पालन करें। ये परम्पराएँ सबके लिए ही आवश्यक स्वाधीनता तथा अधिकारों की व्यवस्था करती है। खस परिवार में अगर एक से अधिक स्त्रियों से विवाह की आवश्यकता होती है, तो दूसरी स्त्री प्रथम स्त्री की ही बहन होती।

खस समाज या परिवार मे पिता बनने का एक सामाजिक तरीका होता है। श्री फ्रेजर (Frazer) के अनुसार सबसे बडा लड़का बड़े भाई का, दूसरा लड़का उससे छोटे भाई का तथा इसी क्रम से अन्य लड़के अन्य भाइयों के पुत्र समझे जाते हैं। डा० मजूमदार (Majumdar) ने और भी लिखा है कि अगर परिवार मे तीन भाई हैं तो बच्चे सबसे बड़े भाई को 'बारी बाबा', दूसरे को 'डांगर बाबा' और तीसरे को 'भेदी बाबा' आदि कहकर पुकारते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि बहुपति-विवाही परिवार में उत्पन्न होने वाले बच्चो के सम्बन्ध मे यह पता नही चल सकता कि कौन बच्चा किस पुरुप का है। इसलिए बाध्य होकर प्राणीशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को छोड़कर सामाजिक पितृत्व को स्वीकार किया जाता है।

चूँकि इन समाजों (टोडा व खस) मे पुरुष की प्रभुता होती है तथा स्त्री और बच्चों का निवास-स्थान पिता या पति के घर मे ही होता है, इस कारण इस प्रकार की बहुपति-विवाह-प्रथा को 'पितृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (patriarchal polyandry) कहते हैं।

(2) अभ्रातृ बहुपति-विवाह (Non-fraternal Polyandry)—यह बहुपति-विवाह-प्रथा का दूसरा रूप है। इस प्रकार से पतियो का आपस मे भाई होना आवश्यक नही होता है। स्त्री भाइयो के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप मे चुन सकती है। स्त्री अपने पतियों के पास बारी-बारी से विभिन्न समयो मे उनके घरो में जाकर रहती है या पति अपने-अपने परिवारों में रहते हुए भिन्न-भिन्न समय मे पत्नी के यहाँ जाकर रहते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रहती है, तब तक अन्य पतियों का उस पर अधिकार नही होता। अभ्रातृ बहुपति-विवाह मलाबार के नायरो (Nairs) में पाया जाता था, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

नायर (Nairs)—मालाबार के नायरो मे अभ्रातृ बहुपति-विवाह का प्रचलन इस शताब्दी के प्रारम्भ तक था। वहाँ की बहुपति-विवाह-प्रथा को 'मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (matriarchal polyandry) कह सकते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त सत्ता स्त्री की ही होती है। वहाँ पति आपस मे भाई नही होते थे। सामान्य रूप से ऐसे मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह के अन्तर्गत एक 'नायर' लड़की का विवाह एकाधिक 'नम्बूदरी' लड़को से कर दिया जाता था। विवाह के बाद भी लड़की अपने परिवार में ही रहती थी और अपनी इच्छानुसार कभी-कभी अपने पतियों को अपने घर में आकर रहने की आज्ञा देती थी। कभी-कभी तो विवाह-संस्कार के पश्चात् नम्बूदरी लड़के का सम्बन्ध अपनी नायर पत्नी से हमेशा के लिए समाप्त हो जाता था और लड़की अपनी माँ के घर में रहते हुए अनेक नायर लड़कों से यौन-सम्बन्ध रख सकती थी। पिता का अधिकार बच्चों पर

या पत्नी की सम्पत्ति पर नहीं होता था। परिवार के मुखिया की देख-रेख में ये सब रहते थे। चूंकि पति आपस में भाई नहीं होते, इसलिए वच्चों के पितृवंश का पता चलना असम्भव था। ऐसी दशा में वच्चे अपनी माता के ही वंशज होते थे। श्री पनिक्कर (Panikkar) ने नायरों में अभ्रातृक वहुपति-विवाह-प्रथा के प्रचलन को अस्वीकार किया है। आपके अनुसार नायर लड़की के पति, आपस में भाई-भाई होते थे और इस प्रकार उनमें जो बहुपति-विवाह-प्रथा प्रचलित थी उसे भ्रातृ बहुपति-विवाह ही कहना उचित होगा। डा० आइयप्पन (Aiyappan) के अनुसार केवल ईआंगू (Iangu) समूह में अभ्रातृ बहुपति-विवाह-प्रथा पाई जाती है।

वहुपति-विवाह-प्रथा के इस विवेचन को समाप्त करने से पहले, इस प्रथा के **दुष्परिणामों** के विषय में भी कुछ जान लेना उचित होगा। सन्तानों की संख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना वहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है। यह एक प्राणीशास्त्रीय सत्य है कि पतियों की संख्या जितनी अधिक होगी, पत्नी की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति उतनी ही कम हो जायगी। बहुपति-विवाह से केवल सन्तानों की ही संख्या कम नहीं होती, बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है कि जिसका कि स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वहु-पति-प्रथा का चक्र सदा के लिए चलता रहता है। इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियों में बाँझपन का पनपना है, जिससे आगे चलकर जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है। स्त्रियों के शारीरिक या स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगों का वढ़ना है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या इन्हीं गुप्त-रोग आदि के कारण काफी बढ़ जाती है।

विवाह-साथी चुनने के तरीके (Ways of Selecting Mates)—भारत के जनजातीय समाज में बिवाह-साथी अर्थात् वर या वधू को चुनने के जो आठ प्रकार हैं उनकी विवेचना हम अध्याय 9 में कर चुके हैं, इसलिए यहाँ उन्हें फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल हम डा० श्यामाचरण दुबे द्वारा उल्लेखित निम्नलिखित छः तरीकों के विषय में विवेचना करेंगे। स्मरण रहे कि इनमें से अधिकतर तरीके वे ही हैं जिनका उल्लेख अध्याय 9 में किया गया है, पर कुछ नये तरीकों का भी उल्लेख डा० दुवे के विवरण में मिलता है। साथ ही, विवाह-साथी चुनने के तरीकों के नाम को भी डा० दुवे ने नये रूप में प्रस्तुत किया है।

(1) **नियमित विवाह**—ऐसे विवाह में समाज की प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार वर या वधू को चुना जाता है। अनेक जनजातियों में भाई और वहनों के वच्चों में विवाह आदर्श माना जाता है। इसीलिए ऐसे विवाह को ममेरे-फुफेरे भाई-वहनों का विवाह (cróss-cousin marriage) कहते हैं। खरिया, ओरांव, खासी, कादर, गोंड आदि जन-जातियों में इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। उसी प्रकार पति-भ्राता विवाह (Levirate) अर्थात् एक विधवा स्त्री को अपने देवर या ज्येष्ठ से विवाह करने की अनुमति भारत की प्रायः सभी जनजातियों में है। भील आदि जनजातियों में पत्नी-भगिनी या साली-विवाह (Sororate) का प्रचलन है।

(2) पुरुष और स्त्री का भागकर किया हुआ विवाह—इस प्रकार के विवाह में विवाह से पूर्व एक युवक व एक युवती में आपस में प्रेम हो जाता है, पर जब उनके सामाजिक नियम या गाँव या परिवार उन दोनों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं देता है, तो वे एकसाथ दूसरे स्थान को भाग जाते हैं और विवाह कर लेते हैं। ऐसे विवाह के उदाहरणों को भारत के जनजातीय समाजों में ढूँढने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होगी।

(3) अपहरण विवाह—कन्या का शारीरिक या विधिवत् हरण करके उससे विवाह करना इस श्रेणी के अन्तर्गत आता है। यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन अब भारत के जनजातीय समाजों में बहुत कम हो गया है, फिर भी अनेक समूहों में इस परम्परा के अवशेष अब भी देखने को मिलते हैं। मण्डला के गोंडों में, छत्तीसगढ के चिन्दा तथा उत्कल की बोंदो जनजातियों में इस प्रथा का व्यापक प्रचलन है।

(4) सेवा-विवाह—अनेक भारतीय जनजातियों में कन्या-मूल (bride-price) देने पर ही कोई पुरुष किसी कन्या से विवाह कर सकता है। अगर कोई अपनी गरीबी के कारण यह कन्या-मूल्य नहीं दे पाता है तो उसके लिए विवाह करने का एक रास्ता यह है कि वह एक निश्चित अवधि तक अपने भावी ससुर के घर काम करे। उस अवधि में उसे खाने और रहने को दिया जाता है और जो परिश्रम या काम वह वहाँ करता है उसे कन्या-मूल्य मान लिया जाता है। इसलिए एक निश्चित अवधि पूरी हो जाने के बाद ससुर अपनी ओर से पूरा खर्चा कर अपनी कन्या का विवाह कर देता है। मध्य प्रदेश की जनजातियों में इस तरह का 'लामसेड़' या 'लमसेना' (घर-जमाई) रखने का बहुत रिवाज है। विशेषकर ऐसे लोग, जिनके बेटे नहीं होते, केवल बेटियाँ होती हैं, कम-से-कम अपनी एक बेटी के लिए इस तरह का लड़का अवश्य चुनते हैं।

(5) बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके विवाह—यदि कोई युवती किसी युवक के साथ प्रेम करती है और पत्नी के रूप में उसके साथ रहना चाहती है, पर किसी पक्ष के माता-पिता के न चाहने या अन्य किसी कारण से यदि उनका विवाह नहीं हो रहा है, तो वह युवती बलपूर्वक युवक के घर में घुस जाती है और उसे विवाह करने को बाध्य करती है। इस प्रथा का प्रचलन मध्य प्रदेश, विशेषकर छत्तीसगढ़ में है। छत्तीसगढ़ में यदि पुरुष पहले स्त्री से विवाह करने का वायदा करता है, पर बाद को उस वायदे को निभाता नहीं है, या जब स्त्री गर्भवती हो जाती है तो वह बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके ही विवाह करने के तरीके को अपनाती है। वह इष्ट पुरुष के घर में घुसकर उसके कपड़े पहन लेती है और पुरुष के शरीर पर हल्दी का पानी डाल देती है। ऐसी स्थिति में पुरुष के न चाहने पर भी बहुधा उसे उस स्त्री को पत्नी के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। बलपूर्वक गृह-प्रवेश करके विवाह कभी-कभी पुरुष भी करता है। यदि विधवा के पास काफी जमीन-जायदाद होती है और उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं होता है, तो कोई निर्धन पुरुष कभी-कभी उस विधवा के घर जाकर रहने लगता है। विधवा उसका अपमान करती है, उसे निकाल देने की धमकी देती है, पर पुरुष सब अपमान और अनादर धैर्य पूर्वक सहन करता जाता है। कुछ ही दिन में समाज उसे उस विधवा के पति के रूप में

स्वीकार कर लेता है। छत्तीसगढ़ में इस प्रकार के पुरुष को 'सिधवा' कहते हैं।

(6) **विधवा या विवाहित स्त्री से विवाह**—मृत बड़े भाई की स्त्री से छोटा भाई तो अधिकारपूर्वक विवाह कर सकता है, किन्तु यदि स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो उसके नये पति को उसके पुराने या पूर्व-पति के परिवार को कुछ हर्जाना देना पड़ता है। इसी तरह यदि कोई विवाहित स्त्री अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ भाग जाय तो उसका पति कन्या-मूल्य की रकम के अतिरिक्त कुछ हर्जाना पाने का अधिकारी होता है।

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

सामान्य रूप से अधिकतर भारतीय जनजातियों में विवाह-विच्छेद पाया जाता है। संथाल, थारू, भील, गोंड आदि जनजातियों में विवाह-विच्छेद के विषय में पति की स्थिति अच्छी है। संथाल पति अपनी पत्नी से विवाह-सम्बन्ध तब विच्छिन्न कर सकता है जब कि पत्नी दुश्चरित्र है या जादूगरनी है या आज्ञा-पालन नहीं करती। खासी जनजाति में व्यभिचार, बांझपन, झगड़ालू प्रकृति आदि विवाह-विच्छेद के आधार हैं, परन्तु यह काम पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति से ही होता है। कभी-कभी विवाह-विच्छेद चाहने वाले पक्ष को दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। विवाह-विच्छेद सार्वजनिक रूप से होता है और बच्चों को माता के ही संरक्षण में रखा जाता है। गोंड जनजाति में पति पत्नी की दुश्चरित्रता, घर की समुचित व्यवस्था करने में असमर्थ, झगड़ालू होने और बांझ होने का आरोप लगाकर विवाह-विच्छेद कर सकता है। लुशेई जनजाति में विवाह-विच्छेद करने का तरीका बहुत सरल है। अगर पति विवाह-विच्छेद करता है तो उसे वधू-मूल्य को पूरा-पूरा चुका देना पड़ता है, परन्तु यदि पत्नी उसे छोड़कर चली जाती है या व्यभिचार करती हुई पकड़ी जाती है तो पत्नी को वह वधू-मूल्य पूरा-पूरा पति को लौटा देना पड़ता है जो कि पति ने विवाह के समय कन्या-पक्ष को दिया था। खरिया जनजाति में निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद हो सकता है—अगर किसी भी पक्ष में यौन-सम्बन्धी कोई कमजोरी है; यदि पत्नी बांझ है; यदि पत्नी अत्यधिक आलसी है और घर-गृहस्थी का काम नहीं करती है; यदि वह अपने पति के साथ रहने से इन्कार कर देती है और यदि गांव-पंचायत ने यह निर्णय कर दिया हो कि पत्नी जादूगरनी है। संथाल जनजाति में यदि पति पत्नी के लिए ठीक प्रकार भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था नहीं कर सकता तो पत्नी को विवाह-विच्छेद करने का अधिकार है। थारू जनजाति में एक पत्नी अत्याचार, नपुंसकता, निर्दयता तथा पति की सामाजिक स्थिति के गिर जाने के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकती है।

नातेदारी-व्यवस्था
(Kinship System)

परिवार, गोत्र, गोत्र-समूह, विवाह, विवाह अदि के अतिरिक्त भारत के जन-

जातीय सामाजिक संगठन की एक और उल्लेखनीय इकाई नातेदारी-व्यवस्था या सम्बन्ध-प्रथा है। इसका तात्पर्य यह है कि विवाह द्वारा या रक्त-सम्बन्ध के आधार पर जिन व्यक्तियों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन्हें एक विशेष श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है और एक विशेष नाम से पुकारा जाता है। यह काम समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से ही किया जाता है। इसी को नातेदारी-व्यवस्था कहते हैं।

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—एक तो विवाह-सम्बन्धी रिश्तेदार (Affinal kins) और दूसरे रक्त-सम्बन्धी रिश्तेदार (Consanguineous kins)। भारत के अधिकांश जनजातीय समूहों मे ये दोनों श्रेणियों की नातेदारी-व्यवस्था देखने को मिलती है, परन्तु, जैसा कि डा० दुबे का कहना है, एक सीमा के बाद इन सम्बन्धियों को किसी एक निश्चित श्रेणी के अन्तर्गत रखना बहुत-कुछ कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति मे 'पिता' शब्द के अन्तर्गत बच्चे के वास्तविक या सामाजिक पिता के अतिरिक्त, पिता के सब भाई, गोत्र मे पिता के आयु-वर्ग के अन्य पुरुष तथा मौसियों (माता की बहनों) के पति भी आ जाते हैं। उक्त सभी वर्ग के व्यक्ति एक-दूसरे के बच्चों को 'बेटा' या 'बेटी' मानेंगे। उसी प्रकार खरिया, ओरांव, खासी, कादर, गोंड आदि जनजातियों में दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे एक-दूसरे को अपना भाई-बहन या भाई-भाई ही मानते हैं; परन्तु इनमें पाया जाने वाला यह भाई-बहन का सम्बन्ध हम लोगों के समाज के भाई-बहन के सम्बन्ध से सर्वथा अलग है क्योंकि उक्त जनजातीय समाजों मे इस प्रकार के भाई-बहनों मे विवाह (ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों में विवाह) हो सकता है और इस प्रकार के विवाह को समाज द्वारा आदर्श माना जाता है। अर्थात् इन लोगों मे भाई-बहन का सम्बन्ध होते हुए भी वे 'पति' या 'पत्नी' के वर्ग में आते हैं। निम्नलिखित विवेचना से इस सम्बन्ध-व्यवस्था की जटिलता और भी स्पष्ट हो जायेगी।

(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal kinship) के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध पति-पत्नी ही आते हैं बल्कि इन दोनों परिवारों के अन्य व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। विवाह-सम्बन्धी नातेदारी-व्यवस्था मे जनजातीय समाजों मे एक ही सम्बन्ध-सूचक 'शब्द' के अन्तर्गत एकाधिक व्यक्तियों को सम्मिलित करने की प्रथा पाई जाती है। उदाहरणार्थ, ससुर के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग वास्तविक ससुर के अतिरिक्त माँ के भाइयों तथा पिता की बहनों के पतियों के लिए भी किया जाता है। अन्तिम दो श्रेणियों में आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के बेटे को 'दामाद' और बेटियों को 'बहू' मानेंगे। ऐसा खरिया, ओरांव, खासी, कादर आदि जनजातियों मे देखने को मिलता है।

(2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous kinship) के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कि समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हों, जैसे पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इस प्रकार के सम्बन्धों का अलग-अलग व स्पष्ट बोध हो सके ऐसे शब्दों का अभाव जनजातीय समाज मे होने के कारण एक ही शब्द का प्रयोग अनेक सम्बन्धियों के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'अजा' शब्द सेमा नागा लोगों

में माँ, पिता के भाई की पत्नी (चाची व ताई) और माँ की वहन (मौसी) के लिए प्रयोग किया जाता है। उसी समाज में 'आपु' शब्द से एकसाथ पिता, चाचा, ताऊ, और मौसा का बोध होता है। आसाम के अंगामी नागा लोगों में 'धि' शब्द का प्रयोग इन सम्बन्धियों के लिए किया जाता है—पत्नी का बड़ा भाई, पत्नी के वड़े भाई की पत्नी, माँ के भाई की पत्नी, पिता के भाई की पत्नी, वड़े भाई की पत्नी आदि। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ की कमार जनजाति में 'दादी' शब्द का प्रयोग पिता के पिता, पिता के पिता के भाइयों, माँ के पिता की वहनों के पति, माँ के मामा तथा पत्नी या पति की माँ के पिता के लिए समान रूप से किया जाता है। इतना ही नहीं, रक्त-सम्वन्धी नातेदारी केवल प्राणीशास्त्रीय आधार पर ही नहीं, अपितु समाजशास्त्रीय आधार पर भी निश्चित हो सकती है। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामाजिक पितृत्व एक विशेष संस्कार 'पुरसुतपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो भी पुरुष इस संस्कार को पूरा करता है, बच्चों का पिता कहलाता है। यह जरूरी नहीं कि संस्कार करने वाला यह पुरुष उस स्त्री का पति हो ही।

नातेदारी की रीतियाँ
(Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ सामाजिक नियम या रीतियाँ अन्य समाजों की भाँति भारत के जनजातीय समाजों में भी होती हैं। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(1) परिहार (Avoidance)—कुछ सम्वन्ध इस प्रकार के होते हैं जिसमें सम्वन्धित दोनों व्यक्तियों को एक-दूसरे से दूर रहने का निर्देश होता है। जैसे, वधू और ससुर एक-दूसरे को परिहार करते हैं। डा० दुबे ने लिखा है कि मध्य प्रदेश की अधिकांश जनजातियों में एक ओर पुरुष एवं उसके छोटे भाइयों की पत्नियों में तथा दूसरी ओर उसके और उसकी पत्नी की वड़ी वहनों में प्रत्यक्ष सम्पर्क-सम्वन्ध का निषेध रहता है। उनमें किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्वन्ध न पनपना चाहिए और न ही उनका एक-दूसरे से बोलना, स्पर्श करना अथवा किसी समय मकान में अकेले एकसाथ रहना उचित माना जाता है।

(2) परिहास-सम्बन्ध (Joking relationship)—यह परिहार का विलकुल विपरीत रूप है। कुछ सम्वन्ध ऐसे भी होते हैं जिनमें घनिष्ठता व हँसी-मजाक का रिश्ता होना ही स्वाभाविक माना जाता है। पुरुष का अपनी भाभी तथा साली से इसी प्रकार का परिहास-सम्वन्ध होता है। समधियों तथा समधिनों (वर-वधू के माता-पिता) के वीच का सम्वन्ध भी हँसी-मजाक का होता है। हँसी-मजाक की सीमा कहाँ तक है, यह विभिन्न समाजों में अलग-अलग होती है, पर परिहास-सम्वन्ध भारत की सभी जनजातियों में देखने को मिलता है। ओरांव तथा बैगा जनजातियों में दादी-पोते या दादा-पोती के वीच भी परिहास-सम्वन्ध पाये जाते हैं।

(3) माध्यमिक सम्वोधन (Teknonymy)—इस रीति के अनुसार यदि एक

व्यक्ति को अपने किसी सम्बन्धी को सम्बोधन करना या पुकारना होता है तो वह उसका नाम प्रत्यक्षतः न लेकर किसी दूसरे व्यक्ति के नाम के माध्यम से पुकारता है। उदाहरणार्थ, अपने पति को पुकारने के लिए पत्नी अपने किसी बच्चे के नाम का सहारा लेती है। बच्चे का नाम यदि कमल है तो वह पति को 'कमल के पिता' कहकर पुकारेगी या सम्बोधित करेगी। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अनेक जनजातीय समाजों में पति, पति के बड़े भाई, पति के पिता आदि का नाम उच्चारण करना पत्नी के लिए वर्जित होता है। पति भी कभी-कभी पत्नी के गाँव, गोत्र आदि के नाम से पत्नी को सम्बोधित करता है जैसे मोरावाँ वाली।

युवागृह या युवा-संगठन
(Youth Dormitories or Youth Organization)

जनजातियों के सामाजिक संगठन और जीवन की एक और महत्वपूर्ण संस्था युवा-संगठन, युवागृह या कुमारगृह है। समाज के बालक-बालिकाओं को उनके समाज की संस्कृति तथा अन्य बातों में दीक्षित करने के लिए यह संस्था ससार की सभी जनजातियों में पाई जाती है। भारत में भी प्रायः सभी जनजातियों में इस प्रकार के युवा-संगठन पाये जाते हैं और विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। आसाम के कोनयाक नागा लोगों में अविवाहित लड़कों का यह संगठन 'मोरुंग' (Moroung) तथा अविवाहिता युवतियों का 'यो' (Yo) कहलाता है। मेमी नागाओं में लड़कों का संगठन 'इखूइची' और लड़कियों का संगठन 'इलोइची कहलाता है। उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ इसे 'रंगबंग' मध्य भारत की मुण्डा और 'हो' जनजातियाँ इसे 'गीतिओरा' और गोंड़ जनजाति इसे 'गोटुल' कहते हैं।

युवागृह का संगठन और विशेषताएँ (Organization and Characteristics of Dormitories)—युवागृह साधारणतया गाँव के बाहर जंगल में या जंगल के पास बने होते हैं। परन्तु ये खेतों के नजदीक भी होते हैं, जैसे नागाओं का युवागृह। साथ ही, ये युवागृह गाँव के मध्य में भी होते हैं, जैसे ओरांव जनजाति में युवागृह दो प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं लड़के और लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् युवागृह होते हैं जैसे नागाओं में, और कहीं-कहीं लड़के और लड़कियाँ एक ही सामान्य युवागृह के सदस्य होते हैं जैसे मुरिया जनजाति के गोटुल, जहाँ लड़के और लड़कियाँ एकसाथ रहते हैं। अविवाहित लड़कों के युवागृह का प्रबन्ध एक पुरुष करता है और अविवाहिता लड़कियों के युवागृह की व्यवस्था प्राय. एक विधवा स्त्री करती है। युवागृह के सदस्य होने के लिए अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग आयु निश्चित होती है। परन्तु इस आयु के बाद प्रत्येक को युवागृह का सदस्य होना पड़ता है। किन्हीं-किन्हीं जनजातियों में सदस्यता की आयु केवल 4-5 साल होती है। युवागृह की सदस्यता तब तक बनी रहती है जब तक कि उस बालक या बालिका का विवाह नहीं हो जाता। विवाह के पश्चात् युवागृह की सदस्यता आप-से-आप समाप्त हो जाती है। युवागृह के सदस्य दो स्पष्ट वर्गों में बँट जाते है—एक तो ज्यादा उम्र वाले (seniors) और दूसरे कम उम्र वाले (juniors)। इस

ज्यादा उम्र वाले वर्ग से ही युवागृह के अधिकारी या प्रबन्धक को चुना जाता है जो युवागृह की सामान्य देख-रेख करता और अनुशासन को बनाये रखता है। कम उम्र वाले ज्यादा उम्र वालों के आदेशों का पालन करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनसे वीर-गाथाएँ सुनते तथा सामूहिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान और शिक्षा प्राप्त करते हैं। युवागृहों के सदस्य लड़के और लड़कियां भोजन अपने माता-पिता के घर में करते हैं, परन्तु सोते युवागृहों में ही हैं। होता यह है कि युवागृह के सदस्य अपने-अपने घर से खा-पीकर संध्या के समय युवागृह में आकर इकट्ठे हो जाते हैं और आग जलाकर उसके चारों ओर बैठकर या तो कहानी-किस्सों में मस्त हो जाते हैं, या नाचते, गाते और खेल खेलते रहते हैं। फिर यह कार्यक्रम समाप्त होने पर वहीं सो जाते हैं। वास्तव में युवागृह का वातावरण और उद्देश्य खेल-कूद और आमोद-प्रमोद के बीच सामूहिक जीवन के बारे में शिक्षा प्राप्त करने का होता है। इसी कारण युवागृह का जीवन कुछ प्रथाओं और परम्पराओं पर आधारित होता है जिसका पालन एक अर्थ में अनिवार्य होता है। युवागृह के सदस्य अपने सामूहिक जीवन में भाग लेने की शिक्षा भी युवागृह से ही प्राप्त करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कई प्रकार के सामूहिक कार्य भी करते हैं जैसे शादी-विवाह के अवसरों में या गृहनिर्माण कार्य में या खेत में फसल काटने में अपने समुदाय के प्रौढ़जनों की सहायता। प्रौढ़जनों का भी युवागृह के प्रति अपना कर्त्तव्य होता है और वह इस रूप में कि इन युवागृहों को चलाने में जो कुछ खर्चा होता है उसे गाँव के सब लोग मिलकर सहन करते हैं। युवागृह के सदस्यों के लिए युवागृह के कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है और उसमें से सर्वप्रथम यह है कि युवागृह की प्रत्येक बात को गुप्त रखना सदस्य का कर्त्तव्य होता है। उसी प्रकार कुछ जनजातियों में, जैसे कोनयाक नागा लोगों में, अपने बच्चों को सर्वप्रथम युवागृह में भेजने से पहले कुछ संस्कार या उत्सव करने की प्रथा है। इतना ही नहीं, युवागृह को दूसरे साधारण घरों से पृथक् करने का भरसक प्रयत्न प्रत्येक जनजाति के लोग करते हैं। जैसे, युवागृह को वे विशेष ढंग से सजाते या रंगते हैं, उसकी दीवारों पर, बाहर और भीतर, टोटम चिह्नों को चित्रित करते हैं, और उस गृह के चारों ओर काफी विस्तृत जगह को विशेष ढंग से घेरकर रखते हैं।

युवागृह की उत्पत्ति (Origin of Dormitories)—युवागृह की उत्पत्ति क्यों और कब हुई इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से बताया नहीं जा सकता। श्री होडसन (Hodson) आदि कुछ विद्वानों का मत है कि युवागृह सामूहिक गृह (communal house) का ही अवशेष है। मानव-जीवन के प्रारम्भिक स्तर पर लोग पृथक्-पृथक् परिवार में नहीं रहते थे, बल्कि उनके लिए एक सामान्य सामूहिक गृह होता था जिसमें सब लोग मिलकर रहा करते थे। परन्तु धीरे-धीरे एक गाँव के लोग विभिन्न परिवारों में विभक्त हो गये, फिर भी सामूहिक गृह का अस्तित्व अन्य रूप में बना रहा और गाँव के सब परिवार अपने-अपने बच्चों को उसमें रात में रहने के लिए और अपने सामूहिक जीवन की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए भेजने लगे। धीरे-धीरे यह सामूहिक गृह उस समुदाय की प्रथा और परम्पराओं पर आधारित युवक और

युवतियों के लिए एक शिक्षा-केन्द्र के रूप में विकसित हुआ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि युवागृहों की उत्पत्ति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है कि बालक-बालिकाओं को रात के समय घर से दूर रखना ही उचित है जबकि उनके माता-पिता और अन्य विवाहित लोग परस्पर यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यौन-क्रियाओं को वे देख न सकें, इसी उद्देश्य से युवागृह बनाये गये हैं।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि रात मे अपनी बस्ती की, हिंसक जानवरों तथा अन्य आक्रमणकारियों से, रक्षा करने के लिए सब युवक और युवतियों को एक स्थान पर एकत्रित करने के उद्देश्य से ही युवागृहो की उत्पत्ति हुई है।

आदिम जगत् मे पाये जाने वाले इन युवागृहों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में जनजातीय अनुशासन, सामाजिक व धार्मिक कार्य और कर्त्तव्य तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे समाज के बालक और बालिकाओं को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही इन युवागृहों की स्थापना की गई होगी। आधुनिक समाजों की भाँति आदिम समाजों में बच्चों को शिक्षित करने की कोई अन्य संगठित संस्था का नितान्त अभाव है। ऐसी अवस्था में युवागृहों के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए ही उनकी स्थापना की गई है, यह निष्कर्ष शायद बहुत गलत नही है। यह कथन युवागृहों के प्रयोजन तथा उद्देश्य से सम्बन्धित निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

युवागृह के प्रयोजन और उद्देश्य (Objectives and Purposes of Dormitories) कुछ विद्वानो का कथन है कि युवागृह का एक मात्र उद्देश्य उसके सदस्यों के लिए जीवनसाथी को चुनना तथा उन्हें यौन-सम्बन्धी शिक्षा देना है। श्री एलविन (Elwin) तथा श्री ग्रिगसन (Grigson) के द्वारा युवागृह के सम्बन्ध मे दिये गये विस्तृत विवरण से पता चलता है कि युवागृह मे अधिक उम्र की लड़कियाँ प्राय: अपने से छोटी उम्र के लड़को को यौन-सम्बन्धी शिक्षा देती हैं और यही से वे अपने जीवनसाथी को भी चुनती हैं। युवागृह की प्रत्येक बात को गुप्त रखना प्रत्येक सदस्य के लिए विशेषत. इसीलिए अनिवार्य होता है कि युवागृह मे प्रेम और यौन-सम्बन्धी क्रिया-कलाप खूब होता है; यद्यपि वास्तविक सम्भोग करने की प्राय. मनाही होती है। श्री एलविन के अनुसार मुरिया गोटुल में वयस्क लड़कियाँ उनसे छोटी उम्र के लडकों को यौन-क्रिया की शिक्षा देती हैं और वहाँ सम्भोग करने के लिए मुखिया की आज्ञा की आवश्यकता नहीं हुआ करती। परन्तु श्री इन्द्रजीतसिंह के अनुसार इन गोटुलो मे सम्भोग नही होता है। परन्तु श्री एलविन इस बात पर बल देते हैं कि यौन-सम्बन्धी शिक्षा और शरीर-सम्भोग युवागृहो के प्रमुख उद्देश्यों के आवश्यक अंग हैं। परन्तु इस शरीर-सम्भोग से गर्भ रहने की बात बहुत कम सुनने को मिलती है। श्री एलविन ने इसके कारण को इस प्रकार समझाया है कि मुखिया लोगों मे विश्वास है कि गोटुल की रक्षा लिंगो (Lingo) नामक देवता के द्वारा होती है जिसके कारण शरीर-सम्भोग करने पर भी उनकी कृपा से लड़कियों को गर्भ नहीं रहता क्योंकि गोटुल के अन्दर होने वाले शरीर-सम्भोग से बच्चा उत्पन्न होना स्वयं उस देवता लिंगो के लिए असम्मानजनक होगा। इसलिए लिंगो स्वयं अपनी मर्यादा या सम्मान बचाने के लिए लड़कियो को गर्भ रहने नहीं देते।

परन्तु सर्वश्री हट्टन, मजूमदार, राय आदि विद्वानों ने श्री एलवि
पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। इनका कहना है कि युवागृह जनजा
एक महत्त्वपूर्ण संस्था है जहाँ पर सदस्यों को जनजातियों के आर्थि
धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों को सिखाया जाता है। जनज
सामाजिक न्याय तथा पारस्परिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भी यहाँ
दी जाती है; अपराध और दण्ड के विचार, बुरे कार्यों के परिणाम आदि
द्वारा सदस्यों को बताये जाते हैं। इसलिए इसे केवल प्रेम और यौन-सम्ब
का केन्द्र मानना उचित न होगा।

रायबहादुर शरत्चन्द्रराय ने युवागृहों के तीन प्रमुख उद्देश्यों का
जिनसे युवागृहों की उत्पत्ति के कारणों का भी स्पष्टीकरण होता है। वे
प्रकार हैं—(अ) युवागृह भोजन इकट्ठा करने के कार्य में एक महत्त्वपूर्ण
के रूप में कार्य करता है, (ब) यह युवकों तथा युवतियों को सामाजिक त
के कर्त्तव्यों की शिक्षा देने का एक उपयोगी केन्द्र है, और (स) यह ज
सम्बन्धित संस्कारों को करने व सिखाने का स्थान है जिससें, जैसा कि उन
शिकार में सफलता प्राप्त होगी और युवकों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो

युवागृह वास्तव में आदिम सामाजिक जीवन की एक प्रमुख संस्था
श्री मिल्स, मजूमदार, राय आदि विद्वानों ने आदिम लोगों के जीवन में इ
महत्त्व पर अत्यधिक बल दिया है। कुछ विद्वानों का तो कथन है कि अ
जातियों के जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना
इस संस्था का विस्तृत अध्ययन सर्वप्रथम आवश्यक है।

परन्तु खेद का विषय है कि सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने के फल
कुछ अंग्रेजी शिक्षा के कुप्रभाव के कारण जनजातियों के मन में इस संस्था के प्र
त्तर उदासीनता, यहाँ तक कि घृणा की भावना भी पनप रही है, जिसके का
दिन-प्रतिदिन इस महत्त्वपूर्ण संस्था का पतन होता जा रहा है। जनजातीय
विघटन को रोकने के लिए और उनकी समस्याओं को हल करने के लिए युव
पुनःसंगठन करना परम आवश्यक है।

भारतीय जनजातीय धर्म और जादू
(Tribal Religion and Magic in India)

इस शताब्दी के आरम्भ में भारत की जनजातियों के धर्म के सम्बन्ध में
ीं। उनके धर्म के विषय में सर हर्बर्ट रिज़ले (*Sir Herbert R*
नजातियों का धर्म तो विभिन्न प्रकार के दुःखदायी अन्धविश्वासों
.झाला मात्र है। परन्तु सन् 1931 की जनगणना की रिप
n) ने इस मत का सर्वप्रथम खण्डन किया और यह दावा किय
अन्धविश्वासी और अशिक्षित व्यक्तियों की अस्पष्ट कल्पना मात्र
... वक धार्मिक पद्धति और सुनिश्चित दर्शन-प्रणाली का भण्डार

है। यह धर्म वर्तमान हिन्दू-धर्म का मूलाधार है। हिन्दुओं ने अपने अनेक मुख्य धार्मिक विश्वास जैसे आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, आवागमन (transmigration) आदि के सिद्धान्त इन्हीं जातियों से ग्रहण किये हैं। "इस समय जनजातीय धर्मों में वही अतिरिक्त (Surplus) सामग्री बची हुई है जिसका उपयोग हिन्दू-धर्म रूपी मन्दिर के निर्माण में नहीं किया जा सका।" आधुनिक खोजों के आधार पर भारत की जनजातियों के धर्म व जादू के प्रमुख तत्व और विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) आत्मावाद (Animism)—श्री रिज़ले से लेकर डा० मजूमदार आदि प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय जनजातीय धर्म का एक प्रमुख आधार आत्मावाद है। आत्मावाद से सम्बन्धित विश्वास भारत की प्रायः सभी जनजातियों में बड़ी सरलता से देखा जा सकता है। उनका यह विश्वास है कि उनका जीवन अनेक अदृश्य आत्माओं, प्रेतों तथा ऐसे ही अन्य अज्ञात, अव्यक्त व अलौकिक शक्तियों से न केवल घिरा हुआ है बल्कि उनके द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में नियन्त्रित होता है। संथाल अपने पूर्वजों की आत्माओं पर विश्वास करते हैं और एक विशेष स्थान में उनकी स्थापना करके पूजा करने की रीति उनमें प्रचलित है। ऐसी ही अनेक भारतीय जनजातियाँ हैं जो कि यह विश्वास करती हैं कि एक विशेष चट्टान या शिला पर उनके प्रमुख पूर्वज की आत्मा निवास करती है और इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए वे विशेष अवसरों पर मुर्गियों, कबूतरों, बकरियों आदि की बलि देते हैं। मिर्ज़ापुर के आदिवासी कोरवा लोगों के सम्बन्ध में डा० मजूमदार ने लिखा है कि उनमें यह विश्वास है कि उनके जीवन के विभिन्न पक्षों को नियन्त्रित करने के लिए पृथक्-पृथक् 'आत्मा' या 'शक्ति' है। इस लोक-विश्वास के अनुसार विभिन्न रोग, फसल, वर्षा आदि अलग-अलग आत्माओं द्वारा नियन्त्रित तथा नियमित होते हैं। डा० दुबे ने छत्तीसगढ़ की कमार और मुँजिया जनजातियों के सम्बन्ध में लिखा है कि, "उनमें अधिकांश स्वप्नों के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि वे व्यक्ति के 'जीव' के स्वतन्त्र एवं पृथक् अनुभव होते हैं। मनुष्य का शरीर जब निद्रा-मग्न होकर विश्राम करता है तो उसका चंचल जीव बाहरी दुनिया की सैर करना चाहता है। उनकी दृष्टि में स्वप्न भी उतने ही यथार्थ होते हैं जितने जागृत स्थिति में मनुष्य-शरीर के प्रत्यक्ष अनुभव। अन्तर केवल इतना है कि एक स्थिति में अनुभूति शरीर को होती है, दूसरी में जीव को। स्वयं जीव के स्वरूप और गुणों के सम्बन्ध में अनेक धारणाओं का प्रचलन है। कमारों के अनुसार मृत व्यक्ति का शरीर तो 'मढ़ी' बनकर श्मशान में वास करने लगता है, किन्तु उसका 'जीव' सीधा भगवान के पास चला जाता है। 'मढ़ी' की अपनी स्वतन्त्र चेतना होती है, और वह अन्य जीवों को हानि पहुँचा सकती है। परिवार के लोग जब 'जीव' का आवाहन करते हैं तो वह 'माता डूमा' के स्थान पर, जहाँ अन्य पुरुषों के जीव भी वास करते हैं, आकर रहने लगता है।"[1]

उसी प्रकार दो आत्माओं की धारणा भी भारत की अनेक जनजातियों में पाई जाती है। इसी धारणा के आधार पर इन जनजातियों में 'दोहरा दाह-संस्कार' (double

funeral) अर्थात् दो प्रकार की अन्तिम क्रियाएँ करने की प्रथा है। वे कच्चा (green) और पक्का (dry) दो प्रकार का दाह-संस्कार या अन्तिम क्रियाएँ करती हैं। कच्चा दाह-संस्कार (green funeral) एक व्यक्ति के मरने के बाद तुरन्त ही कर दिया जाता है, परन्तु पक्का दाह संस्कार (dry funeral) काफी समय बीत जाने के बाद ही किया जाता है। पर्याप्त समय बीत जाने के बाद उस मृत-व्यक्ति के आत्म परिजनों को यह विश्वास हो जाता है कि शरीर-आत्मा (body-soul) अब लौटकर नहीं आयेगी। हो, टोडा, कोट और ओराँव जनजातियाँ इसी प्रकार का 'दोहरा दाह-संस्कार' करती हैं। 'हो' जनजाति में यह विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर-आत्मा 'बोंगा' नामक एक अदृश्य शक्ति से मिल जाती है। इस कारण पक्की अन्त्येष्टि-क्रिया के अवसर पर वे लोग ढोल आदि बजाकर उत्सव मनाते हैं। मध्य भारत की अनेक जनजातियों में पितरों की आत्मा को आदरपूर्वक बुलाकर उस स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाता है जहाँ पर कि उनके अन्य देवी-देवताओं की पूजा होती है। कमार, भुंजिया, अमात और उड़िया गोंड आदि अनेक जनजातियों में इस प्रकार पितरों की आत्माओं को आदरपूर्वक बुलाकर और उत्सव आदि मनाकर घर में प्रतिष्ठित करने की प्रथा पाई जाती है।

(2) **मानावाद** (Manaism)—डा० मजूमदार (Dr. Majumdar) के मतानुसार भारतीय जनजातीय धर्म का सर्वप्रमुख आधार 'मानावाद' या भारतीय जनजातीय भाषा में 'बोंगावाद' (Bongaism) है। छोटा नागपुर की हो, मुण्डा तथा अन्य जनजातिय 'माना' जैसी एक अलौकिक, अदृश्य और अवैयक्तिक शक्ति पर विश्वास करती हैं। इस शक्ति को वे लोग 'बोंगा' (*Bonga*) कहकर पुकारते हैं। डा० मजूमदार ने अपने एक ग्रंथ तथा एक पृथक् निबन्ध में इस बोंगावाद के विषय पर विस्तारपूर्वक अपने विचारों को प्रस्तुत किया है और इसी को 'हो' जनजातीय धर्म का आधार माना है। उनके मतानुसार बोंगावाद ही 'हो' धर्म है। 'हो' लोग बोंगा को चल और अचल, जीवित और जड़ सभी वस्तुओं व स्थानों में व्याप्त एक अदृश्य एवं अलौकिक शक्ति मानते हैं जो कि फसल को उगाने, महामारियों को लाने या रोकने, वर्षा, तूफान, बाढ़ आदि लाने में एक मात्र कारण है। मुण्डा जनजाति में विभिन्न मनुष्यों में पाई जाने वाली विभिन्नताओं का कारण भी बोंगा की शक्ति मानी जाती है। यदि किसी मनुष्य में अधिक कार्य-क्षमता या अन्य कोई विशेष गुण है तो मुण्डा लोग यही विश्वास करते हैं कि उस व्यक्ति में बोंगा अधिक मात्रा में है। उनके अनुसार कोई भी अद्भुत या अलौकिक शक्ति बोंगा है उनमें यह भी विश्वास है कि अगर इस अशरीरी बोंगा को किसी विषय पर चेतावनी देनी होती है या भविष्यवाणी करनी होती है तो वह (बोंगा) स्वप्न के माध्यम से ऐसा करती है। सभ्य समाज के सम्पर्क में आने के कारण अब इस मुण्डा जनजाति के लोग साइकिल, रेल-ाड़ी, हवाई जहाज आदि देखते हैं। उनके लिए ये सभी बोंगा हैं। साइकिल एक बोंगा है, ाड़ी उससे अधिक शक्तिशाली बोंगा है और हवाई जहाज उससे भी अधिक शक्ति-ी बोंगा है।

(3) **प्रकृतिवाद** (Naturism)—भारत की जनजातियों में प्रकृतिवाद अर्थात् चीज़ों की आराधना या पूजा के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। अनेक जनजातियाँ

सूर्य, चाँद और तारों की उपासना करती हैं। मुण्डा लोग सिंग बोगा (सूर्य देवता) को पूजते हैं। आसाम के गारो सूर्य और चन्द्रमा के उपासक हैं।

(4) टोटमवाद (Totemism)—पिछले एक अध्याय में बताया जा चुका है, टोटम से सम्बन्धित अनेक धारणाएँ भारत की जनजातियों में प्रचलित हैं। ये धारणाएँ धर्म की उत्पत्ति में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई होंगी इस कारण धार्मिक जीवन में इनका प्रभाव है।

(5) पितृ-पूजा—डा० दुबे के अनुसार भारत की जनजातियों के धर्म का एक आधार पितृ-पूजा भी है। उन्होंने लिखा है कि पितरों के 'जीव' को सन्तुष्ट रखना तथा उन्हें आदरपूर्वक वापस बुलाकर घर में स्थान देना भारतीय मध्य प्रदेश के अनेक जनजातीय समूहों में आवश्यक माना जाता है। छत्तीसगढ़ की जनजातियों में भगवान तथा अन्य देवताओं की पूजा करने के साथ-साथ पितरों की आत्माओं को भी पूजा जाता है। छत्तीसगढ़ के कमार, भुंजिया तथा धुर, अमात और उड़िया गोंड, प्रायः प्रत्येक जनजातीय समूह में मृत्यु के कुछ समय बाद सुनिश्चित रस्मों द्वारा मृत व्यक्ति की आत्मा का आवाहन किया जाता है, और घर के एक विशेष स्थान पर उन्हें प्रतिष्ठित किया जाता है। त्योहारों, उत्सवों और संस्कारों के अवसर पर अन्य देवी-देवताओं के साथ पितरों की आत्माओं को भी धूप, बलि, भेंट देकर खुश रखने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा न करने पर पितरों की आत्मा भी देवी-देवताओं की भाँति नाराज हो सकती है और उस अवस्था में परिवार तथा परिवार के सदस्यों को नुकसान पहुँच सकता है।

(6) अनेकेश्वरवाद—जीवन के विभिन्न पक्षों तथा समस्याओं से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं पर विश्वास भारत के जनजातीय धर्म की एक और उल्लेखनीय विशेषता है। एक ईश्वर पर विश्वास करने वाले जनजातीय समूह भारत में नहीं पाये जाते। डा० दुबे ने लिखा है कि "हमारे आदिवासी समाजों में देवताओं में भी स्तर-भेद पाया जाता है। उत्कल की बोंदो जनजाति की परम्परा के अनुसार 'महाप्रभु' सर्वशक्तिमान हैं तथा अदृश्य जगत् के अमर देवताओं में उनका प्रमुख स्थान होता है। महाप्रभु नाम नया है तथा स्पष्टतः उड़ीसा के हिन्दुओं के प्रभाव से बोंदो-पर्वतों में पहुँचा है। वास्तविक नाम 'सिंगी अरके' या 'सिंह अरके' है जो संथालों के सिंग बोंगा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बोंदो सूर्य (सिंगी अरके या महाप्रभु) को पृथ्वी का रचनाकार तथा अपना मुख्य देवता मानते हैं। 'माता' और पितरों के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ के कमार अनेक देवताओं पर विश्वास करते हैं। उनके अनुसार अपनी जटा में पृथ्वी और आकाश को रखने वाले महादेव सबसे बड़े देवता हैं। महादेव के नीचे 'भगवान्' का स्थान है; मरने के बाद व्यक्ति का जीव भगवान के पास जाता है, और वे ही अपने पास के जीवों को कहीं जाकर जन्म लेने की आज्ञा देते हैं। ठाकुरदेव, दुल्[illegible] आदि अनेक स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं। आसाम [illegible] में इस प्रकार सबसे बड़े देव का नाम 'गुल्लेई-नोंगथा' [illegible] ही है।

(7) [illegible] के धर्म का या धार्मिक [illegible] घुला-मिला हुआ है कि

इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। भारतीय जनजातियों में महामारी को रोकने, वर्षा को लाने, रोगों की चिकित्सा करने आदि के विषयों में धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ अनेक जादू-टोने का भी समावेश देखने को मिलता है। डा० दुबे के अनुसार, "इसे उनकी अदृश्य शक्ति-सम्बन्धी विश्वास का एक विशेष अंग मानना अधिक उपयुक्त होगा।" वास्तव में जनजातियाँ धर्म तथा जादू इन दोनों को उत्तम रूप से मिलाकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं।

भारत की प्रत्येक जनजाति में जादू-टोने में विश्वास पाया जाता है। इन क्रियाओं का सहारा वे प्रायः अपने कुछ व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेते हैं, जैसे महामारी को रोकने के लिए, वर्षा को लाने के लिए, रोगों की चिकित्सा करने के लिए, शत्रु से वदला लेने के लिए इत्यादि। जादू-टोने का सबसे सरल रूप जनजातीय लोगों के अनेक प्रकार के विश्वासों में निहित है। उदाहरणार्थ, जिनका विश्वास है कि कुछ विशेष वस्तुओं और स्थानों में विशेष शक्ति होती है। इसी विश्वास के आधार पर वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति अनेक प्रकार की जड़ी-बूटी, देवी-देवताओं की स्पर्श की हुई वस्तुएँ, विशेष स्थान की मिट्टी, विशेष नदी, तालाब या झरने का पानी, विशेष पशु की खाल (skin), या विशेष पक्षी के पंख आदि को धारण करके करते हैं। उनमें विश्वास है कि अमुक जड़ी-बूटी को हाथ में बाँध लेने से अमुक रोग ठीक हो जायगा; अमुक झरने का पानी छिड़कने से चुड़ैल का प्रकोप नष्ट हो जायगा; अमुक पक्षी के पंख को धारण करने से शत्रु पर विजय पाना वहुत सरल हो जायगा। प्रत्येक जनजातीय समूह में इस प्रकार जादू-टोना करने वाले कुछ विशेषज्ञ (experts) होते हैं जो कि लोगों को अनेक प्रकार के तावीज आदि देते हैं और टोटका आदि करते हैं। उसी प्रकार मन्त्रों का पाठ करके रोगी को ठीक करने (जिसे साधारण भाषा में 'झाड़-फूँक' कहते हैं), भूत-प्रेत या चुड़ैल के प्रकोप से किसी को छुड़ाने या शत्रु का नाश करने की अनेक विचित्र रीतियाँ व रस्में जनजातीय समाज में देखने को मिलती हैं। कहा जाता है कि उत्तर-प्रदेश (नैनीताल) की थारू जनजाति की स्त्रियाँ इन कामों में अर्थात् झाड़-फूँक करने, तावीज़ वनाने और टोटका करने में एक नम्बर की होती हैं।

हम लिख चुके हैं कि श्री फ्रेज़र (Frazer) ने जादू के दो नियमों का उल्लेख किया है। पहला नियम, समानता का नियम (Law of Similarity) है और इस पर आधारित जादू को 'होमियोपैथिक जादू' या 'अनुकरणात्मक जादू' (imitative magic) कहते हैं। इस प्रकार जादू के अनेक उदाहरण भारतीय जनजातीय समाजों में देखने को मिलते हैं। यदि किसी को अपने किसी शत्रु या प्रतिस्पर्धी का विनाश करना है तो वह अपने उस शत्रु या प्रतिस्पर्धी की मिट्टी या लकड़ी की एक मूर्ति बनाता है और फिर उसे मंत्र पाठ तथा विशेष रस्मों के साथ पानी में सड़ने या गलने दिया जाता है या [illegible]ट पहुँचाकर उसे नष्ट कर दिया जाता है। 'समानता के नियम' के अनुसार [illegible] किया जाता है कि वह मूर्ति जैसे-जैसे सड़ती या गलती रहेगी वैसे-वैसे शत्रु [illegible] नाश होता रहेगा अथवा मूर्ति के जहाँ-जहाँ चोट लगाई जावेगी उन्हीं स्थानों [illegible] भी चोट पहुँचेगी। छोटा नागपुर की जनजाति पानी वरसाने के लिए जादू

काम में लाती है। जनजातीय लोगों ने अनुभव किया होगा कि जब-जब पानी बरसता है, गड़गड़ाहट की आवाज बादलों से सुनाई पड़ती है। अतः उन्होंने गड़गड़ाहट को वर्षा का कारण माना। जब पानी नहीं बरसता तो वे पहाड़ की चोटियों से पत्थर लुढ़काकर गड़-गड़ाहट की आवाज पैदा करने का प्रयत्न करते हैं, ताकि पानी बरसे। 'हो' जनजाति वर्षा लाने के लिए आग जलाती और खूब धुआं करती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि धुएं और बादल में समानता है, इस कारण समान वस्तु अर्थात् धुआं सदैव समान वस्तु अर्थात् बादल उत्पन्न करेगा और वर्षा होगी। उसी प्रकार [illegible]भारत की अनेक जनजातियों में प्रसव के समय बच्चा जल्दी पैदा हो जाय, इस उद्देश्य से गर्भवती स्त्री को तेज धार का पानी पिलाया जाता है। तेज धार का पानी द्रुत गति का प्रतीक है, इस कारण इसको पिलाकर सामानान्तर फल की आशा की जाती है कि बच्चा भी जल्दी पैदा होगा।

श्री फ्रेज़र का दूसरा नियम है 'सम्पर्क का नियम' (Law of Contact), और इस पर आधारित जादू को 'संक्रामक जादू' (contagious magic) कहते हैं। इस प्रकार का जादू, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस सामान्य नियम या विश्वास पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार या एक समय सम्पर्क में रही वह सदैव सम्पर्क में रहेगी। इस प्रकार के जादू के भी अनेक उदाहरण भारतीय जनजातीय समाजों में देखने को मिलते हैं। अगर किसी व्यक्ति को हानि पहुँचानी है तो उस व्यक्ति के कपड़े, बाल नाखून, बर्तन, आदि किसी एक वस्तु को किसी प्रकार से प्राप्त कर लिया जाता है और फिर उस वस्तु को मंत्र-पाठ तथा विशेष रस्मों के साथ नष्ट कर दिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि उस वस्तु के नाश होने से उस शत्रु का भी विनाश होगा। अपने प्रेमी या प्रेयसी को अपने वश में करने के लिए भी उसके सम्पर्क में रही हो ऐसी किसी वस्तु — बाल, नाखून, कपड़ा आदि—को पहले काबू में किया जाता है और फिर उस पर जादू चलाया जाता है। कमार, भुंजिया तथा भारत की अन्य प्रायः सभी जनजातियों में इस प्रकार के अनेक जादुओं का प्रचलन है।

भारतीय जनजातीय धर्म की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि इनके धर्म और हिन्दुओं के धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इनके धर्म के अनेक तत्त्व हिन्दू-धर्म में भी पाये जाते हैं। इसी कारण श्री एलविन (Elwin) भारतीय जनजातीय धर्म और हिन्दू-धर्म में भेद करना निरर्थक समझते हैं। डा० घुरिये (Ghurye) ने तो यहाँ तक कहा है कि जहाँ तक धर्मों में समानता का प्रश्न है वहाँ तक भारत की जनजातियों और हिन्दुओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है, और इस अर्थ में जनजातियों को 'पिछड़े हिन्दू' कहना चाहिए। श्री हट्टन (Hutton) ने स्पष्ट ही कह दिया है कि भारतीय जनजातियों के धर्मों को आत्मावाद, मानावाद, प्रकृतिवाद या किसी अन्य एक श्रेणी में रखना उचित न होगा। उनके धर्मों में इन सब तत्त्वों के अतिरिक्त आत्मा की अनश्वरता, पुनर्जन्म आदि की धारणाएँ भी पाई जाती हैं। इन सब बातों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर ही आते हैं कि भारतीय जनजातियों का धर्म ही हिन्दू-धर्म का आदि-रूप है।

SELECTED READINGS

1. Dubey, S. C. : *Manav aur Sanskriti*, Rajkamal Prakashan Delhi, 1960.

2. Elwin, V. : *The Aboriginals*, Oxford University Press, Bombay, 1943.

3. Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, 1958.

4. Majumdar and Madan : *Social Anthropology*, Bombay, 1956.

21 भारतीय जनजातियों की समस्याएँ एवं जनजातीय कल्याण
(The Problems of Indian Tribes and Tribal Welfare)

भारतीय जनजातियो के लोग भी भारतीय सघ के ही सदस्य हैं और इसीलिए उन्हे अब पृथक् रखना सम्भव नही हुआ है। फलतः इन जनजातियों का, जिन्हें कि अब तक असभ्य, अर्धसभ्य या जगली कहा जाता था, सम्पर्क भारत के अन्य सभ्य समुदायों के साथ निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इन दोनो की संस्कृति पूर्णतया अलग है और सभ्य समाज का दबाव इन अर्धसभ्य या जगली लोगों पर वास्तव मे तीव्र है। सभ्य समाज की चमक-दमक भी जनजातीय लोगों को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करती जा रही है। इन सब का परिणाम यह हुआ है कि सांस्कृतिक सम्पर्क या सस्कृतीकरण की अनेक गम्भीर समस्याओं से घिरी भारत की जनजातियों का जीवन आज एक बहुत ही नाजुक अवस्था मे से होकर गुजर रहा है। अतः हमारे लिए भी इन समस्याओं को उचित रूप मे जान लेना आवश्यक होगा, क्योकि प्रायः 4 करोड़ जनजातियो को पीछे फेंककर राष्ट्रीय उन्नति का सपना देखना भी अनुचित ही है।

भारतीय जनजातीय समस्याओं के कारण
(Causes of the Problems of Indian Tribes)

(1) सभ्य समाज से सम्पर्क (Contact with civilized society)—वास्तव मे जनजातीय की समस्या का उदय उसी दिन हुआ है जब कि जनजातियों का सभ्य समाजो के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। इस सम्पर्क के फलस्वरूप जनजातियो के जीवन पर एक ओर सुसभ्य भारतीय संस्कृति का और दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। ये दोनों ही संस्कृतियां जनजातियों के लिए विदेशी हैं जिनके साथ पहले इनका कोई भी परिचय न था। फिर भी एक बार सम्पर्क स्थापित हो जाने के पश्चात् इन संस्कृतियों की चमक-दमक ने इन भोले-भाले अज्ञान जनजातीय लोगों को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित किया। पर दोनो के बीच भेद या अन्तर की खाई इतनी गहरी थी कि—विदेशी संस्कृतियो के साथ सफल अनुकूलन की अनेक समस्याओं ने आप-से-आप जन्म लिया।

(2) बाहरी स्वार्थ-समूहों द्वारा शोषण (Exploitation by outside interest groups)—जनजातीय जीवन मे समस्या बाहरी स्वार्थ-समूहों के कारण भी उत्पन्न हो गई है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भारत के विभिन्न शहरों से व्यापारी, महाजन, ठेकेदार आदि बाहरी समूह जनजातीय समाजो में जाकर बस गये हैं। इन लोगों

ने जनजातीय जनता के पिछड़ेपन और अशिक्षा आदि से लाभ उठाकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का निरन्तर प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, व्यापारियों ने उनके समाज में पाउडर, लिपस्टिक आदि का प्रचलन तो कर दिया, पर जनजातियों की निर्धनता ने उसी के आधार पर पारिवारिक तनाव की सृष्टि कर दी। परिवार में उन पतियों की स्थिति गिर गई जो अपनी निर्धनता के कारण अपनी पत्नी के लिए पाउडर, लिपिस्टिक नहीं जुटा सके।

(3) **नवीन शासन-व्यवस्था**—(New administrative set up)—ब्रिटिश शासन काल से पहले एक-एक जनजाति अपने-अपने क्षेत्र में सर्वेसर्वा होती थी और शासन-व्यवस्था का काम उनके ही अपने ढंग से होता था। अतः कोई समस्या नहीं थी। परन्तु ब्रिटिश शासन काल से अनेक जनजातीय क्षेत्रों में नई शासन पद्धति को अपनाया जाने लगा। फलतः उनकी अपनी शासन-व्यवस्था को ठेस पहुँची और वे नये नियम-कानूनों को न तो ठीक से समझ पाये और न ही उनके प्रति वफादार हो सके। फलतः एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। साथ ही, नई शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रशासक, वन-अधिकारी (forest officer), अदालत से सम्बन्धित अधिकारी, पुलिस आदि जनजतीय संस्कृति से बिलकुल ही अनभिज्ञ व अपरिचित होने के कारण उनके हृदयों को जीतने के बजाय उनमें हीन भाव को जन्म दिया, जिससे जनजातीय लोग न तो नई व्यवस्था को पूर्णतया ग्रहण कर पाये और न ही उनका त्याग कर सके। तभी एक विकट समस्या सामने आ खड़ी हुई।

(4) **जनजातीय क्षेत्रों में खान, वन-सम्पत्ति आदि का होना** (Existence of mines, forest wealth etc. in tribal areas)—चूंकि बहुत से जनजातीय क्षेत्रों में खान, चाय बगान, वन-सम्पत्ति आदि है, इस कारण उन क्षेत्रों में या उनके आस-पास मिल, खान से सम्बन्धित कार्य तथा अन्य उद्योग-धन्धे पनप गये। उद्योग-धन्धों के पनपने से नगरों का या नागरिक संस्कृति का विकास हुआ और उनके पास-पड़ोस में रहने के कारण अथवा वहाँ के उद्योगों में श्रमिक के रूप में कार्य करने के फलस्वरूप जनजातीय लोगों को नागरिक संस्कृति के सम्पर्क में आना पड़ा और उनकी अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता धीरे-धीरे विलीन होती गई। न तो वे पूर्णरूप से ग्रामवासी बने रहे और न ही पूर्णतया नगर निवासी ही बन सके। फलतः सांस्कृतिक अनुकूलन की समस्या ने अपना सिर ऊँचा किया।

(5) **ईसाई मिशनरी** (Christian missionaries)—ईसाई मिशनरियों द्वारा आयोजित सेवा-कार्यों ने जनजातीय जीवन में नई आशा व जागृति का प्रकाश उत्पन्न किया इसमें सन्देह नहीं, फिर भी उन्हीं के कारण जनजातीय समाज में अनेक समस्याओं का भी उदय हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि ईसाई मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य सेवा-कार्यों की आड़ में ईसाई धर्म का प्रचार था और इसके लिए उन लोगों ने जन-जातियों की अज्ञानता व पिछड़ेपन का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इनके कार्य-कलापों से जनजातीय जीवन में संस्कृति-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ किस रूप में सामने आयीं यह बात निम्नांकित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी।

(6) दुर्गम निवास-स्थान (Unapproachable habitations)—भारत की अधिकतर जनजातियाँ देश के घने जंगली और पहाड़ी हिस्सों में रहती हैं। इस कारण इन प्रदेशों में प्रौद्योगिकी (Technology), यातायात और सचार के साधन (Means of transport and communication) आज भी आदिम दशा में हैं। इसके फलस्वरूप जनजातियों का जीवन एक ओर प्राकृतिक परिस्थितियों पर अधिक निर्भर होने के कारण जीवन-धारण से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को स्वभावतः ही जन्म मिलता है और दूसरी ओर पर्याप्त यातायात के साधनों के अभाव से इन समस्याओं का निराकरण स्वयं ही एक समस्या बन जाती है।

जनजातीय जीवन पर ईसाई मिशनरी कार्यों का प्रभाव
(Effects of Missionary Activities on Tribal Life)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारत की जनजातियों के जीवन पर ईसाई मिशनरियों के कार्यों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इन प्रभावों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Cultural life)—ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आने से जनजातियाँ अपनी संस्कृति को धीरे-धीरे छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति अपनाने लगीं। ईसाई मिशनरियों ने अपने कार्य की सुविधा के लिए जो सड़कें आदि बनवायीं, उससे बाहरी संस्कृति से सम्पर्क की प्रतिक्रिया और भी बढ़ गई। इसका फल यह हुआ कि जनजातियों की ललित-कला आदि का पतन भी धीरे-धीरे होने लगा। मिशनरियों ने अपने स्कूलों के द्वारा जनजातियों में शिक्षा प्रसार का सराहनीय कार्य किया और उन्हें रोमन लिपि के द्वारा वर्तमान ज्ञान-विज्ञान को सिखाने का प्रयत्न किया।

(2) सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Social life)—ईसा मिशनरियों के कार्यों के कारण जनजातीय जीवन में अनेक सामाजिक परिवर्तन और समस्याएँ उत्पन्न हुईं। युवागृह की अवनति, मादक वस्तुओं का सेवन, पोशाक से सम्बन्धित समस्याएँ और साथ ही व्यभिचार भी इन्हीं मिशनरियों के सम्पर्क में आने से बढ़ा। जिन लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया, वे लोग कम-से-कम गिरिजाघरों में अंग्रेजी पोशाक पहनकर जाने लगे और घर में भी अंग्रेजों की भाँति रहने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार जनजातीय जीवन में विलासिता का श्रीगणेश इन्हीं ईसाई मिशनरियों के कारण हुआ। आज इसी कारण उनके समाज में कान्तिवर्धक औषधियाँ, पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक, तेल इत्यादि की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है।

ईसाई मिशनरियों ने जनजातियों के प्रदेशों में अनेक चिकित्सालय स्थापित किये हैं। परन्तु इस पवित्र कार्य का भी उद्देश्य जनजातियों को ईसाई बनाना ही था। मध्य प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनमें रोगियों पर ईसाई बनने के लिए दबाव डाले गये। ईसाई मिशनरियों ने अनाथ और असहाय

बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए अनेक अनाथालय खोले और साथ ही बाढ़, अकाल, भूकम्प आदि विपत्तियों के समय में उनकी मदद भी की।

(3) **धार्मिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Religious life)—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों से ईसाई प्रचारकों के कार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह है कि जनजातियों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ जिसके कारण उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का विघटन प्रारम्भ हुआ। इसका कारण यह है कि धर्म-परिवर्तन केवल धर्म के बदलने तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रभाव धर्म बदलने वाले के आचार, व्यवहार, विचार, प्रथा, परम्परा व रहन-सहन पर भी पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति अपने सांस्कृतिक समूह से विच्छिन्न हो जाता है। जो गोंड या भील ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते हैं वे स्वभावतः ही अपने को अपनी जनजाति के अन्य व्यक्तियों से पृथक् व भिन्न समझने लगते हैं। एक ही जनजाति में नहीं अपितु एक ही परिवार में ईसाई और गैर-ईसाई में भेद होने लगा जिससे कि सामाजिक विघटन ही नहीं, पारिवारिक विघटन भी प्रारम्भ हो गया।

(4) **आर्थिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Economic life)—ईसाई मिशनरी सबसे पहले जनजातीय समाज को मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था से मुद्रासहित आर्थिक व्यवस्था में ले आये, अर्थात् उनमें मुद्रा का प्रचलन किया, जिसका उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है। इसी मुद्रा-व्यवस्था की आड़ में जनजातीय समाजों में शोषक वर्ग, छोटे-छोटे व्यापारिक तथा मादक वस्तुओं के विक्रेता, उधार देने वाले महाजनों आदि ने प्रवेश किया और जनजातीय लोगों की दयनीय आर्थिक व्यवस्था को और भी दयनीय बना दिया। मुद्रा-प्रसार के कारण ही जनजातियों में सामुदायिक और सहयोग की भावना का ह्रास हुआ, अनेक व्यक्ति नौकरी की खोज में अपने गांव को छोड़कर चले गये जिससे पारिवारिक सम्बन्धों में अस्थिरता आ गई और रुपये का ही लालच दिखाकर बाहर के लोगों ने जनजातियों की स्त्रियों को अनैतिक कार्यों के लिए बाध्य किया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार ने जनजातीय लोगों में भी शिक्षित बेकारों की सृष्टि की।

अतः स्पष्ट है कि ईसाई मिशनरियों के कार्य भारत के जनजातीय क्षेत्रों में केवल स्कूल, चिकित्सालय, अनाथालय आदि खोलने और उन्हें चलाने तक ही सीमित न रहे बल्कि उनके कार्यों ने जनजातियों के जीवन से सम्बन्धित लगभग सभी पहलुओं को प्रभावित किया।

जनजातीय समस्याओं की प्रकृति
(Nature of Tribal Problems)

भारत की जनजातियों की समस्याएं सीधी और सरल नहीं हैं, ये समस्याएं वास्तव में बहुत ही विस्तृत और जटिल हैं; और ये उनके आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, ललित-कला आदि सभी से सम्बन्धित हैं। आधु संस्कृति के प्रभाव से वे अपनी संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं: आर्थिक क्षेत्र में अनेक

प्रकार के शोषण का शिकार बन रहे हैं, ऋणग्रस्त होकर महाजनों के चंगुल में फँसते जा रहे है, पर्याप्त व पौष्टिक भोजन न पाने से अनेक प्रकार के रोगों का शिकार होते और अपने स्वास्थ्य को नष्ट करते जा रहे हैं, अपने आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी जीवन को खोकर नौकरी की खोज में इधर-उधर मारे-मारे भटक रहे हैं या अपने श्रम को कौड़ी के मूल्य पर बेच रहे हैं और उन औद्योगिक केन्द्रों के प्रलोभनों, शराब, वेश्यावृत्ति आदि का शिकार बन रहे हैं या अपने प्रदेशों में रहकर चरम निर्धनता के कारण रुपये के लिए अपने ही समाज में यौन-व्यभिचारों को आमन्त्रित कर रहे हैं।

इन समस्त समस्याओं को, सर्वश्री मजूमदार और मदान (Majumdar and Madan) के अनुसार, दो मोटे भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) प्रथम तो वे समस्याएँ हैं जो भारत की जनजातियों और अन्य सभी ग्रामीण समुदायों में एक-सी हैं। (ब) दूसरी वे समस्याएँ हैं जो केवल जनजातीय समाज में ही पाई जाती हैं।[1]

जनजातियों की समस्याएँ और उनके पुनर्वास के लिए सुझाव (Tribal Problems and Suggestions for their Rehabilitation)

(1) आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems)

आज भारत की जनजातियों के जीवन में सबसे प्रमुख समस्या आर्थिक है अर्थात् पेट-भर खाने को अनाज, तन ढकने के लिए कपड़े और रहने के लिए मकान की समस्या है। इन्हें हम निम्नलिखित उपभागों में बाँट सकते हैं—

(अ) स्थानान्तरित खेती-सम्बन्धी समस्या (Problem relating to shifting cultivation)—जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, जनजातीय व्यक्तियों में प्राय. 26 लाख व्यक्ति खेती पर निर्भर हैं। परन्तु उनमें से प्रायः सभी लोग आदिम ढंग से खेती करते हैं, जिसे स्थानान्तरित खेती कहते हैं। इस प्रकार की खेती से न केवल जमीन की बर्बादी होती है बल्कि उपज भी बहुत कम और घटिया किस्म की होती है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि या तो उन्हें भूखों मरना पड़ता है *या खेती को छोड़ना पड़ता है। ऐसी स्थानान्तरित खेती सदियों से होती आ रही है, पर आज* इस समस्या ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया है। वही जनजातीय गाँव जो एक समय आत्मनिर्भर था, आज अपने सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने में असफल हो रहा है।

(ब) भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ (Problems relating to new land tenure system)—पहले भूमि पर जनजातियों का एकाधिकार हुआ करता था और

1. "These are of two types : there are the problems which the tribal folk share with the entire rural population of the country and there are also problems which are unique to the tribal folk."—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, Asia Publishing House, Bombay, 1957, p. 269.

वे उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करती थीं। अब नये कानूनों ने उनकी पुरानी स्वतन्त्रता को छीन लिया है; अब वे मनमाने तौर पर जंगल को काटकर स्थानान्तरित खेती नहीं कर सकतीं। साथ ही, नयी भूमि-व्यवस्था द्वारा दी गई भूमि पर बसकर जनजातियाँ खेती नहीं करतीं क्योंकि वे स्थानान्तरित खेती को अपने धर्म का अंग समझती हैं और ज़मीन को जोतकर खेती करने से डरती हैं। जो लोग ऐसा करते भी हैं उनके हाथ से भी ज़मीन धीरे-धीरे निकलती जा रही है। चालाक महाजन उनको कुछ उधार देकर उसी के बहाने अन्त में उनसे उनकी ज़मीन तक भी छीन लेते हैं और फिर उन भूखे मरते हुए लोगों को उसी जमीन पर नौकर रखकर उनसे ही खेती करवाते हैं और अपनी जेब भरते हैं।

(स) **जंगल से सम्बन्धित समस्याएँ** (Problems relating to forests)—पहले जनजातियों का उनके जंगलों पर पूर्ण अधिकार होता था और वे वन-सम्पत्तियों का उपभोग बिना किसी प्रतिबन्ध के करती थीं। जंगली वस्तुओं, पशु, वृक्ष आदि सभी के वे पूरे मालिक थे। पर अब परिस्थिति बिलकुल विपरीत है। अब इन समस्त चीज़ों पर सरकार का नियन्त्रण है और ठेकेदारों के द्वारा लकड़ी या कोयला निकालने आदि के काम हो रहे हैं। ये ठेकेदार जनजातियों की अज्ञानता और सरलता से लाभ उठाकर उनका खूब शोषण करते हैं। रात-दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उन्हें उतनी मजदूरी नहीं मिल पाती है कि वे अपना पेट तक भर सकें।

(द) **अर्थ-व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ** (Problems relating to economies)—वर्तमान समाज में जनजातीय अर्थ-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। उनमें प्रमुख परिवर्तन यह है कि वे मुद्ररहित से मुद्रासहित अर्थ-व्यवस्था में आ रहे हैं। इससे लाभ उठाने के लिए अनेक व्यापारी वर्ग, मादक वस्तुओं के विक्रेता आदि भोली-भाली जनजातियों के क्षेत्रों में आकर बस गये हैं और उन्हें खूब ठगते हैं।

(य) **ऋणग्रस्तता की समस्या** (Problem of indebtedness)—जनजातियों की अज्ञानता और निर्धनता से लाभ उठाने के लिए न केवल व्यापारी बल्कि अनेक कर्ज देने वाले महाजन और साहूकार भी उनके प्रदेशों में प्रवेश कर गये हैं। भोली-भाली जनजातियों को किसी-न-किसी उपाय से ऋण के चक्कर में फाँसना और अन्त में उनकी ज़मीन तक छीन लेना यह उनका रोज का धन्धा है। अनेक पीढ़ियों तक जनजातियों के लोग कर्ज के भार से मुक्त नहीं हो पाते हैं और अनेक बार उन्हें जिन्दगी-भर महाजन की जमीन पर बेगार करनी पड़ती है। ऋणग्रस्तता से सम्बन्धित इन महाजनों या साहूकारों की समस्या जनजातीय आर्थिक जीवन की एक प्रमुख समस्या है।

(र) **औद्योगिक श्रमिकों की समस्याएँ** (Problems of industrial labourers)—कारखानों, चाय के बगीचों और खानों में काम करने वाले जनजातीय श्रमिकों की अवस्था और भी दयनीय है। उनको अपने परिश्रम का उचित वेतन नहीं दिया जाता, रहने के लिए मकान आदि की कोई व्यवस्था नहीं है, और काम करने की अवस्थाएँ भी शोचनीय हैं। इस कारण अवसर मिलते ही वे फिर गाँव को भाग आते हैं। ठेकेदार आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष भर्ती और काम लेने की प्रथा उनके शोषण का रास्ता और भी

विस्तृत कर देती है। वास्तव मे असगठित और अस्थिर जनजातीय श्रमिक आज अपने उचित अधिकारो को भी नही जानते और इसी कारण वे पशुओं की भाँति काम करते रहते हैं और पशु ही समझे जाते हैं, पशुओं के नमूने की तरह ही दिखाये जाते हैं और उसी तरह नियन्त्रित भी होते हैं।[1]

सुझाव (Suggestions)—जनजातियो की आर्थिक दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं— (क) प्रत्येक परिवार को खेती के लिए पर्याप्त भूमि देने की व्यवस्था करनी होगी। (ख) परन्तु केवल भूमि ही नही बल्कि आधुनिक तरीकों से खेती करने के सम्बन्ध मे भी उन्हे समुचित शिक्षा देने की व्यवस्था करनी होगी, ताकि वे खेती से सम्बन्धित अन्धविश्वासो से छुटकारा पा सकें। (ग) 'झूम' या स्थानान्तरित खेती का अन्त होना चाहिए। ऐसी खेती से जो राष्ट्रीय हानि होती है उसे रोके बिना जनजातियों की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति नही की जा सकती। इस सम्बन्ध मे आसाम, उड़ीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियो के प्रति विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। (घ) सरकार की ओर से बीज, बैल और खेती के अन्य उपकरण खरीदने के लिए जनजातियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (ङ) वन-विभाग के द्वारा जंगल की सम्पत्ति के सर्वोत्तम प्रयोग के विषय मे जनजातियो को उचित शिक्षा देनी चाहिए। (च) कानून द्वारा बेगार, दासता, कम वेतन आदि का अन्त होना चाहिए। (छ) उन औद्योगिक केन्द्रो मे, जहाँ पर कि जनजाति के लोग, ज्यादा काम करते हैं, श्रमिक कल्याण-कार्य विस्तृत रूप से होने चाहिएँ। (ज) उनके आर्थिक उत्थान की किसी भी योजना मे उनके घरेलू और छोटे उद्योग-धन्धे के विकास को प्राथमिकता देनी होगी। (झ) दस्तकारी या गृह-उद्योगो के सम्बन्ध मे जनजातियो को उचित शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिए; इन उद्योगो के प्रारम्भ करने के लिए उचित आर्थिक सहायता भी देनी होगी। साथ ही, विभिन्न उद्योगो मे लगे हुए श्रमिको को औद्योगिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था करनी होगी। (ञ) औद्योगिक श्रमिकों के लिए अच्छे मकान और काम करने की अवस्थाएँ, काम के उचित घण्टे आदि के प्रति भी ध्यान देना आवश्यक है। (ट) सहकारी समितियो का विकास अधिक-से-अधिक करना होगा। (ठ) जनजातियों की लड़कियों को भी उचित शिक्षा देकर नर्स, स्कूल की अध्यापिका आदि पेशो मे अधिकाधिक नियुक्ति करने की व्यवस्था करनी होगी।

(2) सामाजिक समस्याएँ
(Social Problems)

सभ्य समाज के सम्पर्क मे आकर जनजातियो ने अपने समाज के लिए अनेक सामाजिक समस्याओ को भी उत्पन्न कर दिया है, उनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

---

1. "They work like animals, and are treated as such, exhibited like specimens and controlled by inertia and circumstantial factors."—D. N. Majumdar, *Races and Cultures of India*, Asia Publishing House, Bombay, p. 395.

(अ) **बाल विवाह** (Child Marriage)—जनजातियों में विवाह अधिक आयु में ही होता था, पर हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण उनमें भी बाल-विवाह का प्रसार हो रहा है, जो कि स्वयं ही एक सामाजिक समस्या है जो हिन्दू समाज को सदियों से पीड़ित कर रही है।

(ब) **कन्या-मूल** (Bride Price)—मुद्रा की महिमा आज जनजातियों के जीवन में भी बढ़ रही है जिसके कारण पहले जो कन्या-मूल्य वस्तुओं के रूप में दिया जाता था अब सर्वत्र रुपये के रूप में माँगा जाता है और वह भी दिन-प्रतिदिन इतना बढ़ता जा रहा है कि साधारण व्यक्तियों के लिए विवाह करना कठिन हो गया है। कन्या-हरण की समस्या इस कारण बढ़ रही है।

(स) **युवागृहों का पतन** (Decline of Dormitories)—सभ्य समाज की संस्कृतियों ने जनजातियों के मन में युवागृह के प्रति घृणा के भाव को भर दिया है। ये युवागृह युवक और युवतियों के केवल आमोद-प्रमोद के केन्द्र ही नहीं बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में उन्हें शिक्षा देने की महत्त्वपूर्ण संस्था भी थी, इस कारण इनकी अवनति जनजातियों के जीवन में बहुत ही बुरे और हानिकारक परिणामों को लायी है।

(द) **वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग आदि** (Prostitution venereal diseases etc.)—जनजातियों की निर्धनता से लाभ उठाकर रुपये का लोभ दिखाकर विदेशी व्यापारी, ठेकेदार, ऐजेण्ट आदि उनकी स्त्रियों के साथ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वेश्यावृत्ति, गुप्तरोग आदि सामाजिक समस्याएँ प्रगट होती हैं। जो जनजातीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्र में काम करने जाते हैं, वे भी वहाँ के अनेक प्रलोभन जैसे वेश्यावृत्ति आदि में फँस जाते हैं और जब वे अपने गाँव लौटते हैं तो उन रोगों को अपनी स्त्रियों में फैला देते हैं। साथ ही, जनजातियों में पूर्व-वैवाहिक और अतिरिक्त वैवाहिक (pre and extra marital) यौन-सम्बन्ध एक और सामाजिक समस्या है जिससे कि विवाह-विच्छेद बढ़ता है।

सुझाव (Suggestions)—(क) बाल-विवाह की प्रथा को कानून के द्वारा उतना नहीं रोका जा सकता जितना कि इसके प्रति जनमत को तैयार करके रोका जा सकता है। (ख) अत्यधिक कन्या-मूल्य की प्रथा का भी धीरे-धीरे जनमत के द्वारा निराकरण करने का प्रयत्न करना होगा। (ग) युवागृह की संस्था का पुनः उत्थान करने की आवश्यकता है और उसीके द्वारा लड़के-लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। (घ) जनजातियों की आर्थिक स्थिति सुधार देने पर वेश्यावृत्ति आदि स्वयं ही बहुत-कुछ कम होने की आशा है। साथ ही, अगर औद्योगिक केन्द्रों में रहने के लिए उचित ·क· आदि की व्यवस्था कर दी जाय तो वहाँ जनजातीय श्रमिक अपनी स्त्रियों तथा ·· के साथ रहने लगेंगे और वहाँ की वेश्यावृत्ति के प्रति आप-से-आप ही उनके दिल घृणा का भाव उत्पन्न होगा।

(3) सांस्कृतिक समस्याएँ
(Cultural Problems)

जनजातियों के जीवन मे बाहरी संस्कृतियों ने अनेक गम्भीर सांस्कृतिक समस्याओं को भी उत्पन्न कर दिया है जिनके कारण उनकी संस्कृति आज एक संकटमय परिस्थिति में से होकर गुजर रही है। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(अ) अन्तर्जनजातीय सांस्कृतिक भिन्नता की समस्या (Problem of intra-tribal cultural differences)—एक ओर ईसाई मिशनरियों और दूसरी ओर हिन्दुओं से सम्पर्क के कारण एक जनजाति के लोगों में आपस में ही भिन्नता उत्पन्न हो गई है। एक ओर ईसाई मिशनरियों ने बलपूर्वक या लालच दिखाकर या अन्य प्रकार से आकर्षित करके उनको ईसाई बनाया और दूसरी ओर कुछ जनजाति के लोग हिन्दुओं की जाति-प्रथा के अन्तर्गत अपने को ले आने में सफल हुए; परन्तु ऐसा सबने नहीं किया जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि एक जनजाति के लोगों मे आपस में ही सांस्कृतिक विभेद, तनाव (tension) और सामाजिक दूरी या विरोध उत्पन्न हो गया। इस प्रकार दूसरे की संस्कृति ग्रहण करने वाले अपने सांस्कृतिक या जनजातीय समूह से अलग होते गये और अपनी संस्कृति को नीचा समझने लगे। साथ ही, उन संस्कृतियों की बराबरी भी नहीं कर पाये जिनकी नकल उन्होंने की थी। इससे सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के ही विघटन उत्पन्न हुए।

(ब) भाषा-सम्बन्धी समस्या—(Problem of language)—बाहरी संस्कृति के सम्पर्क में आने से दूसरी प्रमुख समस्या 'दो भाषावाद' (bilingualism) का उत्पन्न होना था। जनजाति के लोग अपनी भाषा के साथ बाहरी भाषा भी बोलने लगे हैं; और कभी-कभी तो वे अपनी भाषा की ओर से इतना अधिक उदासीन हो जाते हैं कि कुछ समय के पश्चात् अपनी भाषा को ही भूल जाते हैं। इससे एक जनजाति के लोगों में आपस के सांस्कृतिक आदान-प्रदान मे अत्यधिक बाधा उत्पन्न होती है, इससे न केवल सामुदायिक भावना का ह्रास होता है बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों का भी पतन होने लगता है। ऐसी परिस्थितियों में सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

(स) जनजातीय ललित-कलाओं का ह्रास (Decline of tribal fine arts)—बाहरी संस्कृतियों का तीसरा प्रभाव जनजातीय ललित-कलाओं का ह्रास है। उनकी ललित-कलाएँ, संगीत, नृत्य, लकड़ी पर नक्काशी आदि का काम आज दिन-प्रतिदिन पतन की ओर जा रहा है। नागा लोगों में युवागृह के लकड़ी के खम्भों पर बड़ा सुन्दर काम किया जाता था। युवागृह के नष्ट होने पर यह कला भी आप-से-आप नष्ट होती जा रही है। मुड़िया लोगों मे केवल बच्चों के ही पचास से अधिक खेल प्रचलित हैं। इनमें शरीर को सँवारने, घर को सजाने की ललित कलाओं का पर्याप्त स्थान है। इसी प्रकार कहीं-कहीं जनजातियों की नृत्यकला भी उच्चकोटि की है। पर बाहरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से इन ललित-कलाओं के प्रति जनजातियों के मन मे अनादर और उदासीनता की भावना पनपती जा रही है।

(अ) बाल विवाह (Child Marriage)—जनजातियों में विवाह अधिक आयु में ही होता था, पर हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण उनमें भी बाल-विवाह का प्रसार हो रहा है, जो कि स्वयं ही एक सामाजिक समस्या है जो हिन्दू समाज को सदियों से पीड़ित कर रही है।

(ब) कन्या-मूल (Bride Price)—मुद्रा की महिमा आज जनजातियों के जीवन में भी बढ़ रही है जिसके कारण पहले जो कन्या-मूल्य वस्तुओं के रूप में दिया जाता था अब सर्वत्र रुपये के रूप में माँगा जाता है और वह भी दिन-प्रतिदिन इतना बढ़ता जा रहा है कि साधारण व्यक्तियों के लिए विवाह करना कठिन हो गया है। कन्या-हरण की समस्या इस कारण बढ़ रही है।

(स) युवागृहों का पतन (Decline of Dormitories)—सभ्य समाज की संस्कृतियों ने जनजातियों के मन में युवागृह के प्रति घृणा के भाव को भर दिया है। ये युवागृह युवक और युवतियों के केवल आमोद-प्रमोद के केन्द्र ही नहीं बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में उन्हें शिक्षा देने की महत्त्वपूर्ण संस्था भी थी, इस कारण इनकी अवनति जनजातियों के जीवन में बहुत ही बुरे और हानिकारक परिणामों को लायी है।

(द) वेश्यावृति, गुप्त रोग आदि (Prostitution venereal diseases etc.)—जनजातियों की निर्धनता से लाभ उठाकर रुपये का लोभ दिखाकर विदेशी व्यापारी, ठेकेदार, ऐजेण्ट आदि उनकी स्त्रियों के साथ अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वेश्यावृत्ति, गुप्तरोग आदि सामाजिक समस्याएँ प्रगट होती हैं। जो जनजातीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्र में काम करने जाते हैं, वे भी वहाँ के अनेक प्रलोभन जैसे वेश्यावृत्ति आदि में फँस जाते हैं और जब वे अपने गाँव लौटते हैं तो उन रोगों को अपनी स्त्रियों में फैला देते हैं। साथ ही, जनजातियों में पूर्व-वैवाहिक और अतिरिक्त वैवाहिक (pre and extra marital) यौन-सम्बन्ध एक और सामाजिक समस्या है जिससे कि विवाह-विच्छेद बढ़ता है।

सुझाव (Suggestions)—(क) बाल-विवाह की प्रथा को कानून के द्वारा उतना नहीं रोका जा सकता जितना कि इसके प्रति जनमत को तैयार करके रोका जा सकता है। (ख) अत्यधिक कन्या-मूल्य की प्रथा का भी धीरे-धीरे जनमत के द्वारा निराकरण करने का प्रयत्न करना होगा। (ग) युवागृह की संस्था का पुनः उत्थान करने [illegible] आवश्यकता है और उसीके द्वारा लड़के-लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था करनी चा[illegible] (घ) जनजातियों की आर्थिक स्थिति सुधार देने पर वेश्यावृत्ति आदि स्वयं [illegible] कुछ कम होने की आशा है। साथ ही, अगर औद्योगिक केन्द्रों में [illegible] मकान आदि की व्यवस्था कर दी जाय तो [illegible] बच्चों के साथ रहने लगेंगे और [illegible] में घृणा का भा[illegible]

है। उनके हितों को सुरक्षित रखने तथा उनको उन्नत बनाने के लिए आवश्यक संरक्षण प्रदान किये गये हैं। जैसे—

(1) लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं मे आदिवासियो के प्रतिनिधियों के लिए जनसंख्या के आधार पर दस वर्ष के लिए निश्चित सीटें सुरक्षित कर दी गई हैं।

(2) संविधान के अनुच्छेद 16 (4) तथा 335 के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं और सरकारी नौकरियों मे जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने का अधिकार राज्य को दिया गया है। इसके अनुसार भारत सरकार अखिल भारतीय सेवाओं में 5 प्रतिशत स्थान जनजातियों को दे रही है।

(3) संविधान के दसवें भाग तथा पाँचवी, छठी अनुसूचियों मे जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध मे विशेष व्यवस्याएँ की गई है।

(4) अनुच्छेद 244 (2) के अनुसार आसाम की जनजातियो के लिए जिला और प्रादेशिक परिषद् (District and Regional Council) स्थापित करने का विधान है।

(5) संविधान के भाग 6, अनुच्छेद 164 मे आसाम के अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में जनजातीय कल्याण मन्त्रालय स्थापित करने का विधान है।

(6) संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 46 मे जनजातियों की शिक्षा की उन्नति और आर्थिक हितों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना राज्य का कर्त्तव्य माना गया है।

(7) संविधान के अनुच्छेद 338 मे राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वे जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करें, जो जनजातियो की अवस्था को उन्नत करने के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को नये सुझाव दे।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत के संविधान में भारतीय जनजातियों का शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और उन पर लादी गई परम्परागत सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने के उद्देश्य से आवश्यक सुरक्षा तथा संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। इस दिशा में किये गये सरकारी प्रयत्नो की अब हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

प्रशासनीय व्यवस्था
(Administrative Arrangement)

आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र अनुच्छेद 244 तथा संविधान की पाँचवी अनुसूची के अन्तर्गत अनुसूचित किए गये हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन की रिपोर्ट उन राज्यो के राज्यपाल जिनमे ये क्षेत्र हैं, राष्ट्रपति को प्रत्येक वर्ष भेजते हैं।

असम और मेघालय राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्र मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों (provisions) के अनुसार किया जाता है। इसके लिये उन्हें स्वायत्तशासी (autonomous) जिलों मे बाँट दिया गया है। इस

(द) धार्मिक समस्याएँ (Religious Problems)—धार्मिक क्षेत्र में जनजातियों पर दो धर्म, हिन्दू और ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। एक ओर हिन्दू धर्म से प्रभावित जनजातियाँ जैसे भील और गोंड हैं, और दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रभावित बिहार और आसाम की जनजातियाँ हैं। जनजाति के लोग धर्म का अपनी अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। नये धर्मों में नये विश्वास और संस्कार तो उन्हें मिल गये, लेकिन उनकी समस्याओं को हल करने के नये साधन उन्हें नहीं मिल पाये। इससे जनजातियों में असंतोष की भावना हो जाना स्वाभाविक ही है। इन धर्म-परिवर्तनों का एक दूसरा बुरा प्रभाव जनजातियों की एकता पर पड़ा है। हिन्दू-अहिन्दू ईसाई-अईसाई इस प्रकार का भेद-भाव जनजातीय समाज में धर्म-परिवर्तन का ही परिणाम है। राजस्थान के भीलों में हिन्दू धर्म के प्रभाव से एक धार्मिक आन्दोलन 'भगत आन्दोलन' चला जिसने भीलों को भगत और अभगत दो श्रेणियों में बाँट दिया। ऐसा ही प्रभाव ईसाई धर्म का भी है। एक ही समूह में नहीं बल्कि एक ही परिवार में धार्मिक भेद-भाव दिखने लगे। इससे एक ओर, सामुदायिक एकता और संगठन टूटने लगा और दूसरी ओर पारिवारिक तनाव, भेद-भाव, लड़ाई-झगड़े या विघटन भी बढ़ता ही गया।

सुझाव (Suggestions)—(क) जनजातीय सम्बन्धी सभी आयोजन और शिक्षा उन्हीं की भाषा और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार होनी चाहिए, ताकि अपनी संस्कृति के प्रति अनास्था के भाव उनके मन से मिट जायं। इससे भाषा सम्बन्धी समस्या का समाधान भी सरल होगा। (ख) श्री एलविन (Elwin) ने जनजातीय ललित-कलाओं की रक्षा के लिए यह सुझाव दिया है कि पश्चिमी अफ्रीका के अकीमोटा कॉलेज (Achimota College) की भाँति भारतवर्ष में भी जनजातीय ललित-कलाओं की रक्षा के लिए कॉलेज होना चाहिए। (ग) धार्मिक समस्याओं का सबसे आसान हल यह होगा कि शिक्षा के द्वारा उनकी धार्मिक कट्टरता को एक वैज्ञानिक स्तर पर ले आया जात।

(4) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ

(Problems relating to Health)

कुछ तो परिस्थिति-सम्बन्धी कारणों से और कुछ वाहरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से जनजातियों के जीवन में स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(अ) खान-पान (Food and Drink)—जनजातियाँ ताड़, महुआ, अथवा चावल के वने मादक द्रवों का उपभोग रोज और उत्सव, त्योहार आदि में विशेषकर करती हैं। परन्तु इनमें विटामिन 'वी' और 'सी' अधिक मात्रा में होने के कारण ऐसे मादक द्रवों से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता था। पर धीरे-धीरे सरकार द्वारा इन पर प्रतिवन्ध लग जाने से देशी और विलायती शरावों का प्रचलन जनजातीय समाजों में हो गया। चूंकि यह शराव अधिक मादक और हानिप्रद होती है, इस कारण

इसके उपभोग का बहुत बुरा प्रभाव जनजातियों के स्वास्थ्य पर पड रहा है। उसी प्रकार अपनी निर्धनता के कारण अधिकतर जनजातियो को सतुलित भोजन प्राप्त नही हो पाता है जिससे उनका स्वास्थ्य-स्तर गिरता है और वे अनेक प्रकार के रोगों का शिकार बनती हैं।

(ब) वस्त्र (Clothes)—दूसरी समस्या वस्त्र से सम्बन्धित है। सभ्य समाज के सम्पर्क मे आने के कारण अब जनजातियाँ वस्त्रहीन न रहकर वस्त्र धारण करती हैं; परन्तु आर्थिक दशा अत्यधिक खराब होने के कारण एक समय में एक से ज्यादा कपड़ा उनके पास नहीं होता, जिससे गन्दगी और चर्म रोग फैलते हैं। बरसात के दिनो मे ये कपड़े बदन पर ही भीगते रहते हैं और बदन पर ही सूखते हैं जिससे गन्दगी और चर्म रोग होते हैं। गन्दे कपड़ों मे जुँए आदि पड़ जाती है और 'टाइफस' नामक संक्रामक रोग फैल जाता है।

(स) अधिक रोग और चिकित्सा का अभाव (More diseases and absence of treatment measures)—पौष्टिक भोजन की कमी और अन्य वातावरण-सम्बन्धी कारणो से जनजातियों के लोग हैजा, चेचक, तपेदिक आदि अनेक प्रकार के भयकर रोगों के शिकार बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त चाय के बगीचे और खानो में करने वाली स्त्रियों और पुरुषों मे व्यभिचार के बढ़ने के साथ-साथ गुप्त रोग भी तेजी से फैल रहे हैं। साथ ही, इन रोगों की चिकित्सा का नितान्त अभाव होने के कारण जनजातीय क्षेत्रों मे इन रोगों की समस्या और भी गम्भीर है।

गरीबी, बीमारियो के इलाज के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान न होना, डाक्टरों में विश्वास न होना, यातायात के साधन के अभाव से दुर्गम प्रदेशों मे डाक्टरों का न पहुँच सकना, सफाई से न रहना, पौष्टिक आहार की कमी आदि इस स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओं के प्रमुख कारण हैं।

सुझाव (Suggestions)—जन-स्वास्थ्य को सुधारने के लिए अनुसूचित जन-जाति आयुक्त (Scheduled Tribes Commissioner) ने अपनी 1956-57 की रिपोर्ट मे कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं—(क) दूध तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ अधिक मात्रा मे पाई जाने पर भी जनजातियाँ इनका उपभोग बहुत कम करती हैं, इस कारण उन्हें इनकी उपयोगिता का ज्ञान कराना चाहिए। (ख) जनजातियों के लिए चलते-फिरते हस्पतालों की व्यवस्था होनी चाहिए। (ग) जनजातीय लड़को व लड़कियों को कम्पाउण्डर व दाई की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए। (घ) मामूली दवाओ के छोटे बक्से स्कूलों, पंचायतघरों और युवागृहों में रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। (ङ) जनजातियाँ जड़ी-बूटी की दवाइयो पर अधिक विश्वास करती हैं, इस कारण जड़ी-बूटियो के सम्बन्ध में नये वैज्ञानिक-विश्लेषण होने चाहिएँ। (च) कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जो इनके जीवन, आदतों और प्रथाओ को गहरा धक्का पहुंचाये।

(5) शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ
(Problems relating to Education)

प्रायः सभी जनजातियाँ आज भी अशिक्षा तथा अज्ञानता के अन्धकार में पल रही हैं। केवल कुछ लोग ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से कुछ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी अशिक्षा ही उनकी समस्त समस्याओं का मूलाधार है, इसी अशिक्षा के कारण अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों ने उन्हें घेर रक्खा है।

आधुनिक शिक्षा को जिस तरीके से इन जनजातियों के बीच फैलाया जा रहा है वह भी गलत है। इससे दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं—(अ) विद्यार्थी अपनी जनजातीय संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं, और (ब) जनजातियों में भी शिक्षित-बेकारी की समस्या उत्पन्न हो रही है।

सुझाव (Suggestions)—शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिए डा० विस्वास ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं[1]—(क) जनजातियों को शिक्षा उनकी अपनी भाषा के माध्यम से दी जानी चाहिए। प्रादेशिक भाषा को गौण (secondary) स्थान मिलना चाहिए। (ख) शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी या अन्य पेशा-सम्बन्धी ट्रेनिंग भी देने की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि उन्हें आगे पेशे के चुनाव में कठिनाई न हो और वे परिश्रम का मूल्य समझ सकें। (ग) शिक्षा के साथ-साथ नृत्य, संगीत, खेल तथा अन्य जनजातीय मनोरंजन का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए और स्कूलों की छुट्टियाँ साप्ताहिक बाज़ार के दिन और जनजातीय त्योहारों के अनुकूल होनी चाहिएँ। (घ) स्कूल दो प्रकार के होने चाहिएँ—प्राथमिक स्कूल और व्यवसाय-सम्बन्धी स्कूल; और इनमें खेती करने, मछली पकड़ने, पशुओं के पालने आदि के सम्बन्ध में व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

जनजातीय कल्याण-कार्य[2]
(Tribal Welfare Work)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जनजातियों की अवस्थाओं में सुधार के लिए अनेक कल्याण-कार्य केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों द्वारा हो रहे हैं, जिनके फलस्वरूप इनकी अवस्था आज उन्नति के पथ पर आगे बढ़ती जा रही है। साथ ही, भारत के नये संविधान में भी उनके हितों का विशेष ध्यान रक्खा गया है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

संवैधानिक व्यवस्थाएँ
(Constitutional Provisions)

जनजातियों के कल्याण का भारत के नए संविधान में विशेष ध्यान रक्खा गया

---

1. Dr. P. C. Biswas (Delhi University), Report of the Third Conference, held at Jagdalpur, 1955, p. 42-43.
2. This discussion to a great extent, is based on *India* 1975, Govt. of India, Publication Division, Delhi.

है। उनके हितों को सुरक्षित रखने तथा उनको उन्नत बनाने के लिए आवश्यक संरक्षण प्रदान किये गये हैं। जैसे—

(1) लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में आदिवासियों के प्रतिनिधियों के लिए जनसंख्या के आधार पर दस वर्ष के लिए निश्चित सीटें सुरक्षित कर दी गई हैं।

(2) संविधान के अनुच्छेद 16 (4) तथा 335 के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं और सरकारी नौकरियों में जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने का अधिकार राज्य को दिया गया है। इसके अनुसार भारत सरकार अखिल भारतीय सेवाओ मे 5 प्रतिशत स्थान जनजातियों को दे रही है।

(3) संविधान के दसवें भाग तथा पांचवी, छठी अनुसूचियों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं।

(4) अनुच्छेद 244 (2) के अनुसार आसाम की जनजातियो के लिए जिला और प्रादेशिक परिषद् (District and Regional Council) स्थापित करने का विधान है।

(5) संविधान के भाग 6, अनुच्छेद 164 मे आसाम के अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में जनजातीय कल्याण मन्त्रालय स्थापित करने का विधान है।

(6) संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 46 मे जनजातियों की शिक्षा की उन्नति और आर्थिक हितों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना राज्य का कर्त्तव्य माना गया है।

(7) सविधान के अनुच्छेद 338 मे राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वे जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करें, जो जनजातियों की अवस्था को उन्नत करने के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को नये सुझाव दे।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत के सविधान मे भारतीय जनजातियों का शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और उन पर लादी गई परम्परागत सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने के उद्देश्य से आवश्यक सुरक्षा तथा संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। इस दिशा में किये गये सरकारी प्रयत्नों को अब हम विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

प्रशासनीय व्यवस्था
(Administrative Arrangement)

आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र अनुच्छेद 244 तथा सविधान की पाँचवी अनुसूची के अन्तर्गत अनुसूचित किए गये हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन की रिपोर्ट उन राज्यो के राज्यपाल [illegible] क्षेत्र हैं, राष्ट्रपति को प्रत्येक वर्ष भेजते हैं।

असम और मेघालय राज्यों तथा सघ राज्य क्षेत्र [illegible]
प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों (provis[illegible]
है। इसके लिये उन्हें स्वायत्तशासी (autonomous) [illegible]

प्रकार के आठ जिले हैं—असम में उत्तरी कछार तथा मिकिर पहाड़ी जिले; मेघालय में संयुक्त खासी जैंतिया, जवाई और गारो के पर्वतीय जिले; तथा मिजोरम में चकमा, लाखेर तथा पावी जिले। प्रत्येक स्वायत्तशासी जिले में एक जिला परिषद् है जिसमें अधिक से अधिक 30 सदस्य होते हैं; जिनमें से अधिक से अधिक 4 मनोनीत हो सकते हैं और शेष वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। परिषदों को कुछ प्रशासनिक, वैधानिक, तथा न्यायिक अधिकार दिये गए हैं।

कल्याणकारी तथा सलाहकार-संस्थाएँ
(Welfare and Advisory Agencies)

संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत संविधान में दी गई सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करने तथा उनको कार्यरूप देने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अवगत कराने के लिए राष्ट्रपति ने एक विशेष अधिकारी, अनुसूचित जनजाति आयुक्त (Commissioner for the Scheduled Tribes) की नियुक्ति की है। आयुक्त की सहायता के लिए इस समय सतरह सहायक आयुक्त (Assistant Commissioners) भी हैं।

भारत सरकार ने एक जनजातीय कल्याण अधिकारी (A Tribal Welfare Officer) की भी नियुक्ति की है जो आसाम में जनजातीय लोगों में किये गये कल्याण-कार्य की समीक्षा करके भारत सरकार को रिपोर्ट पेश करेगा।

भारत सरकार ने अनुसूचित जनजातियों के कल्याण से सम्बद्ध संवैधानिक व्यवस्थाओं के कार्यान्वयन की जाँच करने के लिए तीन संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees) के सन् 1968, 1971 तथा 1973 में नियुक्त की।

राज्य सरकारों तथा केन्द्र शासित क्षेत्रों की शासन व्यवस्थाओं में अनुसूचित जनजातियों के हितों की देख-रेख के लिये अलग विभाग होते हैं। विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में प्रशासन व्यवस्था अलग-अलग होती है। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार जनजातियों के हितों की देखभाल के लिए पृथक् मंत्री नियुक्त किए गए हैं। कुछ अन्य राज्यों ने संसदीय समिति के अनुरूप विधानमंडलीय समितियाँ स्थापित की हैं।

बहुत से स्वैच्छिक संगठन (Voluntary Organization) भी जनजातीय कल्याण कार्य के लिए कार्य करते हैं। ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण संगठनों का नाम है—भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, नई दिल्ली; भारती शिशु कल्याण परिषद्, नई दिल्ली; आंध्र प्रदेश एवं आंध्र राष्ट्र आदिम जाति सेवक संघ; रामकृष्ण मिशन, चेरापूंजी, राँची, पुरी, सिलचर, अलोग और शिलांग, ठक्करबापा आश्रम, नीम खंडी (उड़ीसा) तथा भारतीय रेडक्रास।

नौकरियों में प्रतिनिधित्व
(Representation in the Services)

इस उद्देश्य से कि जनजातियों के सदस्यों को विभिन्न नौकरियों में भर्ती होने का अवसर मिले, सरकार ने अखिल भारतीय प्रतियोगिता के आधार तथा अन्य आधार पर नियुक्त होने वाली नौकरियो मे 7½ प्रतिशत रिक्त स्थानो को जनजातीय लोगो के लिए सुरक्षित कर दिया है, बशर्ते द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणियो में भर्ती 50 प्रतिशत से अधिक न होती हो। उसी प्रकार वरिष्ठता (seniority) के आधार पर उपयुक्त व्यक्तियों की प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणियों में पदोन्नति के लिए भी 27 नवम्बर 1972 से जनजातियो के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। उसी प्रकार तरक्की, चुनाव, आयु-सीमा (age-limit), योग्यता (qualification), चुनाव, (selection) आदि के सम्बन्ध मे भी जनजातीय लोगों को खास रियायत दी जाती है। अखिल-भारतीय नौकरियों मे होने वाली प्रतियोगिताओ मे अधिक-से-अधिक जनजातीय लोग सफल हो सकें, इस उद्देश्य से विशेष संस्थाओ द्वारा इनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था सरकार के द्वारा की जाती है। 1 जनवरी 1975 तक अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियो के व्यक्तियों को भारत सरकार ने अपने यहा नौकरी पर रखा है। उसी प्रकार 6,33,981 जनजातियो के सदस्यो के लिए लोकसभा में 42 सीटें तथा विभिन्न राज्यो की विधान सभाओं मे कुल 329 सीटें सुरक्षित (reserved) रखी गई हैं।

कल्याण योजनाएँ
(Welfare Schemes)

केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने अनुसूचित जातियो तथा जनजातियों के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया है। इनके कल्याण के लिए प्रत्येक पंचवर्षीय योजना मे विशेष कार्यक्रम चलाए गए। इन कार्यक्रमों के लिये पहली योजना के दौरान 30.04 करोड़ रु० खर्च हुए, दूसरी मे 79.41 करोड़ रु० तीसरी मे 100 40 करोड़ तथा चौथी योजना (1969-74) मे 172.70 करोड़ रु० व्यय हुए। पांचवी योजना में पिछड़े वर्गो के लिए 255 करोड़ रु० का परिव्यय है, इसमें से 85 करोड़ रु० केन्द्र द्वारा और 170 करोड़ रु० राज्यों द्वारा खर्च किए जायेंगे।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को रोजगार प्राप्त करने मे सहायता करने के उद्देश्य से परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण केन्द्र (Pre-examination Training Centres) और शिक्षण सहित पथ-प्रदर्शन केन्द्र (Coaching cum-guidance centres) नामक दो कार्यक्रम शुरू किये गए हैं। पहले कार्यक्रम के अन्तर्गत चार केन्द्र-इलाहाबाद, जयपुर, मद्रास और पटियाला मे हैं जो संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संचालित अखिल भारतीय सेवा परीक्षाओं के लिये शिक्षण देते हैं। राज्यों की सेवाओं के लिये परीक्षा सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के लिये भी अनेक राज्यों मे शिक्षण केन्द्र खोले गये हैं। इलाहाबाद और

तिरुचिरापल्लि में इंजीनियरी सेवाओं की परीक्षार्थों के लिये दो अन्य केन्द्र खोले गये हैं।

मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों के सभी विद्यार्थियों को बिना किसी परीक्षा के छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

जनजातीय छात्राओं के लिए होस्टल कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसी जगहों पर जहाँ उनके लिए होस्टल की सुविधा पर्याप्त है, वहाँ नए होस्टल बनाने या मौजूदा होस्टलों का विस्तार करने के लिए राज्यों को वित्तीय सहायता दी जाती है। चौथी योजना में इस कार्यक्रम पर 1.96 करोड़ रु० खर्च किए गए।

जनजातीय विकास खण्डों की भी स्थापना की गई है—जिनका कि उद्देश्य उन क्षेत्रों का, समितियों का सरकारी मदद से व्यापक प्रसार किया गया है। वन-श्रम, बहु-उद्देशीय, श्रम ठेका एवं निर्माण, क्रय-विक्रय आदि सहकारी समितियों को सरकारी सहायता से संगठित किया गया है।

जनजातियों के सुपात्र छः विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन करने के लिए छात्र-वृत्ति सन् 1953 से केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जा रही है।

जनजातीय अनुसन्धान संस्थाएँ
(Tribal Research Institutes)

आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में 11 जनजातीय अनुसन्धान संस्थान (Tribal Research Institutes) स्थापित कर दिये गये हैं, जिनमें जनजातीय कला, संस्कृति तथा रीति-रिवाजों का गहन अध्ययन किया जाता है। उनकी गतिविधियों का समन्वय करने के लिए 30 सदस्यीय केन्द्रीय अनुसन्धान सलाहकार समिति गठित की गई है। गोहाटी विश्वविद्यालय में आसाम की जनजातियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन आरम्भ हो गया है। महाराष्ट्र तथा गुजरात में 'बम्बई की मानवशास्त्र समिति' (Anthropological Society of Bombay), 'गुजरात-विद्यापीठ' (Gujarat Vidypith) तथा बम्बई विश्वविद्यालय में जनजातियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान होता है। पश्चिमी बंगाल में सांस्कृतिक अनुसन्धान संस्थान (Cultural Research Institute) ने राज्य के जन-जातीय जीवन के कई पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित की है। भारत सरकार के मानवशास्त्र विभाग (Department of Anthropology) में भारत के 153 जिलों में रहने वाली जनजातियों के सम्बन्ध में गम्भीर अनुसन्धान-कार्य पूरा किया गया है। उदयपुर का 'भारतीय लोक-कला मण्डल' (*Bhartiya Lok-Kala Mandal*) एक अग्रणी गैर-सरकारी संगठन है जिसने भूतपूर्व मध्य भारत तथा राजस्थान राज्यों की जनजातियों की संस्कृति के सम्बन्ध में सर्वेक्षण किया है।

निष्कर्ष : जनजातीय कल्याण की उचित नीति
(Conclusion : *Proper Policy of Tribal Welfare*)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय जनजातियों का जीवन अनेक

गम्भीर समस्याओं का एक जटिल-जाल है जिसमें फँसकर जनजातीय भारत (Tribal India) आज भी एक कष्टदायक परिस्थिति में है। अब तक की विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि जनजातीय समस्याओं का कारण बहुत-कुछ तो उनका अपना ही पिछड़ापन है और शेष कारण उनका बाहरी सभ्य समाजों के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क है। यह सच है कि इन समस्याओं को सुलझाने तथा जनजातियों के उत्थान के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा काफी प्रयत्न किये जा रहे हैं, परन्तु अब भी बहुत-कुछ करना शेष है। जनजातीय समस्याओं का निराकरण सफलतापूर्वक तभी किया जा सकेगा जबकि जनजातीय कल्याण-कार्य की नीति को खूब समझ-बूझकर बनाया जाय। जनजातीय कल्याण की उचित नीति इस प्रकार होनी चाहिए—

(1) एक जनजातीय समूह की समस्याओं को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटकर उन्हें सुलझाने के लिए उचित योजना बनाने की आवश्यकता है। परन्तु इन योजनाओं को बनाते समय यह ध्यान में रखना जरूरी है कि ये समस्याएँ एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं हैं और न ही उन्हें पृथक् रूप में सुलझाया जा सकता है। आर्थिक समस्याओं का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है और सामाजिक जीवन का प्रभाव धर्म के क्षेत्र में। उदाहरणार्थ, आज गरीबी के कारण ही जनजातीय समाज में वेश्यावृत्ति का प्रचलन हो गया है और उसी गरीबी के कारण खाने-पीने और पोशाक सम्बन्धी समस्याओं का जन्म हुआ है। अतः जनजातीय सुधार की नीति यह होनी चाहिए कि योजना बनाते समय समस्त समस्याओं की एक समग्र-रूप योजना सामने हो। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए जो विभिन्न योजनाएँ बनायी जाएँ उनमें आपस में एक आन्तरिक सम्बन्ध अवश्य ही बना रहे जिससे कि आवश्यकतानुसार प्रत्येक समस्या के द्वारा सम्पूर्ण समस्या का, और सम्पूर्ण समस्या द्वारा प्रत्येक समस्या का निराकरण सम्भव हो।

(2) सामाजिक व सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए जनजातीय जीवन की परम्परागत संस्थाओं को दोष-मुक्त करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, जनजातीय समाज में शिक्षा का प्रसार करने के लिए युवा-संगठनों को फिर से संगठित किया जाना चाहिए ताकि जनजातीय लोग शिक्षा-व्यवस्था को कोई बाहरी व्यवस्था न समझ बैठें। यदि ऐसा हुआ तो शिक्षा का प्रसार उचित ढंग से नहीं हो पायेगा। इसीलिए प्रत्येक सुधार-नीति में जनजातीय मनोवृत्ति व पाचक-शक्ति को ध्यान में रखना होगा।

(3) जनजातीय कल्याण योजनाओं को बनाने या इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की नीति को प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व आवश्यक रूप में केवल ऐसे ही व्यक्तियों पर होना चाहिए जो कि जनजातीय सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान रखते हैं। इसलिए यह उचित होगा कि इस काम के लिए समाजशास्त्री व मानवशास्त्रियों की सेवाओं का अधिकाधिक सदुपयोग किया जाये, नहीं तो जनजातीय कल्याण-सम्बन्धी समस्त योजनाएँ कागजी-घोड़ों की दौड़ मात्र बनी रहेंगी।

(4) प्रत्येक जनजाति की उसके प्रदेश और संस्कृति के आधार पर अपनी अलग-

अलग समस्याएँ हैं। चूँकि इनकी समस्याएँ एक तरह की नहीं है, इस कारण इनका कोई एक या सामान्य (common) हल ढूंढ़ना भी मूर्खता होगी। डा० मजूमदार (Majumdar) ने उचित ही कहा है, "जनजातीय समस्याओं का कोई एक हल नहीं है, और न ही उस अभियाचना का कोई एक सामान्य आधार। जनजातियों के सांस्कृतिक विकास के अनेक स्तर और जीवन के विभिन्न प्रतिरूप हैं। जनजातीय जीवन के पुनर्वास की किसी भी योजना को बनाने में उनकी प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक क्षेत्र की सम्बद्ध स्थिति को जानना परमावश्यक है, और जो योजना एक सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उचित है वह दूसरे के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती।[1]

(5) इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, श्री नेहरू के शब्दों में यह है कि हमें जनजातियों को अपनी प्रतिलिपि बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उनकी आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और विचारों को यथोचित मान्यता देनी होगी। उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे आधुनिक विज्ञान से लाभ उठा सकें। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि वे अच्छे मकान, फूलती-फलती खेती, सुन्दर स्वास्थ्य, स्वच्छता और उत्तम शिक्षा से भी वंचित न रहें। किन्तु इसके साथ ही उनके जीवन के प्रति उल्लास तथा स्वभाव और संस्कृति के उत्तम गुणों को सुरक्षित रखकर उन्हें राष्ट्र के जीवन में हाथ बँटाने योग्य भी बनाना है।

(6) जनजातियों के सम्बन्ध में किसी भी योजना में उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न सर्वप्रथम करना होगा ताकि उनके लिए बनायी गई योजना उनके द्वारा ही क्रियाशील हो।

(7) जनजातीय कल्याण-योजना में उनकी आर्थिक समस्याओं को अधिकाधिक प्राथमिकता देनी होगी। उनकी आर्थिक अवस्था को सुधारे बिना और कोई सुधार-कार्य सफल नहीं हो सकता। श्री सेभ (Save) के शब्दों में, "उन लोगों के लिए, जिन्हें दिन-भर में दो बार रोटी भी नहीं मिल पाती हैं, शिक्षा की बात डींग हाँकना ही है। एक भूखा आदमी भोजन के अलावा और सभी चीज़ों को पचाने से इन्कार कर देता है।"[2] किसी भी जनजातीय कल्याण-योजना में इसे भूल न जाना चाहिए।

डा० दुबे (Dr. S. C. Dubey) जनजातीय समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत करते हैं—(1) वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा जनजातियों के सामाजिक संगठन और मूल्यों के ज्ञान की उपलब्धि; (2) विभिन्न प्राविधिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि पर उनकी समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन (3) जन-

---

1. "There is no one solution to tribal problems, there is no common platf[illegible] [illegible] it. There are levels of cultural development and there are [illegible] of life that the tribes own. In any scheme of rehabilitation of [illegible]des and configurations of culture must be known to work [illegible] is true of one culture area, may not be so for a second."—[illegible] op. cit., p. 385.

[2] [illegible] of people who hardly get bread twice a day, literacy is a tall [illegible] [illegible]n refuses to digest anything but food."—K.J. Save, Quoted [illegible], op. cit., p. 386.

जातीय जीवन में एकीकरण की शक्तियो और कारकों का अध्ययन, (4) संस्कृति के सहज-परिवर्तनशील और परिवर्तन-विरोधी पक्षों का विश्लेषण, (5) संस्कृति के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध-सूत्रो और अन्तरावलम्बन का अध्ययन, (6) जनजातीय क्षेत्रो में कार्य करने वाले शासकों तथा अन्य शासकीय और सामाजिक कार्य-कर्ताओ को जनजातीय जीवन और संस्कृति से परिचित कराने और इन समूहों में किये जाने वाले कार्य को समझाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था; (7) विचारपूर्वक ऐसी विकास-योजनाओं का निर्माण जो जनजातीय समूहो की आवश्यकताओं का क्षेत्रीय और राष्ट्रीय-आवश्यकताओं से समन्वय कर सकें, तथा (8) इन योजनाओं द्वारा जनित प्रवृत्तियों की गति-विधि और प्रभावो का अध्ययन और उनके हानिकारक तत्त्वो के निराकरण का प्रयत्न। डा० दुबे ने इस सम्बन्ध में आगे यह भी लिखा है कि "वैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा ही आदिवासी (जनजातीय) संगठन के विभिन्न पक्षों का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। ये अध्ययन उनकी विकास की योजनाएँ बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। योजनाओ को कार्यान्वित करने की प्रत्येक स्थिति में यह जानना आवश्यक होगा। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले राजकीय कर्मचारी यदि व्यापक सहानुभूति रखकर अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने का यत्न करें, और शेष समाज यदि आदिवासियों के सम्बन्ध में स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण रखें, तो थोड़े ही समय में समस्या अपने समाधान के निकट पहुँच जायेगी।"